आगम-अनुसन्धान ग्रन्थमाला
ग्रन्थ : २

उत्तरज्झयणाणि

(भाग १)

[मूल पाठ, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद]

वाचना प्रमुख

आचार्य तुलसी

अनुवादक और सम्पादक
मुनि नथमल
(निकाय-सचिव)

प्रकाशक

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

(आगम-साहित्य प्रकाशन समिति)

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

प्रबन्ध सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया, बी० कॉम०, बी० एल०

संकलक :
आदर्श साहित्य संघ,
चूरू (राजस्थान)

आर्थिक सहायक :
श्री रामलाल हंसराज गोलेछा
विराटनगर (नेपाल)

प्रकाशन तिथि :
१, दिसम्बर, १९६७

प्रति संख्या :
१५००

पृष्ठाङ्क :
६७२

मुद्रक :
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

मूल्य :
रु० २०

JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA AGAM-GRANTHAMALA

GRANTHA : 2

UTTARAJJHAYANANI

(THE UTTARADHYAYANA SUTRA)

PART I

Text with variant readings, Sanskrit renderings and Hindi translation.

VACANA PRAMUKH
ACARYA TULASI

EDITED & TRANSLATED
BY
MUNI NATHMAL
Nikaya Saciva

PUBLISHER
JAIN SWETAMBAR TERAPANTHI MAHASABHA
AGAM-SAHITYA PRAKASHAN SAMITI
3 Portuguese Church Street
CALCUTTA-1 (INDIA)

First Edition : 1967
Copies Printed : 1500

Price Rs 20 00/-

Managing Editor :
Shreechand Rampuria, B. Com., B.L.

Manuscript compiled by :
Adarsha Sahitya Sangha
Churu (Rajasthan)

Financial Assistance :
Sri Ramlal Hanshraj Golchha
Biratnagar (Nepal)

●

Printer :
Raphael Art Press
31, Burtolla Street,
CALCUTTA-7

समर्पण

॥१॥

पुट्ठो वि पण्णा-पुरिसो सुदक्खो,
आण्णा-पहाणो जणि जस्स निच्च ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्व ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग मे प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥२॥

विलोडियं आगम दुद्ध मेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीय मच्छ ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाण पुव्व ॥

जिसने आगम-दोहन कर कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिर चिंतन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥३॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाण पुव्व ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल सघ मे मेरे मन मे ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन मे,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

विनयावनत:

आचार्य तुलसी

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है, उस माली का जो अपने हाथो से उप्त और सिञ्चित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और लित हुआ देखता है, उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो पनी कल्पना को अपने प्रयत्नो से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का ाघ-पूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमे लगें। सकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा र्म-परिवार उस कार्य मे सलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष मे मैं उन सबको समभावी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति मे विभागी रहे हैं। सक्षेप मे वह सविभाग इस प्रकार है—

अनुवादक और सम्पादक :			मुनि नथमल (निकाय-सचिव)
		सहयोगी :	मुनि मीठालाल
		"	मुनि दुलहराज
पाठ-सम्पादन	:	"	मुनि सुदर्शन
		"	मुनि मधुकर
		"	मुनि हीरालाल
संस्कृत छाया	:	"	मुनि सुमेरमल 'लाडनूं'
		"	मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'
पदानुक्रम	:	"	साध्वी जयश्री
		"	साध्वी कनकश्री
विषयानुक्रम	.	"	मुनि रूपचन्द्र

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिनने इस गुरुतर प्रवृत्ति मे उन्मुक्त भाव से अपना सविभाग समर्पित किया है, उन सबको आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

ग्रन्थानुक्रम

प्रकाशकीय

'उत्तरज्झयणाणि' (उत्तराध्ययन सूत्र) मूलपाठ, सस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एव टिप्पणियों सहित दो भागों में आपके हाथों में है ।

वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एव उनके इगित और आकार पर सब कुछ न्यौछावर कर देने वाले मुनि-वृन्द की यह समवेत कृति आगमिक कार्य-क्षेत्र में युगान्तरकारी है । इस कथन में अतिशयोक्ति नहीं, पर सत्य है । बहुमुखी प्रवृत्तियों के केन्द्र प्राणपुञ्ज आचार्य श्री तुलसी ज्ञान-क्षितिज के एक महान् तेजस्वी रवि हैं और उनका मण्डल भी शुभ्र नक्षत्रों का तपोपुञ्ज है । यह इस अत्यन्त श्रम-साध्य कृति से स्वय फलीभूत है ।

गुरुदेव के चरणों में मेरा विनम्र सुझाव रहा—आपके तत्त्वावधान में आगमों का सम्पादन और अनुवाद हो—यह भारत के सास्कृतिक अभ्युदय की एक मूल्यवान् कडी के रूप में चिर-अपेक्षित है । यह अत्यन्त स्थायी कार्य होगा, जिसका लाभ एक-दो-तीन नहीं अपितु अचिन्त्य भावी पीढियों को प्राप्त होता रहेगा । मुझे इस बात का अत्यन्त हर्ष है कि मेरी मनोभावना अकुरित ही नहीं, पर फलवती और रसवती भी हुई है ।

प्रस्तुत 'उत्तरज्झयणाणि' आगम-अनुसधान ग्रन्थमाला का द्वितीय ग्रन्थ है । इससे पूर्व प्रकाशित 'दसवेआलिय' (मूल पाठ, सस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद एव टिप्पण युक्त) को अब अनुसन्धान ग्रन्थमाला का प्रथम ग्रन्थ समझना चाहिए ।

'दसवेआलिय' एक जिल्द में प्रकाशित है । उसमें टिप्पण प्रत्येक अध्ययन के बाद में है । 'उत्तरज्झयणाणि' में टिप्पणों की अलग जिल्द द्वितीय भाग के रूप में प्रकाशित है ।

'दसवेआलिय' में पाठान्तर नहीं दिये गये थे । 'उत्तरज्झयणाणि' में पाठान्तर दे दिये गये है ।

'दसवेआलिय' की तरह ही 'उत्तरज्झयणाणि' में भी प्रत्येक अध्ययन के आरम्भ में पाडित्यपूर्ण आमुख दे दिया गया है, जिससे अध्ययन के विषय का सागोपाङ्ग आभास हो जाता है । प्रत्येक आमुख एक अध्ययनपूर्ण निबन्ध-सा है । परिशिष्ट में आमुखों में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची दे दी गई है, जिससे आमुखों को लिखने में जो परिश्रम उठाया गया है, उसका सहज ही आभास हो जाता है । चारों चरणों का पदानुक्रम भी दे दिया गया है । आरम्भ में अध्ययन-अनुक्रमणिका के साथ-साथ अध्ययन विषयानुक्रम भी दे दिया गया है, जिससे प्रत्येक श्लोक का विषय जाना जा सकता है ।

द्वितीय भाग में टिप्पण हैं । टिप्पणों के प्रस्तुत करने में चूर्णि, टीकाएँ आदि के उपयोग के साथ-साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो का भी सहारा लिया गया है, जिनकी सूची द्वितीय भाग के अन्त में दे दी गई है । प्रथम परिशिष्ट में शब्द-विमर्श और द्वितीय परिशिष्ट में पाठान्तर-विमर्श समाहित हैं । इस तरह टिप्पण भाग अपूर्व अध्ययन के साथ पाठकों के सामने उपस्थित हो रहा है । प्रयुक्त ग्रन्थों के सन्दर्भ सहित उद्धरण पाद-टिप्पणियों में दे दिये गये हैं, जिससे जिज्ञासु पाठक की तृप्ति हाथों हाथ हो जाती है और उसे सदर्भ देखने के लिए इधर-उधर दौडना नही पडता ।

तेरापथ के आचार्यों के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने प्राचीन चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थो का बहिष्कार कर दिया । वास्तव में इसके पीछे तथ्य नही था । सत्य जहाँ भी हो वह आदरणीय है, यही तेरापथी आचार्यों की दृष्टि रही । चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने पुरानी टीकाओं का कितना उपयोग किया था, यह उनकी भगवती जोड आदि रचनाओं से प्रकट है । 'दसवेआलिय' तथा 'उत्तरज्झयणाणि' तो इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण है कि निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाओं आदि का जितना उपयोग प्रथम बार वाचना प्रमुख आचार्य श्री तुलसी एव उनके चरणों में सम्पादन-कार्य में लगे हुए निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी तथा उनके सहयोगी साधुओं ने किया है, उतना किसी भी अद्यावधि प्रकाशित सानुवाद सस्करण में नही हुआ है । सारा अनुवाद एव लेखन-कार्य अभिनव कल्पना को लिए हुए हैं । मौलिक चिन्तन भी उनमें कम नहीं है । बहुश्रुतता एव गभीर अन्वेषण प्रति पृष्ठ से झलकते हैं । हम आशा करते हैं कि पाठकों को दो भागो में प्रकाशित होने वाला यह ग्रन्थ अनेक नई सामग्री प्रदान करेगा और वे इसे बडे ही आदर के साथ अपनायेंगे ।

पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि

आचार्य श्री के तत्त्वावधान में सन्तों द्वारा प्रस्तुत पाण्डुलिपि को नियमानुसार अवधार कर उसकी प्रतिलिपि करने का कार्य साहित्य सघ, (चूरू) द्वारा सम्पन्न हुआ है, जिसके लिए हम संघ के सचालकों के प्रति कृतज्ञ हैं।

अर्थ-व्यवस्था

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का व्यय विराटनगर (नेपाल) निवासी श्री रामलालजी हँसराजजी गोलछा द्वारा श्री हँसर। हुलासचन्दजी गोलछा की स्वर्गीया माता श्री धापीदेवी (धर्मपत्नी श्री रामलालजी गोलछा) की स्मृति में प्रदत्त निधि से हुआ है। इस अनुकरणीय अनुदान के लिए गोलछा-परिवार हार्दिक धन्यवाद का पात्र है।

आगम-साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से उक्त निधि से होने वाले प्रकाशन-कार्य की देख-रेख के लिए निम्न सज्जनों की उपसमिति गठित की गई है :—

१—श्रीमान् हुलासचन्दजी गोलछा
२— ,, मोहनलालजी बाँठिया
३— ,, श्रीचन्द रामपुरिया
४— ,, गोपीचन्दजी चौपडा
५— ,, केवलचन्दजी नाहटा

सर्व श्री श्रीचन्द रामपुरिया एव केवलचन्दजी नाहटा उक्त समिति के संयोजक चुने गये हैं।

आगम-साहित्य प्रकाशन-कार्य

महासभा के अन्तर्गत आगम-साहित्य प्रकाशन समिति का प्रकाशन-कार्य ज्यों-ज्यों आगे बढ रहा है, त्यों-त्यों हृदय में आ.. पारावार नही। मैं तो अपने जीवन की एक साध ही पूरी होते देख रहा हूँ। इस अवसर पर मैं अपने अनन्य बन्धु और साथी गोविन्दरामजी सरावगी, मोहनलालजी बाँठिया एव खेमचन्दजी सेठिया को उनकी मुक्त सेवाओं के लिए हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

आभार

आचार्य श्री की सुदीर्घ दृष्टि अत्यन्त भेदिनी है। जहाँ एक ओर जन-मानस को आध्यात्मिक और नैतिक चेतना की ज.. के व्यापक आन्दोलनों में उनके अमूल्य जीवन-क्षण लग रहे हैं वहाँ दूसरी ओर आगम-साहित्य-गत जैन-सस्कृति के मूल .. जन-व्यापी बनाने का उनका उपक्रम भी अनन्य और स्तुत्य है। जैन-आगमों को अभिलषित रूप में भारतीय एवं विदेशी विद्वानों के ला देने की आकांक्षा में वाचना प्रमुख के रूप में आचार्य श्री तुलसी ने जो अथक परिश्रम अपने कन्धों पर लिया है, उसके लिए नहीं अपितु सारी भारतीय जनता उनके प्रति कृतज्ञ रहेगी।

निकाय सचिव मुनि श्री नथमलजी का सम्पादन-कार्य एव तेरापथ-सघ के अन्य विद्वान् मुनि-वृन्द के सक्रिय सहयोग भी अभिनन्दनीय है।

हम आचार्य श्री और उनके साधु-परिवार के प्रति इस जन-हितकारी पवित्र प्रवृत्ति के लिए नतमस्तक हैं।

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता-१

श्रीचन्द
सयोजक
आगम-साहित्य प्रकाशन

सम्पाद्कीय

आगम-सम्पादन की प्रेरणा

विक्रम सम्वत् २०११ का वर्ष और चैत्र मास। आचार्य श्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। पूना से नारायण की ओर जाते-जाते मध्यावधि में एक दिन का प्रवास मंचर में हुआ। आचार्य श्री एक जैन परिवार के भवन में ठहरे थे। मासिक पत्रों की फाइलें पड़ी थीं। गृह-स्वामी की अनुमति ले, हम लोग उन्हें पढ़ रहे थे। साँझ की वेला, लगभग छह बजे ।। मैं एक पत्र के किसी अंश का निवेदन करने के लिए आचार्य श्री के पास गया। आचाय श्री पत्रों को देख रहे थे। जैसे ही पहुँचा, आचार्य श्री ने धर्मदूत के सद्यस्क अंक की ओर संकेत करते हुए पूछा—"यह देखा कि नहीं ?" मैंने उत्तर में निवे किया—"नहीं, अभी नहीं देखा।" आचार्य श्री बहुत गम्भीर हो गए। एक क्षण रुक कर बोले—"इसमें बौद्ध-पिटकों के सम्प की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत कार्य किया है और अब भी बहुत कर रहे हैं। जैन-आगमों सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नहीं हुआ है और इस ओर अभी ध्यान भी नहीं दिया जा रहा है।" आचार्य श्री की वाणी अन्तर-वेदना टपक रही थी, पर उसे पकड़ने में समय की अपेक्षा थी।

आगम-सम्पादन का संकल्प

रात्रि-कालीन प्रार्थना के पश्चात् आचार्य श्री ने साधुओं को आमंत्रित किया। वे आए और वन्दना कर पक्ति-बद्ध बैठ ग। आचाय श्री ने सायं-कालीन चर्चा का स्पर्श करते हुए कहा—"जैन-आगमों का कायाकल्प किया जाय, ऐसा संकल्प उठा है। ... पूर्ति के लिए कार्य करना होगा, पूर्ण श्रम करना होगा। बोलो, कौन तैयार है ?"

सारे हृदय एक साथ बोल उठे—"सब तैयार हैं।"

आचार्य श्री ने कहा—"महान् कार्य के लिए महान् साधना चाहिए। कल ही पूर्व तैयारी में लग जाओ, अपनी-अ रुचि का विषय चुनो और उसमें गति करो।"

मंचर से विहार कर आचार्य श्री संगमनेर पहुँचे। पहले दिन वैयक्तिक बातचीत होती रही। दूसरे दिन साधु-साध्वियो . परिषद् बुलाई गई। आचार्य श्री ने परिषद् के सम्मुख आगम-सम्पादन के संकल्प की चर्चा की। सारी परिषद् प्रफुल्ल हो उठ। आचार्य श्री ने पूछा—"क्या इस संकल्प को अब निर्णय का रूप देना चाहिए ?"

समलय से प्रार्थना का स्वर निकला—"अवश्य, अवश्य।" आचाय श्री औरंगाबाद पधारे। सुराणा-भवन, चैत्र शु.. त्रयोदशी (वि० सं० २०११), महावीर-जयंती का पुण्य-पर्व। आचार्य श्री ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इस . र्वि संघ की परिषद् में आगम-सम्पादन की विधिवत् घोषणा की।

आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ

वि० स० २०१२ श्रावण मास (उज्जैन चातुर्मास) से आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ हो गया। न तो सम्पादन का को अनुभव और न कोई पूर्व तैयारी। अकस्मात् धर्मदूत का निमित्त पा आचार्य श्री के मन में संकल्प उठा और उसे स शिरोधार्य कर लिया। चिन्तन की भूमिका से इसे निरी भावुकता ही कहा जाएगा, किन्तु भावुकता का मूल्य चिन्तन से . नहीं है। हम अनुभव-विहीन थे, किन्तु आत्म-विश्वास से शून्य नहीं थे। अनुभव आत्म-विश्वास का अनुगमन करता है किन्तु आत्म-विश्वास अनुभव का अनुगमन नहीं करता।

प्रथम दो-तीन वर्षों में हम अज्ञात दिशा में यात्रा करते रहे। फिर हमारी सारी दिशाएँ और कार्य-पद्धतियाँ निश्चित व सुस्थिर हो गई। आगम-सम्पादन की दिशा में हमारा कार्य सर्वाधिक विशाल व गुरुतर कठिनाइयों से परिपूर्ण है, यह कह कर मैं स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूँ। आचार्य श्री के अदम्य उत्साह व समर्थ प्रयत्न से हमारा कार्य निरन्तर गतिशील हो रहा है। इस कार्य में हमें अन्य अनेक विद्वानों की सद्भावना, समर्थन व प्रोत्साहन मिल रहा है। मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की यह वाचना पूर्ववर्ती वाचनाओं से कम अर्थवान् नहीं होगी।

आगम-सम्पादन की रूपरेखा

प्रस्तुत ग्रंथ उत्तराध्ययन का सानुवाद संस्करण है। यह आगम-ग्रन्थ-माला का दूसरा ग्रन्थ है। आगम-साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं—विद्वद्-जन और साधारण-जन। दोनों को दृष्टि में रख कर हमने सम्पादन कार्य को छह ग्रन्थ-माला में ग्रथित किया है। उसका आधार यह है—

(१) **आगम-सुत्त ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला मे आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, शब्दानुक्रम आदि होंगे।

(२) **आगम ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के मूलपाठ, पाठान्तर, संस्कृत-छाया, हिन्दी अनुवाद, पदानुक्रम या सूत्रानुक्रम आदि होंगे।

(३) **आगम-अनुसन्धान ग्रंथ-माला**—इस ग्रन्थ-माला में आगमों के टिप्पण होंगे।

(४) **आगम-अनुशीलन ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के समीक्षात्मक अध्ययन होंगे।

(५) **आगम-कथा ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों से सम्बन्धित कथाओं का संकलन होगा।

(६) **वर्गीकृत-आगम ग्रंथ-माला**— इस ग्रन्थ-माला में आगमों के वर्गीकृत और संक्षिप्त संस्करण होंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका बहुत ही लघुकाय है। उसका प्रतिपाद्य विषय 'उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन' (आगम-अनुशीलन ग्रन्थ-माला, ग्रन्थ-२) तथा 'दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि' (आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला, ग्रन्थ-१) की भूमिका में प्रतिपादित हो चुका है। प्रत्येक अध्ययन के प्रारम्भ में आमुख हैं, उनमें भी अध्ययन की प्रासंगिक चर्चा की गई है। इसलिए भूमिका में चर्चित विषयों की पुनः चर्चा करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

मूलपाठ

प्रस्तुत ग्रन्थ में मूलपाठ वही है, जिसका प्रयोग हमने आगम-सुत्त ग्रन्थ-माला, ग्रन्थ-१ में किया है। पाठ-संशोधन में प्रयुक्त आदर्शों का परिचय उस ग्रन्थ में दिया जा चुका है। पाठान्तर पाद-टिप्पणों में दिए गए हैं। उनके आगे कोष्ठक में संशोधन में प्रयुक्त आदर्शों के संकेत हैं।

हस्तलिखित प्रतियों के संकेत

अ—मूलपाठ सावचूरी।

आ—उत्तराध्ययन मूलपाठ।

इ—उत्तराध्ययन मूल।

उ—उत्तराध्ययन पाठ, अवचूरी सहित।

श—उत्तराध्ययन पाठ, अवचूरी सहित।

स—उत्तराध्ययन सर्वार्थसिद्धि टीका सहित।

मुद्रित प्रतियों के संकेत

सु—सुखबोधा टीका, नेमिचन्द्राचार्य कृत, प्र०—देवचन्द लालभाई।

वृ—बृहद्वृत्ति, शान्त्याचार्य कृत, प्र०—देवचन्द लालभाई जैन, पुस्तकोद्धार, ग्रंथाक-३३।

चू—चूर्णि, गोपालिक महत्तरशिष्य कृत, प्र०—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, ग्रंथाक-३३।

संस्कृत-छाया

संस्कृत-छाया को हमने वस्तुतः छाया रखने का ही प्रयत्न किया है। कुछ मुद्रित पुस्तकों में संस्कृत-छाया टीकाओं के आधार पर की गई है, किन्तु यह कई स्थलों पर छाया न हो कर संस्कृत पर्यायान्तर हो जाता है। टीकाकार प्राकृत शब्द की व्याख्या करते हैं अथवा उसका संस्कृत पर्यायान्तर देते हैं। छाया में वैसा नहीं हो सकता।

मूलपाठ में कुछ शब्द देशी भाषा के हैं। संस्कृत-छाया तत्सम प्राकृत शब्दों की हो सकती है, किन्तु देशी शब्दों की नहीं हो सकती। वहाँ हमने अर्थानुसार संस्कृत पर्याय का प्रयोग किया है। देखें—१३।२१ और २९।२२ में 'धणिय' शब्द का संस्कृत पर्याय। जिनके लिए संस्कृत का एक शब्द नहीं मिलता, वैसे देशी शब्दों को उभयवर्ती व्यवच्छेदों (कोमा) के अन्तर्गत रखा गया है। देखें १।५ का 'कणकुण्डग'। परिभाषाई शब्दों को भी उभयवर्ती व्यवच्छेदों के अन्तर्गत रखा गया है।

हिन्दी-अनुवाद

उत्तराध्ययन का हिन्दी-अनुवाद मूलस्पर्शी है। इसमें कोरे शब्दानुवाद की सी विरसता और जटिलता नहीं है तथा भावानुवाद जैसा विस्तार भी नहीं है। सूत्र का आशय जितने शब्दों मे प्रतिबिम्बित हो सके, उतने ही शब्दों की योजना करने का प्रयत्न किया गया है। मूल शब्दों की सुरक्षा के लिए कहीं-कहीं उनका प्रचलित अर्थ कोष्टकों में किया गया है। सूत्रगत हार्द की स्पष्टता टिप्पण के संस्करण में की गई है। देखें—उत्तराध्ययन के टिप्पण। सभी सूत्रों क टिप्पण अनुवाद के तत्काल बाद नहीं लिखे जा सकते। इस कठिनाई के कारण टिप्पणों के संकेत अनुवाद के साथ संबद्ध नहीं किये जा सके। इससे पाठकों के सामने किंचित् कठिनाई होती है। हमारी कठिनाई उससे कहीं अधिक है, इसलिए वैसा करना हमारे लिए संभव नहीं।

परिशिष्ट

इस संस्करण मे तीन परिशिष्ट हैं—

(१) पदानुक्रम —इसमें प्रत्येक श्लोक के प्रत्येक चरण का अनुक्रम किया गया है।

(२) प्रयुक्त-ग्रन्थ—इसमें आमुखों मे प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची है।

(३) शुद्धि-पत्रम्।

ग्रन्थाग्र—ग्रन्थ-परिमाण

उत्ताराध्ययन का अक्षर-परिमाण कुल ६५५१२।

उत्ताराध्ययन अनुष्टुप् श्लोक-परिमाण २०५०।१२ अक्षर।

प्रस्तुत सम्पादन में सहयोगी

उत्तराध्ययन सर्वाधिक प्रसिद्ध आगम है। यह सरस, सरल और हृदयग्राही है। इसका अनुवाद भी हमने प्राञ्जल हिन्दी में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अनुवाद-कार्य मे मुनि मीठालालजी व दुलहराजजी ने पूरा योग दिया है। आचार्य श्री ने इसे स्व-रुचि तथा जन-रुचि दोनों कसौटियों से कसा है।

इसका पदानुक्रम साध्वी जयश्री, कनकश्री ने किया है। उसके संशोधन में मुनि हनुमानमलजी (सरदारशहर), हीरालालजी, श्रीचन्द्रजी, किशनलालजी, मोहनलालजी (आमेट), साध्वी कमलश्रीजी तथा सरोजकुमारीजी ने योग दिया है।

इसका विषयानुक्रम मुनि रूपचन्द्रजी ने किया है। अनुवाद की प्रतिलिपि में मुनि सुमेरमलजी 'सुमन' ने मेरा सहयोग किया है। ग्रन्थ-परिमाण की गणना मुनि सागरमलजी 'श्रमण', मुनि मोहनलालजी (आमेट) ने की है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक साधु-साध्वियों की पवित्र अँगुलियों का योग है। आचार्य श्री के वरदहस्त की छाया मे बैठ कर कार्य करने वाले हम सब संभागी है, फिर भी मै उन सब साधु-साध्वियों के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूँ, जिनका इस काय में योग है और आशा करता हूँ कि वे इस महान् कार्य के अग्रिम चरण में और अधिक दक्षता प्राप्त करेंगे।

आगमों के प्रवन्ध-सम्पादक श्री श्रीचन्दजी रामपुरिया तथा स्वर्गीय मदनचन्दजी गोठी का भी इस कार्य में निरन्तर सहयोग रहा है।

आदर्श साहित्य संघ के संचालक व व्यवस्थापक श्री हनूतमलजी सुराना व जयचन्दलालजी दफ्तरी का भी अविरल योग रहा है। आदर्श साहित्य संघ की सहयुक्त सामग्री ने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस लक्ष्य के लिए समान गति से चलने वालों की सम-प्रवृत्ति में योगदान की परम्परा का उल्लेख व्यवहार-पूर्ति मात्र है। वास्तव में यह हम सबका पवित्र कर्त्तव्य हैं और उसी का हम सबने पालन किया है।

आचार्य श्री प्रेरणा के अनन्त स्रोत हैं। हमे इस कार्य में उनकी प्रेरणा और प्रत्यक्ष योग दोनों प्राप्त हैं, इसलिए हमारा कार्य-पथ बहुत ऋजु हुआ है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं कार्य की गुरुता को बढ़ा नहीं पाऊँगा। उनका आशीर्वाद दीप बन कर हमारा कार्य-पथ प्रकाशित करता रहे, यही हमारी आशंसा है।

—मुनि नथमल

सागर-सदन,
शाहीबाग,
अहमदावाद-४
२० अगस्त, १९६७

भूमिका

जैन-आगम चार वर्गों में विभक्त है—(१) अग, (२) उपांग, (३) मूल और (४) छेद। यह वर्गीकरण बहुत प्राचीन नही है। विक्रम की १३-१४वी शताब्दी से पूर्व इस वर्गीकरण का उल्लेख प्राप्त नही है।

उत्तराध्ययन 'मूल वर्ग' के अन्तर्गत परिगणित होता है।

चूर्णि-कालीन श्रुत-पुरुष की स्थापना के अनुसार मूल-स्थानीय (चरण-स्थानीय) दो सूत्र हैं—(१) आचाराग और (२) सूत्रकृतांग। परन्तु जिस समय पैंतालीस आगमों की कल्पना स्थिर हुई, उस समय श्रुत-पुरुष की स्थापना में भी परिवर्तन हुआ और श्रुत-पुरुष की अर्वाचीन प्रतिकृतियों में दशवैकालिक और उत्तराध्ययन—ये दो सूत्र चरण-स्थानीय माने जाने लगे।

नाम

इस सूत्र का नाम उत्तराध्ययन है। यह दो शब्दो—'उत्तर' और 'अध्ययन'—से बना है। इसी सूत्र के अन्तिम श्लोक तथा निर्युक्ति आदि मे इसका नाम बहुवचनात्मक मिलता है।

रचना-काल और कर्त्तृत्व

निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन किसी एक कर्त्ता की कृति नही है। कर्तृत्व की दृष्टि से इसके अध्ययन चार वर्गो मे विभक्त होते हैं। जैसे—(१) अग-प्रभव—दूसरा अध्ययन, (२) जिन-भाषित—दसव अध्ययन, (३) प्रत्येक-बुद्ध-भाषित—आठवाँ अध्ययन और (४) सवाद-समुत्थित—नौवाँ तथा तेईसवाँ अध्ययन।

इस सूत्र के अध्ययन कब और किसके द्वारा रचे गए, इसकी प्रामाणिक जानकारी के लिए साधन-सामग्री सुलभ नही है।

उत्तराध्ययन की विषय-वस्तु के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्तराध्ययन के अध्ययन ई० पू० ६०० से ईसवी सन् ४००, लगभग हजार वर्ष की धार्मिक व दार्शनिक धारा का प्रतिनिधित्व कर रहे है।

कई विद्वान् ऐसा मानते है कि उत्तराध्ययन के पहले अठारह अध्ययन प्राचीन है और उत्तरवर्ती अठारह अध्ययन अर्वाचीन। किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए कोई पुष्ट साक्ष्य प्राप्त नही है। यह सही है कि कई अध्ययन बहुत प्राचीन है और कई अर्वाचीन।

वीर निर्वाण की एक सहस्राब्दी के बाद देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने प्राचीन और अर्वाचीन अध्ययनों का सकलन कर उसे एक रूप दिया।

उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग मे परिगणित होता है। इससे यह अनुमान लगता है कि इसके प्राचीन सस्करण का मुख्य भाग कथा-भाग था।

वर्तमान में प्राप्त उत्तराध्ययन मे अनेक अनुयोगों का समावेश है। इसमें १४ अध्ययन धर्मकथात्मक (७, ८, ९, १२, १३, १४, १८ से २३, २५ से २७), छह अध्ययन उपदेशात्मक (१, ३, ४, ५, ६ और १०), नौ अध्ययन आचारात्मक (२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२ और ३५) तथा सात अध्ययन (२८, २९, ३०, ३१, ३३, ३४, ३६) सैद्धान्तिक है।

इन तथ्यों से यह फलित होता है कि यह सकलन-सूत्र है, एक-कर्तृक नहीं।

आकार और विषय-वस्तु

इसमें छत्तीस अध्ययन है और १६३८ श्लोक तथा ८९ सूत्र है। प्रत्येक अध्ययन का विषय भिन्न-भिन्न है। उसका विवरण इस प्रकार है—

अध्ययन	श्लोक	विषय
१—विणयसुय	४८	विनय
२—परीसह	४६ सू० ३	प्राप्त-कष्ट-सहन का विधान
३—चाउरंगिज्ज	२०	चार दुर्लभ अंगों का प्रतिपादन
४—असखय	१३	प्रमाद और अप्रमाद का प्रतिपादन
५—अकाममरणिज्ज	३२	मरण-विभक्ति—अकाम और सकाम-मरण
६—पुरिसविज्जा	१७	विद्या और आचरण
७—उरब्भिज्जं	३०	रस-गृद्धि का परित्याग
८—काविलिज्ज	२०	लाभ और लोभ के योग का प्रतिपादन
९—नमिपव्वज्जा	६२	सयम मे निष्प्रकम्प भाव
१०—दुमपत्तय	३७	अनुशासन
११—बहुसुयपूजा	३२	बहुश्रुत की पूजा
१२—हरिएसिज्ज	४७	तप का ऐश्वर्य
१३—चित्तसभूय	३५	निदान—भोग-सकल्प
१४—उसुकारिज्ज	५३	अनिदान—भोग-असकल्प
१५—सभिक्खुग	१६	भिक्षु के गुण
१६—समाहिठाणाइ	१७ सू० १२	ब्रह्मचर्य की गुप्तियाँ
१७—पावसमणिज्ज	२१	पाप-वर्जन
१८—सजइज्ज	५३	भोग और ऋद्धि का त्याग
१९—मियचारिता	९८	अपरिकर्म—देहाध्यास का परित्याग
२०—अणाहपव्वज्जा	६०	अनाथता
२१—समुद्दपालिज्ज	२४	विचित्र चर्या
२२—रहनेमिज्ज	४९	चरण का स्थिरीकरण
२३—गोयमकेसिज्जं	८९	धर्म—चातुर्याम और पचयाम
२४—समितीओ	२७	समितियाँ-गुप्तियाँ
२५—जन्नतिज्ज	४३	ब्राह्मण के गुण
२६—सामायारी	५२	सामाचारी
२७—खलुंकिज्ज	१७	अशठता
२८—मोक्खमग्गगई	३६	मोक्ष-मार्ग-गति
२९—अप्पमाओ	सू० ७४	आवश्यक में अप्रमाद
३०—तवोमग्गो	३७	तप

३१—चरणविही	२१	चारित्र
३२—पमायट्ठाणाइं	१११	प्रमाद-स्थान
३३—कम्मपगडी	२५	कर्म
३४—लेसज्झयण	६१	लेश्या
३५—अणगारमग्गे	२१	भिक्षु के गुण
३६—जीवाजीवविभत्ती	२६८	जीव और अजीव का प्रतिपादन

इस सूत्र मे भाषा के विशिष्ट प्रयोग उपलब्ध होते है। इसकी मूल भाषा अर्द्धमागधी प्राकृत है, परन्तु यत्र-तत्र महाराष्ट्री-प्राकृत के प्रयोग भी बहुलता से मिलते है।

इन पृष्ठों में चर्चित विषय-वस्तु का विशद विवेचन 'दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणं' की भूमिका (पृष्ठ १-४६) में किया जा चुका है। व्याकरण, छन्द, तुलनात्मक, भूगोल और व्यक्ति-परिचय—इनका विमर्श 'उत्तराध्ययन एक समीक्षात्मक अध्ययन' मे किया जा चुका है।

वाव
२६ अप्रैल, १६६७

—आचार्य तुलसी

उत्तरज्झयणाणि

अध्ययन अनुक्रमणिका

अध्ययन-विषयानुक्रम

१८—पिता द्वारा शरीर-नाश के साथ जीव-नाश का प्रतिपादन।

१९—कुमारों द्वारा आत्मा की अमूर्तता का प्रतिपादन।
आत्मा के आन्तरिक दोष ही संसार-बन्धन के हेतु।

२०—धर्म की अजानकारी में पाप का आचरण।

२१—पीडित लोक में सुख की प्राप्ति नहीं।

२२—लोक की पीडा क्या ?

२३—लोक की पीडा—मृत्यु।

२४—अधर्म-रत व्यक्ति की रात्रियाँ निष्फल।

२५—धर्म-रत व्यक्ति की रात्रियाँ सफल।

२६—यौवन बीतने पर एक साथ दीक्षा लेने का पिता का सुझाव।

२७—मृत्यु को वश में करने वाला ही कल की इच्छा करने में समर्थ।

२८—आज ही मुनि-धर्म स्वीकारने का संकल्प।

२९,३०—पिता की भी साथ ही गृह-त्याग की भावना।
शाखा-रहित वृक्ष, विना पख का पक्षी, सेना-रहित राजा और धन-रहित व्यापारी की तरह असहायता।

३१—वाशिष्ठी द्वारा प्राप्त भोगों को भोगने के बाद मोक्ष पथ के स्वीकार का सुझाव।

३२—पुरोहित द्वारा भोगों की असारता। मुनि-धर्म के आचरण का सकल्प।

३३—भोग न भोगने से बाद में अनुताप।

३४—पुत्रों का अनुगमन क्यों नही ?

३५—रोहित मच्छ की तरह धीर पुरुष ही ससार-जाल को काटने में समर्थ।

३६—वाशिष्टी की भी पुत्र और पति के अनुगमन की इच्छा।

३७-३८—पुरोहित-परिवार की प्रव्रज्या के बाद राजा द्वारा धन-सामग्री लेने की इच्छा।
रानी कमलावती की फटकार।

३९—समूचा जगत् भी इच्छा की पूर्ति के लिए असमर्थ।

४०—पदार्थ-जगत् की अत्राणता। धर्म की त्राणता।

४१—रानी द्वारा स्नेह-जाल को तोड कर मुनि-धर्म के आचरण की इच्छा।

४२,४३—राग-द्वेष युक्त प्राणियों की ससार में मूढता।

४४—विवेकी पुरुषों द्वारा अप्रतिवद्ध विहार।

४५—रानी द्वारा राजा को भृगु पुरोहित की तरह बनने की प्रेरणा।

४६—निरामिष बनने का सकल्प।

४७—काम-भोगों से सशंकित रहने का उपदेश।

४८—बन्धन-मुक्त हाथी की तरह स्व-स्थान की प्राप्ति का उद्‌बोध।

४९—राजा और रानी द्वारा विपुल राज्य और काम-भोगों का त्याग।

५०—तीर्थङ्कर द्वारा उपदिष्ट मार्ग में घोर पराक्रम।

५१—दु खों के अन्त की खोज।

५२—राजा, रानी, पुरोहित, ब्राह्मणी, पुरोहित-कुमारों द्वारा दु ख-विमुक्ति।

उत्तरज्झयणाणि

पढमं अज्झयणं :

विणय-सुयं

प्रथम अध्ययन :

विनय-श्रुत

आमुख

चूर्णि के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'विनय-सूत्र'[1] और निर्युक्ति तथा बृहद्वृत्ति के अनुसार 'विनय-श्रुत' है[2]।

समवायाग मे भी इस अध्ययन का नाम 'विनय-श्रुत' है[3]। 'श्रुत' और 'सूत्र' दोनों पर्यायवाची शब्द है। इस अध्ययन मे विनय की श्रुति या सूत्रण है।

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति का एक अग 'तपोयोग' है। उसके बारह प्रकार है। उनमे आठवाँ प्रकार 'विनय' है[4]। उसके सात रूप प्राप्त होते है[5]

१—ज्ञान-विनय—ज्ञान का अनुवर्तन।

२—दर्शन-विनय—दर्शन का अनुवर्तन।

३—चारित्र-विनय—चारित्र का अनुवर्तन।

४—मन-विनय—मन का प्रवर्तन।

५—वचन-विनय—वचन का प्रवर्तन।

६—काय-विनय—काया का प्रवर्तन।

७—लोकोपचार-विनय—अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार-परिपालन।

बृहद्वृत्ति में 'विनय' के पाँच रूप प्राप्त होते है[6]—

१—लोकोपचार-विनय।

२—अर्थ-विनय—अर्थ के लिए अनुवर्तन करना।

३—काम-विनय—काम के लिए अनुवर्तन करना।

४—भय-विनय—भय के लिए अनुवर्तन करना।

५—मोक्ष-विनय—मोक्ष के लिए अनुवर्तन करना। (इस विनय के पाँच प्रकार किए गए है—ज्ञान-विनय, दर्शन-विनय, चारित्र-विनय, तप-विनय और औपचारिक-विनय।[7])

इन दोनो वर्गीकरणों के आधार पर विनय के निम्न अर्थ प्राप्त होते है—अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार-परिपालन।

१—उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ ८ : प्रथममध्ययन विनयसुत्तमिति, विनयो यस्मिन् सूत्रे वर्ण्यते तदिद विनयसूत्रम्।

२—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८ तत्यज्झयण पढम विणयसुय । (ख) बृहद्वृत्ति, पत्र १५ विनयश्रुतमिति द्विपद नाम।

३—समवायांग, समवाय ३६ छत्तीस उत्तरज्झयणा प० त०—विणयसुय ।

४—उत्तराध्ययन, ३०।८,३०

५—औपपातिक, सूत्र २० से कि त विणए ? २ सत्तविहे पण्णत्ते, तजहा—णाणविणए दसणविणए चरित्तविणए मणविणए वइविणए कायविणए लोगोवयारविणए।

६—बृहद्वृत्ति, पत्र १६ लोकोवयारविणओ अत्थनिमित्त च कामहेउ च।
भयविणयमोक्खविणओ खलु पचहा णेओ॥

७—वही दसणणाणचरित्ते तवे य तह ओवयारिए चेव।
एसो य मोक्खविणओ पचविहो होइ णायव्वो॥

प्रस्तुत अध्ययन मे इन सभी प्रकारों का प्रतिपादन हुआ है ।

दूसरे श्लोक में 'विनीत' की परिभाषा लोकोपचार-विनय के आधार पर की गई है। लोकोपचार-विनय के सात विभाग है [1]—

१—अभ्यासवृत्तिता—समीप रहना ।

२—परछन्दानुवृत्तिता—दूसरे के अभिप्राय का अनुवर्तन करना ।

३—कार्यहेतु—कार्य की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना ।

४—कृतप्रतिक्रिया—कृत उपकार के प्रति अनुकूल वर्तन करना ।

५—आर्त्तगवेषणा—आर्त्त की गवेषणा करना ।

६—देश-कालज्ञता—देश और काल को समझना ।

७—सर्वार्थ-अप्रतिलोमता—सब प्रकार के प्रयोजनो की सिद्धि के लिए अनुकूल वर्तन करना ।

दूसरे श्लोक मे दी हुई विनीत की परिभाषा मे इनमे से तीन विभाग—परछन्दानुवृत्तिता, अभ्यासवृत्तिता, देश-कालज्ञता—क्रमश आज्ञानिर्देशकर, उपपातकारक और इंगिताकार-सम्पन्न के रूप मे प्रयुक्त हुए है ।

दसवें श्लोक मे 'मन-विनय', 'वचन-विनय' और 'ज्ञान-विनय' का सक्षेप मे बहुत सुन्दर निर्देश किया गया है ।

इस प्रकार इस अध्ययन मे विनय के सभी रूपों का सम्यक् सकलन हुआ है। प्राचीन काल मे विनय का बहुत मूल्य रहा है। तेईसवें श्लोक मे बताया गया है कि आचार्य विनीत को विद्या देते हैं। अविनीत विद्या का अधिकारी नही माना जाता। इस अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गुरु शिष्य पर कठोर और मृदु दोनों प्रकार का अनुशासन करते थे (श्लोक २७)। समय की नियमितता भी विनय और अनुशासन का एक अग था ·

कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकाल च विवज्जित्ता, काले काल समायरे ॥१।३१॥

इस अध्ययन मे स्वाध्याय और ध्यान दोनों का सम्मिलित उल्लेख मिलता है। आचार्य रामसेन ने लिखा है :

स्वाध्यायाद्ध ध्यानमध्यास्ता, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसम्पत्या, परमात्माप्रकाशते ॥[2]

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय—इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान की पुनरावृत्ति से परमात्मस्वरूप उपलब्ध होता है ।

यह परम्परा बहुत पुरानी है। इसका सकेत दसवें श्लोक मे मिलता है—

कालेण य अहिज्जित्ता, तओ झाएज्ज एगगो।

विनय के व्यापक स्वरूप को सामने रखकर ही यह कहा गया था—"विनय जिन-शासन का मूल है। जो विनय-रहित है, उसे धर्म और तप कहाँ से प्राप्त होगा ?"[3]

१—औपपातिक, सू २० से किं त लोगोवयारविणए ? २ सत्तविहे पण्णत्ते तजहा—अब्भासवत्तिय परच्छदाणुवत्तिय कज्जहेउ कयपडिकिरिया अत्तगवेसणया देस-कालण्णुया सव्वट्ठेछ अपडिलोमया ।

२—तत्त्वानुशासन, ८१

३—उपदेशमाला, ३४१ विणओ सासणे मूल, विणीओ सजओ भवे।
विणमाओ विप्पमुक्कस्स, कओ धम्मो कओ तओ ॥

आचार्य वट्टकेर ने विनय का उत्कर्ष इस भाषा मे प्रस्तुत किया—"विनयविहीन व्यक्ति कि सारी शिक्षा व्यर्थ है। शिक्षा का फल विनय है।"[1] यह नही हो सकता कि कोई व्यक्ति शिक्षित है और विनीत नही है। उनकी भाषा मे शिक्षा का फल विनय और विनय का फल शेष समग्र कल्याण है।

विनय मानसिक-दासता नही है, किन्तु वह आत्मिक और व्यावहारिक विशेषताओं की अभिव्यजना है। उसकी पृष्ठ-भूमि मे इतने गुण समाहित रहते है[2]

१—निर्द्वन्द्व—कलह आदि द्वन्द्वों की प्रवृत्ति का अभाव।

२—ऋजुता—सरलता।

३—मृदुता—निश्छलता और निरभिमानता।

४—लाघव—अनासक्ति।

विनय के व्यावहारिक फल है—कीर्ति और मैत्री। विनय करने वाला अपने अभिमान का निरसन, तीर्थङ्कर की आज्ञा का पालन और गुणों का अनुमोदन करता है।[3]

सूत्रकार ने विनीत को वह स्थान दिया है, जो अनायास-लभ्य नही है। सूत्र की भाषा है—"हवइ किच्चाण सरण, भूयाण जगई जहा।"[4] जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियो के लिए आधार होती है, उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालों के लिए आधार होता है।

१—मूलाचार, ५।२११ विणएण विप्पहीणस्स, हवदि सिक्खा सव्वा णिरत्थिया।
विणओ सिक्खाए फल, विणयफल सव्व कल्लाण॥

२—वही, ५।२१३ आयारजीदकप्पगुणदीवणा, अत्तसोधि णिज्जजा।
अज्जव-मद्दव-लाहव-भत्ती-पल्हादकरण च॥

३—वही, ५।२१४ कित्ती मित्ती माणस्स भजण गुरुजणे य बहुमाण।
तित्थयराण आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा॥

४—उत्तराध्ययन, १।४५

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

विणय-सुयं : विनय-श्रुतम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो । विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे ॥	संयोगाद् विप्रमुक्तस्य अनगारस्य भिक्षोः । विनयं प्रादुष्करिष्यामि आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥	१—जो संयोग से मुक्त है, अनगार है, भिक्षु है, उसके विनय को क्रमशः प्रकट करूँगा । मुझे सुनो ।
२—आणानिद्देसकरे गुरूणमुववायकारए । इंगियागार-संपन्ने से 'विणीए त्ति' वुच्चई ॥	आज्ञानिर्देशकरः गुरुणामुपपातकारकः । इंगिताकारसम्प्रज्ञः स 'विनीत' इत्युच्यते ॥	२—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करता है, गुरु की शुश्रूषा करता है, गुरु के इंगित और आकार को जानता है, वह 'विनीत' कहलाता है ।
३—आणाऽनिद्देसकरे[1] गुरूणमणुववायकारए । पडिणीए असंबुद्धे 'अविणीए त्ति' वुच्चई ॥	आज्ञाऽनिर्देशकरः गुरुणामनुपपातकारकः । प्रत्यनीकोऽसम्बुद्धः 'अविनीत' इत्युच्यते ॥	३—जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन नहीं करता, गुरु की शुश्रूषा नहीं करता, जो गुरु के प्रतिकूल वर्तन करता है और तथ्य को नहीं जानता, वह 'अविनीत' कहलाता है ।
४—जहा सुणी पूइ-कण्णी निक्कसिज्जइ सव्वसो । एवं दुस्सील-पडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई ॥	यथा शुनी पूतिकर्णी निष्काश्यते सर्वतः । एवं दुःशील प्रत्यनीक मुखरो निष्काश्यते ॥	४—जैसे सड़े हुए कानों वाली कुतिया सभी स्थानों से निकाली जाती है, वैसे ही दुःशील, गुरु के प्रतिकूल वर्तन करने वाला और वाचाल भिक्षु गण से निकाल दिया जाता है ।
५—कण-कुण्डगं चइत्ताणं[2] विट्ठं भुंजइ सूयरे । एवं सीलं चइत्ताणं दुस्सीले रमई मिए[3] ॥	'कणकुण्डकं' त्यक्त्वा विष्ठां भुङ्क्ते शूकरः । एवं शीलं त्यक्त्वा दुःशीले रमते मृगः ॥	५—जिस प्रकार सूअर चावलों की भूसी को छोड़कर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी भिक्षु शील को छोड़कर दुःशील में रमण करता है ।

---

१. आणा अनिद्देसयरे (अ) ।
२. जहित्ताण (बृ०, चू०), चइत्ताण (बृ०पा०) ।
३. मिई (आ) ।

६—सुणियाऽभाव साणस्स
सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठवेज्ज अप्पाण
इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

श्रुत्वा अभाव शुन्या
शूकरस्य नरस्य च।
विनये स्थापयेदात्मानम्
इच्छन् हितमात्मन ॥

६—अपनी आत्मा का हित चाहने वाला भिक्षु कुतिया और सूअर की तरह दु शील मनुष्य के अभाव (हीन भाव) को सुनकर अपने आप को विनय में स्थापित करे।

७—तम्हा विणयमेसेज्जा
सीलं पडिलभे जओ[1]।
बुद्ध-पुत्त[2] नियागट्ठी
न निक्कसिज्जइ कण्हुई ॥

तस्माद् विनयमेषयेत्
शील प्रतिलभेत यतः।
बुद्धपुत्रो नियागार्थी
न निष्काश्यते क्वचित् ॥

७—इसलिए विनय का आचरण करे जिससे शील की प्राप्ति हो। जो बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) और मोक्ष का अर्थी होता है, वह गण से नही निकाला जाता।

८—निसन्ते सियाऽमुहरी[3]
बुद्धाण अन्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खेज्जा
निरट्ठाणि उ वज्जए ॥

निःशान्त स्यादमुखरः
बुद्धानामन्तिके सदा।
अर्थयुक्तानि शिक्षेत
निरर्थानि तु वर्जयेत् ॥

८—भिक्षु आचार्य के समीप सदा प्रशान्त रहे। वाचालता न करे। उनके पास अर्थ-युक्त पदो को सीखे और निरर्थक कथाओं का वर्जन करे।

९—अणुसासिओ न कुप्पेज्जा
खंतिं सेविज्ज पण्डिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं
हासं कीडं च वज्जए ॥

अनुशिष्टो न कुप्येत्
क्षान्तिं सेवेत पण्डितः।
क्षुद्रैः सह ससर्ग
हासं क्रीडा च वर्जयेत् ॥

९—पण्डित भिक्षु गुरु के द्वारा अनुशासित होने पर क्रोध न करे, क्षमा की आराधना करे। क्षुद्र व्यक्तियो के साथ ससर्ग, हास्य और क्रीडा न करे।

१०—मा य चण्डालियं कासी[4]
बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता
तओ झाएज्ज एगगो[5] ॥

मा च चाण्डालिक कार्षी
बहुक मा चालपेत्।
कालेन चाधीत्य
ततो ध्यायेदेककः ॥

१०—भिक्षु चण्डालोचित कर्म (क्रूर-व्यवहार) न करे। बहुत न बोले। स्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करे और उसके पश्चात् अकेला ध्यान करे।

११—आहच्च चण्डालियं कट्टु
न निण्हविज्ज कयाइ वि।
'कडं कडे' त्ति भासेज्जा
'अकडं नो कडे' त्ति य ॥

आहत्य चाण्डालिक कृत्वा
न निन्हुवीत कदाचिदपि।
कृत कृतमिति भाषेत
अकृत नो कृतमिति च ॥

११—भिक्षु सहसा चण्डालोचित कर्म कर उसे कभी भी न छिपाए। अकरणीय किया हो तो किया और नही किया हो तो न किया कहे।

---

१ पडिलभिज्जओ (ऋ०), पडिलभेज्जओ (अ)।
२ बुद्ध उत्ते (बृ०), बुद्धपुत्ते, बुद्धवुत्ते (बृ०पा०)।
३ सियाअमुहरी (अ)।
४ कुज्जा (उ)।
५ एक्कओ (अ)।

१२—मा 'गलियस्से व'[1] कस
वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कस व दट्ठुमाइण्णे
पावग परिवज्जए[2] ॥

मा गल्यश्व इव कश
वचनमिच्छेद् पुन पुनः।
कशमिव दृष्ट्वा आकीर्णः
पापक परिवर्जयेत् ॥

१२—जैसे अविनीत घोडा चाबुक को बार-बार चाहता है, वैसे विनीत शिष्य गुरु के वचन को (आदेश-उपदेश) को बार-बार न चाहे। जैसे विनीत घोडा चाबुक को देखते ही उन्मार्ग को छोड देता है, वैसे ही विनीत शिष्य गुरु के इगित और आकार को देखकर अशुभ प्रवृत्ति को छोड दे।

१३—अणासवा[3] थूलवया कुसीला
मिउ पि चण्ड पकरेति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया
पसायए ते हु दुरासय पि ॥

अनाश्रवा स्थूलवचस कुशीलाः
मृदुमपि चण्ड प्रकुर्वन्ति शिष्याः।
चित्तानुगा लघुदाक्ष्योपेता
प्रसादयेयुस्ते 'हु' दुराशयमपि ॥

१३—आज्ञा को न मानने वाले और अट-सट बोलने वाले कुशील शिष्य कोमल स्वभाव वाले गुरु को भी क्रोधी बना देते हैं। चित्त के अनुसार चलने वाले और पटुता से कार्य को सम्पन्न करने वाले शिष्य, दुराशय (शीघ्र ही कुपित होने वाले) गुरु को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

१४—नापुट्ठो वागरे किंचि
पुट्ठो वा नालिय वए।
कोह असच्च कुव्वेज्जा
धारेज्जा पियमप्पिय ॥

नापृष्टो व्यागृणीयात् किञ्चित्
पृष्टो वा नालीक वदेत्।
क्रोधमसत्य कुर्वीत
धारयेत् प्रियमप्रियम् ॥

१४—बिना पूछे कुछ भी न बोले। पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध न करे। आ जाए तो उसे विफल कर दे। प्रिय और अप्रिय को धारण करे—उन पर राग और द्वेष न करे।

१५—'अप्पा चेव दमेयव्वो'[4]
अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा-दन्तो सुही होइ
अस्सि लोए परत्थ य ॥

आत्मा चैव दान्तव्यः
आत्मा 'हु' खलु दुर्दमः।
आत्मा दान्त सुखी भवति
अस्मिल्लोके परत्र च ॥

१५—आत्मा का ही दमन करना चाहिए। क्योकि आत्मा ही दुर्दम है। दमित-आत्मा ही इहलोक और परलोक में सुखी होता है।

१६—वर[5] मे अप्पा दन्तो
सजमेण तवेण य।
माह परेहि दम्मन्तो
वन्धणेहि वहेहि य ॥

वर मयात्मा दान्तः
सयमेन तपसा च।
मा ह परैर्दमित
वन्धनैर्वधैश्च ॥

१६—अच्छा यही है कि मैं सयम और तप के द्वारा अपनी आत्मा का दमन करूँ। दूसरे लोग बन्धन और वध के द्वारा मेरा दमन करें—यह अच्छा नही है।

---

१ गलियस्सुव्व (उ, ऋ०), गलियस्सेव्व (अ)।
२. पडिवज्जए (अ, वृ०पा०)।
३ अणासुणा (वृ०पा०)।
४ अप्पाणमेव दमए (वृ०, चू०), अप्पा चेव दम्मेयव्वो (वृ०पा०)।
५. वर (अ, उ, म)।

१७—पडिणीयं च बुद्धाण
वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से
नेव कुज्जा कयाइ वि॥

प्रत्यनीक (कत्व) च बुद्धाना
वाचा अथवा कर्मणा।
आविर्वा यदि वा रहस्ये
नैव कुर्यात् कदाचिदपि॥

१७—लोगो के समक्ष या एकान्त में, वचन से या कर्म से, कभी भी आचार्यो के प्रतिकूल वर्तन न करे।

१८—न पक्खओ न पुरओ
नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं
सयणे नो पडिस्सुणे॥

न पक्षतो न पुरतः
नैव कृत्याना पृष्ठतः।
न युञ्ज्याद् ऊरुणोरु
शयने नो प्रतिश्रृणुयात्॥

१८—आचार्यो के वरावर न वैठे। आगे और पीछे भी न वैठे। उनके ऊरु (जाँघ) से अपना ऊरु सटाकर न वैठे। विछौने पर वैठा हुआ ही उनके आदेश को स्वीकार न करे, किन्तु उसे छोडकर स्वीकार करे।

१९—नेव पल्हत्थियं कुज्जा
पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारिए[1] वावि
न चिट्ठे गुरुणन्तिए॥

नैव पर्यस्तिका कुर्यात्
पक्ष-पिण्ड वा सयत।
पादौ प्रसारितौ वापि
न तिष्ठेद् गुरूणामन्तिके॥

१९—सयमी मुनि गुरु के समीप पलथी लगाकर (घुटनो और जाँघो के चारो ओर वस्त्र वाध कर) न वैठे। पक्ष-पिण्ड कर (दोनो हाथो से शरीर को वाधकर) तथा पैरो को फैला कर न वैठे।

२०—आयरिएहिं वाहिन्तो
तुसिणीओ न कयाइ वि।
पसाय-पेही[2] नियागट्ठी
उवचिट्ठे गुरुं सया॥

आचार्यै र्व्याहृतः
तूष्णीको न कदाचिदपि।
प्रसादप्रेक्षी नियागार्थी
उपतिष्ठेत गुरु सदा॥

२०—आचार्यो के द्वारा वुलाए जाने पर किसी भी अवस्था में मौन न रहे। गुरु के प्रसाद को चाहने वाला, मोक्षाभिलाषी शिष्य सदा उनके समीप रहे।

२१—आलवन्ते लवन्ते वा
न निसीएज्ज कयाइ वि।
चइऊणमासणं धीरो
जओ जत्तं[3] पडिस्सुणे॥

आलपन् लपन् वा
न निषीदेत् कदाचिदपि।
त्यक्त्वा आसन धीर
यतो यत्तत् प्रतिश्रृणुयात्॥

२१—वुद्धिमान् शिष्य गुरु के एक वार वुलाने पर या वार-वार वुलाने पर कभी भी वैठा न रहे, किन्तु वे जो आदेश दें, उसे आसन को छोडकर यत्न के साथ स्वीकार करे।

२२—आसण-गओ न पुच्छेज्जा
नेव 'सेज्जा-गओ कया'[4]।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो
पुच्छेज्जा पंजलीउडो[5]॥

आसनगतो न पृच्छेत्
नैव शय्यागतः कदा।
आगम्योत्कुटुकः सन्
पृच्छेत् प्राजलिपुट.॥

२२—आसन पर अथवा शय्या पर वैठा-वैठा कभी भी गुरु से-कोई वात न पूछे, परन्तु उनके समीप आकर उकडू वैठ, हाथ जोडकर पूछे।

---

१ पसारे नो (बृ०), पसारिए (बृ०पा०)।
२. पसायट्ठी (बृ०पा०)।
३ जुत्त (अ, उ)।
४ णिसिज्जागओ कयाइ (चू०)।
५ पजलीगडे (बृ०); पजलीउडो (बृ०पा०)।

२३—एव विणयजुत्तस्स
मुत्त अत्थ च तदुभय।
पुच्छमाणस्स सीसस्स
वागरेज्ज जहासुय॥

एव विनययुक्तस्य
सूत्रमर्थं च तदुभयम्
पृच्छतः शिष्यस्य
व्यागृणीयाद् यथाश्रुतम्॥

२३—इस प्रकार जो शिष्य विनय-युक्त हो, उसके पूछने पर गुरु सूत्र, अर्थ और तदुभय (सूत्र और अर्थ दोनो) जैसे सुने हों (जाने हुए हो) वैसे बताए।

२४—मुस परिहरे भिक्खू
न य ओहारिणिं वए।
भासा-दोस परिहरे
माय च वज्जए सया॥

मृषा परिहरेद् भिक्षुः
न चावधारिणीं वदेत्।
भाषादोष परिहरेत्
माया च वर्जयेत् सदा॥

२४—भिक्षु असत्य का परिहार करे। निश्चय-कारिणी भाषा न वोले। भाषा के दोषो को छोडे। माया का सदा वर्जन करे।

२५—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्ज
न निरट्ठं न मम्मय।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा
उभयस्सन्तरेण वा॥

न लपेत् पृष्ट· सावद्य
न निरर्थं न मर्मकम्।
आत्मार्थं परार्थं वा
उभयस्यान्तरेण वा॥

२५—किसी के पूछने पर भी अपने, पराए या दोनो के प्रयोजन के लिए अथवा अकारण ही सावद्य न वोले, निरर्थक न वोले और मम-भेदी वचन न वोले।

२६—समरेसु अगारेसु
'सन्धीसु य महापहे'[1]।
एगो एगित्थिए सद्धिं
नेव चिट्ठे न सलवे॥

स्मरेषु अगारेषु
सन्धिषु च महापथे।
एक एकस्त्रिया सार्धं
नैव तिष्ठेन्न सलपेत्॥

२६—कामदेव के मदिरो मे, घरो में, दो घरों के वीच की सघियो मे और राजमार्ग में अकेला मुनि अकेली स्त्री के साथ न खडा रहे और न सलाप करे।

२७—ज मे वुद्धाणुसासन्ति
सीएण[2] फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए
पयओ त पडिस्सुणे॥

यन्मा वुद्धा अनुशासति
शीतेन परुषेण वा।
मम लाभ इति प्रेक्ष्य
प्रयतस्तत प्रतिश्रृणुयात्॥

२७—"आचार्य मुझ पर कोमल या कठोरवचनो से जो अनुशासन करते है वह मेरे लाभ के लिए है"—ऐसा सोचकर प्रयत्नपूर्वक उनके वचनो को स्वीकार करे।

२८—अणुसासणमोवाय
दुक्कडस्स य चोयण[3]।
हियं त मन्नए पण्णो
वेस होइ असाहुणो॥

अनुशासनमौपाय
दुष्कृतस्य च चोदनम्।
हित तन्मन्यते प्राज्ञः
द्वेष्य भवत्यसाधोः॥

२८—मृदु या कठोर वचनो मे किया जाने वाला अनुशासन दुष्कृत का निवारक होता है। प्रज्ञावान् मुनि उसे हित मानता है। वही असाधु के लिए द्वेष का हेतु वन जाता है।

---

१ गिहसन्धीसु महापहे (छ०), गिहसधिसु अ महापहेसु (वृ०)।
२. सीतेण (अ), सीलेण (वृ०पा०, चू०पा०)।
३ पेरण (वृ०), चोयणा (चू०)।

२९—हियं विगय-भया बुद्धा
फरुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं
खन्ति-सोहिकरं[1] पयं ॥

हितं विगतभया बुद्धाः
परुषमप्यनुशासनम् ।
द्वेष्यं तद् भवति मूढानां
क्षान्तिशोधिकरं पदम् ॥

२९—भय-मुक्त बुद्धिमान् शिष्य गुरु के कठोर अनुशासन को भी हितकर मानते हैं। परन्तु अज्ञानियों के लिए वही—क्षमा और चित्त-विशुद्धि करने वाला, गुण-वृद्धि का आधारभूत—अनुशासन द्वेष का हेतु बन जाता है।

३०—आसणे उवचिट्ठेज्जा
'अणुच्चे अकुए'[2] थिरे ।
अप्पुट्ठाई निरुट्ठाई
निसीएज्जप्पकुक्कुए ॥

आसने उपतिष्ठेत
अनुच्चे अकुचे स्थिरे ।
अल्पोत्थायी निरुत्थायी
निषीदेदल्पकुक्कुचः ॥

३०—जो गुरु के आसन से नीचा हो, अकम्पमान हो और स्थिर हो (जिसके पाये धरती पर टिके हुए हों) वैसे आसन पर बैठे। प्रयोजन होने पर भी बार-बार न उठे। बैठे तब स्थिर एवं शान्त होकर बैठे, हाथ-पैर आदि से चपलता न करे।

३१—कालेण निक्खमे भिक्खू
कालेण य पडिक्कमे ।
अकालं च विवज्जित्ता
काले कालं समायरे ॥

काले निष्क्रामेद् भिक्षुः
काले च प्रतिक्रामेत् ।
अकालं च विवर्ज्य
काले कालं समाचरेत् ॥

३१—समय पर भिक्षा के लिए निकले, समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर, जो कार्य जिस समय का हो, उसे उसी समय करे।

३२—परिवाडीए न चिट्ठेज्जा
भिक्खू दत्तेसणं चरे ।
पडिरूवेण एसित्ता
मियं कालेण भक्खए ॥

परिपाट्या न तिष्ठेत्
भिक्षुर्दत्तैषणां चरेत् ।
प्रतिरूपेणैषयित्वा
मितं काले भक्षयेत् ॥

३२—भिक्षु परिपाटी (पंक्ति) में खड़ा न रहे। गृहस्थ के द्वारा दिए हुए आहार की एषणा करे। प्रति-रूप (मुनि के वेष) में एषणा कर यथासमय मित आहार करे।

३३—'नाइदूरमणासन्ने'[3]
नन्नेसिं चक्खु-फासओ ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा
लंघिया तं नइक्कमे[4] ॥

नातिदूरेऽनासन्ने
नान्येषां चक्षुःस्पर्शतः ।
एकस्तिष्ठेद् भक्तार्थं
लङ्घयित्वा तं नातिक्रामेत् ॥

३३—पहले से ही अन्य भिक्षु खड़े हों तो उनसे अति-दूर या अति-समीप खड़ा न रहे और देने वाले गृहस्थों की दृष्टि के सामने भी न रहे। किन्तु अकेला (भिक्षुओं और दाता दोनों की दृष्टि से बचकर) खड़ा रहे। भिक्षुओं को लाँघकर भक्त लेने के लिए न जाए।

३४—नाइउच्चे व नीए वा
नासन्ने नाइदूरओ ।
फासुयं परकडं पिण्डं
पडिगाहेज्ज संजए ॥

नात्युच्चे वा नीचे वा
नासन्ने नातिदूरतः ।
प्रासुकं परकृतं पिण्डं
प्रति गृह्णीयात् संयतः ॥

३४—संयमी मुनि प्रासुक और गृहस्थ के लिए बना हुआ आहार ले किन्तु अति-ऊँचे या अति-नीचे स्थान से लाया हुआ तथा अति-समीप या अति-दूर से दिया जाता हुआ आहार न ले।

---

१ -सुद्धिकरं (बृ०)।
२. अणुच्चेऽकुक्कुए (बृ०)।
३ णाइ दूरे अणासण्णे (चू०)।
४ न अइक्कमे (अ)।

३५—अप्पपाणेऽप्पबीयमि[1] पडिच्छन्नमि सवुडे । समय सजए भुजे जय अपरिसाडिय[2] ॥	अल्पप्राणेऽल्पबीजे प्रतिच्छन्ने सवृते । समक संयतो भुजीत यतमपरिसाटितम् ॥	३५—सयमी मुनि प्राणी और वीज रहित, ऊपर से ढके हुए और पार्श्व में भित्ति आदि से सवृत उपाश्रय में अपने सहधर्मी मुनियो के साथ, भूमि पर न गिराता हुआ, यत्नपूर्वक आहार करे ।
३६—सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे । सुणिट्ठिए सुलट्ठे त्ति सावज्ज वज्जए मुणी ॥	सुकृतमिति सुपक्वमिति सुच्छिन्नं सुहृतं मृतम् । सुनिष्ठित सुलष्टमिति सावद्यं वर्जयेन्मुनिः ॥	३६—बहुत अच्छा किया है (भोजन आदि), बहुत अच्छा पकाया है (घेवर आदि), अच्छा छेदा है (पत्ती का साग आदि), बहुत अच्छा हरण किया है (साग की कडवाहट आदि), बहुत अच्छा मरा है (चूरमे में घी आदि), बहुत इष्ट है (प्रिय है)—मुनि इन सावद्य वचनों का प्रयोग न करे ।
३७—रमए पण्डिए सास हय ~ भद्द व वाहए । बाल सम्मइ सासन्तो गलियस्स व वाहए ॥	रमते पण्डितान् शासत् हयं भद्रमिव वाहकः । बाल श्राम्यति शासत् गल्यश्वमिव वाहक ॥	३७—जैसे उत्तम घोडे को हाँकते हुए उसका वाहक आनन्द पाता है, वैसे ही पडित (विनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु आनन्द पाता है और जैसे दुष्ट घोडे को हाँकते हुए उसका वाहक खिन्न होता है, वैसे ही बाल (अविनीत) शिष्य पर अनुशासन करता हुआ गुरु खिन्न होता है ।
३८—'खड्डुया मे चवेडा मे अक्कोसा य वहा य मे'[3] । कल्लाणमणुसासन्तो[4] पावदिट्ठि त्ति मन्नई ॥	'खड्डुका' मे चपेटा मे आक्रोशाश्च वधाश्च मे । कल्याणमनुशास्यमानः पापदृष्टिरिति मन्यते ॥	३८—पाप-दृष्टि वाला शिष्य गुरु के कल्याणकारी अनुशासन को भी ठोकर मारने, चाटा चिपकाने, गाली देने व प्रहार करने के समान मानता है ।
३९—पुत्तो मे भाय नाइ त्ति साहू कल्लाण मन्नई । पावदिट्ठी उ अप्पाणं सास 'दास व'[5] मन्नई ॥	पुत्रो मे भ्राता ज्ञातिरिति साधुः कल्याण मन्यते । पापदृष्टिस्त्वात्मानं शास्यमान दासमिव मन्यते ॥	३९—गुरु मुझे पुत्र, भाई और स्वजन की तरह अपना समझकर शिक्षा देते हैं—ऐसा सोच विनीत शिष्य उनके अनुशासन को कल्याणकारी मानता है परन्तु कुशिष्य हितानुशासन से शासित होने पर अपने को दास तुल्य मानता है ।

१. अप्पपाणऽप्प० (अ, उ, ऋ०) ।
२. अप्परि० (उ, ऋ०, बृ०) ।
३. खड्डुयाहि चवेडाहि, अक्कोसेहि वहेहि य (बृ०, चू०), खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे (चू०पा०, बृ०पा०) ।
४ ० सासन्त (बृ०, चू०) ।
५. दासे त्ति (अ, आ, इ, उ, ऋ०) ।

४०—न कोवए आयरिय
अप्पाण पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया
न सिया तोत्तगवेसए॥

न कोपयेदाचार्यं
आत्मानमपि न कोपयेत्।
बुद्धोपघाती न स्यात्
न स्यात् तोत्त्रगवेषकः॥

४०—शिष्य आचार्य को कुपित न करे। स्वय भी कुपित न हो। आचार्य का उपघात करनेवाला न हो। उनका छिद्रान्वेषी न हो।

४१—आयरिय कुविय नच्चा
पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पजलिउडो
वएज्ज न पुणो त्ति य॥

आचार्यं कुपितं ज्ञात्वा
प्रातीतिकेन प्रसादयेत्।
विध्यापयेत् प्रांजलिपुटः
वदेन्न पुनरिति च॥

४१—आचार्य को कुपित हुए जानकर विनीत शिष्य प्रतीतिकारक (या 'प्रीतिकेन' —प्रीतिकारक) वचनो से उन्हें प्रसन्न करे। हाथ जोडकर उन्हें शान्त करे और यो कहे कि "मैं पुन ऐसा नही करूँगा।"

४२—धम्मज्जियं च ववहारं
बुद्धेहायरिय सया।
तमायरन्तो ववहारं[1]
गरह नाभिगच्छई॥

धर्मार्जित च व्यवहार
बुद्धैराचरितं सदा।
तमाचरन् व्यवहारं
गर्हां नाभिगच्छति॥

४२—जो व्यवहार धर्म से अर्जित हुआ है, जिसका तत्त्वज्ञ आचार्यो ने सदा आचरण किया है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ मुनि कही भी गर्हा को प्राप्त नही होता।

४३—'मणोगय वक्कगय'[2]
जाणित्तायरियस्स उ।
त परिगिज्झ वायाए
कम्मुणा उववायए॥

मनोगत वाक्यगतं
ज्ञात्वा आचार्यस्य तु।
तत् परिगृह्य वाचा
कर्मणोपपादयेत्॥

४३—आचार्य के मनोगत और वाक्य-गत भावो को जानकर, उनको वाणी से ग्रहण करे और कार्यरूप में परिणत करे।

४४—वित्ते अचोइए निच्च[3]
'खिप्प हवइ सुचोइए'[4]।
जहोवइट्ठ सुकयं
किच्चाइ कुव्वई सया॥

वित्तोऽचोदितो नित्य
क्षिप्रं भवति सुचोदितः।
यथोपदिष्टं सुकृतं
कृत्यानि करोति सदा॥

४४—जो विनय से प्रख्यात होता है वह सदा बिना प्रेरणा दिए ही कार्य करने में प्रवृत्त होता है। वह अच्छे प्रेरक गुरु की प्रेरणा पाकर तुरत ही उनके उपदेशानुसार भलीभाँति कार्य सम्पन्न कर लेता है।

४५—नच्चा नमइ मेहावी
लोए 'कित्ती से'[5] जायए।
हवई किच्चाण सरण
भूयाण जगई जहा॥

ज्ञात्वा नमति मेधावी
लोके कीर्तिस्तस्य जायते।
भवति कृत्याना शरणं
भूतानां जगती यथा॥

४५—मेधावी मुनि उक्त विनय-पद्धति को जानकर उसे क्रियान्वित करने में तत्पर हो जाता है। उसकी लोक में कीर्ति होती है। जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियों के लिए आधार होती है, उसी प्रकार वह धर्माचरण करनेवालों के लिए आधार होता है।

---

१ मेहावी (बृ०पा०)।
२. मणोरुइ वक्करुइ (बृ०पा०, चू०)।
३ खिप्प (बृ०पा०, चू०पा०)।
४. पसन्ने थामव करे (बृ०पा०, चू० पा०)।
५. कित्तीय (अ, उ, बृ०), कित्ती सि (ऋ०)।

४६—पुज्जा जस्स पसीयन्ति
सवुद्धा पुव्वसथुया ।
पसन्ना[1] लाभइस्सन्ति
विउल अट्ठिय सुय ॥

पूज्या यस्य प्रसीदन्ति
सम्बुद्धाः पूर्व-सस्तुताः ।
प्रसन्ना लाभयिष्यन्ति
विपुलमार्थिक श्रुतम् ॥

४६—उसपर तत्त्ववित् पूज्य आचार्य प्रसन्न होते है । अध्ययन-काल से पूर्व ही वे उसके विनय-समाचरण से परिचित होते है । वे प्रसन्न होकर उसे मोक्ष के हेतुभूत विपुल श्रुत-ज्ञान का लाभ करवाते है ।

४७–स पुज्जसत्थे सुविणीयससए
'मणोरुई[2] चिट्ठइ कम्म-सपया ।'[3]
तवोसमायारिसमाहिसवुडे
महज्जुई पंच-वयाइ पालिया ॥

स पूज्य-शास्त्रः सुविनीत-संशयः
मनोरुचिस्तिष्ठति कर्म-सम्पदा ।
तपःसामाचारीसमाधिसवृतः
महाद्युति· पच व्रतानि पालयित्वा ॥

४७—वह पूज्य-शास्त्र होता है—उसके शास्त्रीय ज्ञान का वहुत सम्मान होता है। उसके सारे सशय मिट जाते है। वह गुरु के मन को भाता है। वह कर्म-सम्पदा (दस विध सामाचारी) से सम्पन्न होकर रहता है। वह तप-समाचारी और समाधि मे सवृत होता है। पाँच महाव्रतो का पालनकर महान् तेजस्वी हो जाता है।

४८—स देव-गन्धव्व-मणुस्सपूइए
चइत्तु देह मलपकपुव्वय ।
सिद्धे वा हवइ सासए
देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥
—त्ति वेमि ।

स देवगन्धर्वमनुष्यपूजितः
त्यक्त्वा देह मलपङ्कपूर्वकम् ।
सिद्धो वा भवति शाश्वत
देवो वाल्परजा महर्द्धिकः ॥
—इति ब्रवीमि

४८—देव, गन्धर्व और मनुष्यो मे पूजित वह विनीत शिष्य मल और पक से वने हुए शरीर को त्यागकर या तो शाश्वत सिद्ध होता है या अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव होता है—ऐसा मैं कहता हूँ ।



१. सपन्ना (वृ०पा०) ।
२. मणोरुइ (वृ०पा०) ।
३. मणोरुइ चिट्ठइ कम्म-सपय (वृ० पा०); मणिच्छियं संपयमुत्तम गया (नागार्जुनीयाः) ।

बीयं अज्झयणं :

परीसह-पविभत्ती

द्वितीय अध्ययन :

परीषह-प्रविभक्तिः

आमुख

उत्तराध्ययन के इस दूसरे अध्ययन मे मुनि के परीषहों का निरूपण है। कर्म-प्रवाद पूर्व के १७ वें प्राभृत में परीषहों का नय और उदाहरण-सहित निरूपण है। वही यहाँ उद्धृत किया गया है, यह निर्युक्तिकार का अभिमत है।[१] दशवैकालिक के सभी अध्ययन जिस प्रकार पूर्वों से उद्धृत है उसी प्रकार उत्तराध्ययन का यह अध्ययन भी उद्धृत है।

जो सहा जाता है उसे कहते है परीषह। सहने के दो प्रयोजन है (१) मार्गाच्यवन और (२) निर्जरा। स्वीकृत मार्ग से च्युत न होने के लिये और निर्जरा—कर्मों को क्षीण करने के लिये कुछ सहा जाता है।[२]

भगवान् महावीर की धर्म-प्ररूपणा के दो मुख्य अग है—अहिंसा और कष्ट-सहिष्णुता।[३] कष्ट सहने का अर्थ शरीर, इन्द्रिय और मन को पीड़ित करना नहीं, किन्तु अहिंसा आदि धर्मों की आराधना को सुस्थिर बनाये रखना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है —

सुहेण भाविद णाण, दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबल जोई, अप्पा दुक्खेहि भावए॥[४]

अर्थात् सुख से भावित ज्ञान दु ख उत्पन्न होने पर नष्ट हो जाता है, इसलिये योगी को यथाशक्ति अपने-आपको दु ख से भावित करना चाहिये।

इसका अर्थ काया को क्लेश देना नहीं है। यद्यपि एक सीमित अर्थ मे काय-क्लेश भी तप रूप मे स्वीकृत है किन्तु परीषह और काय-क्लेश एक नहीं है। काय-क्लेश आसन करने, ग्रीष्म-ऋतु मे आतापना लेने, वर्षा-ऋतु मे तरुमूल मे निवास करने, शीत-ऋतु मे अपावृत स्थान मे सोने और नाना प्रकार की प्रतिमाओं को स्वीकार करने, न खुजलाने, शरीर की विभूषा न करने के अर्थ मे स्वीकृत है।[५]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ६९ कम्मप्पवायपुव्वे सत्तरसे पाहुडमि ज वुत्त।
सणय सोदाहरण त चेव इहपि णायव्व॥

२—तत्त्वार्थसूत्र, ९।८ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा।

३—सूत्रकृतांग १।२।१।१४ धुणिया कुलिय व लेववं किसए देहमणासणा इह।
अविहिंसामेव पव्वए अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ॥

वृत्ति—विविधा हिंसा विहिंसा न विहिंसा अविहिंसा तामेव प्रकर्षेण व्रजेत्, अहिंसाप्रधानो भवेदित्यर्थ अनुगतो—मोक्ष प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्म असावहिंसालक्षण परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मो 'मुनिना' सर्वज्ञेन 'प्रवेदित' कथित इति।

४—अष्टपाहुड, मोक्ष प्राभृत ६२।

५—(क) उत्तराध्ययन ३०।२७
ठाणा वीरासणाईया जीवस्स उ सुहावहा।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति कायकिलेस तमाहिय॥

(ख) औपपातिक, सूत्र १९ से किं त कायकिलेसे ?, २ अणेगविहे पण्णत्ते, तजहा—ठाणाट्ठितिए ठाणाइए उक्कुडुआसणिए, पडिमट्ठाई वीरासणिए नेसज्जिए दण्डायए लउडसाई आयावए अवाउडए अकडुअए अणिट्ठुहए सव्वगायपरिकम्मविभूसविप्पमुक्के से त कायकिलेसे।

उक्त प्रकारों में से कोई कष्ट जो स्वय इच्छानुसार झेला जाता है, वह काय-क्लेश है और जो इच्छा के बिना प्राप्त होता है, वह परीषह है।[1]

काय-क्लेश के अभ्यास से शारीरिक दुःख को सहने की क्षमता, शारीरिक सुखों के प्रति अनाकांक्षा और क्वचित् जिन-शासन की प्रभावना भी होती है।[2] परीषह सहन करने से स्वीकृत अहिंसा आदि धर्मों की सुरक्षा होती है।

इस अध्ययन के अनुसार परीषह बाईस है —

१—क्षुधा
२—पिपासा
३—शीत
४—उष्ण
५—दंश-मशक
६—अचेल
७—अरति
८—स्त्री
९—चर्या
१०—निषद्या
११—शय्या
१२—आक्रोश
१३—वध
१४—याचना
१५—अलाभ
१६—रोग
१७—तृण-स्पर्श
१८—जल्ल
१९—सत्कार-पुरस्कार
२०—प्रज्ञा
२१—अज्ञान
२२—दर्शन

तत्त्वार्थसूत्र में भी इनकी सख्या बाईस ही है।[3]

इनमें दर्शन-परीषह और प्रज्ञा-परीषह—ये दो मार्ग से अच्यवन मे सहायक होते है और शेष बीस परीषह निर्जरा के लिये होते हैं।[4]

समवायाग (समवाय २२) मे अन्तिम तीन परीषहों का क्रम उत्तराध्ययन से भिन्न है :—

उत्तराध्ययन	समवायाग
१—प्रज्ञा	१—ज्ञान
२—अज्ञान	२—दर्शन
३—दर्शन	३—प्रज्ञा

अभयदेवसूरि ने समवायाग की वृत्ति में अज्ञान-परीषह का क्वचित् श्रुति के रूप मे उल्लेख किया है।

तत्त्वार्थसूत्र (९।९) में 'अचेल' के स्थान पर 'नाग्न्य'-परीषह का उल्लेख है और दर्शन-परीषह के स्थान पर अदर्शन-परीषह का। प्रवचनसारोद्धार (गाथा ६८६) में दर्शन-परीषह के स्थान मे सम्यक्त्व-परीषह माना गया है। दर्शन और सम्यक्त्व यह केवल शब्द-भेद है।

१—तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय), पृष्ठ ३०१, सू० ९।१७ की वृत्ति यदृच्छया समागत परीषहः, स्वयमेव कृत कायक्लेश।

२—वही . शरीरदुःखसहनार्थं शरीरसुखानभिवाञ्छार्थं जिनधर्मप्रभावनाद्यर्थञ्च।

३—तत्त्वार्थसूत्र, ९।९ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कार-प्रज्ञाज्ञानादर्शनानि।

४—प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९२, गा० ६८५ की वृत्ति : तत्र मार्गाच्यवनार्थं दर्शनपरीषहः प्रज्ञापरीषहश्च, शेषा विंशतिर्निर्जरार्थम्।

अचेल और नाग्न्य मे थोडा अर्थ-भेद भी है। अचेल का अर्थ है—(१) नग्नता और (२) फटे हुए या अल्प-मूल्य वाले वस्त्र[1]*।*

तत्त्वार्थसूत्र श्रुतसागरीय वृत्ति में प्रज्ञा-परीषह और अदर्शन-परीषह की व्याख्या मूल उत्तराध्ययन के प्रज्ञा और दर्शन-परीषह से भिन्न है। उत्तराध्ययन (२।४२) मे जो अज्ञान-परीषह की व्याख्या है, वह श्रुतसागरीय मे अदर्शन की व्याख्या है।

तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय) पृ० २९५

प्रज्ञा-परीषह —

यो मुनिस्तर्कव्याकरणच्छन्दोलकारसारसाहित्याध्यात्मशास्त्रादिनिधानागपूर्वप्रकीर्णकनिपुणोऽपि सन् ज्ञानमदं न करोति, ममाग्रतः प्रवादिनः सिंहशब्दश्रवणात् वनगजा इव पलायन्ते xxx मद नाधत्ते स मुनि. प्रज्ञापरीषहविजयी भवति।

अर्थ जो मुनि तर्क, व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलकार, अध्यात्मशास्त्र आदि विद्याओं में निपुण होने पर भी ज्ञान का मद नही करता है तथा जो इस बात का घमण्ड नही करता है कि प्रवादी मेरे सामने से उसी प्रकार भाग जाते है जिस प्रकार सिंह के शब्द को सुनकर हाथी भाग जाते है, उस मुनि के प्रज्ञा-परीषह जय होता है।

अदर्शन-परीषह—

यो मुनि xxx चिरदीक्षितोऽपि सन्नेव न चिन्तयति अद्यापि ममातिशयवद्‌बोधन न सञ्जायते उत्कृष्टश्रुतव्रतादिविधायिना किल प्रातिहार्यविशेषाः प्रादुर्भवन्ति, इति श्रुतिर्मिथ्या वर्तते दीक्षेय निष्फला व्रतधारणंच फल्गु एव वर्तते इति सम्यग्दर्शनविशुद्धिसन्निधानादेव न मनसि करोति तस्य मुनेरदर्शनपरीषहजयो भवतीत्यवसानीयम्।

अर्थ —चिर दीक्षित होने पर भी अवधिज्ञान या ऋद्धि आदि की प्राप्ति न होने पर जो मुनि विचार नही करता है कि यह दीक्षा निष्फल है, व्रतों का धारण करना व्यर्थ है इत्यादि, उस मुनि के अदर्शन-परीषह जय होता है।

उत्तराध्ययन अ० २

प्रज्ञा-परीषह :—

से नूण मए पुव्व, कम्माऽणाणफला कडा।
जेणाह नाभिजाणामि, पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥४०॥
अह पच्छा उइज्जति, कम्माऽणाणफलाकडा।
एवमासासि अप्पाण, णच्चा कम्मविवागयं ॥४१॥

अर्थ —निश्चय ही मैने पूर्व काल मे अज्ञान-रूप फल देने वाले कर्म किये है। उन्ही के कारण मै किसी से कुछ पूछे जाने पर भी कुछ नही जानता—उत्तर देना नही जानता। पहले किये हुए अज्ञान-रूप फल देने वाले कर्म पकने के पश्चात् उदय मे आते है - इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर आत्मा को आश्वासन दे।

दर्शन-परीषह —

णत्थि णूण परे लोए, इड्ढी वावि तवस्सिणो।
अदुवा वञ्चिओमित्ति, इइ भिक्खू ण चिंतए ॥४४॥
अभू जिणा अत्थि जिणा, अदुवावि भविस्सइ।
मुस ते एवमाहसु, इति भिक्खू न चिंतए ॥४५॥

अर्थ —निश्चय ही परलोक नही है, तपस्वी की ऋद्धि भी नही है, अथवा मै ठगा गया हूँ—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे। जिन हुये थे, जिन है और जिन होंगे ऐसा जो कहते है वे झूठ बोलते है—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे।

१—प्रवचनसारोद्धार पत्र १६३, गा० ६८४ की वृत्ति चेलस्य अभावो अचेल जिनकल्पिकादीनां अन्येषा तु यतीनां भिन्न स्फुटित अल्पमूल्य च चेलमप्यचेलमुच्यते।

अज्ञान-परीषह —

निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥४२॥
तवोवहाणमायाय, पडिमं पडिवज्जओ।
एवंपि मे विहरओ, छउमं ण णियट्टति ॥४३॥

अर्थ —मै मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैने सवरण किया—यह सब निरर्थक है। क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मै साक्षात् नही जानता।

तपस्या और उपाधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करने पर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निवर्तित नही हो रहा है—ऐसा चिन्तन न करे।

मूलाचार मे विचिकित्सा के दो भेद किये हैं—(१) द्रव्य-विचिकित्सा और (२) भाव-विचिकित्सा। भाव-विचिकित्सा के अन्तर्गत बाईस परीषहो का उल्लेख हुआ है। उनमें अरति के स्थान पर अरति-रति, याचना के स्थान पर अयाचना और दर्शन के स्थान पर अदर्शन-परीषह है।[१]

इन बाईस परीषहों के स्वरूप के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कई परीषह सामान्य व्यक्तियों के लिये नही थे। वे जिनकल्प-प्रतिमा को स्वीकार करने वाले विशेष सहनन और धृति-युक्त मुनियों के लिये थे। शान्त्याचार्य ने भी इस ओर सकेत किया है। उनके अनुसार अचेल-परीषह (जहाँ हम अचेल का अर्थ नग्नता करते है) जिनकल्पी मुनियों के लिये तथा ऐसे स्थविरकल्पी मुनियों के लिये ग्राह्य है, जिन्हे वस्त्र मिलना अत्यन्त दुर्लभ है, जिन के पास वस्त्रो का अभाव है, जिनके वस्त्र जीर्ण हो गये है अथवा जो वर्षा आदि के बिना वस्त्र-धारण नही कर सकते[२] और तृणस्पर्श-परीषह केवल जिनकल्पी मुनियों के लिये ग्राह्य है[३]।

प्रवचनसारोद्धार की टीका मे सर्वथा नग्न रहना तथा चिकित्सा न कराना, केवल जिनकल्पी मुनि के लिये ही बतलाया है[४]।

१—मूलाचार, ५।७२,७३ छुहतण्हा सीदुण्हा दसमसयमचेलभावो य।
अरदि रदि इत्थि चरिया णिसीधिया सेज्ज अक्कोसो ॥
वधजायण अलाहो रोग तणप्फास जल्लसक्कारो।
तह चेव पण्णपरिसह अण्णाणमदसण खमण ॥

२—बृहद्वृत्ति, पत्र ९२,९३ जिनकल्पप्रतिपत्तौ स्थविरकल्पेऽपि दुर्लभवस्त्रादौ वा सर्वथा चेलाभावेन सति वा चेले विना वर्षादिनिमित्तमप्रावरणेन जीर्णादिवस्त्रतया वा 'अचेलक' इति अवस्थोऽपि भवति।

३—वही, पत्र १२२ जिनकल्पिकापेक्ष चैतत्, स्थविरकल्पिकाश्च सापेक्षसंयमत्वात्सेवन्तेऽपीति।

४—(क) प्रवचनसारोद्धार, पत्र १९३ :, गा० ६८५ की वृत्ति (उद्धरण के लिये देखिये पृष्ठ २१ पाद-टि० १)।
(ख) वही, पत्र १९४ गा० ६८६ की वृत्ति ज्वरकासश्वासादिके सत्यपि न गच्छनिर्गता जिनकल्पिकादयश्चिकित्साविधापने प्रवर्तन्ते।

व्याख्याकारों ने सभी परीषहों के साथ कथाएँ जोड़कर उन्हें सुबोध बनाया है। कथाओं का संकेत निर्युक्ति में भी प्राप्त है।

परीषह-उत्पत्ति के कारण इस प्रकार बताये गये हैं[1] :—

परीषह	उत्पत्ति के कारण कर्म	परीषह	उत्पत्ति के कारण कर्म
१—प्रज्ञा	ज्ञानावरणीय	१२—क्षुधा	वेदनीय
२—अज्ञान	”	१३—पिपासा	”
३—अलाभ	अन्तराय	१४—शीत	”
४—अरति	चारित्र-मोहनीय	१५—उष्ण	”
५—अचेल	”	१६—दंश-मशक	”
६—स्त्री	”	१७—चर्या	”
७—निषद्या	”	१८—शय्या	”
८—याचना	”	१९—वध	”
९—आक्रोश	”	२०—रोग	”
१०—सत्कार-पुरस्कार	”	२१—तृण-स्पर्श	”
११—दर्शन	दर्शन-मोहनीय	२२—जल्ल	”

ये सभी परीषह नौवें गुणस्थान तक हो सकते है। दशवें गुणस्थान में चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले अरति आदि सात परीषह तथा दर्शन-मोहनीय से उत्पन्न दर्शन-परीषह को छोड़कर शेष चौदह परीषह होते है। छद्मस्थ वीतराग अर्थात् ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थानवर्ती मुनि में भी ये ही चौदह परीषह हो सकते है। केवली में मात्र वेदनीय-कर्म के उदय से होने वाले ग्यारह परीषह पाये जाते है[2]।

तत्त्वार्थसूत्र में एक साथ उन्नीस परीषह माने है। जैसे—शीत और उष्ण में से कोई एक होता है। शय्या-परीषह के होने पर निषद्या और चर्या-परीषह नहीं होते। निषद्या-परीषह होने पर शय्या और चर्या-परीषह नहीं होते।[3]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ७३-७८ :

णाणावरणे वेए मोहमिय अन्तराइए चेव। एएसु बावीस परीसहा इति णायव्वा॥
पन्नान्नाणपरिसहा णाणावरणमि हुति दुन्नेए। इक्को य अतराए अलाहपरीसहो होइ॥
अरई अचेल इत्थी निसीहिया जायणा य अक्कोसे। सक्कारपुरक्कारे चरित्तमोहमि सत्तेए॥
अरईइ दुगुछाए पुवेय भयस्स चेव माणस्स। कोहस्स य लोहस्स य उदएण परीसहा सत्त॥
दसणमोहे दसणपरीसहो नियमसो भवे इक्को। सेसा परीसहा खलु इक्कारस वेयणीज्जमि॥
पचेव आणुपुव्वी चरिया सिज्जा वहे व (य) रोगे य। तणफासजल्लमेव य इक्कारस वेयणीज्जमि॥

२—वही, गाथा ७८।

३—(क) तत्त्वार्थसूत्र, ९।१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नेकान्नविंशतेः।

(ख) तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय), पृ०२९९ : शीतोष्णपरीषहयोर्मध्ये अन्यतरो भवति शीतमुष्णो वा। शय्यापरीषहे सति निषद्याचर्ये न भवत निषद्यापरीषहे शय्याचर्ये द्वौ न भवत, चर्यापरीषहे शय्यानिषद्ये द्वौ न भवत। इति त्रयाणामसम्भवे एकान्नविंशतिरेकस्मिन् युगपद् भवति।

बौद्ध-भिक्षु काय-क्लेश को महत्त्व नहीं देते किन्तु परीषह-सहन की स्थिति को वे भी अस्वीकार नहीं करते। स्वय महात्मा बुद्ध ने कहा है—"मुनि शीत, उष्ण, क्षुधा, पिपासा, वात, आतप, दंश और सरीसृप का सामना कर खग-विषाण की तरह अकेला विहरण करे।"[1]

आचारांग निर्युक्ति में परीषह के दो विभाग है[2] :—

१—शीत—मन्द परिणाम वाले। जैसे—स्त्री-परीषह और सत्कार-परीषह। ये दो अनुकूल परीषह है।

२—उष्ण—तीव्र परिणाम वाले। शेष बीस। ये प्रतिकूल परीषह है।

प्रस्तुत अध्ययन मे परीषहों के विवेचन रूप मे मुनि-चर्या का बहुत ही महत्त्वपूर्ण निरूपण हुआ है।

१—सुत्तनिपात, उरगवग्ग, ३।१८ सीत च उण्ह च खुद पिपास, वातातपे डससिरिंसपे च।
सब्बानिपेतानि अभिसभवित्वा, एको चरे खग्गविसाणकप्पो॥

२—आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०२,२०३ : इत्थी सक्कार परिसहा य, दो भाव-सीयला एए।
सेसा बीस उण्हा, परीसहा होंति णायब्वा॥
जे तिब्वप्परिणामा, परीसहा ते भवन्ति उण्हाउ।
जे मन्दप्परिणामा, परीसहा ते भवे सीया॥

बीयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन
परीसह-पविभत्ती : परीषह-प्रविभक्तिः

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
सू० १—सुय मे, आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय— इह खलु बावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेणं कासवेण पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए[1] परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा[2] ।	श्रुत मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्— इह खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षु श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ।	सू० १—आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा—निर्ग्रन्थ-प्रवचन में बाईस परीषह होते है, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं, जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नही होता ।
सू० २—कयरे ते खलु बावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया ? जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा ।	कतरे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिता ? यान् भिक्षु श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत ।	सू० २—वे बाईस परीषह कौन से है जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित हैं ? जिन्हें सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर, भिक्षा-चर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नही होता ।
सू० ३—इमे ते खलु बावीस परीसहा समणेण भगवया महावीरेण कासवेण पवेइया, जे भिक्खू सोच्चा, नच्चा, जिच्चा, अभिभूय, भिक्खायरियाए परिव्वयन्तो पुट्ठो नो विहन्नेज्जा, त जहा—	इमे ते खलु द्वाविंशतिः परीषहाः श्रमणेन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदिताः, यान् भिक्षु श्रुत्वा, ज्ञात्वा, जित्वा, अभिभूय, भिक्षाचर्यया परिव्रजन् स्पृष्टो नो विहन्येत । तद्यथा—	सू० ३—वे बाईस परीषह ये है, जो कश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित है, जिन्हे सुनकर, जानकर, अभ्यास के द्वारा परिचितकर, पराजितकर, भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करता हुआ मुनि उनसे स्पृष्ट होने पर विचलित नही होता । जैसे—

१ भिक्खुचरियाए (बृ०), भिक्खायरियाए (बृ०पा०) ।

२. विनिहन्नेज्जा (बृ०) ।

१. दिगिंछा-परीसहे, २ पिवासा-परीसहे, ३. सीय-परीसहे, ४ उसिण-परीसहे, ५ दस-मसय-परीसहे, ६. अचेल-परीसहे, ७ अरइ-परीसहे, ८ इत्थी-परीसहे, ९ चरिया-परीसहे, १० निसीहिया-परीसहे, ११. सेज्जा-परीसहे, १२ अक्कोस[1]-परीसहे, १३. वह-परीसहे, १४ जायणा-परीसहे, १५ अलाभ-परीसहे, १६ रोग-परीसहे, १७. तणफास-परीसहे, १८. जल्ल-परीसहे, १९ सक्कारपुरक्कार-परीसहे, २०. पन्ना-परीसहे, २१ अन्नाण-परीसहे, २२ दसण-परीसहे ।

१ क्षुधा-परीषहः, २. पिपासा-परीषहः, ३ शीत-परीषहः, ४ उष्ण-परीषहः, ५. दंश-मशक-परीषहः, ६ अचेल-परीषहः, ७ अरति-परीषहः, ८ स्त्री-परीषहः, ९ चर्या-परीषहः, १०. निषीधिका-परीषहः, ११. शय्या-परीषहः, १२ आक्रोश-परीषह, १३. वध-परीषहः, १४ याचना-परीषहः, १५ अलाभ-परीषहः, १६. रोग-परीषहः, १७ तृण-स्पर्श-परीषहः, १८ 'जल्ल'-परीषह, १९ सत्कार-पुरस्कार-परीषहः, २० प्रज्ञा-परीषहः, २१ अज्ञान-परीषहः, २२ दर्शन-परीषहः ।

१ क्षुधा-परीषह, २ पिपासा-परीषह, ३ शीत-परीषह, ४ उष्ण-परीषह, ५ दंश-मशक-परीषह, ६ अचेल परीषह, ७ अरति-परीषह, ८ स्त्री-परीषह, ९ चर्या-परीषह, १०. निषद्या परीषह, ११ शय्या-परीषह, १२ आक्रोश-परीषह, १३ वध-परीषह, १४ याचना-परीषह, १५ अलाभ-परीषह, १६ रोग-परीषह, १७ तृण-स्पर्श-परीषह, १८ जल्ल-परीषह, १९. सत्कार-पुरस्कार-परीषह, २० प्रज्ञा परीषह, २१ अज्ञान-परीषह, २२ दर्शन-परीषह ।

१—परीसहाण पविभत्ती
कासवेणं पवेइया ।
त भे उदाहरिस्सामि
आणुपुव्विं सुणेह मे ॥

परीषहाणां प्रविभक्तिः
काश्यपेन प्रवेदिता ।
तां भवतामुदाहरिष्यामि
आनुपूर्व्या शृणुत मे ॥

१—परीषहो का जो विभाग कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर के द्वारा प्रवेदित या प्ररूपित है, उसे मैं क्रमवार कहता हूँ। तू मुझे सुन ।

(१) दिगिंछा-परीसहे

२—दिगिंछा-परिगए[2] देहे
तवस्सी भिक्खु थामव ।
न छिन्दे न छिन्दावए
न पए न पयावए ॥

(१) क्षुधा-परीषह

क्षुधापरिगते देहे
तपस्वी भिक्षु स्थामवान् ।
न छिन्द्यात् न छेदयेत्
न पचेत् न पाचयेत्

(१) क्षुधा-परीषह

२—देह में क्षुधा व्याप्त होने पर तपस्वी और प्राणवान् भिक्षु फल आदि का छेदन न करे, न कराए। उन्हें न पकाए और न पकवाए ।

३—काली-पव्वग-सकासे
किसे धमणि-सतए ।
मायन्ने असण-पाणस्स
अदीण-मणसो चरे ॥

काली-पर्वाङ्ग-सङ्काशः
कृशो धमनि-सन्ततः ।
मात्रज्ञोऽशनपानयोः
अदीनमनाश्चरेत् ॥

३—शरीर के अंग भूख से सूखकर काक-जंघा नामक तृण जैसे दुर्बल हो जायें, शरीर कृश हो जाय, धमनियों का ढाँचा भर रह जाय तो भी आहार-पानी की मर्यादा को जानने वाला साधु अदीनभाव से विहरण करे ।

१. उक्कोस (अ, ऋ०) ।
२ ० परियावेण (बृ०), ० परितापेण (चू०), ० परिगते (बृ० पा०) ।

(२) पिवासा-परीसहे

४—तओ पुट्ठो पिवासाए
दोगुछी लज्ज-सजए[1] ।
सीओदग न सेविज्जा
वियडस्सेसण चरे ॥

(२) पिपासा-परीषह

ततः स्पृष्टः पिपासया
जुगुप्सी लज्जासयतः ।
शीतोदक न सेवेत्
विकृतस्यैषणाय चरेत् ॥

(२) पिपासा-परीषह

४—असयम से घृणा करने वाला, लज्जावान् सयमी साधु प्यास से पीडित होने पर सचित्त पानी का सेवन न करे, किन्तु प्रासुक जल की एषणा करे ।

५—छिन्नावाएसु पन्थेसु
आउरे सुपिवासिए[2] ।
परिसुक्कमुहेऽदीणे[3]
'त तितिक्खे परीसह'[4] ॥

छिन्नापातेषु पथिषु
आतुरः सुपिपासितः ।
परिशुष्कमुखोऽदीनः
तं तितिक्षेत परीषहम् ॥

५—निर्जन मार्ग में जाते समय प्यास से अत्यत आकुल हो जाने पर, मुँह सुख जाने पर भी साधु अदीनभाव से प्यास के परीषह को सहन करे ।

(३) सीय-परीसहे

६—चरन्त विरय लूह
सीय फुसइ एगया ।
'नाइवेल मुणी गच्छे
सोच्चाण जिणसासण'[5] ॥

(३) शीत-परीषह

चरन्त विरत रूक्षं
शीतं स्पृशति एकदा ।
नातिवेल मुनिर्गच्छेत्
श्रुत्वा जिनशासनम् ॥

(३) शीत परीषह

६—विचरते हुए विरत और रूक्ष शरीर वाले साधु को शीत-ऋतु में सर्दी सताती है । फिर भी वह जिन-शासन को सुनकर (आगम के उपदेश को ध्यान में रखकर) स्वाध्याय आदि की वेला (अथवा मर्यादा) का अति-क्रमण न करे ।

७—न मे निवारण अत्थि
छवित्ताण न विज्जई ।
अह तु अग्गि सेवामि
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

न मे निवारणमस्ति
छवित्राण न विद्यते ।
अह तु अग्नि सेवे
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

७—शीत से प्रताडित होने पर मुनि ऐसा न सोचे—मेरे पास शीत-निवारक घर आदि नही है और छवित्राण (वस्त्र, कम्बल आदि) भी नही है, इसलिए मैं अग्नि का सेवन करूँ ।

(४) उसिण-परीसहे

८— उसिण-परियावेणं
परिदाहेण तज्जिए ।
घिंसु वा परियावेण
साय नो परिदेवए ॥

(४) उष्ण-परीषह

उष्ण-परितापेन
परिदाहेन तर्जित ।
ग्रीष्मे वा परितापेन
सात नो परिदेवेत् ॥

(४) उष्ण-परीषह

८—गरम धूलि आदि के परिताप, स्वेद, मैल या प्यास के दाह अथवा ग्रीष्म-कालीन सूर्य के परिताप से अत्यन्त पीडित होने पर भी मुनि सुख के लिए विलाप न करे—आकुल-व्याकुल न बने ।

१. लद्धसजमे (वृ० चू०), लज्जासजए, लज्जसजमे (वृ० पा०), लज्जसजते (चू० पा०) ।
२. छप्पिवासिए (अ), छपिवासए (ऋ०) ।
३. ० मुहद्दीणे (अ, छ०), ० मुहोदीणे (ऋ०) ।
४ सव्वतो य परिव्वए (वृ० पा०) ।
५. नाइवेल विहन्निज्जा, पावदिट्ठी विहन्नइ (चू०, वृ०), नाइवेल मुणी गच्छे, सोच्चाणं जिणसासण (चू० पा०, वृ० पा०) ।

९—उण्हाहितत्ते मेहावी
सिणाणं 'नो वि पत्थए'[1]।
गाय नो परिसिंचेज्जा[2]
न वीएज्जा य अप्पय ॥

उष्णाभितप्तो मेधावी
स्नानं नापि प्रार्थयेत्।
गात्रं नो परिषिञ्चेत्
न वीजयेच्चात्मकम् ॥

९—गर्मी से अभितप्त होने पर भी मेधावी मुनि स्नान की इच्छा न करे। शरीर को गीला न करे। पखे से शरीर पर हवा न ले।

(५) दस-मसय परीसहे

१०—पुट्ठो य द-समसएहिं
समरेव[3] महामुणी।
नागो सगाम-सीसे वा
सूरो अभिहणे परं॥

(५) दश-मशक-परीषह

स्पृष्टश्च दंश-मशकैः
सम एव महामुनिः।
नागः सग्राम-शीर्षे इव
शूरोऽभिहन्यात् परम् ॥

(५) दश-मशक-परीषह

१०—डाँस और मच्छरो का उपद्रव होने पर भी महामुनि समभाव में रहे, क्रोध आदि का वैसे ही दमन करे जैसे युद्ध के अग्रभाग में रहा हुआ शूर हाथी बाणो को नहीं गिनता हुआ शत्रुओ का हनन करता है।

११—न संतसे न वारेज्जा
मण पि न पओसए।
उवेहे[4] न हणे पाणे
भुजन्ते मस-सोणियं॥

न सत्रसेत् न वारयेत्
मनो पि न प्रदूषयेत्।
उपेक्षेत न हन्यात् प्राणान्
भुञ्जानान्मासशोणितम् ॥

११—भिक्षु उन दश-मशको से सत्रस्त न हो, उन्हें हटाए नही। मन में भी उनके प्रति द्वेष न लाए। मास और रक्त खाने-पीने पर भी उनकी उपेक्षा करे, किन्तु उनका हनन न करे।

(६) अचेल-परीसहे

१२—परिजुण्णेहि वत्थेहिं
होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्ख
इइ भिक्खू न चिन्तए॥

(६) अचेल परीषह

"परिजीर्णैर्वस्त्रैः
भविष्यामीत्यचेलकः।
अथवा सचेलको भविष्यामि"
इति भिक्षुन चिन्तयेत् ॥

(६) अचेल-परीषह

१२—'वस्त्र फट गए है इसलिए मैं अचेल हो जाऊँगा अथवा वस्त्र मिलने पर फिर मैं सचेल हो जाऊँगा"—मुनि ऐसा न सोचे। (दीन और हर्ष दोनो प्रकार का भाव न लाए।)

१३—'एगयाऽचेलए होइ'[5]
सचेले यावि एगया।
एय धम्महिय नच्चा
नाणी नो परिदेवए॥

एकदाऽचेलको भवति
सचेलश्चापि एकदा।
एतद्द धर्म-हित ज्ञात्वा
ज्ञानी नो परिदेवेत् ॥

१३—जिनकल्प-दशा में अथवा वस्त्र न मिलने पर मुनि अचेलक भी होता है और स्थविरकल्प-दशा में वह सचेलक भी होता है। अवस्था-भेद के अनुसार इन दोनो (सचेलत्व और अचेलत्व) को यति-धर्म के लिए हितकर जानकर ज्ञानी मुनि वस्त्र न मिलने पर दीन न बने।

---

१ नाभिपत्थए (चू०, बृ०), णोऽवि पत्थए (बृ० पा०)।
२. परिसेविज्जा (उ, ऋ०)।
३ सम एव (अ)।
४ उवेह (उ, चू०, ऋ०)।
५ एगता अचेलगे भवति (चू०), अचेलए सय होइ (बृ० पा०, चू० पा०)।

इ-परीसहे
रीयन्त
अकिंचण ।
अणुप्पविसे
परीसहं ॥

(७) अरति-परीषह
ग्रामानुग्रामं रीयमाणं
अनगारमकिञ्चनम् ।
अरतिरनुप्रविशेत्
त तितिक्षेत परीषहम् ॥

(७) अरति-परीषह

१४—एक गाँव से दूसरे गाँव में विहार करते हुए अकिंचन मुनि के चित्त में अरति उत्पन्न हो जाय तो उस परीषह को वह सहन करे ।

ट्ठओ किच्चा
आय-रक्खिए ।
निरारम्भे
मुणी चरे ॥

अरति पृष्ठतः कृत्वा
विरतः आत्मरक्षितः ।
धर्मारामो निरारम्भः
उपशान्तो मुनिश्चरेत् ॥

१५—हिंसा आदि से विरत रहने वाला, आत्मा की रक्षा करने वाला, धर्म में रमण करने वाला, असत्-प्रवृत्ति से दूर रहने वाला, उपशान्त मुनि अरति को दूर कर विहरण करे ।

।-परीसहे
एस मणुस्साण
गमि इत्थिओ ।
या परिन्नाया
स्स सामण्ण ॥

(८) स्त्री-परीषह
सग एव मनुष्याणा
या लोके स्त्रिय. ।
यस्यैता. परिज्ञाता.
सुकृत तस्य श्रामण्यम् ॥

(८) स्त्री-परीषह

१६—"लोक मे जो स्त्रियाँ है, वे मनुष्यो के लिए सग हैं—लेप है"—जो इस बात को जान लेता है, उसका श्रामण्य सफल है ।

मेहावी
उ इत्थिओ'[३] ।
विणिहन्नेज्जा[४]
गए ॥

एवमादाय मेधावी
पकभूता स्त्रिय ।
नो ताभिर्विनिहन्यात्
चरेदात्मगवेषक ॥

१७—'स्त्रियाँ ब्रह्मचारी के लिए दल-दल के समान हैं"—यह जानकर मेधावी मुनि उनसे अपने सयम-जीवन की घात न होने दे, किन्तु आत्मा की गवेषणा करता हुआ विचरण करे ।

रया-परीसहे
चरे लाढे
परीसहे ।
। नगरे वावि
रायहाणिए ॥

(९) चर्या-परीषह
एक एव चरेव् लाढ
अभिभूय परीषहान् ।
ग्रामे वा नगरे वापि
निगमे वा राजधान्याम् ॥

(९) चर्या परीषह

१८—सयम के लिए जीवन-निर्वाह करने वाला मुनि परीषहो को जीतकर गाँव में या नगर मे, निगम में या राजधानी मे अकेला (राग-द्वेष रहित होकर) विचरण करे ।

।, एवमादाय (चू० पा०, बृ०पा०) ।
बृ० पा०, बृ०पा०) ।
) ।
ज्जे (बृ० पा०) ।

(१५) अलाभ-परीसहे

३०—परेसु घासमेसेज्जा
भोयणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिण्डे अलद्धे वा
नाणुतप्पेज्ज संजए[1] ॥

(१५) अलाभ-परीषह

परेषुग्रासमेषयेत्
भोजने परिनिष्ठिते।
लब्धे पिण्डे अलब्धे वा
नानुतप्येत् संयतः ॥

(१५) अलाभ-परीषह

३०—गृहस्थो के घर भोजन तैयार हो जानेपर मुनि उसकी एषणा करे। आहार थोड़ा मिलने या न मिलने पर सयमी मुनि अनुताप न करे।

३१—अज्जेवाहं न लब्भामि
अवि लाभो सुए सिया।
जो एवं पडिसंचिक्खे[2]
अलाभो तं न तज्जए ॥

अद्यैवाहं न लभे
अपि लाभः श्वःस्यात्।
य एवं प्रतिसंवीक्षते
अलाभस्तं न तर्जयति ॥

३१—"आज मुझे भिक्षा नहीं मिली, परन्तु सभव है कल मिल जाय"—जो इस प्रकार सोचता है, उसे अलाभ नही सताता।

(१६) रोग-परीसहे

३२—नच्चा उप्पइयं दुक्खं
वेयणाए दुहट्टिए।
अदीणो थावए पन्नं
पुट्ठो तत्थहियासए ॥

(१६) रोग-परीषह

ज्ञात्वोत्पत्तिकं दुःखं
वेदनया दुःखार्त्तितः।
अदीनः स्थापयेत् प्रज्ञां
स्पृष्टस्तत्राऽध्यासीत ॥

(१६) रोग-परीषह

३२—रोग को उत्पन्न हुआ जानकर तथा वेदना से पीडित होने पर दीन न बने। व्याधि से विचलित होती हुई प्रज्ञा को स्थिर बनाए और प्राप्त दुःख को समभाव से सहन करे।

३३—तेगिच्छं नाभिनन्देज्जा
संचिक्खत्तगवेसए।
एवं[3] खु तस्स सामण्णं
जं न कुज्जा न कारवे ॥

चिकित्सां नाभिनन्देत्
संतिष्ठेदात्मगवेषकः।
एतत् खलु तस्य श्रामण्यं
यन्न कुर्यात् न कारयेत् ॥

३३—आत्म-गवेषक मुनि चिकित्सा का अनुमोदन न करे। रोग हो जानेपर समाधि पूर्वक रहे। उसका श्रामण्य यही है कि वह रोग उत्पन्न होने पर भी चिकित्सा न करे, न कराए।

(१७) तण फास-परीसहे

३४—अचेलगस्स लूहस्स
संजयस्स तवस्सिणो।
तणेसु सयमाणस्स
हुज्जा गाय-विराहणा ॥

(१७) तृण-स्पर्श-परीषह

अचेलकस्य रूक्षस्य
संयतस्य तपस्विनः।
तृणेषु शयानस्य
भवेद् गात्र-विराधना ॥

(१७) तृण-स्पर्श-परीषह

३४—अचेलक और रूक्ष शरीर वाले सयत तपस्वी के घास पर सोने से शरीर में चुभन होती है।

---

१ पढिए (अ)।
२ पडिसंचिक्खे (बृ०)।
३ एय (अ, उ, ऋ०, बृ०) , एवं (बृ०पा०)।

३५—आयवस्स निवाएणं
अउला[1] हवइ वेयणा ।
एवं[2] नच्चा न सेवन्ति
तन्तुजं[3] तण-तज्जिया ॥

आतपस्य निपातेन
अतुला भवति वेदना ।
एवं ज्ञात्वा न सेवन्ते
तंतुजं तृणतर्जिताः ॥

३५ गर्मी पड़ने से अतुल वेदना होती है—यह जानकर भी तृण से पीड़ित मुनि वस्त्र का सेवन नहीं करते ।

(१८) जल्ल-परीसहे

३६—किलिन्नगाए[4] मेहावी
पंकेण व रएण वा ।
घिंसु वा परितावेण
सायं नो परिदेवए ॥

(१८) जल्ल-परीषह

क्लिन्न-गात्रो मेधावी
पंकेन वा रजसा वा ।
ग्रीष्मे वा परितापेन
सातं नो परिदेवेत् ॥

(१८) जल्ल परीषह

३६—मैल, रज या ग्रीष्म के परिताप से शरीर के क्लिन्न (गीला या पंकिल) हो जाने पर मेधावी मुनि सुख के लिए विलाप न करे ।

३७—वेएज्ज[5] निज्जरा-पेही
'आरियं धम्मऽणुत्तरं'[6] ।
जाव सरीरभेउ त्ति
जल्लं काएण धारए[7] ॥

वेदयेन् निर्जरापेक्षी
आर्यं धर्ममनुत्तरम् ।
यावत् शरीर-भेद इति
'जल्लं' कायेन धारयेत् ॥

३७—निर्जरार्थी मुनि अनुत्तर आर्य-धर्म (श्रुत-चारित्र-धर्म) को पाकर देह-विनाश पर्यन्त काया पर 'जल्ल' (स्वेद-जनित मैल) को धारण करे और तज्जनित परीषह को सहन करे ।

(१९) सक्कारपुरक्कार-परीसहे

३८—अभिवायणमब्भुट्ठाणं
सामी कुज्जा निमन्तणं ।
जे ताइं पडिसेवन्ति
न तेसिं पीहए मुणी ॥

(१९) सत्कार-पुरस्कार-परीषह

अभिवादनमभ्युत्थानं
स्वामी कुर्यात् निमन्त्रणम् ।
ये तानि प्रतिसेवन्ते
न तेभ्यः स्पृहयेन्मुनिः ॥

(१९) सत्कार-पुरस्कार परीषह

३८—जो राजा आदि के द्वारा किए गए अभिवादन, सत्कार अथवा निमंत्रण का सेवन करते हैं, उनकी इच्छा न करे—उन्हें धन्य न माने ।

३९—अणुक्कसाई अप्पिच्छे
अन्नाएसी अलोलुए ।
'रसेसु[8] नाणुगिज्झेज्जा'[9]
'नाणुतप्पेज्ज पन्नवं'[10] ॥

अणु-कषाय अल्पेच्छ
अज्ञातैषी अलोलुपः ।
रसेषु नानुगृध्येत्
नानुतप्येत् प्रज्ञावान् ॥

३९—अल्प कषाय वाला, अल्प इच्छा वाला, अज्ञात कुलों से भिक्षा लेने वाला, अलोलुप भिक्षु, रसों में गृद्ध न हो । प्रज्ञावान् मुनि दूसरों को सम्मानित देख अनुताप न करे ।

---

१. तिउला (चू॰, वृ॰), अतुला, विपुला वा (वृ॰पा॰) ।
२ एय (अ, उ, ऋ॰, वृ॰), एवं (वृ॰पा॰) ।
३ तन्तयं (चू॰पा॰, वृ॰पा॰) ।
४. किलिट्ठगाए (चू॰पा॰, वृ॰पा॰) ।
५. वेयज्ज (अ), वेइतो, वेइज्ज, वेयतो (वृ॰पा॰) ।
६ आयरियं धम्ममणुत्तरं (स॰), आरियं धम्ममणुत्तरं (अ) ।
७ उव्वट्टे (चू॰, वृ॰पा॰), धारए (चू॰पा॰) ।
८ सरसेसु॰ (वृ॰) ।
९. रसिएसु णातिगिज्झेज्ज (चू॰), रसेसु नाणु॰ (वृ॰पा॰, चू॰पा॰) ।
१०. न तेसिं पीहए मुणी (चू॰, वृ॰), नाणुतप्पेज्ज पण्णवं (वृ॰पा॰, चू॰पा॰) ।

(२०) पन्ना-परीसहे

४०—से नूणं मए पुव्वं
कम्माणाणफला कडा ।
जेणाहं नाभिजाणामि
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥

(२०) प्रज्ञा-परीषह

"अथ नूनं मया पूर्वं
कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि ।
येनाहं नाभिजानामि
पृष्टः केनचित् क्वचित् ॥

(२०) प्रज्ञा-परीषह

४०—"निश्चय ही मैंने पूर्व काल में अज्ञानरूप-फल देनेवाले कर्म किए हैं । उन्हीं के कारण मैं किसी के कुछ पूछे जानेपर भी कुछ नहीं जानता—उत्तर देना नहीं जानता ।

४१—अह पच्छा उइज्जन्ति
कम्माणाणफला कडा ।
एवमस्सासि अप्पाणं
नच्चा कम्म-विवागयं ॥

"अथपश्चादुदीर्यन्ते
कर्माण्यज्ञानफलानि कृतानि ।
एवमाश्वासयात्मानं
ज्ञात्वा कर्म-विपाककम् ॥

४१—"पहले किए हुए अज्ञानरूप-फल देनेवाले कर्म पकने के पश्चात् उदय में आते हैं"—इस प्रकार कर्म के विपाक को जानकर मुनि आत्मा को आश्वासन दे ।

(२१) अन्नाण-परीसहे

४२—निरट्ठगम्मि विरओ
मेहुणाओ सुसंवुडो ।
जो सक्खं[1] नाभिजाणामि
धम्मं कल्लाण पावगं ॥

(२१) अज्ञान परीषह

"निरर्थके विरतः
मैथुनात्सुसंवृतः ।
यः साक्षान्नाभिजानामि
धर्मं कल्याणं पापकम् ॥

(२१) अज्ञान-परीषह

४२—"मैं मैथुन से निवृत्त हुआ, इन्द्रिय और मन का मैंने संवरण किया—यह सब निरर्थक है । क्योंकि धर्म कल्याणकारी है या पापकारी—यह मैं साक्षात् नहीं जानता ।

४३—तवोवहाणमादाय
पडिमं पडिवज्जओ[2] ।
एवं पि विहरओ मे
छउमं न नियट्टई ॥

"तप-उपधानमादाय
प्रतिमां प्रतिपद्यमानस्य ।
एवमपि विहरतो मे
छद्म न निवर्तते ॥"

४३—"तपस्या और उपधान को स्वीकार करता हूँ, प्रतिमा का पालन करता हूँ—इस प्रकार विशेष चर्या से विहरण करनेपर भी मेरा छद्म (ज्ञानावरणादि कर्म) निवर्तित नहीं हो रहा है"—ऐसा चिन्तन न करे ।

(२२) दंसण परीसहे

४४—नत्थि नूणं परे लोए
इड्ढी वावि तवस्सिणो ।
अदुवा वंचिओ मि त्ति
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

(२२) दर्शन-परीषह

"नास्ति नूनं परोलोकः
ऋद्धिर्वापि तपस्विनः ।
अथवा वञ्चितोऽस्मि"
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

(२२) दर्शन-परीषह

४४—"निश्चय ही परलोक नहीं है, तपस्वी की ऋद्धि भी नहीं है, अथवा मैं ठगा गया हूँ"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

---

१. समक्खं (चू०) ।
२ पडिवज्जिअ (वृ०), पडिवज्जओ (वृ०पा०) ।

४५—अभू जिणा अत्थि जिणा
अदुवावि भविस्सई ।
मुसं ते एवमाहसु
इइ भिक्खू न चिन्तए ॥

"अभूवन् जिना' सन्ति जिनाः
अथवा अपि भविष्यन्ति ।
मृषा ते एवमाहु:"
इति भिक्षुर्न चिन्तयेत् ॥

४५—"जिन हुए थे, जिन हैं और जिन होंगे—ऐसा जो कहते हैं वे झूठ बोलते हैं"—भिक्षु ऐसा चिन्तन न करे ।

४६—एए परीसहा सव्वे
कासवेण पवेइया ।
जे भिक्खू न विहन्नेज्जा
पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥
—त्ति बेमि ।

एते परीषहाः सर्वे
काश्यपेन प्रवेदिताः ।
यान् भिक्षुर्न विहन्येत
स्पृष्ट केनापि क्वचित् ॥
—इति ब्रवीमि

४६—इन सभी परीषहों का कश्यप-गोत्रीय भगवान् महावीर ने प्ररूपण किया है । इन्हें जानकर, इनमें से किसी के द्वारा कहीं भी स्पृष्ट होने पर मुनि इनसे पराजित (अभि-भूत) न हो ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।



तइअं अज्झयण :

चाउरंगिज्जं

तृतीय अध्ययन :

चतुरङ्गीय

आमुख

अनुयोगद्वार आगम मे नामकरण के दस हेतु बतलाए गए हैं। उनमें एक हेतु 'आदान-पद' है। इस अध्ययन का नाम उसी आदान-पद (प्रथम पद) के कारण 'चतुरङ्गीय' हुआ है।[1] इस अध्ययन मे (१) मनुष्यता, (२) धर्म-श्रुति, (३) श्रद्धा और (४) तप-सयम मे पुरुषार्थ—इन चार अगों को दुर्लभता का प्रतिपादन है। जीवन के ये चार प्रशस्त अग—विभाग हैं। ये अग प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा सहज प्राप्य नही है। चारों का एकत्र समाहार विरलों मे पाया जाता है। जिनमे ये चारों नहो पाए जाते वे धर्म को पूर्ण आराधना नही कर सकते। एक की भी कमी उनके जीवन मे लगड़ापन ला देतो है। चारों अगों की दुर्लभता निम्न विवेचन से प्रकट होगी।

(१) मनुष्यता—

आत्मा से परमात्मा बनने का एकमात्र अवसर मनुष्य-जन्म में प्राप्त होता है। तिर्यञ्च जगत् मे क्वचित् पूर्व सस्कारों से प्रेरित धर्माराधना होती है, परन्तु वह अधूरी रहती है। देवता धर्म की पूरी आराधना नही कर पाते। वे विलास मे ही अधिक समय गँवाते है। श्रामण्य के लिए वे योग्य नही होते। नैरयिक जीव दु खो से प्रताड़ित होते हैं अत उनका धार्मिक-विवेक प्रबुद्ध नही होता। मनुष्य का विवेक जागृत होता है। वह अति सुखी और अति दु खी भी नही होता अत वह धर्म की पूर्ण आराधना का उपयुक्त अधिकारी है।

(२) धर्म-श्रवण—

धर्म-श्रवण की रुचि प्रत्येक में नही होती। जिनका अन्त करण धार्मिक भावना से भावित होता है, वे मनुष्य धर्म-श्रवण मे तत्पर रहते है। बहुत लोग दुर्लभतम मनुष्यत्व को पाकर भी धर्म सुनने का लाभ नही ले पाते। निर्युक्तिकार ने धर्म-श्रुति के १३ विघ्न बतलाए है[2]—

१—आलस्य—अनुद्यम।

२—मोह—घरेलू धन्धों की व्यस्तता से उत्पन्न मूर्च्छा अथवा हेयोपादेय के विवेक का अभाव।

३—अवज्ञा या अवर्ण—धर्म-कथक के प्रति अवज्ञा या गर्हा का भाव।

४—स्तम्भ—जाति आदि का अहकार।

५—क्रोध—धर्म-कथक के प्रति अप्रीति।

६—प्रमाद—निद्रा, विकथा आदि।

७—कृपणता—द्रव्य-व्यय का भय।

८—भय।

९—शोक—इष्ट-वियोग से उत्पन्न दु ख।

१—अनुयोगद्वार, सूत्र १३० से किं त आयाणपएण? चाउरगिज्ज, असखय, अहातत्थिय, अद्दइज्ज, जण्णइज्ज, एलइज्ज से त आयाणपएण।

२—उत्तराध्ययन नियुक्ति, गाथा १६० आलस्स मोहऽवन्ना, थभा कोहा पमाय किविणत्ता।
भय सोगा अन्नाणा, वक्खेव कुऊहला रमणा॥

१०—अज्ञान—मिथ्या धारणा ।

११—व्याक्षेप—कार्य-बहुलता से उत्पन्न व्याकुलता ।

१२—कुतूहल—इन्द्रजाल, खेल, नाटक आदि देखने की आकुलता ।

१३—रमण—क्रीडा-परायणता ।

(३) श्रद्धा—

भगवान् ने कहा—"सद्धा परम-दुल्लहा"—श्रद्धा परम-दुर्लभ है। जीवन-विकास का यह मूल सूत्र है। जिसका दृष्टिकोण मिथ्या होता है वह सद्भाव को सुनकर भी उसमें श्रद्धा नहीं करता और श्रुत या अश्रुत असद्-भाव मे उसकी श्रद्धा हो जाती है। श्रद्धा मिथ्या-दृष्टि के लिए दुर्लभ है। जिसका दृष्टिकोण सम्यग् होता है वह सद्भाव को सुनकर उसमे श्रद्धा करता है किन्तु अपने अज्ञानवश या गुरु के वियोग से असद्भाव के प्रति भी उसकी श्रद्धा हो जाती है। इस प्रकार सम्यग्-दृष्टि के लिए भी श्रद्धा दुर्लभ है।

शिष्य ने पूछा—"भते ! क्या सम्यग्-दृष्टि इतनी ऋजु प्रकृति के होते है जो गुरु के कथन मात्र से असद्-भाव के प्रति श्रद्धा कर लेते है ?"

आचार्य ने कहा—"आयुष्मन् ! ऐसा होता है। जमालि ने जब असद्भाव की प्ररूपणा की और अपने शिष्यों को उससे परिचित किया तो कुछ शिष्य उसमे श्रद्धान्वित हो गए।"[१]

इसीलिए यह बहुत मार्मिक ढग से कहा है कि—"श्रद्धा परम दुर्लभ है।"

(४) तप-सयम मे पुरुषार्थ—

निर्युक्तिकार ने सयम के आठ पर्यायवाची नाम बतलाए है[२]—(१) दया, (२) सयम, (३) लज्जा, (४) जुगुप्सा, (५) अछलना, (६) तितिक्षा, (७) अहिसा और (८) ह्री।

सयम के प्रति श्रद्धा होने पर भी सभी व्यक्ति उसमें पराक्रम नही कर पाते। जानना व श्रद्धा रखना एक वस्तु है और उसको क्रियान्वित करना दूसरी। इसमें सकल्प-बल, धृति, सतोष और अनुदविग्नता की अत्यन्त आवश्यकता होती है। जिनका चित्त व्याक्षिप्त या व्यामूढ नहीं है, वे ही व्यक्ति सयम मे प्रवृत्त हो सकते है।

निर्युक्तिकार ने दुर्लभ अगों का कुछ विस्तार किया है। उसके अनुसार मनुष्यता, आर्य क्षेत्र, उत्तम जाति, उत्तम कुल, सर्वांगपरिपूर्णता, नीरोगता, पूर्णायुष्य, परलोक-प्रवण बुद्धि, धर्म-श्रवण, धर्म-स्वीकरण, श्रद्धा और सयम —ये सब दुर्लभ है।[३] मनुष्य-भव की दुर्लभता के दस दृष्टात निर्युक्ति मे उल्लिखित है।[४]

१—बृहद्वृत्ति, पत्र १५२ ननु किमेवविधा अपि केचिदत्यन्तमृजव सम्भवेयु ? ये स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुपदेशतोऽन्यथापि प्रतिपद्येरन्, एवमेतत्, तथाहि—जमालिप्रभृतीनां निह्नवानां शिष्यास्तद्भक्तियुक्ततया स्वयमागमानुसारिमतयोऽपि गुरुप्रत्ययाद्विपरीतमर्थं प्रतिपन्ना ।

२—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १५८ दया य सजमे लज्जा, दुगुछाऽछलणा इअ ।
तितिक्खा य अहिसा य, हिरि एगट्ठिया पया ॥

३—वही, गाथा १५९ माणुस्स खित्त जाई, कुल रूवारोग्ग आउय बुद्धी ।
सवणुग्गह सद्धा, सजमो अ लोगमि दुलहाइ ॥

४—वही, गाथा १६० चुल्लग पासग धन्ने, जूए रयणे अ सुमिण चक्के य ।
चम्म जुगे परमाण, दस दिट्ठता मणुअलभे ॥

श्रद्धा की दुर्लभता बताने के लिए सात निह्नवों की कथाएँ दी गई हैं।[1]

भगवान् ने कहा—'सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई'—सरल व्यक्ति की शोधि होती है और धर्म शुद्ध आत्मा में ठहरता है। जहाँ सरलता है वहाँ शुद्धि है और जहाँ शुद्धि है वहाँ धर्म का निवास है। धर्म का फल आत्म-शुद्धि है। परन्तु धर्म की आराधना करने वाले के पुण्य का भी बन्ध होता है। देवयोनि से च्युत हो जब पुन. मनुष्य बनता है तब वह दशागवाली मनुष्ययोनि में आता है। श्लोक १७ और १८ में ये दस अग निम्नोक्त कहे गये है—

१—कामस्कन्ध।
२—मित्रों की सुलभता।
३—बन्धुजनों का सुसयोग।
४—उच्चगोत्र की प्राप्ति।
५—रूप की प्राप्ति।
६—नीरोगता की प्राप्ति।
७—महाप्राज्ञता।
८—विनीतता।
९—यशस्विता।
१०—बलवत्ता।

इस अध्ययन के श्लोक १४ और १६ मे आया हुआ 'जक्ख' (स० यक्ष) शब्द भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ध्यान देने योग्य है। इसके अर्थ का अपकर्ष हुआ है। आगम-काल में 'यक्ष' शब्द 'देव' अर्थ में प्रचलित था। कालानुक्रम से इसके अर्थ का ह्रास हुआ और यह आज भूत, पिशाच का-सा अर्थ देने लगा है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १६४-१६६ बहुरयपएसअव्वत्तसमुच्छ, दुगतिगअवद्धिगा चेव।
एएसिं निग्गमण, वुच्छामि अहाणुपुव्वीए॥
बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ॥
गगाए दोकिरिया, छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती।
थेरा य गुट्ठमाहिल, पुट्ठमवद्ध परूविति॥

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन
चाउरंगिज्जं : चतुरङ्गीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो[1] । माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥	चत्वारि परमाङ्गानि दुर्लभानीह जन्तोः । मानुषत्वं श्रुतिः श्रद्धा संयमे च वीर्यम् ॥	१—इस संसार में प्राणियों के लिए चार परम-अंग दुर्लभ है—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा और संयम में पराक्रम ।
२—समावन्नाण संसारे नाणा-गोत्तासु जाइसु । कम्मा नाणा-विहा कट्टु पुढो[2] विस्संभिया पया ॥	समापन्नाः संसारे नानागोत्रासु जातिषु । कर्माणि नानाविधानि कृत्वा पृथग् विश्वभृतः प्रजाः ॥	२—संसारी जीव विविध प्रकार के कर्मों का अर्जन कर विविध नाम वाली जातियों में उत्पन्न हो, पृथक्-पृथक् रूप मे समूचे विश्व का स्पर्श कर लेते है—सब जगह उत्पन्न हो जाते हैं ।
३—एगया देवलोएसु नरएसु वि एगया । एगया आसुरं कायं आहाकम्मेहिं गच्छई ॥	एकदा देवलोकेषु नरकेष्वप्येकदा । एकदा आसुरं कायं यथाकर्मभिर्गच्छति ॥	३—जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार कभी देवलोक में, कभी नरक में और कभी असुरो के निकाय में उत्पन्न होता है ।
४—एगया खत्तिओ होइ तओ चण्डाल-वोक्कसो । तओ कीड-पयंगो य तओ कुन्थु-पिवीलिया ॥	एकदा क्षत्रियो भवति ततश्चण्डालो 'बोक्कसः' । ततः कीटः पतङ्गश्च ततः कुंथुः पिपीलिका ॥	४—वही जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चाण्डाल, कभी वोक्कस, कभी कीट, कभी पतंगा, कभी कुंथु और कभी चींटी ।

---

१. देहिणो (वृ० पा०, चू० पा०) ।
२. पुणो (चू० पा०) ।

५—एवमावट्ट-जोणीसु
पाणिणो कम्म-किब्बिसा।
न निविज्जन्ति ससारे
'सव्वट्ठेसु व'[1,2] खत्तिया॥

एवमावर्त-योनिषु
प्राणिनः कर्म-किल्बिषा।
न निर्विद्यन्ते संसारे
सर्वार्थेष्विव क्षत्रियाः॥

५—जिस प्रकार क्षत्रिय लोग समस्त अर्थों (काम-भोगों) को भोगते हुए भी निर्वेद को प्राप्त नही होते, उसी प्रकार कर्म-किल्विष (कर्म से अधम बने हुए) जीव योनि-चक्र में भ्रमण करते हुए भी ससार में निर्वेद नही पाते—उससे मुक्त होने की इच्छा नही करते।

६—कम्म-सगेहिं सम्मूढा
दुक्खिया बहु-वेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु
विणिहम्मन्ति पाणिणो॥

कर्म-सङ्गैः सम्मूढाः
दुःखिता बहु-वेदनाः।
अमानुषीषु योनिषु
विनिहन्यन्ते प्राणिनः॥

६—जो जीव कर्मों के सग से सम्मूढ, दुःखित और अत्यत वेदना वाले है, वे अपने कृत कर्मों के द्वारा मनुष्येतर (नरक-तिर्यञ्च) योनियो मे ढकेले जाते है।

७—कम्माण तु पहाणाए
आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता
'आययन्ति मणुस्सय'[3]॥

कर्मणां तु प्रहाण्या
आनुपूर्व्या कदाचित् तु।
जीवाः शोधिमनुप्राप्ताः
आददते मनुष्यताम्॥

७—काल-क्रम के अनुसार कदाचित् मनुष्य-गति को रोकने वाले कर्मों का नाश हो जाता है। उससे शुद्धि प्राप्त होती है। उससे जीव मनुष्यत्व को प्राप्त होते हैं।

८—माणुस्स विग्गह लद्धुं
सुई धम्मस्स दुल्लहा।
ज सोच्चा पडिवज्जन्ति
तव खन्तिमहिंसय॥

मानुष्यकं विग्रहं लब्ध्वा
श्रुतिर्धर्मस्य दुर्लभा।
यं श्रुत्वा प्रतिपद्यन्ते
तपःक्षान्तिमहिंस्रताम्॥

८—मनुष्य-शरीर प्राप्त होने पर भी उस धर्म की श्रुति दुर्लभ है जिसे सुनकर जीव तप, क्षमा और अहिंसा को स्वीकार करते हैं।

९—आहच्च सवण लद्धुं
सद्धा परमदुल्लहा।
सोच्चा नेआउय मग्गं
बहवे परिभस्सई॥

'आहत्य' श्रवणं लब्ध्वा
श्रद्धा परम-दुर्लभा।
श्रुत्वा नैर्यातृकं मार्गं
बहवः परिभ्रश्यन्ति॥

९—कदाचित् धर्म सुन लेने पर भी उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है। बहुत लोग मोक्ष की ओर ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी उससे भ्रष्ट हो जाते है।

---

१. य (अ); वि (ऋ०)।
२. सव्वट्ठ इव (बृ० पा०, चू० पा०)।
३. जायन्ते मणुसत्तय (बृ० पा०)।

१० - सुइं च लद्धुं सद्धं च
वीरियं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणा वि
'नो एणं'[1] पडिवज्जए॥

श्रुतिं च लब्ध्वा श्रद्धां च
वीर्यं पुनर्दुर्लभम्।
बहवो रोचमाना अपि
नो एतं प्रतिपद्यन्ते॥

१०—श्रुति और श्रद्धा प्राप्त होने पर भी संयम में वीर्य (पुरुषार्थ) होना अत्यन्त दुर्लभ है। बहुत लोग संयम में रुचि रखते हुए भी उसे स्वीकार नहीं करते।

११—माणुसत्तंमि आयाओ
जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं
संवुडे निद्धुणे रयं॥

मानुषत्वे आयातः
यो धर्मं श्रुत्वा श्रद्धत्ते।
तपस्वी वीर्यं लब्ध्वा
संवृतो निर्धुनोति रजः॥

११—मनुष्यत्व को प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है, वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर, संवृत हो, कर्म-रजों को धुन डालता है।

१२—"सोही उज्जुयभूयस्स
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठई।
निव्वाणं परमं जाइ
'घय-सित्त व्व'[2] पावए॥"[3]

शोधि ऋजुभूतस्य
धर्मः शुद्धस्य तिष्ठति।
निर्वाणं परमं याति
घृत-सिक्तः इव पावकः॥

१२—शुद्धि उसे प्राप्त होती है, जो ऋजुभूत होता है। धर्म उसमें ठहरता है जो शुद्ध होता है। जिसमें धर्म ठहरता है वह घृत से अभिषिक्त अग्नि की भाँति परम निर्वाण (दीप्ति) को प्राप्त होता है।

१३—विगिंच[4] कम्मुणो[5] हेउं
जसं संचिणु खन्तिए।
पाढवं सरीरं हिच्चा
उड्ढं पक्कमई दिसं॥

वेविग्धि कर्मणो हेतुं
यशः सञ्चिनु क्षान्त्या।
पार्थिवं शरीरं हित्वा
उर्ध्वां प्रक्रामति दिशम्॥

१३—कर्म के हेतु को दूर कर। क्षमा से यश (संयम) का संचय कर। ऐसा करने वाला पार्थिव शरीर को छोड़कर उर्ध्व दिशा (स्वर्ग या मोक्ष) को प्राप्त होता है।

१४—विसालिसेहिं सीलेहिं
जक्खा उत्तर-उत्तरा।
महासुक्का व दिप्पन्ता
मन्नन्ता अपुणच्चवं॥

विसदृशैः शीलैः
यक्षाः उत्तरोत्तराः।
महाशुक्लाः इव दीप्यमानाः
मन्यमाना अपुनश्च्यवम्॥

१४—विविध प्रकार के शीलों की आराधना करके जो देव कल्पों व उसके ऊपर के देवलोकों की आयु का भोग करते हैं, वे उत्तरोत्तर महाशुक्ल (चन्द्र-सूर्य) की तरह दीप्तिमान् होते हैं। 'स्वर्ग से पुनः च्यवन नहीं होता' ऐसा मानते हैं।

---

१. नो य णं (स, छ०, बृ०)।
२. घयसत्तिव्व (उ), घयसित्तिव्व (ऋ०, छ०,), घयसित्ते व (बृ०)।
३. चउद्धा संपयं लद्धुं इहेव ताव भायते।
तेयते तेज-संपन्ने घय-सित्ते व पावए॥ (नागार्जुनीया)।
४ विकिंचि (अ, आ), विकिंच (चू०), विगिंच (चू० पा०)।
५. कम्मणो (उ, ऋ०)।

१५—अप्पिया देवकामाण
कामरूव-विउव्विणो ।
उड्ढ कप्पेसु चिट्ठन्ति
पुव्वा वाससया बहू ॥

अर्पिता देवकामान्
कामरूपविकरणा ।
ऊर्ध्वं कल्पेषु तिष्ठन्ति
पूर्वाणि वर्षशतानि बहूनि ॥

१५—वे दैवी भोगो के लिए अपने आपको अर्पित किए हुए रहते है। इच्छानुसार रूप बनाने में समर्थ होते हैं तथा सैकडो पूर्व-वर्षों तक—असख्य काल तक वहाँ रहते है।

१६—तत्थ ठिच्चा जहाठाणं
जक्खा आउक्खए चुया ।
उवेन्ति माणुसं जोणिं
से दसगेऽभिजायई ॥

तत्र स्थित्वा यथास्थानं
यक्षा आयु.क्षये च्युताः ।
उपयन्ति मानुषीं योनिं
स दशांगोऽभिजायते ॥

१६—वे देव उन कल्पो में अपनी शील-आराधना के अनुरूप स्थानों में रहते हुए आयु-क्षय होनेपर वहाँ से च्युत होते है। फिर मनुष्य-योनि को प्राप्त होते है। वे वहाँ दस अगो वाली भोग सामग्री से युक्त होते हैं।

१७—खेत्तं वत्थु हिरण्णं च
पसवो दास-पोरुसं ।
चत्तारि काम-खन्धाणि
तत्थ से उववज्जई ॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यञ्च
पशवो दास-पौरुषेय ।
चत्वार कामस्कन्धाः
तत्र स उपपद्यते ॥

१७—क्षेत्र, वास्तु, स्वर्ण, पशु और दास-पौरुषेय—जहाँ ये चार काम-स्कन्ध होते है, उन कुलो में वे उत्पन्न होते है।

१८—मित्तव नायवं[1] होइ
उच्चागोए य वण्णव ।
अप्पायके महापन्ने
अभिजाए जसोबले ॥

मित्रवान् ज्ञातिमान् भवति,
उच्चैर्गोत्रश्च वर्णवान् ।
अल्पातङ्कः महाप्राज्ञः
अभिजातो यशस्वी बली ॥

१८—वे मित्रवान्, ज्ञातिमान्, उच्चगोत्र वाले, वर्णवान्, नीरोग, महाप्रज्ञ, अभिजात, यशस्वी और बलवान् होते है।

१९—भोच्चा माणुस्सए भोए
अप्पडिरूवे अहाउय ।
पुव्व विसुद्ध-सद्धम्मे
केवलं बोहि बुज्झिया ॥

भुक्त्वा मानुष्यकान् भोगान्
अप्रतिरूपान् यथायु ।
पूर्वं विशुद्ध-सद्धर्मा
केवलां बोधिं बुद्ध्वा ॥

१९—जीवन भर अनुपम मानवीय भोगो को भोगकर, पूर्व-जन्म में विशुद्ध-सद्धर्मी (निदान रहित तप करने वाले) होने के कारण वे विशुद्ध बोधि का अनुभव करते हैं।

२०—चउरग दुल्लह मत्ता[2]
सजम पडिवज्जिया ।
तवसा धुयकम्मसे
सिद्धे हवइ सासए ॥
—त्ति बेमि ।

चतुरंगीं दुर्लभां मत्वा
संयमं प्रतिपद्य ।
तपसा धुत-कर्मांश
सिद्धो भवति शाश्वतः ॥
—इति ब्रवीमि

२०—वे उक्त चार अगो को दुर्लभ मानकर सयम को स्वीकार करते है। फिर तपस्या से कर्म के सब अशो को धुनकर शाश्वत सिद्ध हो जाते है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ नाइव्व (बृ०), नाइव (उ)।
२ नच्चा (उ)।

चउत्थं अज्झयणं :

असंखयं

चतुर्थ अध्ययन :

असंस्कृत

आमुख

इस अध्ययन का नाम निर्युक्ति के अनुसार 'प्रमादाप्रमाद'[1] और समवायाङ्ग के अनुसार 'असस्कृत' (प्रा० असखय) है ।[2] निर्युक्तिकार का नामकरण अध्ययन में वर्णित विषय के आधार पर है और समवायाङ्ग का नामकरण आदानपद (प्रथमपद) के आधार पर है । इसका समर्थन अनुयोगद्वार से भी होता है ।[3]

'जीवन असस्कृत है—उसका सधान नहीं किया जा सकता, इसलिए व्यक्ति को प्रमाद नही करना चाहिए'—यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है । जिन व्यक्तियों का जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण नहीं है, वे अन्य मिथ्या-धारणाओं मे फँसकर मिथ्याभिनिवेश को प्रश्रय देते है । सूत्रकार जीवन के प्रति जागरूक रहने की बलवती प्रेरणा देते हुए तथ्यों का प्रतिपादन करते है और मिथ्या-मान्यताओं का खण्डन करते है । वे मिथ्या-मान्यताएँ ये है—

१—यह माना जाता था कि धर्म बुढापे मे करना चाहिए, पहले नहीं ।

भगवान् ने कहा—"धर्म करने के लिए सब काल उपयुक्त है, बुढापे मे कोई त्राण नही है ।" (श्लो० १)

२—भारतीय जीवन की परिपूर्ण कल्पना मे चार पुरुषार्थ माने गए हैं—काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष । अर्थ को येनकेन-प्रकारेण अर्जित करने की प्रेरणा दी जाती थी । लोग धन को त्राण मानते थे ।

भगवान् ने कहा—"जो व्यक्ति अनुचित साधनों द्वारा धन का अर्जन करते है, वे धन को छोड़कर नरकमे जाते है । यहाँ या परभव मे धन किसी का त्राण नहीं बन सकता । धन का व्यामोह व्यक्ति को सही मार्ग पर जाने नही देता ।" (श्लो० २,५)

३—कई लोग यह मानते थे कि किए हुए कर्मों का फल परभव मे ही मिलता है । कई मानते थे कि कर्मों का फल है ही नही ।

भगवान् ने कहा—"किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नही मिलता । कर्मों का फल इस जन्म मे भी मिलता है और पर-जन्म में भी ।" (श्लो० ३)

४—यह मान्यता थी कि एक व्यक्ति बहुतों के लिए कोई कर्म करता है तो उसका परिणाम वे सब भुगतते है ।

भगवान् ने कहा—"ससारी प्राणी अपने बन्धुजनो के लिए जो साधारण कर्म करते है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नही दिखाते, उसका भाग नही बँटाते ।" (श्लो० ४)

५—यह माना जाता था कि साधना के लिए समूह विघ्न है । व्यक्ति को अकेले मे साधना करनी चाहिए ।

भगवान् ने कहा—"जो स्वतत्र वृत्ति का त्याग कर गुरु के आश्रयण मे साधना करता है, वह मोक्ष पा लेता है ।" (श्लो० ८)

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा १८१ . पचविहो अ पमाओ इहमज्झयणमि अप्पमाओ य ।
वण्णिएज्ज उ जम्हा तेण पमायप्पमायति ॥

२—समवायाङ्ग, समवाय ३६ छत्तीस उतरज्झयगा प० त०—विणयछय''' असखय ''' ।

३—अनुयोगद्वार, सूत्र १३० पाठ के लिए देखिए पृ० ३९ पा० टि० १ ।

९—लोग कहते थे कि यदि छन्द के निरोध से मुक्ति मिलती है तो वह अन्त समय में भी किया जा सकता है।

भगवान् ने कहा—"धर्म पीछे करेंगे—यह कथन शाश्वतवादी कर सकते है। जो अपने आपको अमर मानते हैं, उनका यह कथन हो सकता है, परन्तु जो जीवन को क्षण-भंगुर मानते है, वे भला काल—समय की प्रतीक्षा कैसे करेंगे ? वे काल का विश्वास कैसे करेंगे ? धर्म की उपासना के लिए समय का विभाग अवांछनीय है। व्यक्ति को प्रतिपल अप्रमत्त रहना चाहिए।" (श्लो० ९-१०)

इस प्रकार यह अध्ययन जीवन के प्रति एक सही दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है और मिथ्या-मान्यताओं का निरसन करता है।

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

असंखयं : असंस्कृतम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—असखय जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं। एवं[1] वियाणाहि जणे पमत्ते कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति ॥	असंस्कृतं जीवितं मा प्रमादीः जरोपनीतस्य खलु नास्ति त्राणम्। एवं विजानीहि जनाः प्रमत्ताः कन्नु विहिंस्रा अयता ग्रहीष्यन्ति ॥	१—जीवन साधा नही जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो। बुढ़ापा आने पर कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार करो।
२—जे पावकम्मेहि धण मणूसा समाययन्ती अमइं[2] गहाय। पहाय ते 'पास पयट्टिए'[3] नरे वेराणुबद्धा नरय उवेन्ति ॥	ये पाप-कर्मभिः धनं मनुष्याः समाददते अमतिं गृहीत्वा। प्रहाय तान् पश्य प्रवृत्तान् नरान् वैरानुबद्धा नरकमुपयन्ति ॥	२—जो मनुष्य कुमति को स्वीकार कर पापकारी प्रवृत्तियों से धन का उपार्जन करते हैं, उन्हें देख। वे धन को छोड़कर मौत के मुँह में जाने को तैयार है। वे वैर (कर्म) से बन्धे हुए मरकर नरक में जाते हैं।
३—तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी। एव पया पेच्च[4] इहं च[5] लोए 'कडाण कम्माण न मोक्ख[6] अत्थि'[7] ॥	स्तेनो यथा सन्धि-मुखे गृहीतः स्वकर्मणा कृत्यते पापकारी। एवं प्रजा प्रेत्येह च लोके कृतानां कर्मणां न मोक्षोऽस्ति ॥	३—जैसे सेंध लगाते हुए पकड़ा गया पापी चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक में प्राणी अपने कृत कर्मों से ही छेदा जाता है। किए हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नहीं होता।

---

१. एण (बृ०पा०)।
२. अमय (बृ० पा०, चू० पा०)।
३. पासपयट्टिए (अ०), पासपइट्टिए (उ)।
४. पेच्छ (बृ०), पेच्च (बृ० पा०)।
५. पि (चू०, बृ० पा०)।
६. मोक्खो (बृ०, चू०)।
७. ण कम्मुणो पीहाति तो कयाती (बृ० पा०, चू० पा०)।

४—ससारमावन्न परस्स अट्ठा
साहारण जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले
न बन्धवा बन्धवय उवेन्ति ॥

ससारमापन्नः परस्यार्थात्
साधारणं यच्च करोति कर्म।
कर्मणस्ते तस्य तु वेदकाले
न बान्धवा बान्धवतामुपयन्ति ॥

४—ससारी प्राणी अपने बन्धु-जनों के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे बन्धु-जन बन्धुता नही दिखाते—उसका भाग नहीं बँटाते।

५—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते
इमंमि लोए अदुवा परत्था।
दीव-प्पणट्ठे व अणन्त-मोहे
नेयाउय दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

वित्तेन त्राणं न लभते प्रमत्तः
अस्मिँल्लोके अथवा परत्र।
प्रणष्टदीप इव अनन्त-मोहः
नैर्यातृक दृष्ट्वाऽदृष्ट्वैव ॥

५—प्रमत्त मनुष्य इस लोक में अथवा परलोक में धन से त्राण नही पाता। अन्वेरी गुफा में जिसका दीप बुझ गया हो उसकी भाँति, अनन्त मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नही देखता।

६—सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी
न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबल सरीरं
भारुण्ड-पक्खी व चरप्पमत्तो ॥

सुप्तेषु चापि प्रतिबुद्धजीवी
न विश्वस्यात् पण्डित आशुप्रज्ञः।
घोरा मुहूर्ता अबलं शरीरं
भारण्डपक्षीव चराप्रमत्तः ॥

६—आशुप्रज्ञ पडित सोए हुए व्यक्तियो के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त बडे घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्बल है। इसलिए भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

७—चरे पयाइ परिसकमाणो
जं किंचि पास इह मण्णमाणो।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता
पच्छा परिन्नाय मलावधसी ॥

चरेत्पदानि परिशङ्कमान
यत्किञ्चित्पाशमिह मन्यमानः।
लाभान्तरे जीवितं बृंहयित्वा
पश्चात्परिज्ञाय मलापध्वंसी ॥

७—पग-पग पर दोषो से भय खाता हुआ, थोडे से दोष को भी पाश मानता हुआ चले। नए-नए गुणो की उपलब्धि हो, तब तक जीवन को पोषण दे। जब वह न हो तब विचार-विमर्श पूर्वक इस शरीर का ध्वस कर डाले।

८—छन्द निरोहेण उवेइ मोक्खं
आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइ वासाइ चरप्पमत्तो
तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्ख ॥

छन्दोनिरोधेनोपैति मोक्षं
अश्वो यथा शिक्षितवर्मधारी।
पूर्वाणि वर्षाणि चराप्रमत्तः
तस्मान्मुनि क्षिप्रमुपैति मोक्षम् ॥

८—शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहा हुआ) और तनुत्राणधारी अश्व जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि ससार का पार पा जाता है। पूर्व जीवन में जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त-विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९—स पुव्वमेव न लभेज्ज पच्छा
एसोवमा सासय-वाइयाण ।
विसीयई सिढिले आउयमि[1]
कालोवणीए सरीरस्स भेए ॥

स पूर्वमेव न लभेत पश्चात्
एषोपमा शाश्वतवादिकानाम् ।
विषीदति शिथिले आयुषि
कालोपनीते शरीरस्य भेदे ॥

९—जो पूर्व जीवन में अप्रमत्त नहीं होता, वह पिछले जीवन में भी अप्रमाद को नही पा सकता। "पिछले जीवन में अप्रमत्त हो जाएंगे"—ऐसा निश्चय-वचन शाश्वत-वादियों के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन में प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर-भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

१०—खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं
तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोयं समया महेसी
अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो[2] ॥

क्षिप्रं न शक्नोति विवेकमेतुं
तस्मात्समुत्थाय प्रहाय कामान् ।
समेत्य लोकं समतया महर्षि
आत्मरक्षी चराप्रमत्तः ॥

१०—कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए हे मोक्ष की एषणा करने वालो! उठो। "जीवन के अंतिम भाग में अप्रमत्त बनेंगे"—इस आलस्य को त्यागो। काम-भोगों को छोडो। लोक को भलीभाँति जानो। समभाव में रमो। आत्म-रक्षक और अप्रमत्त हो कर विचरण करो।

११—मुहुं मुहुं मोह-गुणे जयन्तं
अणेग-रूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च
न तेसु भिक्खू मणसा पउस्से ॥

मुहुर्मुहुर्मोह-गुणान् जयन्तं
अनेक-रूपा श्रमणं चरन्तम् ।
स्पर्शाः स्पृशन्त्यसमञ्जसं च
न तेषु भिक्षुर्मनसा प्रदुष्येत् ॥

११—बार-बार मोह गुणों पर विजय पाने का यत्न करने वाले उग्र-विहारी श्रमण को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श पीड़ित करते हैं। किन्तु वह उन पर प्रद्वेष न करे।

१२—'मन्दा य फासा बहु-लोहणिज्जा'[3]
तह-प्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खेज्ज कोहं विणएज्ज माणं
मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ॥

मन्दाश्च स्पर्शा बहु-लोभनीया
तथा-प्रकारेषु मनो न कुर्यात् ।
रक्षेत् क्रोधं विनयेद् मानं
मायां न सेवेत प्रजह्याल्लोभम् ॥

१२—अनुकूल स्पर्श विवेक को मन्द करने वाले और बहुत लुभावने होते हैं। वैसे स्पर्शो में मन को न लगाये। क्रोध का निवारण करे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३—जे संखया तुच्छ परप्पवाई
ते पिज्ज-दोसाणुगया परज्झा ।
एए 'अहम्मे' त्ति दुगुंछमाणो
कंखे गुणे जाव सरीर-भेओ ॥
—त्ति बेमि ।

ये संस्कृताः तुच्छाः परप्रवादिनः
ते प्रेयोदोषानुगताः पराधीनाः ।
एते 'अधर्म' इति जुगुप्समानः
काङ्क्षेद् गुणान् यावच्छरीर-भेदः ॥
—इति ब्रवीमि ।

१३—जो अन्य-तीर्थिक लोग "जीवन साधा जा सकता है"—ऐसा कहते हैं वे अशिक्षित हैं, प्रेय और द्वेष में फँसे हुए हैं, पर-तन्त्र हैं। "वे धर्म-रहित हैं"—ऐसा सोच उनसे दूर रहे। अंतिम सांस तक (सम्यक्-दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि) गुणों की आराधना करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ आउंमि (उ)।
२ व चरप्पमत्तो (अ०), चरऽपमत्तो (उ)।
३. मंदाउ तहा हियस्स बहु-लोभणेज्जा (चू० पा०)।

पञ्चमं अज्झयणं :

अकाम-मरणिज्जं

पंचम अध्ययन :

अकाम-मरणीय

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'अकाममरणिज्ज'—'अकाम-मरणीय' है। निर्युक्ति मे इसका दूसरा नाम 'मरणविभत्तीइ'—'मरण-विभक्ति' भी मिलता है।[1]

जीवन-यात्रा के दो विश्राम है—जन्म और मृत्यु। जीवन कला है तो मृत्यु भी उससे कम कला नही है। जो जीने की कला जानते है और मृत्यु की कला नही जानते, वे सदा के लिए अपने पीछे दूषित वातावरण छोड जाते है। व्यक्ति को कैसा मरण नही करना चाहिए, इसका विवेक आवश्यक है। मरण के विविध प्रकारों के उल्लेख इस प्रकार मिलते है —

१—मरण के १४ भेद

भगवती सूत्र मे मरण के दो भेद—बाल और पण्डित किए है। बाल-मरण के बारह प्रकार है और पण्डित-मरण के दो प्रकार—कुल मिलाकर चौदह भेद वहाँ मिलते है—

बाल-मरण के बारह भेद है —(१) वलय, (२) वशार्त्त, (३) अन्त शल्य, (४) तद्भव, (५) गिरि-पतन, (६) तरु-पतन, (७) जल-प्रवेश, (८) अग्नि-प्रवेश, (९) विष-भक्षण, (१०) शस्त्रावपाटन, (११) वैहायस और (१२) गृद्धपृष्ठ।[2]

पण्डित-मरण के दो भेद है —(१) प्रायोपगमन और (२) भक्त-प्रत्याख्यान।[3]

२—मरण के १७ भेद

समवायाङ्ग मे मरण के १७ भेद बतलाए है। मूलाराधना मे भी मरण के सतरह प्रकारों का उल्लेख है और उनका विस्तार विजयोदया वृत्ति मे मिलता है। उक्त परम्पराओं के अनुसार मरण के १७ प्रकार इस तरह है —

समवायाङ्ग	मूलाराधना (विजयोदया वृत्ति)
१—आवीचि-मरण	१—आवीचि-मरण
२—अवधि मरण	२—तद्भव-मरण
३—आत्यन्तिक-मरण	३—अवधि-मरण
४—वलन्मरण	४—आदि-अन्त-मरण
५—वशार्त्त-मरण	५—बाल-मरण
६—अन्त शल्य-मरण	६—पण्डित-मरण
७—तद्भव मरण	७—अवसन्न-मरण
८—बाल मरण	८—बाल-पण्डित-मरण

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २३३ सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइ वण्णिआ कमसो।

२ भगवती २।१, सू० ९० दुविहे मरणे पण्णत्ते, त जहा—बालमरणे य पडियमरणे य, से कि त बालमरणे ?, २ दुवालसविहे प०, त० वलयमरणे, वसट्टमरणे, अन्तोसल्लमरणे, तब्भवमरणे, गिरिपडणे, तरुपडणे, जलप्पवेसे, जलणप्पवेसे, विसभक्खणे, सत्थोवाडणे वेहाणसे, गिद्धपिट्ठे।

३ वही से कि त पडियमरणे ? २ दुविहे पण्णत्ते, त जहा—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

९—पण्डित-मरण
१०—बाल-पण्डित-मरण
११—छद्मस्थ-मरण
१२—केवलि-मरण
१३—वैहायस-मरण
१४—गृद्धपृष्ठ-मरण
१५—भक्त-प्रत्याख्यान-मरण
१६—इंगिनी-मरण
१७—प्रायोपगमन-मरण[1]

९—सशल्य-मरण
१०—वलाय-मरण
११—व्युत्सृष्ट-मरण
१२—विप्रनास-मरण
१३—गृद्धपृष्ठ-मरण
१४—भक्त-प्रत्याख्यान-मरण
१५—प्रायोपगमन-मरण
१६—इंगिनी-मरण
१७—केवली-मरण[2]

समवायाङ्ग के तीसरे, दसवें और पन्द्रहवें मरण के नाम उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार क्रमशः अत्यन्त-मरण, मिश्र-मरण और भक्त-परिज्ञा-मरण है। यह केवल शाब्दिक अन्तर है, नामों अथवा क्रम में और कोई अन्तर नही है।[3]

विजयोदया मे क्रम तथा नामों में भी अन्तर है। 'वैहायस' के स्थान पर 'विप्रनास' तथा 'अन्त शल्य' और 'आत्यन्तिक' के स्थान पर क्रमश 'सशल्य' और 'आद्यन्त' नाम उल्लिखित है। समवायाङ्ग में वशार्त-मरण और छद्मस्थ-मरण हैं जबकि विजयोदया में अवसन्न-मरण और व्युत्सृष्ट-मरण। भगवती के उपर्युक्त पाचवें से लेकर दसवें तक के ६ भेद विजयोदया के 'बाल-मरण' भेद में समाविष्ट होते है।

उक्त सतरह प्रकार के मरणों की सक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है —

१—आवीचि-मरण —आयु-कर्म के दलिकों की विच्युति अथवा प्रतिक्षण आयु की विच्युति, आवीचि-मरण कहलाता है।[4]

वीचि का अर्थ है—तरग। समुद्र और नदी मे प्रतिक्षण लहरें उठती हैं। वैसे ही आयु-कर्म भी प्रतिसमय उदय मे आता है। आयु का अनुभव करना जीवन का लक्षण है। प्रत्येक समय का जीवन प्रतिसमय मे नष्ट होता है। यह प्रत्येक समय का मरण आवीचि-मरण कहलाता है।[5]

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव की अपेक्षा से आवीचि-मरण के पाच प्रकार है।[6]

---

१ समवायाङ्ग, समवाय १७, पत्र ३२ सत्तरसविहे मरणे प०—आवीईमरणे, ओहिमरणे आयतियमरणे, वलायमरणे, वसट्टमरणे, अतोसल्ल मरणे, तब्भवमरणे, बालमरणे, पडितमरणे, बालपडितमरणे, छउमत्थमरणे, केवलिमरणे, वेहाणसमरणे, गिद्धपिट्ठमरणे, भत्तपच्चक्खाणमरणे, इगिणिमरणे, पाओवगमणमरणे।

२ (क) मूलाराधना आश्वास १, गाथा २५ मरणाणि सत्तरस देसिदाणि तित्थकरेहि जिणवयणे।
तत्थ विय पच इह सगहेण मरणाणि वोच्छामि॥

(ख) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

३ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २१२, २१३ आवीचि ओहि अतिय वलायमरण वसट्टमरण च।
अतोसल्ल तब्भव बाल तह पडिय मीस॥
छउमत्थमरण केवलि वेहाणस गिद्धपिट्ठमरण च।
मरणं भत्तपरिण्णा इगिणी पाओवगमण च॥

४ समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ आयुर्दलिकविच्युतिलक्षणावस्था यस्मिस्तदावीचि अथवा वीचि —विच्छेदस्तदभावादवीचि" एव भूत मरणमावीचिमरण—प्रतिक्षणमायुर्द्रव्यविचटनलक्षणम्।

५. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८६।

६. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१५ अणुसमयनिरन्तरमवीइसन्निय, तं भणन्ति पचविहं।
दव्वे खित्ते काले भवे य भावे य ससारे॥

२—अवधि-मरण —जीव एक बार नरक आदि जिस गति में जन्म-मरण करता है, उसी गति में दूसरी बार जब कभी जन्म-मरण करता है तो उसे अवधि-मरण कहा जाता है।[1]

३—आत्यन्तिक-मरण —जीव वर्तमान आयु-कर्म के पुद्गलों का अनुभव कर मरण प्राप्त हो, फिर उस भव मे उत्पन्न न हो तो उस मरण को आत्यन्तिक-मरण कहा जाता है।[2]

वर्तमान मरण 'आदि' और वैसा मरण आगे न होने से उसका 'अन्त'—इस प्रकार इसे 'आद्यन्त-मरण' भी कहा जाता है।[3]

४—वलन्मरण —जो सयमी जीवन-पथ से भ्रष्ट होकर मृत्यु पाता है, उसकी मृत्यु को वलन्मरण कहा जाता है।[4] भूख से तड़पते हुए मरने को भी वलन्मरण कहा जाता है।[5]

विजयोदया मे वलाय-मरण कहा है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—विनय, वैयावृत्त्य आदि को सत्कार न देने वाले, नित्य नैमित्तिक कार्यो मे आलसी, व्रत, समिति और गुप्ति के पालन मे अपनी शक्ति को छिपाने वाले, धर्म-चिन्तन के समय नींद लेने वाले, ध्यान और नमस्कार आदि मे दूर भागने वाले व्यक्ति के मरण को वलाय-मरण कहा जाता है।[6]

५—वशार्त्त-मरण —दीप-कलिका में शलभ की तरह जो इन्द्रियों के वशीभूत होकर मृत्यु पाते है, उसे 'वशार्त्त-मरण' कहा जाता है।[7]

विजयोदया मे भी यह नाम मिलता है। यह मरण आर्त्त और रौद्र ध्यान में प्रवृत्त रहने वालों के होता है। इसके चार भेद है—इन्द्रिय-वशार्त्त, वेदना-वशार्त्त, कषाय-वशार्त्त और नो-कषाय-वशार्त्त।[8]

६—अन्त शल्य-मरण —भगवती की वृत्ति में इसके दो भेद किए गए है—(१) द्रव्य और (२) भाव। शरीर मे शस्त्र की नोक आदि रहने से जो मृत्यु होती है वह द्रव्य अन्त शल्य-मरण कहलाता है। लज्जा और अभिमान आदि के कारण अतिचारों की आलोचना न कर दोषपूर्ण स्थिति मे मरने वाले की मृत्यु को भाव अन्तः शल्य-मरण कहा जाता है।[9]

विजयोदया मे इसका नाम सशल्य-मरण है। उसके भी दो भेद है—द्रव्य शल्य और भाव शल्य।[10] मिथ्या-दर्शन, माया और निदान—इन तीनों शल्यों की उत्पत्ति के हेतुभूत कर्म को द्रव्य शल्य कहा जाता है। द्रव्य शल्य

---

१ (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति पत्र ३४ मर्यादा तेन मरणमवधिमरणम्, यानि हि नारकादिभवनिबन्धनतयाऽऽयु कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते यदि पुनस्तान्येवानुभूय मरिष्यति तदा तदवधिमरणमुच्यते। तद्द्रव्यापेक्षया पुनस्तद्ग्रहणावधि यावज्जीवस्य मृतत्वादिति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१६ एमेव ओहिमरण जाणि मओ ताणि चेव मरइ पुणो।
(ग) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

२ (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति पत्र ३४ यानि नारकाद्यायुष्कतया कर्मदलिकान्यनुभूय म्रियते मृतश्च न पुनस्तान्यनुभूय मरिष्यतीति एव यन्मरण तद्द्रव्यापेक्षया अत्यन्तभावित्वादात्यन्तिकमिति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१६ · एमेव आइयतियमरण नवि मरइ ताइ पुणो।

३ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

४ (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ सयमयोगेभ्यो वलतां—भग्नव्रतपरिणतीना व्रतिनां मरण वलन्मरणम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गा० २१७ · सजमजोगविसन्ना मरति जे त वलायमरण तु।

५. भगवती, २।१ सू० ९० वृत्ति, पृ० २११ वलतो—बुभुक्षापरिगतत्वेन वलवलायमानस्य सयमाद्वा भ्रश्यतो (यत्) मरण तद्वलन्मरणम्।

६ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८९।

७ समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ इन्द्रियविषयपारतन्त्र्येण ऋता—बाधिता वशार्त्ता स्निग्धदीपकलिकावलोकनात् शलभवत् तथाऽन्त।

८ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८९, ९०।

९. भगवती, २।१ सू० ९० वृत्ति, पत्र २११ · अन्त शल्यस्य द्रव्यतोऽनुद्धृततोमरादे भावत सातिचारस्य यद्मरण तद् अन्त शल्यमरणम्।

१० विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

की दशा मे होने वाला मरण द्रव्य शल्य-मरण कहलाता है। यह मरण पाँच स्थावर और अमनस्क त्रस जीवों के होता है। उक्त तीन शल्यों के हेतुभूत कर्मों के उदय से जीव में जो माया, निदान और मिथ्यात्व परिणाम होता है, उसे भाव शल्य कहा जाता है। इस दशा में होने वाला मरण भाव शल्य-मरण कहा जाता है।

जहाँ भाव शल्य है वहाँ द्रव्य शल्य अवश्य होता है, किन्तु भाव शल्य केवल समनस्क जीवों को ही होता है। अमनस्क जीवो में संकल्प या चिन्तन नहीं होता, इसलिए उनके केवल द्रव्य शल्य ही होता है। इसीलिए अमनस्क जीवों के मरण को द्रव्य शल्य-मरण और समनस्क जीवों के मरण को भाव शल्य-मरण कहा गया है।[1]

भविष्य मे मुझे अमुक वस्तु मिले, आदि-आदि मानसिक सकल्पो को निदान कहते है। निदान-शल्य-मरण असयत सम्यक्-दृष्टि और श्रावक के होता है।

मार्ग (ज्ञान, दर्शन, चारित्र) को दूषित करना, मार्ग का नाश करना, उन्मार्ग की प्ररूपणा करना, मार्ग मे स्थित लोगों का बुद्धि-भेद करना—इन सबको एक शब्द मे मिथ्यादर्शन-शल्य कहा जाता है।[2]

पार्श्वस्थ, कुशील, ससक्त आदि मुनि धर्म से भ्रष्ट हो कर मरण-समय तक दोषों की आलोचना किए बिना जो मृत्यु पाते है, उसे माया-शल्य-मरण कहा जाता है। यह मरण मुनि, श्रावक और असयत सम्यक्-दृष्टि को प्राप्त होता है।

७—तद्भव-मरण —वर्तमान भव (जन्म) से मृत्यु होती है, उसे तद्भव-मरण कहा जाता है।[3]

८—बाल-मरण .—मिथ्यात्वी और सम्यक्दृष्टि का मरण बाल-मरण कहलाता है।[4] भगवती मे बाल-मरण के १२ भेद प्राप्त है।[5] विजयोदया मे पाँच भेद किए है—(१) अव्यक्त-बाल, (२) व्यवहार-बाल, (३) ज्ञान-बाल, (४) दर्शन-बाल और (५) चारित्र-बाल।[6] इनकी व्याख्या सक्षिप्त मे इस प्रकार है

(१) अव्यक्त-बाल—छोटा बच्चा। जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को नही जानता तथा इन चार पुरुषार्थों का आचरण करने मे भी समर्थ नही होता।

(२) व्यवहार-बाल—लोक-व्यवहार, शास्त्र-ज्ञान आदि को जो नही जानता।

(३) ज्ञान-बाल—जो जीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप से नही जानता।

(४) दर्शन-बाल—जिसकी तत्त्वों के प्रति श्रद्धा नही होती। दर्शन-बाल के दो भेद है—इच्छा-प्रवृत्त और अनिच्छा-प्रवृत्त। इच्छा-प्रवृत्त—अग्नि, धूप, शस्त्र, विष, पानी, पर्वत से गिरकर, श्वासोच्छ्वास को रोक कर, अति सर्दी या गर्मी होने से, भूख और प्यास से, जीभ को उखाड़ने से, प्रकृति-विरुद्ध आहार करने से—इन साधनों के द्वारा जो इच्छा से प्राण-त्याग करता है, वह इच्छा-प्रवृत्त

---

१ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

२ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८, ८९।

३ (क) समवायाङ्ग, समवाय १७ वृत्ति, पत्र ३४ यस्मिन् भवे—तिर्यगमनुष्यभवलक्षणे वर्त्तते जन्तुस्तद्भवयोग्यमेवायुर्बद्ध्वा पुन. तत्क्षयेण म्रियमाणस्य यद्भवति तत्तद्भवमरणम्।

(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२१ : मोसु अकम्मभूमगनरतिरिए सुरगणे अ नेरइए।
सेसाण जीवाण तब्भवमरण तु केसिचि॥

(ग) विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७।

४ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२२ · अविरयमरण बाल मरण विरयाण पडिय बिति।
जाणाहि बालपडियमरण पुण देसविरयाणं॥

५ भगवती २।१। सू० ९० वृत्ति, पत्र २११।

६ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८७,८८।

दर्शन-बाल-मरण कहलाता है। अनिच्छा-प्रवृत्त—योग्यकाल मे या अकाल में मरने की इच्छा के बिना जो मृत्यु होती है, वह अनिच्छा-प्रवृत्त दर्शन-बाल-मरण कहलाता है।

(५) चारित्र-बाल—जो चारित्र मे हीन होता है। विषयों मे आसक्त, दुर्गति में जाने वाले, अज्ञानान्धकार मे आच्छादित, ऋद्धि मे आसक्त, रसों में आसक्त और सुख के अभिमानी जीव बाल-मरण मे मरते हैं।

९—पण्डित-मरण —सयति का मरण पण्डित-मरण कहलाता है। विजयोदया में इसके चार भेद किए हैं—(१) व्यवहार-पण्डित, (२) सम्यक्त्व-पण्डित, (३) ज्ञान-पण्डित और (४) चारित्र-पण्डित।[1] इनकी व्याख्या इस प्रकार है :

(१) व्यवहार-पण्डित—जो लोक, वेद और समय के व्यवहार में निपुण, उनके शास्त्रों का ज्ञाता और शुश्रूषा आदि गुणों से युक्त हो।

(२) दर्शन-पण्डित—जो सम्यक्त्व से युक्त हो।

(३) ज्ञान-पण्डित—जो ज्ञान से युक्त हो।

(४) चारित्र-पण्डित—जो चारित्र से युक्त हो।

१०—बाल-पण्डित-मरण —सयतासयत का मरण बाल-पण्डित-मरण कहलाता है।[2] स्थूल हिंसा आदि पाँच पापों के त्याग तथा सम्यक्-दर्शन युक्त होने से वह पण्डित है। सूक्ष्म असयम से निवृत्त न होने के कारण उसमें बालत्व भी है।[3]

११—छद्मस्थ-मरण —मन पर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, श्रुतज्ञानी और मतिज्ञानी श्रमण के मरण को छद्मस्थ-मरण कहा जाता है।[4]

विजयोदया मे इसके स्थान पर 'ओसण्ण-मरण' नाम मिलता है।[5] उसकी व्याख्या इस प्रकार दी है—रत्नत्रय मे विहार करने वाले मुनियों के सघ मे जो अलग हो गया हो उसे 'अवसन्न' कहते हैं। उसके मरण को अवसन्न-मरण कहा जाता है। पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील, ससक्त और अवसन्न—ये पाँच भ्रष्ट मुनि 'अवसन्न' कहलाते हैं। ये ऋद्धि मे आसक्त, रसों मे आसक्त, दु ख से भयभीत, कषायों में परिणत हो आहार आदि सज्ञाओं के वशवर्ती, पाप शास्त्रों के अध्येता, तेरह क्रिया (३ गुप्ति, ५ समिति और ५ महाव्रत) मे आलसी, सक्लिष्ट-परिणामी, भक्तपान और उपकरणों में आसक्त, निमित्त, तन्त्र-मन्त्र और औषध से आजीविका करने वाले, गृहस्थों का वैयावृत्त्य करने वाले, उत्तर गुणों से हीन, गुप्ति और समिति में अनुद्यत, ससार के दु खों से भय न करने वाले, क्षमा आदि दश धर्मों में प्रवृत्त न होने वाले तथा चारित्र में दोष लगाने वाले होते हैं। ये अवसन्न मुनि मर कर हजारों भवों में भ्रमण करते हैं और दु खों को भोगते हुए जीवन को पूरा करते हैं।

१२—केवलि-मरण —केवल ज्ञानी का मरण केवलि-मरण कहलाता है।

---

१ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

२ उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२०, (देखिए पृ० ६० पा० टि० ४)।

३. विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

४ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२३ मणपज्जवोहिनाणी सुअमइनाणी मरंति जे समणा।
छउमत्थमरणमेयं केवलिमरणं तु केवलिणो॥

५ विजयोदया वृत्ति, पत्र ८८।

१३—वैहायस-मरण —वृक्ष को शाखा पर लटकने, पर्वत से गिरने और झपा लेने आदि कारण से होने वाला मरण वैहायस-मरण कहलाता है।[1] विजयोदया मे इसके स्थान पर 'विप्रणास-मरण' है।[2]

१४— गृद्धपृष्ठ-मरण :—हाथी आदि के कलेवर मे प्रविष्ट होने पर उस कलेवर के साथ-साथ उस जीवित शरीर को भी गीध आदि नोंच कर मार डालते है, उस स्थिति मे जो मरण होता है, वह गृद्धपृष्ठ-मरण कहलाता है।[3]

१५—भक्त-प्रत्याख्यान-मरण —यावत् जीवन के लिए त्रिविध अथवा चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक जो मरण होता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान-मरण कहा जाता है।[4]

१६—इगिनी-मरण —प्रतिनियत स्थान पर अनशन पूर्वक मरण को इंगिनी-मरण कहते हैं। जिस मरण मे अपने अभिप्राय से स्वय अपनी शुश्रूषा करे, दूसरे मुनियों से सेवा न ले उसे इंगिनी-मरण कहा जाता है। यह मरण चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान करने वाले के ही होता है।

१७—प्रायोपगमन, पादपोपगमन, पादोपगमन-मरण '—अपनी परिचर्या न स्वय करे और न दूसरों से कराये, ऐसे मरण को प्रायोपगमन अथवा प्रायोग्य-मरण कहते हैं।[5] वृक्ष के नीचे स्थिर अवस्था मे चतुर्विध आहार के त्याग पूर्वक जो मरण होता है, उसे पादपोपगमन-मरण कहते है।[6] अपने पाँवों के द्वारा सघ से निकल कर और योग्य प्रदेश में जाकर जो मरण किया जाता है उसे पादोपगमन-मरण कहा जाता है। इस मरण को चाहने वाले मुनि अपने शरीर की परिचर्या न स्वय करते हैं और न दूसरों से करवाते है।[7] कहीं 'पाउग्गमण' (प्रायोग्य) पाठ भी आता है।[8] भव के अन्त करने योग्य सहनन और सस्थान को 'प्रायोग्य' कहा जाता है। उसकी प्राप्ति को 'प्रायोग्य-गमन' कहा है। विशिष्ट सहनन और विशिष्ट सस्थान वाले के मरण को प्रायोग्य-गमन-मरण कहा जाता है।[9]

श्वेताम्बर परम्परा मे 'पादपोपगमन' शब्द मिलता है और दिगम्बर परम्परा मे 'प्रायोपगमन', 'प्रायोग्य' और 'पादोपगमन' पाठ मिलता है।

भगवती मे पादपोपगमन के दो भेद किए है—निर्हारि और अनिर्हारि।[10] निर्हारि—इसका अर्थ है

१—(क) भगवती २।१। सू० ६० वृत्ति, पत्र २११ · वृक्षशाखाद्युद्बन्धनेन यत्तन्निरुक्तिवशाद्वैहानसम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२४ . गिद्धाइभक्खण गिद्धपिट्ठ उब्बधणाइ वेहास।
एए दुन्निवि मरणा कारणजाए अणुणाया॥

२—विजयोदया वृत्ति, पत्र ६०।

३—(क) भगवती २।१। सू० ६० वृत्ति, पत्र २११ · पक्षिविशेषैर्गृद्धैर्वा—मांसलुब्धै· श्रृगालादिभि स्पृष्टस्य—विदारितस्य करिकरभरासभादि-शरीरान्तर्गतत्वेन यन्मरण तद्गृध्रस्पृष्टं वा गृद्धस्पृष्ट वा, गृध्रैर्वा भक्षतिस्य—स्पृष्टस्य यत्तद्गृध्रस्पृष्टम्।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२४ (देखिए पा० टि० १ (ख))।

४—(क) भगवती २।१। सू० ६० वृत्ति, पत्र २११-२१२ : चतुर्विधाहारपरिहारनिष्पन्नमेव भवतीति।
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२५ वृत्ति, पत्र २३५ ·

५—(क) भगवती २।१। सू० ९० वृत्ति, पत्र २१२।
(ख) समवायाङ्ग सम १७ वृत्ति, पत्र ३५ : पादपस्येवोपगमनम्—अवस्थान यस्मिन् तत्पादपोपगमन तदेव मरणम्।
(ग) उत्तराध्ययन निर्युक्ति गाथा २२५ वृत्ति, पत्र २३५।

६—विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३।

७—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ६१

८—विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३।

९—विजयोदया वृत्ति, पत्र ११३।

१०—भगवती २।१। सू० ६० वृत्ति, पत्र २१२ . निर्हारेण निर्वृत्त यत्तन्निर्हारिम, प्रतिश्रये यो म्रियते तस्यैतत्, तत्कडेवरस्य निर्हारणात् अनिर्हारिम तु योऽटव्यां म्रियते इति।

बाहर निकालना। उपाश्रय में मरण प्राप्त करने वाले साधु के शरीर को वहाँ से बाहर ले जाना होता है, इसलिए उस मरण को निर्हारि कहते है। अनिर्हारि—अरण्य में अपने शरीर का त्याग करने वाले साधु के शरीर को बाहर ले जाना नहीं पड़ता, इसलिए उसे अनिर्हारि-मरण कहा जाता है।

भगवती मे इ गिनी-मरण को भक्त-प्रत्याख्यान का एक प्रकार स्वीकार कर[1] उसको स्वतत्र व्याख्या नहीं की है। मूलाराधना में भक्त-प्रत्याख्यान, इ गिनी और प्रायोपगमन—ये तीनों पण्डित-मरण के भेद माने गये है।[2]

उपर्युक्त १७ मरण विभिन्न विवक्षाओं से प्रतिपादित हैं। आवीचि, अवधि, आत्यन्तिक और तद्भव-मरण भव की दृष्टि से, वलन्, वैहायस, गृद्धपृष्ठ, वशार्त्त और अन्त शल्य-मरण आत्म-दोष, कषाय आदि की दृष्टि से, बाल और पण्डित मरण चारित्र की दृष्टि से, छद्मस्थ और केवलि-मरण ज्ञान की दृष्टि से तथा भक्त-प्रत्याख्यान, इ गिनी और प्रायोपगमन-मरण अनशन की दृष्टि से किए गए है।

उपर्युक्त १७ मरणों में आवीचि मरण प्रतिपल होता है और सिद्धों को छोड़ सब प्राणियो के होता है। शेष मरण जीव विशेषो के होते है।

एक समय में कितने मरण होते है ? इस प्रश्न का उत्तर उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में है।[3] एक समय में दो मरण, तीन मरण, चार मरण और पाँच भी होते है। बाल, बाल-पण्डित और पण्डित की अपेक्षा से वे इस प्रकार है—

बाल की उपेक्षा

(१) एक समय में दो मरण—अवधि और आत्यन्तिक में से एक और दूसरा बाल-मरण।

(२) एक समय में तीन मरण—जहाँ तीन होते हैं वहाँ तद्भव-मरण और बढ जाता है।

(३) एक समय में चार मरण—जहाँ चार होते है वहाँ वशार्त्त-मरण और बढ जाता है।

(४) एक समय में पाँच मरण—जहाँ आत्मघात करते है वहाँ वैहायस और गृद्धपृष्ठ में से कोई एक बढ जाता है। वलन्मरण और शल्य-मरण को बाल-मरण के अन्तर्गत स्वीकार किया है।

पण्डित की अपेक्षा

पण्डित-मरण की विवक्षा दो प्रकार से की है—दृढ सयमी पण्डित और शिथिल सयमी पण्डित।

(क) दृढ सयमी पण्डित

(१) जहाँ दो मरण एक समय में होते हैं वहाँ अवधि-मरण और आत्यन्तिक-मरण मे से कोई एक होता है क्योंकि दोनों परस्पर विरोधी है, दूसरा पण्डित-मरण।

---

१ भगवती २।१। सू० ६० वृत्ति, पत्र २१२ : इङ्गितमरणमभिधीयते तद्भक्तप्रत्याख्यानस्यैव विशेष ।

२. मूलाराधना, गाथा २६ पायोपगमण मरण भत्तपइण्णा च इगिणी चेव।
तिविह पडियमरण साहुस्स जहुत्तचारिस्स ॥

३. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२७-२२९ : दुन्नि व तिन्न व चत्तारि पच मरणाइ अवीइमरणमि।
कइ मरइ एगसमयसि विभासावित्थर जाणे ॥
सव्वे भवत्थजीवा मरति आवीइअ सया मरण।
ओहिं च आइअतिय दुन्निवि पयाइ भयणाए ॥
ओहिं च आइअतिअ बाल तह पडिअ च मीसं च।
छउम केवलिमरण अन्नुन्नेण विरुज्झति ॥

(२) जहाँ तीन मरण एक साथ होते है, वहाँ छद्मस्थ-मरण और केवलि-मरण में से एक बढ जाता है ।

(३) जहाँ चार मरण की विवक्षा है, वहाँ भक्त-प्रत्याख्यान, इगिनी और पादपोपगमन मे से एक बढ जाता है ।

(४) जहाँ पाँच मरण की विवक्षा है, वहाँ वैहायस और गृद्ध-पृष्ठ मे से एक मरण बढ जाता है ।

(ख) शिथिल सयमी पण्डित

(१) जहाँ दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहाँ अवधि और आत्यन्तिक मे से एक और किसी कारणवश वैहायस और गृद्धपृष्ठ मे से एक ।

(२) कथचिद् शल्य-मरण होने से तीन भी हो जाते हैं ।

(३) जहाँ वलन्मरण होता है वहाँ एक साथ चार हो जाते है ।

(४) छद्मस्थ-मरण की जहाँ विवक्षा होती है, वहाँ एक साथ पाँच मरण हो जाते हैं ।

भक्त-प्रत्याख्यान, इङ्गिनी और प्रायोपगमन-मरण विशुद्ध सयम वाले पण्डितों के ही होता है । दोनों प्रकार के पण्डित-मरण की विवक्षा मे तद्भव-मरण नही लिया गया है, क्योंकि वे देवगति मे ही उत्पन्न होते है ।

बाल-पण्डित की अपेक्षा

(१) जहाँ दो मरण की एक समय में विवक्षा है, वहाँ अवधि और आत्यन्तिक मे से कोई एक और बाल-पण्डित ।

(२) तद्भव-मरण साथ होने से तीन मरण ।

(३) वशार्त्त-मरण साथ होने से चार मरण ।

(४) कथचिद् आत्मघात करने वाले के वैहायस और गृद्ध-पृष्ठ में से एक साथ होने से पाँच[१] ।

३—मरण के दो भेद

गोम्मटसार मे मरण के दो भेद किये गये हैं—(१) कदलीघात (अकालमृत्यु) और (२) सन्यास । विष-भक्षण, विषैले जीवो के काटने, रक्तक्षय, धातुक्षय, भयकर वस्तुदर्शन तथा उससे उत्पन्न भय, वस्त्रघात, सक्लेशक्रिया, श्वासोच्छ्वास के अवरोध और आहार न करने से समय में जो शरीर छूटता है, उसे कदलीघात-मरण कहा जाता है । कदलीघात सहित अथवा कदलीघात के बिना जो सन्यास रूप परिणामों से शरीर-त्याग होता है, उसे त्यक्त-शरीर कहते हैं । त्यक्त-शरीर के तीन भेद है—(१) भक्त-प्रतिज्ञा, (२) इगिनी और (३) प्रायोग्य । इनकी व्याख्या इस प्रकार है :—

(१) भक्त-प्रतिज्ञा—भोजन का त्याग कर जो सन्यास मरण किया जाता है, उसे 'भक्त-परिज्ञा-मरण' कहा जाता है । इसके तीन भेद है—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । जघन्य का कालमान अन्तर्मुहूर्त है, उत्कृष्ट का १२ वर्ष और शेष का मध्यवर्ती ।

(२) इङ्गिनी—अपने शरीर की परिचर्या स्वय करे, दूसरों से सेवा न ले, इस विधि से जो सन्यास धारण पूर्वक मरण होता है उसे 'इङ्गिनी-मरण' कहा जाता है ।

(३) प्रायोग्य, प्रायोपगमन—अपने शरीर की परिचर्या न स्वय करे और न दूसरों से कराए, ऐसे सन्यास पूर्वक मरण को प्रायोग्य या प्रायोपगमन-मरण कहा है ।[२]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २२७-२२९, बृहद् वृत्ति, पत्र २३७-३८ ।

२—गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गाथा ५७ ६१ ।

४—मरण के पाँच भेद

मूलाराधना मे दूसरे प्रकार से भी मरण-विभाग प्राप्त होता है .

१—पण्डित-पण्डित-मरण,

२—पण्डित-मरण,

३—बाल-पण्डित-मरण,

४—बाल-मरण और

५—बाल-बाल-मरण ।[1]

प्रस्तुत अध्ययन मे मरण के दो प्रकार बतलाये गये है। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है अकाम-मृत्यु का परिहार और सकाम-मृत्यु का स्वीकरण।

---

१ मूलाराधना आश्वास १, गाथा २६ पडिद पडिद मरणं पंडिदय बालपडिद चेव ।
बालमरण चउत्थ पचमय बालबाल च ॥

पंचम अज्झयण : पंचम अध्ययन

अकाम-मरणिज्जं : अकाम-मरणीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अण्णवसि महोहसि[1] एगे तिण्णे[2] दुरुत्तर । तत्थ एगे महापन्ने इम पट्ठमुदाहरे[3] ॥	अर्णवे महौघे एकस्तीर्णो दुरुत्तरे । तत्रैको महाप्रज्ञ इम स्पष्टमुदाहरेत् ॥	१—इस महा-प्रवाह वाले दुस्तर ससार-समुद्र से कई तिर गए । उनमें एक महाप्राज्ञ (महावीर) ने स्पष्ट कहा—
२—सन्तिमे य[4] दुवे ठाणा अक्खाया मारणन्तिया । अकाम-मरण चेव सकाम-मरण तहा ॥	स्त इमे च द्वे स्थाने आख्याते मारणान्तिके । अकाममरण चैव सकाममरणं तथा ॥	२—मृत्यु के दो स्थान कथित है—अकाम-मरण और सकाम-मरण ।
३—बालाण[5] अकाम तु मरण असइ भवे । पण्डियाण सकाम तु उक्कोसेण सइ भवे ॥	बालानामकाम तु मरणमसकृद् भवेत् । पण्डिताना सकाम तु उत्कर्षण सकृद् भवेत् ॥	३—बाल जीवो के अकाम-मरण बार-बार होता है । पण्डितो के सकाम-मरण उत्कर्षत एक बार होता है ।
४—तत्थिम पढम ठाण महावीरेण देसिय । काम-गिद्धे जहा बाले भिस कूराइ कुव्वई ॥	तत्रेद प्रथम स्थान महावीरेण देशितम् । काम-गृद्धो यथा बालो भृश क्रूराणि करोति ॥	४—महावीर ने उन दो स्थानो में पहला स्थान यह कहा है, जैसे कामासक्त बाल-जीव बहुत क्रूर-कर्म करता है ।

१ महोघंसि (वृ० पा०) ।
२ तरइ (वृ०, चू०,), तिण्णे (वृ०पा०) ।
३ पण्हमुदाहरे (वृ० पा०, चू० पा०, छ०) ।
४ खलु (चू०), ए (वृ०) ।
५ बालाण य (ऋ०) ।

५—जे गिद्धे काम-भोगेसु
एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए
चक्खु-दिट्ठा इमा रई॥

यो गृद्धः कामभोगेषु
एकः कूटाय गच्छति।
न मया दृष्टः परो लोकः
चक्षुर्दृष्टेयं रतिः॥

५—जो कोई काम-भोगों में आसक्त होता है, उसकी गति मिथ्या-भाषण की ओर हो जाती है। वह कहता है—परलोक तो मैंने देखा नहीं, यह रति (आनन्द) तो चक्षु-दृष्ट है—आँखों के सामने है।

६—हत्थागया इमे कामा
कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए
अत्थि वा नत्थि वा पुणो?॥

हस्तागता इमे कामाः
कालिका येऽनागताः।
को जानाति परो लोकः
अस्ति वा नास्ति वा पुनः?॥

६—ये काम-भोग हाथ में आए हुए हैं। भविष्य में होनेवाले संदिग्ध हैं। कौन जानता है—परलोक है या नहीं?

७—जणेण सद्धिं होक्खामि
इइ बाले पगब्भई।
काम-भोगाणुराएण
केसं संपडिवज्जई॥

"जनेन सार्धं भविष्यामि"
इति बालः प्रगल्भते।
कामभोगानुरागेण
क्लेशं सम्प्रतिपद्यते॥

७—"मैं लोक-समुदाय के साथ रहूंगा" (जो गति उनकी होगी वही मेरी)—ऐसा मानकर बाल-मनुष्य धृष्ट बन जाता है। वह काम-भोग के अनुराग से क्लेश पाता है।

८—तओ से दण्डं समारभई
तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए
भूयग्गामं विहिंसई॥

ततः स दण्डं समारभते
त्रसेषु स्थावरेषु च।
अर्थाय चानर्थाय
भूत-ग्रामं विहिनस्ति॥

८—फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति दण्ड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है।

९—हिंसे बाले मुसावाई
माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं
सेयमेयं ति मन्नई॥

हिंस्रो बालो मृषावादी
मायी पिशुनः शठः।
भुंजानः सुरां मांसं
श्रेय एतदिति मन्यते॥

९—हिंसा करने वाला, झूठ बोलने वाला, छल-कपट करने वाला, चुगली खाने वाला, वेश परिवर्तन कर अपने आपको दूसरे रूप में प्रकट करने वाला अज्ञानी मनुष्य मद्य और मांस का भोग करता है और 'यह श्रेय है'—ऐसा मानता है।

१०—कायसा वयसा मत्ते
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ
सिसुणागु व्व मट्टियं॥

कायेन वचसा मत्तः
वित्ते गृद्धश्च स्त्रीषु।
द्विधा मलं संचिनोति
शिशुनाग इव मृत्तिकाम्॥

१०—वह शरीर और वाणी से मत्त होता है। धन और स्त्रियों में गृद्ध होता है। वह राग और द्वेष—दोनों से उसी प्रकार कर्म-मल का संचय करता है जैसे शिशुनाग (अलस या केंचुआ) मुख और शरीर—दोनों से मिट्टी का

११—तओ पुट्ठो आयंकेण
गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स
कम्माणुप्पेहि अप्पणो॥

ततः स्पृष्टः आतंकेन
ग्लानः परितप्यते।
प्रभीतः परलोकात्
कर्मानुप्रेक्षी आत्मनः॥

११—फिर वह रोग से स्पृष्ट होने पर ग्लान बना हुआ परिताप करता है। अपने कर्मों का चिन्तन कर परलोक से भयभीत होता है।

१२—सुया मे नरए ठाणा
असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूर-कम्माणं
पगाढा जत्थ वेयणा॥

श्रुतानि मया नरके स्थानानि
अशीलानां च या गतिः।
बालानां क्रूर-कर्मणां
प्रगाढा यत्र वेदना॥

१२—वह सोचता है—मैंने उन नारकीय स्थानों के विषय में सुना है, जो शील रहित तथा क्रूर-कर्म करने वाले अज्ञानी मनुष्यों की अन्तिम गति है और जहाँ प्रगाढ वेदना है।

१३—तत्थोववाइयं ठाणं
जहा मेयमणुस्सुयं।
आहाकम्मेहिं गच्छन्तो
सो पच्छा परितप्पई॥

तत्रौपपातिकं स्थानं,
यथा ममैतदनुश्रुतम्।
यथाकर्मभिर्गच्छन्,
स पश्चात् परितप्यते॥

१३—उन नरकों में जैसा औपपातिक (उत्पन्न होने का) स्थान है, वैसा मैंने सुना है। वह आयुष्य क्षीण होने पर अपने कृत-कर्मों के अनुसार वहाँ जाता हुआ अनुताप करता है।

१४—जहा सागडिओ जाणं
समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो[1]
'अक्खे भग्गंमि'[2] सोयई॥

यथा शाकटिको जानन्,
समं हित्वा महापथम्।
विषमं मार्गमवतीर्णः,
अक्षे भग्ने शोचति॥

१४—जैसे कोई गाड़ीवान् समतल राज-मार्ग को जानता हुआ भी उसे छोड़कर विषम मार्ग से चल पड़ता है और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है।

१५—एवं धम्मं विउक्कम्म
अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चु-मुहं पत्ते
अक्खे भग्गे व सोयई॥

एवं धर्मं व्युत्क्रम्य,
अधर्मं प्रतिपद्य।
बालः मृत्यु-मुखं प्राप्तः,
अक्षे भग्ने इव शोचति॥

१५—इसी प्रकार धर्म का उल्लंघन कर, अधर्म को स्वीकार कर, मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ अज्ञानी धुरी टूटे हुए गाड़ीवान् की तरह शोक करता है।

१६—तओ से मरणन्तंमि
बाले सन्तस्सई[3] भया।
अकाम-मरणं मरई
धुत्ते व कलिना जिए॥

ततः स मरणान्ते,
बालः सन्त्रस्यति भयात्।
अकाम-मरणेन म्रियते,
धूर्त्त इव कलिना जितः॥

१६—फिर मरणान्त के समय वह अज्ञानी मनुष्य परलोक के भय से सन्त्रस्त होता है और एक ही दाव में हार जाने वाले जुआरी की तरह शोक करता हुआ अकाम-मरण से मरता है।

---

१ मग्गमोगाढा (चू०), मग्गमोगाढो (बृ० पा०)।
२. अक्खभग्गंमि (बृ०), अक्खस्स भग्गे (चू०)।
३. सतसई (चू०)।

१७—एय अकाम-मरण बालाण तु पवेइय । एत्तो सकाम-मरण पण्डियाण सुणेह मे ॥	एतदकाम-मरण, बालाना तु प्रवेदितम् । इत. सकाम-मरण, पण्डितानां शृणुत मे ॥	१७—यह अज्ञानियो के अकाम-मरण का प्रतिपादन किया गया है । अब पण्डितो के सकाम-मरण को मुझ से सुनो ।
१८—मरण पि सपुण्णाणं[1] जहा मेयमणुस्सुय । विप्पसण्णमणाघाय[2] सजयाण वुसीमओ ॥	मरणमपि सपुण्याना, यथाममैतदनुश्रुतम् । विप्रसन्नमनाघात, संयताना वृषीमताम् ॥	१८—जैसा मैंने सुना भी है—पुण्य-शाली, सयमी और जितेन्द्रिय पुरुषो का मरण प्रसन्न और आघात रहित होता है ।
१९—न इम 'सव्वेसु भिक्खू सु'[3] न इम सव्वेसुऽगारिसु । नाणा-सीला अगारत्था विसम-सीला य भिक्खुणो ॥	नेदं सर्वेषा भिक्षूणा, नेदं सर्वेषा अगारिणाम् । नानाशीला अगारस्था, विषमशीलाश्च भिक्षवः ॥	१९—यह सकाम-मरण न सब भिक्षुओं को प्राप्त होता है और न सभी गृहस्थो को । क्योकि गृहस्थ विविध प्रकार के शील वाले होते हैं और भिक्षु भी विषम-शील वाले होते है ।
२०—सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं गारत्था संजमुत्तरा । गारत्थेहि य सव्वेहिं साहवो सजमुत्तरा ॥	सन्त्येकेभ्यो भिक्षुभ्य, अगारस्था. सयमोत्तराः । अगारस्थेभ्यश्च सर्वेभ्यः, साधवः सयमोत्तरा ॥	२०—कुछ भिक्षुओ से गृहस्थो का सयम प्रधान होता है । किन्तु साधुओं का सयम सब गृहस्थो से प्रधान होता है ।
२१—चीराजिण नगिणिण[4] जडी-सघाडि-मुण्डिण । एयाणि वि न तायन्ति दुस्सीऌ परियागय ॥	चीराजिन नाग्न्यं, जटित्व सङ्घाटीमुण्डित्वम् । एतान्यपि न त्रायन्ते, दु शील पर्यागतम् ॥	२१—चीवर, चर्म, नग्नत्व, जटाधारीपन, सघाटी (उत्तरीय वस्त्र) और सिर मुडाना—ये सब दुष्टशील वाले साधु की रक्षा नहीं करते ।
२२—पिण्डोलए व[5] दुस्सीले नरगाओ न मुच्चई । भिक्खाए वा गिहत्थे वा सुव्वए कम्मई दिव ॥	पिण्डावलगो वा दुःशीलो, नरकान्न मुच्यते । भिक्षादो वा गृहस्थो वा, सुव्रतः क्रामति दिवम् ॥	२२—भिक्षा से जीवन चलाने वाला भी यदि दु शील हो तो वह नरक से नही छूटता । भिक्षु हो या गृहस्थ, यदि वह सुव्रती है तो स्वर्ग में जाता है ।

१. सपुण्णाण (अ)।
२. सुपसन्नेहि अक्खाय (बृ० पा०, चू०), सुप्पसन्नमणक्खाय (बृ०), विप्पसण्णमणाघाय (बृ० पा०)।
३ सव्वेसि भिक्खूण (चू०)।
४. णिगिणिण (बृ०), णियण (चू०)।
५. वि० (अ० चू०)।

२३—अगारि-सामाइयगाइ
सड्ढी काएण फासए।
पोसह दुहओ पक्ख
एगराय न हावए॥

अगारि-सामायिकाङ्गानि,
श्रद्धी कायेन स्पृशति।
पौषध द्वयो पक्षयो,
एक रात्र न हापयति॥

२३—श्रद्धालु श्रावक गृहस्थ-सामायिक के अगों का आचरण करे। दोनो पक्षो में किए जाने वाले पौषध को एक दिन-रात के लिए भी न छोड़े।

२४—एव सिक्खा-समावन्ने
गिह-वासे[1] वि सुव्वए।
मुच्चई छवि-पव्वाओ
गच्छे जक्ख-सलोगय॥

एव शिक्षा-समापन्न,
गृह-वासेऽपि सुव्रत।
मुच्यते छवि-पर्वणः,
गच्छेद् यक्ष-सलोकताम्॥

२४—इस प्रकार शिक्षा से समापन्न सुव्रती मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी औदारिक शरीर से मुक्त होकर देवलोक में जाता है।

२५—अह जे सवुडे भिक्खू
दोण्ह अन्नयरे[2] सिया।
सव्वदुक्ख-प्पहीणे वा
देवे वावि महड्ढिए॥

अथ यः सवृतो भिक्षु,
द्वयोरन्यतर स्यात्।
सर्व दुःख-प्रहीणो वा,
देवो वाऽपि महर्द्धिकः॥

२५—जो सवृत-भिक्षु होता है, वह दोनो में से एक होता है—सब दुखों से मुक्त या महान् ऋद्धि वाला देव।

२६—उत्तराइ विमोहाइ
जुइमन्ताणुपुव्वसो।
समाइण्णाइ जक्खेहिं
आवासाइ जससिणो॥

उत्तरा विमोहा,
द्युतिमन्तोऽनुपूर्वशः।
समाकीर्णा यक्षैः,
आवासा यशस्विन॥

२६—देवताओ के आवास क्रमश उत्तम, मोह रहित, द्युतिमान् और देवो से आकीर्ण होते है। उनमें रहने वाले देव यशस्वी—

२७—दीहाउया इड्ढिमन्ता
समिद्धा काम-रूविणो।
अहुणोववन्न-सकासा
भुज्जो अच्चिमालि-प्पभा॥

दीर्घायुष ऋद्धिमन्तः,
समृद्धा काम-रूपिण।
अधुनोपपन्नसकाशा,
भूयोऽर्चिमालिप्रभा॥

२७—दीर्घायु, ऋद्धिमान्, दीप्तिमान्, इच्छानुसार रूप धारण करने वाले, अभी उत्पन्न हुए हों—ऐसी कान्ति वाले और सूर्य के समान अति-तेजस्वी होते है।

२८—ताणि ठाणाणि गच्छन्ति
सिक्खित्ता सजम तव।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा
जे सन्ति परिनिव्वुडा॥

तानि स्थानानि गच्छन्ति,
शिक्षित्वा सयम तप।
भिक्षादा वा गृहस्था वा,
ये सन्ति परिनिर्वृता॥

२८—जो उपशान्त होते हैं, वे सयम और तप का अभ्यास कर उन देव-आवासो में जाते है, भले फिर वे भिक्षु हों या गृहस्थ।

---

१ गिहि-वासे (उ)।
२ एगयरे (चू०)।

२९—तेसिं सोच्चा सपुज्जाण[1]
संजयाण वुसीमओ।
न संतसन्ति मरणन्ते
सीलवन्ता बहुस्सुया ॥

तेषां श्रुत्वा सत्पूज्यानां,
संयतानां वृषीमताम् ।
न संत्रस्यन्ति मरणान्ते,
शीलवन्तो बहुश्रुता ॥

२९—उन सत्-पूजनीय, संयमी और जितेन्द्रिय भिक्षुओं का पूर्वोक्त विवरण सुनकर शीलवान् और बहुश्रुत भिक्षु मरणकाल में भी संत्रस्त नहीं होते ।

३०—तुलिया विसेसमादाय
दया-धम्मस्स खन्तिए ।
विप्पसीएज्ज मेहावी
तहा-भूएण अप्पणा ॥

तोलयित्वा विशेषमादाय,
दया-धर्मस्य क्षान्त्या ।
विप्रसीदेन्मेधावी,
तथाभूतेनात्मना ॥

३०—मेधावी मुनि अपने आपको तोल कर, अकाम और सकाम-मरण के भेद को जानकर यति-धर्मोचित सहिष्णुता और तथा-भूत (उपशान्त मोह) आत्मा के द्वारा प्रसन्न रहे—मरण-काल में उद्विग्न न बने ।

३१—तओ काले अभिप्पेए
सड्ढी तालिसमन्तिए ।
विणएज्ज लोम-हरिसं
भेयं देहस्स कंखए ॥

ततः काल अभिप्रेते,
श्रद्धी तादृशमन्तिके ।
विनयेल्लोम-हर्षं,
भेदं देहस्य काङ्क्षेत् ॥

३१—जब मरण अभिप्रेत हो, उस समय जिस श्रद्धा से मुनि-धर्म या संलेखना को स्वीकार किया, वैसी ही श्रद्धा रखने वाला भिक्षु गुरु के समीप कष्ट-जनित रोमांच को दूर करे, शरीर के भेद की इच्छा करे—उसकी सार संभाल न करे ।

३२—अह कालंमि संपत्ते
'आघायाय समुस्सयं ।'[2]
सकाम-मरणं मरई
तिण्हमन्नयरं मुणी ॥
—त्ति बेमि ।

अथकाले संप्राप्ते,
आघातयन् समुच्छ्रयम् ।
सकाम-मरणेन म्रियते,
त्रयाणामन्यतरेण मुनिः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३२—वह मरण-काल प्राप्त होने पर संलेखना के द्वारा शरीर का त्याग करता है, भक्त-परिज्ञा, इङ्गिनी या प्रायोपगमन—इन तीनों में से किसी एक को स्वीकार कर सकाम-मरण से मरता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. सुपुज्जाण (चू०) ।
२. संतक्खात समाहितो (चू०), आघायाए समुच्छयं (चू० पा०) ।

छट्ठमज्झयणं :

खुड्डागनियंठिज्जं

षष्ठ अध्ययन :

क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'खुड्डागनियठिज्ज'—'क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय' है। दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन का नाम 'खुड्डियायारकहा'—'क्षुल्लकाचार-कथा' और छठे अध्ययन का नाम 'महायारकहा—'महाचार-कथा' है। इनमें क्रमश मुनि के आचार का सक्षिप्त और विस्तृत निरूपण हुआ है। इसी प्रकार इस अध्ययन मे भी निर्ग्रन्थ के बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ-त्याग (परिग्रह-त्याग) का सक्षिप्त निरूपण है।[1]

'निर्ग्रन्थ' शब्द जैन-दर्शन का बहुत प्रचलित और बहुत प्राचीन शब्द है। बौद्ध-साहित्य में स्थान-स्थान पर भगवान् महावीर को 'निगण्ठ' (निर्ग्रन्थ) कहा है। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार सुधर्मा स्वामी से आठ आचार्यों तक जैनधर्म 'निर्ग्रन्थ-धर्म' के नाम से प्रचलित था।[2] अशोक के एक स्तम्भ-लेख मे भी 'निर्ग्रन्थ' का द्योतक 'निघठ' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

अविद्या और दु ख का गहरा सम्बन्ध है। जहाँ अविद्या है वहाँ दु ख है, जहाँ दु'ख है वहाँ अविद्या है। पतजलि के शब्दों मे अविद्या का अर्थ है—अनित्य मे नित्य की अनुभूति, अशुचि मे शुचि की अनुभूति, दुःख में सुख की अनुभूति और अनात्मा में आत्मा की अनुभूति।[4]

सूत्र की भाषा मे विद्या का एक पक्ष है सत्य और दूसरा पक्ष है मैत्री—'अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए (श्लोक २)।' जो कोरे विद्यावादी या ज्ञानवादी है उनकी मान्यता है कि यथार्थ को जान लेना पर्याप्त है, प्रत्याख्यान की कोई आवश्यकता नहीं। क्रिया का आचरण उनकी दृष्टि में व्यर्थ है। किन्तु भगवान् महावीर इसे वाग्वीर्य मानते थे, इसलिए उन्होंने आचरण-शून्य भाषावाद और विद्यानुशासन को अत्राण बतलाया (श्लोक८-१०)।

ग्रन्थ (परिग्रह) को त्राण मानना भी अविद्या है। इसलिए भगवान् महावीर ने कहा—"परिवार त्राण नही है", "धन भी त्राण नही है" (श्लोक३-५)। और तो क्या अपनी देह भी त्राण नहीं है। साधु देह-मुक्त नहीं होता फिर भी प्रतिपल उसके मन मे यह चिन्तन होना चाहिए कि देह-धारण का प्रयोजन पूर्व-कर्मो को क्षीण करना है। लक्ष्य जो है वह बहुत ऊँचा है, इसलिए साधक को नीचे कही भी आसक्त नहीं होना चाहिए। उसकी दृष्टि सदा ऊर्ध्वगामी होनी चाहिये (श्लोक १३)। इस प्रकार इस अध्ययन मे अध्यात्म की मौलिक विचारणाएँ उपलब्ध है।

इस अध्ययन के अन्तिम श्लोक का एक पाठान्तर है। उसके अनुसार इस अध्ययन के प्रज्ञापक भगवान् पार्श्वनाथ है।

मूल—

"एव से उदाहु अणुत्तरनाणी अणुत्तरदसी अणुत्तरनाणदसणधरे।
अरहा नायपुत्ते भगव वेसालिए वियाहिए ॥"

---

१ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४३ सावज्जगथमुक्का, अब्भिन्तरवाहिरेण गथेण। एसा खलु निज्जुत्ती, खुड्डागनियठसुत्तस्स ॥

२. तपागच्छपट्टावलि (प० कल्याणविजय सपादित) भाग १, पृष्ठ २५३ श्री सुधर्मास्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्था।

३ दिल्ली-टोपरा का सप्तम स्तम्भ लेख निघठेसु पि मे कटे (,) इमे वियापटा होहति।

४ पातजल योगसूत्र २।५ अनित्याशुचिदु खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।

पाठान्तर—

एव से उदाहु अरिहा पासे पुरिसादाणीए ।

भगव वेसालीए बुद्धे परिणिव्वुए ॥ (बृहद् वृत्ति, पत्र ३७०)

यद्यपि चूर्णि और टीकाकार ने इस पाठान्तर का अर्थ भी महावीर से सम्बन्धित किया है । 'पास' का अर्थ—'पश्यतीति पाश ' या 'पश्य ' किया है । किन्तु यह सगत नही लगता । पुरुषादानीय—यह भगवान् पार्श्वनाथ का सुप्रसिद्ध विशेषण है । इसलिये उसके परिपार्श्व में 'पास' का अर्थ पार्श्व ही होना चाहिये । यद्यपि 'वेसालीय' विशेषण भगवान् महावीर से अधिक सम्बन्धित है फिर भी इसके जो अर्थ किये गए है उनकी मर्यादा से वह भगवान् पार्श्व का भी विशेषण हो सकता है ।[1] भगवान् पार्श्व इक्ष्वाकुवशी थे । उनके गुण विशाल थे और उनका प्रवचन भी विशाल था, इसलिये उनके 'वैशालिक' होने मे कोई आपत्ति नही आती । इस पाठान्तर के आधार से यह अनुमान किया जा सकता है कि यह अध्ययन मूलत पार्श्व की परम्परा का रहा हो और इसे उत्तराध्ययन की श्रृखला मे सम्मिलित करते समय इसे महावीर की उपदेश-धारा का रूप दिया गया हो ।

---

१. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृष्ठ १५६ ५७ · गुणा अस्य विशाला इति वैशालीय , विशाल शासन वा, विशाले वा इक्ष्वाकुवशे भवा वैशालिया ।
"वैशाली जननी यस्य, विशाल कुलमेव च । विशाल प्रवचन वा, तेन वैशालिको जिन ॥"

छट्ठमज्झयणं : षष्ठ अध्ययन
खुड्डागनियंठिज्जं : क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जावन्तऽविज्जापुरिसा, 'सव्वे ते दुक्खसभवा।'[1] लुप्पन्ति वहुसो मूढा ससारमि अणन्तए ॥	यावन्तोऽविद्या पुरुषाः सर्वे ते दु'ख-सम्भवा । लुप्यन्ते वहुशो मूढाः ससारेऽनन्तके ॥	१—जितने अविद्यावान् (मिथ्यात्व से अभिभूत) पुरुष है, वे सव दु ख को उत्पन्न करने वाले है। वे दिङ्मूढ की भाँति मूढ वने हुए इस अनन्त ममार में वार-वार लुप्त होते है।
२—'समिक्ख पडिए तम्हा'[2] पासजाईपहे वहू । अप्पणा[3] सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु[4] कप्पए ॥	समीक्ष्य पण्डितस्तस्मात् पाश-जातिपथान् वहून् । आत्मना सत्यमेषयेत् मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥	२—इसलिए पडित पुरुष प्रचुर पाशों (वन्धनो) व जाति-पथों (चौरासी लाख योनियों) की समीक्षा कर स्वय सत्य की गवेषणा करे और सव जीवो के प्रति मैत्री का आचरण करे।
३—माया पिया ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा । नाल ते मम ताणाय लुप्पन्तस्स सकम्मुणा ॥	माता पिता स्नुषा भ्राता भार्या पुत्राश्चौरसा । नालं ते मम त्राणाय लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥	३—जव मैं अपने द्वारा किये गये कर्मों से छेदा जाता हूँ, तव माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, पत्नी और औरस पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नही होते।
४—एयमट्ठ सपेहाए पासे समियदसणे । छिन्द गेहिं[5] सिणेहं च न कखे पुव्वसथव ॥	एतमर्थं स्वप्रेक्षया पश्येत् समित-दर्शनः । छिन्द्याद् गृद्धिं स्नेहं च न काङ्क्षेत् पूर्व-सस्तवम् ॥	४—सम्यक्-दर्शन वाला पुरुष अपनी वुद्धि से यह अर्थ देखे, गृद्धि और स्नेह का छेदन करे, पूर्व परिचय की अभिलाषा न करे।

१. ते सव्वे दुक्ख मजिया (नागार्जुनीया)।
२ तम्हा समिक्ख मेहावी (चू०, वृ० पा०), समिक्ख पंडिए तम्हा (चू० पा०)।
३. अत्तट्ठा (वृ० पा०)।
४. भूएहिं (चू०)।
५ गेद्द (उ)।

५—गवास मणिकुंडल
पसवो दासपोरुस ।
सव्वमेय चइत्ताणं
कामरूवी भविस्ससि ॥

गवाश्व मणि-कुण्डलं
पशवो दास-पौरुषेयं ।
सर्वमेतत् त्यक्त्वा
कामरूपी भविष्यसि ॥

५—गाय, घोडा, मणि, कुण्डल, पशु, दास और पुरुष-समूह—इन सबको छोड । ऐसा करने पर तू काम-रूपी (इच्छानुकूल रूप बनाने में समर्थ) होगा ।

[1] [थावर जगम चेव
धण धण्ण उवक्खरं ।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं
नाल दुक्खाउ मोयणे ॥]

(स्थावरं जगम चैव
धन धान्यमुपस्करम् ।
पच्यमानस्य कर्मभि·
नालं दु खान्मोचने ॥)

(चल और अचल सपत्ति, धन, धान्य और गृहोपकरण—ये सभी पदार्थ कर्मों से दु ख पाते हुए प्राणी को दु ख से मुक्त करने में समर्थ नही होते है ।

६—अज्झत्थ सव्वओ सव्व
दिस्स पाणे पियायए ।
'न हणे पाणिणो पाणे'[2]
भयवेराओ उवरए ॥

अध्यात्मं सर्वतः सर्वं
दृष्ट्वा प्राणान्प्रियायुषः ।
न हन्यात्प्राणिनः प्राणान्
भय-वैरादुपरत ॥

६—सब दिशाओ से होने वाला सब प्रकार का अध्यात्म (सुख) जैसे मुझे इष्ट है, वैसे ही दूसरों को इष्ट है और सब प्राणियो को अपना जीवन प्रिय है—यह देखकर भय और वैर से उपरत पुरुष प्राणियों के प्राणों का घात न करे ।

७—आयाण नरय दिस्स
नायएज्ज तणामवि ।
'दोगुछी[3] अप्पणो पाए'[4]
दिन्न भुजेज्ज भोयणं ॥

आदानं नरकं दृष्ट्वा
नाददीत तृणमपि ।
जुगुप्सी आत्मनः पात्रे
दत्त भुंजीत भोजनम् ॥

७—"परिग्रह नरक है"—यह देखकर वह एक तिनके को भी अपना बनाकर न रखे (अथवा "अदत्त का आदान नरक है"—यह देखकर बिना दिया हुआ एक तिनका भी न ले) । असयम से जुगुप्सा करने वाला मुनि अपने पात्र में गृहस्थ द्वारा प्रदत्त भोजन करे ।

८—इहमेगे उ मन्नन्ति
अप्पच्चक्खाय पावगं ।
आयरिय[5] विदित्ताण
सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

इहैके तु मन्यन्ते
अप्रत्याख्याय पापकम् ।
आचरित विदित्वा
सर्व-दु खाद् विमुच्यते ॥

८—इस ससार में कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पापों का त्याग किये बिना ही आचार को जानने मात्र से जीव सब दु खों से मुक्त हो जाता है ।

९—भणन्ता अकरेन्ता य
बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण
समासासेन्ति अप्पय ॥

भणन्तोऽकुर्वन्तश्च
बन्धमोक्ष-प्रतिज्ञावन्तः ।
वाग्-वीर्य-मात्रेण
समाश्वासयन्त्यात्मानम् ॥

९—"ज्ञान से ही मोक्ष होता है"—जो ऐसा कहते हैं, पर उसके लिए कोई क्रिया नही करते, वे केवल बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्त की स्थापना करने वाले हैं । वे केवल वाणी की वीरता से अपने आपको आश्वासन देने वाले है ।

---

१. यह श्लोक चूर्णि व टीका में व्याख्यात नहीं है ।
२ नो हिंसेज्ज पाणिण पाणे (चू०), नो हणे पाणिण पाणे (वृ० पा०) ।
३. दोगछी (ऋ०) ।
४ अप्पणो पाणिपाते (चू० पा०) ।
५. आयारिय (वृ० पा०, उ० सु०) ।

१०—न चित्ता तायए भासा
कओ विज्जाणुसासण ?
विसन्ना पावकम्मेहिं[1]
बाला पडियमाणिणो ॥

न चित्रा त्रायते भाषा
कुतो विद्यानुशासनम् ?
विषण्णाः पाप-कर्मभिः
बालाः पण्डित-मानिनः ॥

१०—विविध भाषाएँ त्राण नही होती। विद्या का अनुशासन भी कहाँ त्राण देता है ? (जो इनको त्राण मानते हैं वे) अपने आपको पण्डित मानने वाले अज्ञानी मनुष्य विविध प्रकार से पाप-कर्मों में डूबे हुए है।

११—जे केई सरीरे सत्ता
वण्णे रूवे य सव्वसो।
'मणसा कायवक्केण'[2]
सव्वे ते दुक्खसभवा ॥

ये केचित् शरीरे सक्ताः
वर्णे रूपे च सर्वशः।
मनसा काय-वाक्येन
सर्वे ते दुःखसभावाः ॥

११—जो कोई मन, वचन और काया से शरीर, वर्ण और रूप में सर्वश आसक्त होते है, वे सभी अपने लिए दुःख उत्पन्न करते है।

१२—आवन्ना दीहमद्धाण
ससारमि अणतए।
तम्हा सव्वदिस पस्स
अप्पमत्तो परिव्वए ॥

आपन्ना दीर्घमध्वान
ससारेऽनन्तके।
तस्मात् सर्व दिशो दृष्ट्वा
अप्रमत्तः परिव्रजेत् ॥

१२—वे इस अनन्त ससार में जन्म-मरण के लम्बे मार्ग को प्राप्त किए हुए है। इसलिए सब दिशाओं (उत्पत्ति स्थानों) को देखकर मुनि अप्रमत्त होकर विचरे।

१३—बहिया उड्ढमादाय
नावकखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मखयट्ठाए
इम देह समुद्धरे ॥

बहिरूर्ध्वमादाय
नावकाङ्क्षेत् कदाचिदपि।
पूर्वकर्मक्षयार्थं
इम देह समुद्धरेत् ॥

१३—ऊर्ध्वलक्षी होकर कभी भी बाह्य (विषयों) की आकाक्षा न करे। पूर्व कर्मों के क्षय के लिए ही इस शरीर को धारण करे।

१४—विविच्च[3] कम्मुणो हेउं
कालकखी परिव्वए।
माय पिंडस्स पाणस्स
कड लद्धूण भक्खए ॥

विविच्य कर्मणो हेतु
कालकांक्षी परिव्रजेत्।
मात्रा पिण्डस्य पानस्य
कृत लब्ध्वा भक्षयेत् ॥

१४—कर्म के हेतुओं को दूर कर मुनि समयज्ञ होकर विचरे। सयम-निर्वाह के लिए आहार और पानी की जितनी मात्रा आवश्यक हो, उतनी गृहस्थ के घर में सहज निष्पन्न प्राप्त कर भोजन करे।

१५—सन्निहिं च न कुव्वेज्जा
लेवमायाए सजए।
पक्खी पत्त समादाय
निरवेक्खो[4] परिव्वए ॥

सन्निधिं च न कुर्वीत
लेप-मात्रया सयतः।
पक्षी पात्र समादाय
निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥

१५—सयमी मुनि लेप लगे उतना भी संग्रह न करे—बासी न रखे। पक्षी की भाँति कल की अपेक्षा न रखता हुआ पात्र लेकर भिक्षा के लिए पर्यटन करे।

---

१. पावकिच्चेहिं (वृ० पा०)।
२. मणसा वयसा चेव (चू०, वृ), मणसा कायवक्केण (वृ० पा०)।
३. विगिंच (अ, आ, इ, उ, वृ० पा०)।
४. निरवेक्खी (चू०)।

१६—एसणासमिओ लज्जू
गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं
पिंडवाय गवेसए ॥

एषणा-समितो लज्जावान्
ग्रामेऽनियतश्चरेत् ।
अप्रमत्तः प्रमत्तेभ्य.
पिण्डपातं गवेषयेत् ॥

१६—एषणा-समिति से युक्त और लज्जावान् मुनि गाँवों में अनियत विहार करे। वह अप्रमत्त रहकर गृहस्थों से पिण्डपात की गवेषणा करे।

१७—'एव से उदाहु अणुत्तरनाणी
अणुत्तरदसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा नायपुत्ते
भगवं वेसालिए वियाहिए ॥'[1]
—त्ति बेमि ।

एव स उदाहृतवान् अनुत्तरज्ञानी
अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः
भगवान् वैशालिको व्याख्याता ॥
—इति ब्रवीमि

१७—अनुत्तर-ज्ञानी, अनुत्तर-दर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शन-धारी, अर्हन्, ज्ञातपुत्र, वैशालिक और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. एव से उदाहु अरहा पासे पुरिसादाणीए।
भगवते वेसालिए बुद्धे परिनिव्वुडे ॥ (वृ॰ पा॰, चू॰ पा॰)।

सत्तमं अज्झयणं :
उरब्भिज्जं

सप्तम अध्ययन :
उरभ्रीय

आमुख

इस अध्ययन का नामकरण इसके प्रारम्भ मे प्रतिपादित 'उरभ्र' के दृष्टान्त के आधार पर हुआ है ।

समवायाग (समवाय ३६) तथा उत्तराध्ययन निर्युक्ति मे[1] इसका नाम 'उरब्भिज्ज' है । किन्तु अनुयोग-द्वार (सूत्र १३०) मे इसका नाम 'एलइज्ज' है । मूल पाठ (श्लोक १) मे 'एलय' शब्द का ही प्रयोग हुआ है 'उरभ्र' का नही । उरभ्र और एलक—ये दोनों पर्यायवाची शब्द है, इसलिए ये दोनों नाम प्रचलित रहे हैं ।

श्रामण्य का आधार अनासक्ति है । जो विषय-वासना मे आसक्त होता है, वह कभी दु खों से मुक्त नहीं हो सकता । विषयानुगृद्धि में रसासक्ति का भी प्रमुख स्थान है । जो रसनेन्द्रिय पर विजय पा लेता है, वह अन्यान्य विषयों को भी सहजतया वश मे कर लेता है । इस कथन को सूत्रकार ने दृष्टान्त से समझाया है । प्रथम चार श्लोकों मे दृष्टान्त के सकेत दिए गए है । टीकाकार ने 'सम्प्रदायादवसेयम्' ऐसा उल्लेख कर उसका विस्तार किया है

एक सेठ था । उसके पास एक गाय, गाय का बछड़ा और एक मेढा था । वह मेढे को खूब खिलाता-पिलाता । उसे प्रतिदिन स्नान कराता, शरीर पर हल्दी आदि का लेप करता । सेठ के पुत्र उससे नाना प्रकार की क्रीड़ा करते । कुछ ही दिनों मे वह स्थूल हो गया । बछड़ा प्रतिदिन यह देखता और मन ही मन यह सोचता कि मेंढे का इतना लालन-पालन क्यों हो रहा है ? सेठ का हम पर इतना प्यार क्यों नही है ? मेढे को खाने के लिए जौ देता है और हमे सूखी घास । यह अन्तर क्यो ? इन विचारो से उसका मन उदास हो गया । उसने स्तन-पान करना छोड़ दिया । उसकी माँ ने इसका कारण पूछा । उसने कहा—"माँ । यह मेढा पुत्र की तरह लालित-पालित होता है । उसे बढिया भोजन दिया जाता है । विशेष अलकारो से उसे अलकृत किया जाता है । और एक मै हूँ मन्द-भाग्य कि कोई भी मेरी परवाह नही करता । सूखो घास चरता हूँ और वह भी भरपेट नहीं मिलती । समय पर पानी भी नहीं मिलता । कोई मेरा लालन-पालन नही करता । ऐसा क्यों है माँ ?"

माँ ने कहा—

"आउरचिन्नाइ एयाइ, जाइ चरइ नदिओ ।
सुक्कत्तणेहि लाढाहि, एय दीहाउलक्खण ॥ (उत्त० नि० गा० २४६)

"वत्स । तू नहीं जानता । मेढा जो कुछ खा रहा है, वह आतुर-लक्षण है । आतुर (मरणासन्न) प्राणी को पथ्य और अपथ्य जो कुछ वह चाहता है, दिया जाता है । सूखी घास खाकर जीना दीर्घायु का लक्षण है । इस मेढे का मरण-काल सन्निकट है ।"

कुछ दिन बीते । सेठ के घर मेहमान आए । बछडे के देखते-देखते मोटे-ताजे मेंढे के गले पर छुरी चली और उसका मास पकाकर मेहमानो को परोसा गया । बछडे का दिल भय से भर गया । उसने खाना-पीना छोड दिया । माँ ने कारण पूछा । बछड़े ने कहा—"माँ । जिस प्रकार मेढा मारा गया क्या मै भी मारा जाऊँगा ?" माँ ने

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४६
उरभाउणामगोय, वेयतो भावओ उ ओरब्भो ।
तत्तो समुट्टियमिण, उरब्भिज्जन्ति अज्झयण ॥

कहा—"वत्स ! यह भय वृथा है। जो रस-गृद्ध होता है, उसे उसका फल भी भोगना पड़ता है। तू सूखी घास चरता है, अत. तुझे ऐसा कटु विपाक नही सहना पड़ेगा।"[1]

इसी प्रकार हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग मे लूटने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना में व्यस्त, शठ, स्त्री और विषयो मे गृद्ध, महाआरम्भ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मांस का उपभोग करने वाला, दूसरो का दमन करने वाला, बकरे की तरह कर-कर शब्द करते हुए मास खाने वाला, तोंद वाला और उपचित रक्त वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकांक्षा करता है जिस प्रकार मेमना पाहुने की। (श्लोक ५-७)

भगवान् महावीर ने कहा—"अल्प के लिए बहुत को मत खोओ। जो ऐसा करता है, वह पीछे पश्चात्ताप करता है।" इसी भावना को सूत्रकार ने दो दृष्टान्तों से समझाया है ·

(१) एक दमक था। उसने भीख माग-माग कर एक हजार कार्षापण एकत्रित किए। एक बार वह उन्हे साथ ले एक सार्थवाह के साथ अपने घर की ओर चला। रास्ते में भोजन के लिए उसने एक कार्षापण को काकिणियो में बदलाया और प्रतिदिन कुछ काकिणियों को खर्च कर भोजन लेता रहा। कई दिन बीते। उसके पास एक काकिणी शेष बची। उसे वह एक स्थान पर भूल आया। कुछ दूर जाने पर उसे वह काकिणी याद आ गई। अपने पास के कार्षापणो की नौली को एक स्थान पर गाड़ उसे लाने दौड़ा। परन्तु वह काकिणी किसी दूसरे के हाथों पड गई। उसे बिना प्राप्त किए लौटा तब तक एक व्यक्ति उस नौली को लेकर भाग गया। वह लुट गया। ज्यों-त्यों वह घर पहुँचा और पश्चात्ताप में डूब गया।[2]

(२) एक राजा था। वह आम बहुत खाता था। उसे आम का अजीर्ण हुआ। वैद्य आए। चिकित्सा की। वह स्वस्थ हो गया। वैद्यों ने कहा—"राजन् ! यदि तुम पुनः आम खाओगे तो जीवित नही बचोगे।" उसने अपने राज्य के सारे आम्र के वृक्ष उखड़वा दिए। एक बार वह अपने मन्त्री के साथ अश्व-क्रीड़ा के लिए निकला। अश्व बहुत दूर निकल गया। वह थक कर एक स्थान पर रुका। वहाँ आम के बहुत वृक्ष थे। मत्री के निषेध करने पर भी राजा एक आम्र वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए बैठा। वहाँ अनेक फल गिरे पड़े थे। राजा ने उन्हें छुआ

---

१. वृहद् वृत्ति पत्र २७२-७४ ·

जहेगो ऊरणगो पाहुणयणिमित्त पोसिज्जति, सो पीणियसरीरो ण्हाओ हलिद्दादिकयगरागो कयकण्णचूलतो कुमारगा य त नाणाविहेहि कीलाविसेसेहि कीलावेंति, त च वच्छगो एव लालिज्जमाण ददठूण माऊए णेहेण य गोविय दोहएण य तयणुकपाए मुक्कमवि खीरं ण पिवति रोसेण, ताए पुच्छिओ भणति—अम्मो ! एस णदियगो सव्वेहि एएहि अम्हसामिसालेहि अट्ठेहि जवसजोगासणेहि तदुवओगेहि च अलकारविसेसेहि अलकारितो पुत्त इव परिपालिज्जति, अहं तु मदभग्गो छुक्काणि तणावि काहेवि लभामि, ताणिवि ण पज्जत्तगाणि, एव पाणियपि, ण य म कोऽवि लालेति। ताए भणति—पुत्त ! जहा आउरो मरिउकामो ज मग्गति पत्थ वा अपत्थ वा तं दिज्जति से, एव सो णदितो मारिज्जिहिति जदा तदा पेच्छिहिसि। ततो सो वच्छगो त नदियग पाहुणगेसु आगएसु वधिज्जमाण दट्ठु तिसितोऽवि भएण माऊए थण णाभिलसति, ताए भणति—कि पुत्त ! भयभीतोऽसि ?, णेहेण पण्हुयपि मं ण पियसि, तेण भणइ—अम्म ! कतो मे थणा मिलासो ?, णणु सो वराओ णदितो अज्ज केहिवि पाहुणएहि आगएहि मम अग्गतो विणिग्गयजीहो विलोलनयणो विस्सर रसतो अत्ताणो असरणो मारितो, तब्भयातो कतो मे पाउमिच्छा ?, ततो ताए भणति—पुत्त ! णणु तदा चेव ते कहिय, जहा—'आउरचिण्णाइ "दीहाउलक्खण', एस तेसि विवागो अणुपत्तो।

२ वही, पत्र २७६ :

एगो दमगो, तेण वित्ति करेंतेण सहस्स काहावणाण अज्जियं, सो य त गहाय सत्थेण सम सगिह पत्थितो, तेण भत्तणिमित्त रूवगो कागिणीहि भिन्नो, ततो दिणे दिणे कागिणीए भुजति, तस्स य अवसेसा एगा कागणी, सा विस्सारिया, सत्थे पहाविए सो चितेति—मा मे रूवगो भिदियव्वो होहित्ति णउलग एगत्थ गोवेउ कागिणीणिमित्त णियत्तो, सावि कागिणी अन्नेण हडा, सोऽवि णउलतो अण्णेण दिट्ठो ठविज्जतो, सोवि त घेत्तूण णट्ठो, पच्छा सो घर गतो सोयति।

और सूँघा तथा खाने को इच्छा व्यक्त की। मन्त्री ने निषेध किया पर राजा नही माना। उसने भरपेट आम खाए। उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।[1]

इसी प्रकार जो मनुष्य मानवीय काम-भोगों मे आसक्त हो, थोड़े से सुख के लिए मनुष्य जन्म गँवा देता है वह शाश्वत सुखो को हार जाता है। देवताओ के काम-भागों के समक्ष मनुष्य के काम-भोग तुच्छ और अल्पकालीन है। दोनो के काम-भोगो मे आकाश-पाताल का अन्तर है। मनुष्य के काम-भोग कुश के अग्रभाग पर टिके जल-बिन्दु के समान है ओर देवताओ के काम-भोग समुद्र के अपरिमेय जल के समान है (श्लोक २३)। अत मानवीय काम-भोगो मे आसक्त नही होना चाहिए।

जो मनुष्य है और अगले जन्म मे भी मनुष्य हो जाता है, वह मूल पूँजी की सुरक्षा है। जो मनुष्य-जन्म में अध्यात्म का आचरण कर आत्मा को पवित्र बनाता जाता है, वह मूल को बढाता है। जो विषय-वासना में फँसकर मनुष्य जोवन को हार देता है—तिर्यंच या नरक मे चला जाता है—वह मूल को भी गँवा देता है (श्लोक १५)। इस आशय को सूत्रकार ने निम्न व्यावहारिक दृष्टान्त से समझाया है

एक बनिया था। उसके तोन पुत्र थे। उसने तीनो को एक-एक हजार कार्षापण देते हुए कहा—"इनसे तुम तीनो व्यापार करो और अमुक समय के बाद अपनो-अपनी पूँजी ले मेरे पास आओ।" पिता का आदेश पा तीनों पुत्र व्यापार के लिए निकले। वे एक नगर मे पहुँचे और तीनो अलग-अलग स्थानों पर ठहरे। एक पुत्र ने व्यापार आरम्भ किया। वह सादगी से रहता और भोजन आदि पर कम खर्च कर धन एकत्रित करता। इससे उसके पास बहुत धन एकत्रित हो गया। दूसरे पुत्र ने भी व्यापार आरम्भ किया। जो लाभ होता उसको वह भोजन, मकान, वस्त्र आदि मे खर्च कर देता। इससे वह धन एकत्रित न कर सका। तीसरे पुत्र ने व्यापार नही किया। उसने अपने शरीर-पोषण और व्यसनो मे सारा धन गँवा डाला।

तीनो पुत्र यथासमय घर पहुँचे। पिता ने सारा वृत्तान्त पूछा। जिसने अपनी मूल पूँजी गँवा डाली थी, उसे नौकर के स्थान पर नियुक्त किया, जिसने मूल की सुरक्षा की थी, उसे गृह का काम-काज सौंपा और जिसने मूल को बढाया था, उसे गृहस्वामी बना डाला।[2]

मनुष्य-भव मूल पूँजी है। देवगति उसका लाभ है और नरकगति उसका छेदन है।

---

१ वृहद् वृत्ति, पत्र २७७
जहा कस्सइ रण्णो अवाजिण्णेण विसूइया जाया, सा तस्स वेज्जेहिं महता जत्तेण तिगिच्छिया, भणितो य—जदि पुणो अवाणि खासि तो विणस्सति, तस्स य अतीव पीयाणि अवाणि, तेण सदेसे सव्वे अवा उच्छादिया। अण्णया अस्सवाहणियाए णिग्गतो सह अमच्चेण, अस्सेण अवहरिओ, अस्सो दूर गतूण परिस्सतो ठितो, एगमि वणसडे चूयच्छायाते अमच्चेण वारिज्जमाणोऽवि णिविट्ठो, तस्स य हेट्ठे अवाणि पडियाणि, सो ताणि परामुसति, पच्छा अग्घाति, पच्छा चक्खिउ णिद्धुहति, अमच्चो वारेइ, पच्छा भक्खेउ मतो।

२ वही, पत्र २७८-९ जहा एगस्स वाणियगस्स तिन्नि पुत्ता, तेण तेसिं सहस्स सहस्स दिन्न काहावणाण भणिया य—एएण ववहरिऊण एत्तिएण कालेण एज्जाह, ते त मूल घेत्तूण णिग्गया सणगरातो, पिथप्पिथेछ पट्टणेछ ठिया, तत्थेगो भोयणच्छायणवज्ज जूयमज्जमसवेसाव-सणविरहितो विहीए ववहरमाणो विपुललाभसमन्नितो जातो, बितितो पुण मूलमवि दव्वतो लाभग भोयणच्छायणमल्लाल कारादिछ उवभुजति, ण य अच्चादरेण ववहरति, ततितो न किंचि सववहरति, केवल जूयमज्जमसवेसगधमल्लतबोलसरीरकियाछ अप्पेणेव कालेण त दव्व णिट्ठवियति, जहावहिकालस्स सपुरमागया। तत्थ जो छिन्नमूलो सो सव्वस्स असामी जातो, पेसए उवचरिज्जति, बितितो घरवावारे णिउत्तो भत्तपाणसतुट्ठो ण दायव्वभोत्तव्वेछ ववसायति, ततितो घरवित्थरस्स सामी जातो।

इस अध्ययन मे पाँच दृष्टान्तों का निरूपण हुआ है।[1] उनका प्रतिपाद्य भिन्न-भिन्न है। प्रथम (उरभ्र) दृष्टान्त विषय-भोगों के कटु-विपाक का दर्शन है (श्लोक १ से लेकर १० तक)। दूसरे और तीसरे (काकिणी और आम्रफल) दृष्टान्तों का विषय देव-भोगों के सामने मानवीय-भोगो की तुच्छता का दर्शन है (श्लोक ११ से लेकर १३ तक)। चौथे (व्यवहार) दृष्टान्त का विषय आय-व्यय के विषय में कुशलता का दर्शन है (श्लोक १४ से २२ तक)। पाँचवे (सागर) दृष्टान्त का विषय आय-व्यय की तुलना का दर्शन है (श्लोक २३ से २४ तक)।

इस प्रकार इस अध्ययन मे दृष्टान्त शैली से गहन तत्त्व की बड़ी सरस अभिव्यक्ति हुई है।

---

१. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २४७ : ओरब्भे अ कागिणी, अंबए अ ववहार सागरे चेव।
पचेए दिट्ठ ता, उरब्भिज्जमि अज्झयणे॥

सत्तमं अज्झयणं : सप्तम अध्ययन

उरब्भिज्जं : उरभ्रीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जहाएस समुद्दिस्स कोइ पोसेज्ज एलय । ओयण 'जवस देज्जा'[1] पोसेज्जा 'वि सयगणे'[2] ॥	यथादेशं समुद्दिश्य कोऽपि पोषयेदेडकम् । ओदन यवस दद्यात् पोषयेदपि स्वकाङ्गणे ॥	१—जैसे पाहुने के उद्देश्य से कोई मेमने का पोषण करता है। उसे चावल, मूँग, उड़द आदि खिलाता है और अपने आँगन में ही पालता है।
२—तओ से पुट्ठे परिवूढे जायमेए महोदरे । पीणिए विउले देहे आएस परिकखए[3] ॥	तत स पुष्टः परिवृढः जातमेदा महोदर. । प्रीणितो विपुले देहे आदेश परिकाङ्क्षति ॥	२—इस प्रकार वह पुष्ट, बलवान्, मोटा, बड़े पेट वाला, तृप्त और विपुल देह वाला होकर पाहुने की आकाङ्क्षा करता है।
३—जाव न एइ[4] आएसे ताव जीवइ से दुही । अह पत्तमि आएसे सीस छेत्तूण भुज्जई ॥	यावन्नैत्यादेश: तावज्जीवति सोऽदु खी । अथ प्राप्त आदेशे शीर्ष छित्त्वा भुज्यते ॥	३—जब तक पाहुना नहीं आता है तब तक ही वह बेचारा जीता है। पाहुने के आने पर उसका सिर छेदकर उसे खा जाते हैं।
४—जहा खलु से उरब्भे आएसाए समीहिए । एव बाले अहम्मिट्ठे ईहई नरयाउय ॥	यथा खलु स उरभ्रः आदेशाय समीहित । एव बालोऽधर्मिष्ठः ईहते नरकायुष्कम् ॥	४—जैसे पाहुने के लिए निश्चित किया हुआ वह मेमना यथार्थ में उसकी आकाङ्क्षा करता है, वैसे ही अधर्मिष्ठ अज्ञानी जीव यथार्थ में नरक के आयुष्य की इच्छा करता है।

१. जवसे देति (चू०)।
२ विसयगणे (वृ० पा०, चू०)।
३ पडि० (वृ०), परि० (वृ०पा०)।
४. एज्जति (चू०)।

५—हिंसे बाले[1] मुसावाई
अद्धाणमि विलोवए ।
अन्नदत्तहरे तेणे[2]
माई कण्हुहरे[3] सढे ॥

हिंस्रो बालो मृषावादी
अध्वनि विलोपकः ।
अन्यदत्तहरः स्तेन
मायीकुतोहरः शठः ॥

५—हिंसक, अज्ञ, मृषावादी, मार्ग में लूटने वाला, दूसरो की दी हुई वस्तु का बीच में ही हरण करने वाला, चोर, मायावी, चुराने की कल्पना में व्यस्त, (किसका धन हरण करूँगा—ऐसे अध्यवसाय वाला) शठ,

६—इत्थीविसयगिद्धे य
महारभपरिग्गहे ।
भुजमाणे सुर मस
परिवूढे परदमे ॥

स्त्री-विषय-गृद्धश्च
महारम्भ-परिग्रहः ।
भुञ्जानः सुरा मांस
परिवृढः परन्दमः ॥

६—स्त्री और विषयो में गृद्ध, महाआरभ और महापरिग्रह वाला, सुरा और मास का उपभोग करने वाला, बलवान्, दूसरो का दमन करने वाला,

७—अयकक्करभोई य
तुदिल्ले चियलोहिए[4] ।
आउय नरए कंखे
जहाएस व एलए ॥

अजकर्कर- भोजी च
तुन्दिलः चित्तलोहितः ।
आयुर्नरके काङ्क्षति
यथाऽऽदेशमिव एडकः ॥

७—बकरे की भाँति कर-कर शब्द करते हुए मास को खाने वाला, तोंद वाला और उपचित लोही वाला व्यक्ति उसी प्रकार नरक के आयुष्य की आकाङ्क्षा करता है, जिस प्रकार मेमना पाहुने की ।

८—आसणं सयणं जाणं
वित्त कामे य भुंजिया ।
दुस्साहड धण हिच्चा
बहु सचिणिया रयं ॥

आसन शयन यान
वित्त कामाँश्च भुक्त्वा ।
दुःसहृतं धन हित्वा
बहु संचित्य रज ॥

८—आसन, शय्या, यान, धन और काम-विषयों को भोगकर, दुःख से एकत्रित किये हुए धन को द्यूत आदि के द्वारा गँवाकर, बहुत कर्मों को सचित कर—

९—तओ कम्मगुरू जन्तू
पच्चुप्पन्नपरायणे[5] ।
अय व्व आगयाएसे
मरणन्तमि सोयई ॥

ततः कर्मगुरुर्जन्तु.
प्रत्युत्पन्नपरायणः ।
अज इव आगते आदेशे
मरणान्ते शोचति ॥

९—कर्मों से भारी बना हुआ, केवल वर्तमान को ही देखने वाला जीव मरणान्त-काल में उसी प्रकार शोक करता है जिस प्रकार पाहुने के आने पर मेमना ।

१०—तओ आउपरिक्खीणे
'चुया देहा'[6] विहिंसगा[7] ।
आसुरिय दिसं बाला[8]
'गच्छन्ति अवसा'[9] तम ॥

तत आयुषि परिक्षीणे
च्युताः देहाद्द विहिंसकाः
आसुरीया दिशं बालाः
गच्छन्ति अवशा. तमः ॥

१०—फिर आयु क्षीण होने पर वे नाना प्रकार की हिंसा करने वाले कर्मवशवर्ती अज्ञानी जीव देह से च्युत होकर अन्धकारपूर्ण आसुरीय दिशा (नरक) की ओर जाते हैं ।

---

१. कोही (वृ० पा०) ।
२. वाले (वृ०), तेणे (वृ० पा०) ।
३. किन्नुहरे (चू०), कन्नुहरे (वृ०) ।
४ ०सोणिए (उ, ऋ०) ।
५. ०पलज्जणे (चू०) ।
६ चुओदेहा (वृ०), चुयदेहो (वृ० पा०) ।
७ विहिंसगो (वृ०) ।
८ वालो (वृ०) ।
९. गच्छइ अवसो (वृ०) ।

११—जहा कागिणिए हेउ
सहस्स हारए नरो ।
अपत्थ अम्वग भोच्चा
राया रज्ज तु हारए ॥

यथा काकिण्या हेतोः
सहस्र हारयेन्नर ।
अपथ्यमाम्रक भुक्त्वा
राजा राज्य तु हारयेत् ॥

११—जैसे कोई मनुष्य काकिणी के लिए हजार (कार्षापण) गँवा देता है, जैसे कोई राजा अपथ्य आम को खाकर राज्य से हाथ धो बैठता है, वैसे ही जो व्यक्ति मानवीय भोगों में आसक्त होता है, वह दैवी भोगों को हार जाता है ।

१२—एव माणुस्सगा कामा
देवकामाण अन्तिए ।
सहस्सगुणिया भुज्जो
आउ कामा य[1] दिव्विया ॥

एव मानुष्यका कामाः
देवकामानामन्तिके ।
सहस्र-गुणिता भूयः
आयुः कामाश्च दिव्यकाः ॥

१२—दैवी भोगों की तुलना में मनुष्य के काम-भोग उतने ही नगण्य हैं जितने कि हजार कार्षापणों की तुलना में एक काकिणी और राज्य की तुलना में एक आम । दिव्य आयु और दिव्य काम-भोग मनुष्य की आयु और काम-भोगों से हजार गुना अधिक है ।

१३—अणेगवासानउया
जा सा पन्नवओ ठिई ।
जाणि जीयन्ति[2] दुम्मेहा
ऊणे वाससयाउए ॥

अनेकवर्ष-नयुतानि
या सा प्रज्ञावत स्थितिः ।
यानि जीयन्ते दुर्मेधसः
ऊने वर्षशतायुषि ॥

१३—प्रज्ञावान् पुरुष की देवलोक में अनेक वर्ष नयुत (असख्यकाल) की स्थिति होती है—यह ज्ञात होने पर भी मूर्ख मनुष्य सौ वर्षों से कम जीवन के लिए उन दीर्घकालीन सुखों को हार जाता है ।

१४—जहा य तिन्नि वणिया
मूल घेत्तूण निग्गया ।
एगोऽत्थ लहई लाह
एगो मूलेण आगओ ॥

यथा च त्रयो वणिजः
मूलं गृहीत्वा निर्गता ।
एकोऽत्र लभते लाभम्
एको मूलेनागतः ॥

१४—जैसे तीन वणिक् मूल पूँजी को लेकर निकले । उनमें से एक लाभ उठाता है, एक मूल लेकर लौटता है ।

१५—एगो मूल पि हारित्ता
आगओ तत्थ वाणिओ ।
ववहारे उवमा एसा
एव धम्मे वियाणह ॥

एकोमूलमपि हारयित्वा,
आगतस्तत्र वाणिजः ।
व्यवहार उपमैषा
एव धर्मे विजानीत ॥

१५—और एक मूल को भी गँवाकर वापस आता है । यह व्यापार की उपमा है । इसी प्रकार धर्म के विषय में जानना चाहिए ।

१६—माणुसत्त भवे मूल
लाभो देवगई भवे ।
मूलच्छेएण जीवाण
नरगतिरिक्खत्तण धुवं ॥

मानुषत्व भवेन्मूलं
लाभो देवगतिर्भवेत् ।
मूलच्छेदेन जीवानां
नरक-तिर्यक्त्व ध्रुवम् ॥

१६—मनुष्यत्व मूलधन है । देवगति लाभ रूप है । मूल के नाश से जीव निश्चित ही नरक और तिर्यञ्च गति में जाते है ।

---

१. उ (बृ०)।
२. हारिन्ति (बृ० पा०)।

१७—दुहओ गई बालस्स
आवई वहमूलिया।
देवत्त माणुसत्त च
ज जिए लोलयासढे॥

द्विधा गतिर्बालस्य
आपद् वध-मूलिका।
देवत्व मानुषत्वं च
यज्जितो लोलता-शठ ॥

१७—अज्ञानी जीव की दो प्रकार की गति होती है—नरक और तिर्यञ्च। वहाँ उसे बध-हेतुक आपदा प्राप्त होती है। वह लोलुप और वचक पुरुष देवत्व और मनुष्यत्व को पहले ही हार जाता है।

१८—तओ जिए सइं होइ
दुविह दोग्गइ गए।
दुल्लहा तस्स उम्मज्जा
अद्धाए सुइरादवि॥

ततो जितः सदा भवति
द्विविधां दुर्गतिं गतः।
दुर्लभा तस्योन्मज्जा
अद्धायां सुचिरादपि॥

१८—द्विविध दुर्गति में गया हुआ जीव सदा हारा हुआ होता है। उसका उनसे बाहर निकलना दीर्घकाल के बाद भी दुर्लभ है।

१९—एव जिय[1] सपेहाए
तुलिया बाल च पडिय।
मूलियं ते पवेसन्ति
माणुस जोणिमेन्ति[2] जे॥

एवं जितं सम्प्रेक्ष्य
तोलयित्वा बाल च पण्डितम्।
मौलिक ते प्रविशन्ति
मानुषीं योनिमायान्ति ये॥

१९—इस प्रकार हारे हुए को देखकर तथा बाल और पण्डित की तुलना कर जो मानुषी योनि में आते हैं, वे मूलधन के साथ प्रवेश करते हैं।

२०—वेमायाहिं सिक्खाहिं
जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुस जोणिं
कम्मसच्चा[3] हु पाणिणो॥

विमात्राभि शिक्षाभि.
ये नरा. गृहि-सुव्रता।
उपयन्ति मानुषीं योनिं
कर्म-सत्याः खलु प्राणिनः॥

२०—जो मनुष्य विविध परिमाण वाली शिक्षाओ द्वारा घर में रहते हुए भी सुव्रती है, वे मानुषी योनि में उत्पन्न होते हैं। क्योंकि प्राणी कर्म-सत्य होते हैं—अपने किये हुए का फल अवश्य पाते है।

२१—जेसिं तु विउला सिक्खा
मूलिय ते अइच्छिया[4]।
सीलवन्ता सवीसेसा
अद्दीणा जन्ति देवय॥

येषां तु विपुला शिक्षा
मौलिक तेऽतिक्रम्य।
शीलवन्तः सविशेषाः
अदीना यान्ति देवताम्॥

२१—जिनके पास विपुल शिक्षा है, वे शील-सम्पन्न और उत्तरोत्तर गुणो को प्राप्त करने वाले पराक्रमी (अदीन) पुरुष मूलधन (मनुष्यत्व) का अतिक्रमण करके देवत्व को प्राप्त होते हैं।

२२—एवमद्दीणव[5] भिक्खु
अगारिं[6] च वियाणिया।
कहण्णु जिच्चमेलिक्ख
'जिच्चमाणे न'[7] सविदे ?॥

एवमदैन्यवन्तं भिक्षुं
अगारिण च विज्ञाय।
कथ नु जीयते ईदृक्ष
जीयमानो न सविन्ते ?॥

२२—इस प्रकार पराक्रमी भिक्षु और गृहस्थ को (अर्थात् उनके पराक्रम-फल को) जानकर विवेकी पुरुष ऐसे लाभ को कैसे खोएगा ? वह कषायों के द्वारा पराजित होता हुआ क्या यह नहीं जानता कि "मैं पराजित हो रहा हूँ ?" यह जानते हुए उसे पराजित नही होना चाहिए।

---

१ जिए (बृ०)।
२ जोणिमिन्ति (उ, चू०)।
३. कम्मसत्ता (बृ० पा०, चू० पा०)।
४ तिउच्छिया (अ), ते उद्दिया (चू०), ते अइच्छिया (चू० पा०), विउट्टिया, अतिट्टिया, अतिच्छिया (बृ०)।
५ एव अदीणव (चू०, बृ०)।
६ आगारिं (उ, ऋ०)।
७. जिच्चमाण व (चू०)।

२३—जहा कुसग्गे उदग
समुद्देण सम मिणे।
एव माणुस्सगा कामा
देवकामाण अन्तिए॥

यथा कुशाग्रे उदक
समुद्रेण सम मिनुयात्।
एव मानुष्यकाः कामाः
देव-कामानामन्तिके॥

२३—मनुष्य सम्बन्धी काम-भोग, देव सम्बन्धी काम-भोगों की तुलना में वैसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति कुश की नोक पर टिके हुए जल-बिन्दु की समुद्र से तुलना करता है।

२४—कुसग्गमेत्ता इमे कामा
सन्निरुद्धमि आउए।
कस्स हेउ पुराकाउ[1]
जोगक्खेम न सविदे?॥

कुशाग्र-मात्रा इमे कामा
सन्निरुद्धे आयुषि।
कं हेतु पुरस्कृत्य
योग-क्षेम न सवित्ते?

२४—इस अति-सक्षिप्त आयु में ये काम-भोग कुशाग्र पर स्थित जल-बिन्दु जितने हैं। फिर भी किस हेतु को सामने रखकर मनुष्य योग-क्षेम को नहीं समझता?

२५—इह कामाणियट्टस्स
अत्तट्ठे अवरज्झई।
'सोच्चा[2] नेयाउय मग्ग
ज भुज्जो परिभस्सई'[3]॥

इह कामाऽनिवृत्तस्य
आत्मार्थोऽपराध्यति।
श्रुत्वा नैर्यातृक मार्ग
यद् भूय परिभ्रश्यति॥

२५—इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। वह पार ले जाने वाले मार्ग को सुनकर भी बार-बार भ्रष्ट होता है।

२६—'इह कामणियट्टस्स
अत्तट्ठे नावरज्झई।
पूइदेहनिरोहेण
भवे देवि त्ति मे सुय॥'[4]

इह काम-निवृत्तस्य
आत्मार्थो नापराध्यति।
पूतिदेह-निरोधेन
भवेद् देव इति मयाश्रुतम्॥

२६—इस मनुष्य भव में काम-भोगों से निवृत्त होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट नहीं होता। वह पूतिदेह (औदारिक शरीर) का निरोध कर देव होता है—ऐसा मैंने सुना है।

२७—इड्ढी जुई जसो वण्णो
आउं सुहमणुत्तर।
भुज्जो जत्थ मणुस्सेसु
तत्थ से उववज्जई॥

ऋद्धिर्द्युतिर्यशोवर्ण
आयुः सुखमनुत्तरम्।
भूयो यत्र मनुष्येषु
तत्र स उपपद्यते॥

२७—(देवलोक से च्युत होकर) वह जीव विपुल ऋद्धि, द्युति, यश, वर्ण, जीवित और अनुत्तर सुख वाले मनुष्य-कुलों में उत्पन्न होता है।

२८—बालस्स पस्स बालत्तं
अहम्म पडिवज्जिया[5]।
चिच्चा धम्म अहम्मिट्ठे
नरए[6] उववज्जई॥

बालस्य पश्यबालत्वम्
अधर्मं प्रतिपद्य।
त्यक्त्वा धर्ममधर्मिष्ठ.
नरके उपपद्यते॥

२८—तू बाल (अज्ञानी) जीव की मूर्खता को देख। वह अधर्म को ग्रहण कर, धर्म को छोड़, अधर्मिष्ट बन नरक में उत्पन्न होता है।

---

१ पुरोकाउ (चू०)।
२. पत्तो (बृ० पा०, चू० पा०)।
३ पूइदेह निरोहेण
भवे देवे त्ति मे सुय (चू० पा०)।
४. यह श्लोक चूर्णि में व्याख्यात नहीं है।
५ पडिवज्जिणो (अ, बृ० पा०)।
६. नरएसु (अ, उ)।

२९—धीरस्स पस्स धीरत्तं
सव्वधम्माणुवत्तिणो ।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे[1]
देवेसु उववज्जई ॥

धीरस्य पश्य धीरत्व
सर्वधर्मानुवर्तिनः ।
त्यक्त्वाऽधर्मं धर्मिष्ठ
देवेषु उपपद्यते ॥

२९—सब धर्मों का पालन करने वाले धीर-पुरुष की धीरता को देख। वह अधर्म को छोड़कर धर्मिष्ट बन देवों में उत्पन्न होता है।

३०—तुलियाण बालभावं
अबालं चेव पण्डिए ।
चइऊण बालभावं
अबालं सेवए मुणि ॥
—त्ति बेमि ।

तोलयित्वा बाल-भावम्
अबालत्व चैव पण्डितः ।
त्यक्त्वा बाल-भावम्
अबालत्व सेवते मुनिः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३०—पण्डित मुनि बाल-भाव और अबाल-भाव की तुलनाकर, बाल-भाव को छोड़, अबाल-भाव का सेवन करता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. धम्मट्ठे (उ)।

अट्ठमं अज्झयणं :
काविलीयं

अष्टम अध्ययन :
कापिलीय

आमुख

कपिल ब्राह्मण था। लोभ की बाढ ने उसके मन में विरक्ति ला दी। उसे सही स्वरूप ज्ञात हुआ। वह मुनि बन गया। सयोगवश एक बार उसे चोरों ने घेर लिया। तब कपिल मुनि ने उन्हें उपदेश दिया। वह सगीतात्मक था। उमो का यहाँ सग्रह किया गया है। प्रथम मुनि गाते, चोर भी उनके साथ-ही-साथ गाने लग जाते। 'अधुवे असासयमि, ससारमि दुक्खपउराए। न गच्छेज्जा॥ यह प्रथम श्लोक ध्रुव पद था। मुनि कपिल द्वारा यह—अध्ययन गाया गया था, इसलिए इसे कापिलीय कहा गया है।[1] सूत्रकृताङ्ग चूर्णि मे इस अध्ययन को 'गेय' माना गया है।[2]

नाम दो प्रकार से होते है —(१) निर्देश्य (विषय) के आधार पर और (२) निर्देशक (वक्ता) के आधार पर। इस अध्ययन का निर्देशक कपिल है, इसलिए इसका नाम कापिलीय रखा गया है।[3]

इसका मुख्य प्रतिपाद्य है—उस सत्य की शोध जिससे दुर्गति का अन्त हो जाए। सत्य-शोध में जो बाधाएँ है उन पर भी बहुत सुन्दर प्रकाश डाला गया है। लोभ कैसे बढता है, इसका स्वय अनुभूत चित्र प्रस्तुत किया गया है।

व्यक्ति के मन मे पहले थोड़ा लोभ उत्पन्न होता है। वह उसकी पूर्ति करता है। मन पुन लोभ से भर जाता है। उसकी पूर्ति का प्रयत्न होता है। यह क्रम चलता है परन्तु हर बार लोभ का उभार तीव्रता लिए होता है। ज्यों-ज्यों लाभ बढता है त्यों-त्यो लोभ भी बढता है। इसका अन्त तभी होता है जब व्यक्ति निर्लोभता की पूर्ण साधना कर लेता है।

उस काल और उस समय मे कौशाम्बी नगरी मे जितशत्रु राजा राज्य करता था। उसकी सभा मे चौदह विद्याओं का पारगामी काश्यप नाम का ब्राह्मण था। उसकी पत्नी का नाम यशा था। उसके कपिल नाम का एक पुत्र था। राजा काश्यप से प्रभावित था। वह उसका बहुमान करता था। अचानक काश्यप की मृत्यु हो गई। उस समय कपिल की अवस्था छोटी थी। राजा ने काश्यप के स्थान पर दूसरे ब्राह्मण को नियुक्त कर दिया। वह ब्राह्मण जब घर से दरबार में जाता तब घोडे पर आरूढ हो छत्र धारण करता था। काश्यप की पत्नी यशा जब यह देखती तो पति की स्मृति में विह्वल हो रोने लग जाती थी। कुछ काल बीता। कपिल भी बडा हो गया था। एक दिन जब उसने अपनी माँ को रोते देखा तो इसका कारण पूछा। यशा ने कहा—"पुत्र। एक समय था जब तुम्हारे पिता इसी प्रकार छत्र लगाकर दरबार में जाया-आया करते थे। वे अनेक विद्याओं के पारगामी थे। राजा उनकी विद्याओ से आकृष्ट था। उनके निधन के बाद राजा ने वह स्थान दूसरे को दे दिया है।" तब कपिल ने कहा—"माँ। मै भी विद्या पढूँगा।"

---

१ बृहद् वृत्ति, पत्र २८९ :

ताहे ताणवि पचवि चोरसयाणि ताले कुट्टेंति, सोऽवि गायति धुवग, "अधुवे असासयमी, ससारमि दुक्खपउराए। कि णाम त होज्ज कम्मय ? जेणाह दुग्गइ ण गच्छेज्जा॥१॥" एव सव्वत्थ सिलोगन्तरे धुवग गायति 'अधुवेत्यादि', तत्थ केइ पढमसिलोगे सबुद्धा, केइ बीए, एव जाव पचवि सया सबुद्धा पव्वतियत्ति। ...स हि भगवान् कपिलनामा ध्रुवक सङ्गीतवान्।

२ सूत्रकृताङ्ग चूर्णि, पृष्ठ ७

गेय णाम सरसचारेण, जधा काविलिज्जे—"अधुवे असासयमि, ससारम्मि दुक्खपउराए। न गच्छेज्जा॥"

३ आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १४१, वृत्ति

निर्देशकवशाज्जिनवचन कापिलीयम्।

यशा ने कहा—" पुत्र ! यहाँ सारे ब्राह्मण ईर्ष्यालु है । यहाँ कोई भी तुझे विद्या नही देगा । यदि तू विद्या प्राप्त करना चाहता है तो श्रावस्ती नगरी मे चला जा । वहाँ तुम्हारे पिता के परम मित्र इन्द्रदत्त नाम के ब्राह्मण है । वे तुम्हे विद्या पढायेंगे ।"

कपिल ने माँ का आशीर्वाद ले श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया । पूछते-पूछते वह इन्द्रदत्त ब्राह्मण के यहाँ जा खडा हुआ । अपने समक्ष एक अपरिचित युवक को देखकर इन्द्रदत्त ने पूछा—"तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? यहाँ आने का क्या प्रयोजन है ?"

कपिल ने सारा वृत्तान्त सुनाया । इन्द्रदत्त कपिल के उत्तर से बहुत प्रभावित हुआ और उसके भोजन की व्यवस्था एक शालिभद्र नामक धनाढ्य वणिक् के यहाँ करके अध्यापन शुरू कर दिया । कपिल भोजन करने प्रतिदिन सेठ के यहाँ जाता और इन्द्रदत्त से अध्ययन करता । उसे एक दासी की पुत्री भोजन परोसा करती थी । वह हँसमुख स्वभाव की थी । कपिल कभी-कभी उससे मजाक कर लेता था । दिन बीते, उनका सम्बन्ध गाढ हो गया । एक बार दासी ने कपिल से कहा—"तू मेरा सर्वस्व है । तेरे पास कुछ भी नहीं है । मै निर्वाह के लिए दूसरों के यहाँ रह रही हूँ अन्यथा तो मै तेरी आज्ञा मे रहती ।"

इसी प्रकार कई दिन बीते । दासी-महोत्सव का समय निकट आया । दासी का मन बहुत उदास हो गया । रात्रि मे उसे नीद नही आई । कपिल ने इसका कारण पूछा । उसने कहा—"दासी-महोत्सव आ गया है । मेरे पास फूटी कौड़ी भी नही है । मै कैसे महोत्सव को मनाऊँ ? मेरी सखियाँ मेरी निर्धनता पर हँसती है और मुझे तिरस्कार की दृष्टि से देखती है ।" कपिल का मन खिन्न हो गया । उसे अपने अपौरुष पर रोष आया । दासी ने कहा—"तुम इतना धैर्य मत खोओ । समस्या का एक समाधान भी है । इसी नगर मे धन नाम का एक सेठ रहता है । जो व्यक्ति प्रात काल उसे सबसे पहले बधाई देता है उसे वह दो माशा सोना देता है । तुम वहाँ जाओ । उसे बधाई देकर दो माशा सोना ले आओ । इससे मै पूर्णता से महोत्सव मना लूँगी ।"

कपिल ने बात मान ली । कोई व्यक्ति उससे पहले न पहुँच जाए, यह सोच वह तुरत घर से रवाना हो गया । रात्रि का समय था । नगर-आरक्षक इधर-उधर घूम रहे थे । उन्होंने इसे चोर समझ पकड़ कर बाँध लिया और प्रभात मे उसे प्रसेनजित् राजा के सामने प्रस्तुत किया । राजा ने उससे रात्रि मे अकेले घूमने का कारण पूछा । कपिल ने सहज व सरल भाव से सारा वृत्तान्त सुना दिया । राजा उसकी स्पष्टवादिता पर बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—"ब्राह्मण । आज मै तुझ पर बहुत प्रसन्न हूँ । तू जो कुछ माँगेगा वह मिलेगा ।" कपिल ने कहा -- "राजन् । मुझे कुछ सोचने का समय दिया जाए ।" राजा ने कहा—"यथा इच्छा ।"

कपिल राजा की आज्ञा ले अशोक वनिका मे चला गया । वहाँ उसने सोचा—"दो माशा सोने से क्या होगा ? क्यो न मैं १०० मोहरें माँग लूँ ?" चिन्तन आगे बढा । उसे १०० मोहरें भी तुच्छ लगने लगी । हजार, लाख, करोड तक उसने चिन्तन किया । परन्तु मन नही भरा । सन्तोष के बिना शान्ति कहाँ ? उसका मन आन्दोलित हो उठा । तत्क्षण उसे समाधान मिल गया । मन वैराग्य से भर उठा । चिन्तन का प्रवाह मुड़ा । उसे जाति-स्मृति-ज्ञान प्राप्त हो गया । वह स्वय-बुद्ध हो गया । वह स्वय अपना लुचन कर, प्रफुल्ल वदन हो राजा के पास आया । राजा ने पूछा—"क्या सोचा है, जल्दी कहो ।" कपिल ने कहा—"राजन् । समय बीत चुका है । मुझे जो कुछ पाना था पा लिया है । तुम्हारी सारी वस्तुएँ मुझे तृप्त नहीं कर सकीं । किन्तु उनकी अनाकाँक्षा ने मेरा मार्ग प्रशस्त कर दिया है । जहाँ लाभ है वहाँ लोभ है । ज्यों-ज्यों लाभ बढता है त्यो-त्यों लोभ भी बढता जाता है । दो माशे सोने की प्राप्ति के लिए मैं घर से निकला था किन्तु मेरी तृप्ति करोड़ में भी नही हुई । तृष्णा अनन्त है । इसकी पूर्ति वस्तुओ की उपलब्धियों से नही होती, वह होती है त्याग से, अनाकाँक्षा से ।"

राजा ने कहा—"ब्राह्मण ! मेरा वचन पूरा करने का मुझे अवसर दें। मैं करोड़ मोहरें भी देने के लिए तैयार हूँ।" कपिल ने कहा—"राजन् ! तृष्णा की अग्नि अब शान्त हो गई है। मेरे भीतर करोड से भी अधिक मूल्यवान् वस्तु पैदा हो गई है। मैं अब करोड का क्या करूँ ?" मुनि कपिल राजा के सान्निध्य से दूर चला गया। साधना चलती रही। वे मुनि छह मास तक छद्मस्थ अवस्था में रहे।

राजगृही और कौशाम्बी के बीच १८ योजन का एक महा अरण्य था। वहाँ बलभद्र प्रमुख इक्कडदास जाति के पाँच सौ चोर रहते थे। कपिल मुनि ने एक दिन ज्ञान-बल से जान लिया कि सभी चोर एक दिन अपनी पापकारी वृत्ति को छोडकर सबुद्ध हो जायेंगे। उन सबको प्रतिबोध देने के लिए कपिल मुनि श्रावस्ती से चलकर उस महा अटवी में आये। चोरों के सन्देशवाहक ने उन्हे देख लिया। वह उन्हे पकड़ अपने सेनापति के पास ले गया। सेनापति ने इन्हें श्रमण समझ कर छोड़ते हुए कहा—"श्रमण ! कुछ सगान करो।" श्रमण कपिल ने हावभाव से सगान शुरू किया। "अधुवे असासयमि, ससारमि दुक्खपउराए "—यह ध्रुवपद था। प्रत्येक श्लोक के साथ यह गाया जाता था। कई चोर प्रथम श्लोक सुनते ही सबुद्ध हो गये, कई दूसरे, कई तीसरे, कई चौथे श्लोक आदि सुनकर। इस प्रकार पाँच सौ चोर प्रतिबुद्ध हो गये। मुनि कपिल ने उन्हें दीक्षा दी और वे सभी मुनि हो गये।

प्रसगवश इस अध्ययन मे ग्रथित्याग, ससार की असारता, कुतीर्थिकों की अज्ञता, अहिसा-विवेक, स्त्री-सगम का त्याग आदि-आदि विषय भी प्रतिपादित हुए है।

यह अध्ययन 'ध्रुवक' छन्द मे प्रतिबद्ध हैं। जो छन्द सर्व प्रथम श्लोक मे तथा प्रत्येक श्लोक के अन्त मे गाया जाता है, उसे 'ध्रुवक' कहते है। वह तीन प्रकार का होता है—छह पदो वाला, चार पदो वाला और दो पदो वाला —

ज गिज्जइ पुव्व चिय, पुण पुणो सव्वकव्वबधेसु।
धुवयति तमिह तिविह, छप्पाय चउपय दुपय ॥ (बृहद् वृत्ति, पत्र ३८९)

इस अध्ययन मे चार पदों वाले ध्रुवक का प्रयोग हुआ है।

अट्ठमं अज्झयण : अष्टम अध्ययन

काविलीयं : कापिलीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—'अधुवे असासयमि'[1] ससारमि दुक्खपउराए । किं नाम होज्ज त कम्मय 'जेणाह दोग्गइ न गच्छेज्जा'[2]॥	अध्रुवेऽशाश्वते ससारे दु.ख-प्रचुरके । किं नाम तद्र भवेत्कर्मक येनाह दुर्गतिं न गच्छेयम् ॥	१—अध्रुव, अशाश्वत और दु ख-बहुल संसार में ऐसा कौन-सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति में न जाऊँ ?
२—विजहित्तु पुव्वसजोगं न सिणेह कहिंचि कुव्वेज्जा । असिणेह सिणेहकरेहिं दोसपओसेहिं[3] मुच्चए भिक्खू ॥	विहाय पूर्व-सयोग न स्नेह क्वचित् कुर्वीत । अस्नेह स्नेहकरेषु दोष-प्रदोषै मुच्यते भिक्षु ॥	२—पूर्व सम्बन्धों का त्याग कर, किसी भी वस्तु में स्नेह न करे । स्नेह करने वालो के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषो और प्रदोषों से मुक्त हो जाता है ।
३—तो नाणदसणसमग्गो हियनिस्सेसाए[4] सव्वजीवाण । तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ॥	ततो ज्ञान-दर्शन-समग्रः हित-निःश्रेयसाय सर्वजीवानाम् । तेषा विमोक्षणार्थं भाषते मुनिवरो विगत-मोह. ॥	३—केवल ज्ञान और दर्शन से युक्त तथा विगतमोह मुनिवर ने सब जीवो के हित और कल्याण के लिए तथा उन पाँच सौ चोरो की मुक्ति के लिए कहा ।
४—सव्व गन्थ कलह च विप्पजहे तहाविह[5] भिक्खू । 'सव्वेसु कामजाएसु'[6] पासमाणो न लिप्पई ताई ॥	सर्वं ग्रन्थ कलह च विप्रजह्यात् तथाविध भिक्षुः । सर्वेषु काम-जातेषु पश्यन् न लिप्यते त्रायी ॥	४—भिक्षु कर्म-बन्ध की हेतुभूत सभी ग्रन्थियों और कलह का त्याग करे । काम-भोगों के सब प्रकारों में दोष देखता हुआ आत्म-रक्षक मुनि उनमें लिप्त न बने ।

---

१ अधुवमि मोहगहणए (नागार्जुनीया)।

२. जेणाह (ध) दुग्गइत्तो मुच्चेज्जा (चू०, बृ० पा०)।

३. दोसपएहिं (बृ०), दोसपउसेहिं (बृ० पा०)।

४. हियनिस्सेसाय (चू०, बृ०)।

५. तहाविहो (बृ० पा०, चू० पा०)।

६. सव्वेहिं कामजाएहिं (चू०)।

५—भोगामिसदोसविसण्णे
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
बाले य मन्दिए मूढे
वज्झई मच्छिया व खेलमि ॥

भोगामिष-दोष-विषण्ण.
व्यत्यस्त-हित-निःश्रेयस-बुद्धिः ।
बालश्च मन्दो मूढः
बध्यते मक्षिकेव क्ष्वेले ॥

५—आत्मा को दूषित करने वाले भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) में निमग्न, हित और श्रेयस् में विपरीत बुद्धि वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ जीव उसी तरह (कर्मों से) बध जाता है जैसे श्लेष्म में मक्खी।

६—दुपरिच्चया इमे कामा
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू[1]
जे तरन्ति 'अतर वणिया व'[2] ॥

दुष्परित्यजा इमे कामाः
नो सुहानाः अधीर-पुरुषैः ।
अथ सन्ति सुव्रताः साधवः
ये तरन्त्यतर वणिज इव ॥

६—ये काम-भोग दुस्त्यज है, अधीर पुरुषो द्वारा ये सुत्यज नही हैं। जो सुव्रती साधु है, वे दुस्तर काम-भोगों को उसी प्रकार तर जाते हैं, जैसे वणिक् समुद्र को।

७—समणा मु एगे वयमाणा
पाणवह मिया अयाणन्ता ।
मन्दा निरय[3] गच्छन्ति
बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ॥

श्रमणाः स्म एके वदन्तः
प्राण-वध मृगा अजानन्तः ।
मन्दा नरक गच्छन्ति
बाला पापिकाभिर्दृष्टिभिः ॥

७—कुछ पशु की भाँति अज्ञानी पुरुष 'हम श्रमण हैं' ऐसा कहते हुए भी प्राण-वध को नही जानते। वे मन्द और बाल-पुरुष अपनी पापमयी दृष्टियों से नरक में जाते है।

८—न हु पाणवह अणुजाणे
मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाण ।
एवारिएहिं[4] अक्खाय
जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो ॥

न खलु प्राण-वध मनुजानन्
मुच्येत कदाचित्सर्व-दुःखैः ।
एवमार्यैराख्यात
यैरय साधु-धर्मः प्रज्ञप्तः ॥

८—प्राण-वध का अनुमोदन करने वाला पुरुष कभी भी सर्व दुःखों से मुक्त नही हो सकता। उन आर्य तीर्थङ्करों ने ऐसा कहा है, जिन्होने इस साधु-धर्म की प्रज्ञापना की।

९—पाणे य नाइवाएज्जा
से 'समिए त्ति'[5] वुच्चई ताई ।
तओ से पावय कम्म
निज्जाइ[6] उदग व थलाओ ॥

प्राणाँश्च नातिपातयेत्
स समित इत्युच्यते त्रायी ।
तत अथ पापक कर्म
निर्याति उदकमिव स्थलात् ॥

९—जो जीवो की हिंसा नही करता, उस त्रायी मुनि को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहा जाता है। उससे पाप-कर्म वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे उन्नत प्रदेश से पानी।

१०—'जगनिस्सिएहिं भूएहिं
तसनामेहिं थावरेहिं च ।'[7]
नो तेसिमारभे दंडं
मणसा वयसा कायसा चेव ॥

जगन्निश्रितेषु भूतेषु
त्रसनामसुस्थावरेषु च ।
न तेषु दण्डमारभेत
मनसा वचसाकायेन चैव ॥

१०—जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार से दण्ड का प्रयोग न करे।

---

१. सव्वे (चू॰)।
२ वणिया व समुद्द (वृ॰ पा॰, चू॰), अतर वणिया व (चू॰ पा॰)।
३ नरय (वृ॰ पा॰, चू॰)।
४ एवायरिएहि (अ, ऋ॰), एवमारिएहि (आ, छ॰)।
५ समिय त्ति (चू॰), समीए त्ति (अ); समीइ त्ति (उ, ऋ॰)।
६ णिरणाइ (वृ॰ पा॰)।
७. जगनिस्सियाण भूयाण तसाण थावराण य। (वृ॰ पा॰); जगणिसित भूताण तसणामाणं च थावराण च। (चू॰), जगनिस्सितेसु थावरणामेसु भूतेसु तसणामेसु वा। (चू॰ पा॰), जगनिस्सिएहि भूएहि तसनामेहि थावरे हि वा। (चू॰)।

११—सुद्धेसणाओ नच्चाण
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाण ।
जायाए घासमेसेज्जा
रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥

शुद्धैषणा ज्ञात्वा
तत्रस्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ।
यात्रायैग्रासमेषयेद्
रस-गृद्धो न स्याद् भिक्षादः ॥

११—भिक्षु शुद्ध एषणाओं को जानकर उनमें अपनी आत्मा को स्थापित करे। यात्रा (सयम-निर्वाह) के लिए ग्रास की एषणा करे। भिक्षा-जीवी रसों में गृद्ध न हो।

१२—पन्ताणि चेव सेवेज्जा
सीयपिंड पुराणकुम्मास ।
अदु वुक्कस पुलाग वा
'जवणट्ठाए निसेवए'[1] मथु ॥

प्रान्तानि चैव सेवेत
शीत-पिण्ड पुराण-कुल्माषम् ।
अथ 'वुक्कस' पुलाक वा
यापनार्थं निषेवेत मन्थुम् ॥

१२—भिक्षु प्रान्त (नीरस) अन्न-पान, शीत-पिण्ड, पुराने उडद, बुक्कस (सारहीन), पुलाक (रूखा) या मथु (बेर या सत्तू का चूर्ण) का जीवन-यापन के लिए सेवन करे।

१३—जे लक्खण च सुविण च
अगविज्ज च जे पउजन्ति ।
न हु ते समणा वुच्चन्ति
एव आयरिएहिं[2] अक्खाय ॥

ये लक्षण च स्वप्न च
अङ्ग-विद्याच ये प्रयुञ्जन्ति ।
न खलु ते श्रमणा उच्यन्ते
एवमाचार्यैराख्यातम् ॥

१३—जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अङ्ग-विद्या का प्रयोग करते है, उन्हें साधु नहीं कहा जाता—ऐसा आचार्यो ने कहा है।

१४—इहजीविय अणियमेत्ता
पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा
उववज्जन्ति आसुरे काए ॥

इह जीवित अनियम्य
प्रभ्रष्टाः समाधि-योगेभ्यः ।
ते कामभोग-रस-गृद्धाः
उपपद्यन्ते आसुरे काये ॥

१४—जो इस जन्म में जीवन को अनियन्त्रित रखकर समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं, वे काम-भोग और रसो में आसक्त बने हुए पुरुष असुर-काय में उत्पन्न होते हैं।

१५—तत्तो वि य उवट्टित्ता
ससार वहु अणुपरियडन्ति[3] ।
वहुकम्मलेवलित्ताण
वोही होइ[4] सुदुल्लहा तेसिं ॥

ततोऽपि च उद्वृत्य
संसार वहुमनुपर्यटन्ति ।
वहुकर्म-लेप-लिप्तानां
वोधिर्भवति सुदुर्लभातेषाम् ॥

१५—वहाँ से निकल कर भी वे ससार में वहुत पर्यटन करते है। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते हैं। इसलिए उन्हें वोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

१६—कसिण पि जो इम लोय
पडिपुण्ण दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न सतुस्से[5]
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

कृत्स्नमपि य इम लोक
प्रतिपूर्ण दद्यादेकस्मै ।
तेनापि स न सन्तुष्येत्
इति दुष्पूरकोऽयमात्मा ॥

१६—धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक भी यदि कोई किसी को दे दे—उससे भी वह सन्तुष्ट नहीं होता—तृप्त नही होता, इतना दुष्पूर है यह आत्मा।

१. जवणट्ठा वा सेवए (वृ०), जवणट्ठाए णिसेवए (वृ० पा०)।
२. आरिएहिं (अ, वृ०)।
३ अनुपरियट्टति (ऋ०), अनुपरियति (अ, वृ०), अनुचरति (वृ० पा०)।
४. जत्थ (वृ० पा०)।
५. सतुसिज्जा (ऋ०), तुसिज्ज (उ), तुसिज्जा (अ), (स) तुस्से (चू०)।

१७—जहा लाहो तहा लोहो
लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं
कोडीए वि न निट्ठियं ॥

यथा लाभस्तथा लोभः
लाभाल्लोभ प्रवर्धते ।
द्विमाष-कृत कार्यं
कोट्याऽपि न निष्ठितम् ॥

१७—जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है । लाभ से लोभ बढता है । दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड से भी पूरा नही हुआ ।

१८—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा
गडवच्छासु ऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता
खेल्लन्ति जहा व दासेहिं ॥

न राक्षसीषु गृध्येत्
गण्डवक्षास्स्वनेक-चित्तासु ।
या पुरुष प्रलोभ्य
खेलन्ति यथे व दासैः ॥

१८—वक्ष में ग्रन्थि (स्तनों) वाली, अनेक चित्त वाली तथा राक्षसी की भाँति भयावह स्त्रियो में आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन में डालकर उसे दास की भाँति नचाती है ।

१९—नारीसु नोपगिज्झेज्जा
इत्थीविप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं नच्चा
तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं ॥

नारीषु नोपगृध्येत्
स्त्री-विप्रजहोऽनगारः ।
धर्मं च पेशलं ज्ञात्वा
तत्र स्थापयेद् भिक्षुरात्मानम् ॥

१९—स्त्रियो को त्यागने वाला अनगार उनमें गृद्ध न बने । भिक्षु धर्म को अति मनोज्ञ जानकर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे ।

२०—इइ एस धम्मे अक्खाए
कविलेणं च विसुद्धपन्नेण ।
तरिहिन्ति जे उ काहिन्ति
तेहिं आराहिया दुवे लोग ॥
—त्ति बेमि ।

इत्येष धर्म आख्यातः
कपिलेन च विशुद्ध-प्रज्ञेन ।
तरिष्यन्ति ये तु करिष्यन्ति
तैराराधितौद्वौ लोकौ ॥
—इति ब्रवीमि ।

२०—इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल ने यह धर्म कहा । जो इसका आचरण करेंगे वे तरेंगे और उन्होंने दोनो लोकों को आराध लिया ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

नवमं अज्झयणं :

नमिपव्वज्जा

नवम अध्ययन :

नमि-प्रव्रज्या

आमुख

मुनि वही बनता है जिसे बोधि प्राप्त है। वे तीन प्रकार के होते हैं—स्वय-बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-बोधित। (१) जो स्वय बोधि प्राप्त करते है, उन्हें स्वय-बुद्ध कहा जाता है, (२) जो किसी एक घटना के निमित्त से बोधि प्राप्त करते है, उन्हें प्रत्येक-बुद्ध कहा जाता है और (३) जो बोधि-प्राप्त व्यक्तियों के उपदेश से बोधि-लाभ करते है, उन्हें बुद्ध-बोधित कहा जाता है।[1]

इस सूत्र में तीनों प्रकार के मुनियों का वर्णन है—(१) स्वय-बुद्ध कपिल का आठवें अध्ययन मे, (२)—प्रत्येक-बुद्ध - नमि का नौवें अध्ययन में और (३) बुद्ध-बोधित—सजय का अठारहवें अध्ययन में।

इस अध्ययन का सम्बन्ध प्रत्येक-बुद्ध मुनि से है। करकण्डु, द्विमुख, नमि और नग्गति—ये चारो समकालीन प्रत्येक-बुद्ध है। इन चारों प्रत्येक-बुद्धों के जीव पुष्पोत्तर नाम के विमान से एक साथ च्युत हुए थे। चारों ने एक साथ प्रव्रज्या ली, एक ही समय में प्रत्येक-बुद्ध हुए, एक ही समय में केवली बने और एक ही समय में सिद्ध हुए।[3]

करकण्डु कलिंग का राजा था, द्विमुख पचाल का, नमि विदेह का और नग्गति गधार का।

बूढा बैल, इन्द्रध्वज, एक ककण की नीरवता और मजरी-विहीन आम्र वृक्ष—ये चारों घटनाएँ क्रमश चारों की बोधि-प्राप्ति की हेतु बनीं।

एक बार चारों प्रत्येक-बुद्ध विहार करते हुए क्षितिप्रतिष्ठित नगर में आए। वहाँ व्यन्तरदेव का एक मन्दिर था। उसके चार द्वार थे। करकण्डु पूर्व दिशा के द्वार से प्रविष्ट हुआ, द्विमुख दक्षिण द्वार से, नमि पश्चिम द्वार से और नग्गति उत्तर द्वार से। व्यन्तरदेव ने यह सोच कर कि मै साधुओं को पीठ देकर कैसे बैठूँ, अपना मुँह चारों ओर कर लिया।

करकण्डु खुजली से पीड़ित था। उसने एक कोमल कण्डूयन लिया और कान को खुजलाया। खुजला लेने के बाद उसने कण्डूयन को एक ओर छिपा लिया। द्विमुख ने यह देख लिया। उसने कहा—"मुने! अपना राज्य, राष्ट्र, पुर, अत पुर—आदि सब कुछ छोड़कर तुम इस (कण्डूयन) का सचय क्यों करते हो?" यह सुनते ही करकण्डु के उत्तर देने से पूर्व ही नमि ने कहा—"मुने! आपके राज्य मे आपके अनेक कृत्यकर—आज्ञा पालने वाले थे। उनका

१—नदी, सूत्र ३०।

२—(क) सुखबोधा, पत्र १४४ नग्गति का मूल नाम सिहरथ था। वह कनकमाला (वैताढ्य पर्वत पर तोरणपुर नगर के राजा दृढशक्ति की पुत्री) से मिलने पर्वत पर जाया करता था। प्राय वहीं पर रहने के कारण उसका नाम 'नग्गति' पडा।

(ख) कुम्भकार जातक में उसे तक्षशिला का राजा बताया गया है और नाम नग्गजी (नग्गजित्) दिया है।

३—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७०

पुप्फुत्तराउ चवण पव्वज्जा होइ एगसमएण।
पत्तेयबुद्धकेवलि सिद्धि गया एगसमएण॥

कार्य था दण्ड देना और दूसरों का पराभव करना। इस कार्य को छोड़ आप मुनि बने। आज आप दूसरों के दोष क्यों देख रहे है?" यह सुन नग्गति ने कहा—"जो मोक्षार्थी हैं, जो आत्म-मुक्ति के लिए प्रयत्न करते हैं, जिन्होंने सब कुछ छोड़ दिया है, वे दूसरों की गर्हा कैसे करेंगे?" तब करकण्डु ने कहा—"मोक्ष मार्ग मे प्रवृत्त साधु और ब्रह्मचारी यदि अहित का निवारण करते हैं तो वह दोष नही है। नमि, द्विमुख और नग्गति ने जो कुछ कहा है, वह अहित-निवारण के लिए हो अत वह दोष नही है।"[1]

ऋषिभाषित प्रकीर्णक मे ४५ प्रत्येक-बुद्ध मुनियों का जीवन निबद्ध है। उनमे से २० प्रत्येक-बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थ मे, १५ पार्श्वनाथ के तीर्थ मे और १० महावीर के तीर्थ मे हुए हैं।[2]

(१) अरिष्टनेमि के तीर्थ मे होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

१—नारद
२—वज्जिय पुत्र
३—असित दविल
४—भारद्वाज अगिरस
५—पुष्पसाल पुत्र
६—वल्कलचीरि
७—कुर्मा पुत्र
८—केतली पुत्र
६ – महाकाश्यप
१०—तेतलि पुत्र
११—मखली पुत्र
१२—याज्ञवल्क्य
१३—मैत्रय भयाली
१४—बाहुक
१५—मधुरायण
१६—सोरियायण
१७—विदु
१८—वर्षप कृष्ण
१६—आरियायण
२०—उत्कलवादी

(२) पार्श्वनाथ के तीर्थ मे होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

१—गाहावती-पुत्र तरुण
२—दगभाल
३—राम पुत्र
४—हरिगिरि
५—अम्बड़
६ - मातग
७—वारत्तक
८—आर्द्रक
६—वर्द्धमान
१०—वायु
११—पार्श्व
१२—पिग
१३—महाशाल-पुत्र अरुण
१४—ऋषिगिरि
१५—उद्दालक

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २७६-२७६

जया रज्ज च रट्ठ च, पुर अतेउर तहा।
सव्वमेअ परिच्चज्ज, संचय किं करेसिम ?॥
जया ते पेइए रज्जे, कया किच्चकरा बहू।
तेंसि किच्च परिच्चज्ज, अज्ज किच्चकरो भव ॥
जया सव्व परिच्चज्ज, मुक्खाय घडसी भव।
पर गरहसी कीस ?, अत्तनीसेसकारए ॥
मुक्खमग्ग पवन्नेसु, साहूसु बभयारिसु।
अहिअत्थ निवारितो, न दोस वत्तुमरिहसि ॥

२—इसिभासिय, पढमा सगहिणी, गाथा १

पत्तेय बुद्धमिसिणो, वीसं तित्थे अरिट्ठणेमिस्स।
पासस्स य पण्णरस, वीरस्स विलीणमोहस्स ॥

(३) महावीर के तीर्थ मे होने वाले प्रत्येक-बुद्ध—

१—वित्त तारायण
२—श्रीगिरि
३—साति-पुत्र बुद्ध
४—सजय
५—द्वीपायन
६—इन्द्रनाग
७—सोम
८—यम
९—वरुण
१०—वैश्रमण

करकण्डु आदि चार प्रत्येक-बुद्धों का उल्लेख इस तालिका मे नहीं है।

विदेह राज्य मे दो नमि हुए है। दोनों अपने-अपने राज्य का त्यागकर अनगार बने। एक तीर्थङ्कर हुए, दूसरे प्रत्येक-बुद्ध।[1] इस अध्ययन मे दूसरे नमि (प्रत्येक-बुद्ध) की प्रव्रज्या का विवरण है, इसलिए इसका नाम नमि-प्रव्रज्या रखा गया है।

मालव देश के सुदर्शनपुर नगर मे मणिरथ राजा राज्य करता था। उसका कनिष्ट भ्राता युगबाहु था। मदनरेखा युगबाहु की पत्नी थी। मणिरथ ने कपट पूर्वक युगबाहु को मार डाला। मदनरेखा उस समय गर्भवती थी। उसने जगल में एक पुत्र को जन्म दिया। उस शिशु को मिथिला-नरेश पद्मरथ ले गया। उसका नाम 'नमि' रखा।

पद्मरथ के श्रमण बन जाने पर 'नमि' मिथिला का राजा बना। एक बार वह दाह-ज्वर से आक्रान्त हुआ। छह मास तक घोर वेदना रही। उपचार चला। दाह-ज्वर को शान्त करने के लिए रानियाँ स्वय चन्दन घिसती। एक बार सभी रानियाँ चन्दन घिस रही थी। उनके हाथों मे पहिने हुए ककण बज रहे थे। उनकी आवाज से 'नमि' खिन्न हो उठा। उसने ककण उतार लेने को कहा। सभी रानियों ने सौभाग्य-चिह्न स्वरूप एक-एक ककण को छोड़कर शेष सभी उतार दिए।

कुछ देर बाद राजा ने अपने मन्त्री से पूछा—"ककण का शब्द सुनाई क्यो नहीं दे रहा है?" मन्त्री ने कहा—"स्वामिन्! ककणो के घर्षण का शब्द आपको अप्रिय लगा था इसलिए सभी रानियो ने एक एक ककण रखकर शेष सभी उतार दिए। एक ककण से घर्षण नही होता और घर्षण के बिना शब्द कहाँ से उठे?"

राजा नमि प्रबुद्ध हो गया। उसने सोचा सुख अकेलेपन मे है—जहाँ द्वन्द्व है—दो है—वहाँ दु ख है। विरक्त भाव से वह आगे बढा। उसने प्रव्रजित होने का दृढ सकल्प किया।

अकस्मात् ही नमि को राज्य छोड़ प्रव्रजित होते देख उसकी परीक्षा के लिए इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर आता है, प्रणाम कर नमि को लुभाने के लिए अनेक प्रयत्न करता है और कर्त्तव्य-बोध देता है। राजा नमि ब्राह्मण को अध्यात्म की गहरी बात बताता है और ससार की असारता का बोध देता है।

इन्द्र ने कहा—"राजन्! हस्तगत रमणीय भोगो को छोड़कर अपरोक्ष काम-भोगों की वाछा करना क्या उचित कहा जा सकता है (श्लोक ५१)?" राजा ने कहा—"ब्राह्मण! काम त्याज्य है, वे शल्य है, विष के समान है, आशीविष सर्प के तुल्य है। काम-भोगो की इच्छा करने वाले उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते है (श्लोक ५३)।"

'आत्म-विजय ही परम विजय है'—इस तथ्य को स्पष्ट अभिव्यक्ति मिली है। इन्द्र ने कहा—"राजन्! जो कई राजा तुम्हारे सामने नही झुकते, पहले उन्हें वश मे करो, फिर मुनि बनना (श्लोक ३२)।" नमि ने कहा—

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २६७

दुन्निवि नमी विदेहा, रज्जाइ पयहिऊण पव्वइया।
एगो नमितित्थयरो, एगो पत्तेयबुद्धो अ॥

"जो मनुष्य दुर्जेय सग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा जो व्यक्ति एक आत्मा को जीतता है, वह उसकी परम विजय है। आत्मा के साथ युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। दूसरो के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सुख पाता है। पाँच इन्द्रियाँ तथा क्रोध, मान, माया, लोभ और मन—ये दुर्जेय है। एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते है (श्लोक ३४-३६)।"

'ससार मे न्याय-अन्याय का विवेक नही है'—इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति यहाँ हुई है। इन्द्र ने कहा—"राजन्! अभी तुम चोरों, लुटेरों, गिरहकटों का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बनना (श्लोक २८)।" नमि ने कहा—"ब्राह्मण! मनुष्यो द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नही करने वाले पकडे जाते है और अपराध करने वाले छूट जाते हैं (श्लोक ३०)।"

इस प्रकार इस अध्ययन में जीवन के समग्र दृष्टिकोण को उपस्थित किया है। अन्यान्य आश्रमों से संन्यास आश्रम श्रेष्ठ है (श्लोक ४४), दान से सयम श्रेष्ठ है (श्लोक ४०), सन्तोष त्याग में है, भोग मे नही (श्लोक ४८-४६) आदि-आदि भावनाओं का स्फुट निर्देश है। जब इन्द्र ने देखा कि राजा नमि अपने सकल्प पर अडिग है, तब उसने अपना मूल रूप प्रकट किया और नमि की स्तुति कर चला गया।

नवमं अज्झयणं : नवम अध्ययन
नमिपव्वज्जा : नमि-प्रव्रज्या

मूल | **संस्कृत छाया** | **हिन्दी अनुवाद**

१—चइऊण देवलोगाओ
उववन्नो माणुसमि लोगमि।
उवसन्तमोहणिज्जो
सरई पोराणिय जाइ ॥

च्युत्वा देवलोकात्
उपपन्नो मानुषे लोके।
उपशान्त-मोहनीयः
स्मरति पौराणिकी जातिम् ॥

१—नमिराज का जीव देवलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में उत्पन्न हुआ। उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।

२—जाइ सरित्तु भयव
सहसबुद्धो अणुत्तरे धम्मे।
पुत्त ठवेत्तु रज्जे
अभिणिक्खमई नमी राया ॥

जातिं स्मृत्वा भगवान्
स्वय-सबुद्धोऽनुत्तरे धर्मे।
पुत्र स्थापयित्वा राज्ये
अभिनिष्क्रामति नमीराजा ॥

२—भगवान् नमिराज पूर्व-जन्म की स्मृति पाकर अनुत्तर धर्म की आराधना के लिए स्वय-सवुद्ध हुआ और राज्य का भार पुत्र के कधों पर डालकर अभिनिष्क्रमण किया—प्रव्रज्या के लिए चल पडा।

३—से देवलोगसरिसे
अन्तेउरवरगओ वरे भोए।
भुजित्तु नमी राया
बुद्धो भोगे परिच्चयई ॥

स देवलोक-सदृशान्
वरान्त पुर-गतो वरान् भोगान्।
भुक्त्वा नमीराजा
बुद्धो भोगान् परित्यजति ॥

३—उस नमिराज ने प्रवर अन्त पुर में रहकर देवलोक के भोगो के समान प्रधान भोगो का भोग किया और सबुद्ध होने के पश्चात् उन भोगो को छोड दिया।

४—मिहिल सपुरजणवय
वलमोरोह च परियण सव्व।
चिच्चा अभिमिक्खन्तो
एगन्तमहिट्ठिओ भयव ॥

मिथिला सपुरजनपदा
बलमवरोध च परिजन सर्वम्।
त्यक्त्वाऽभिनिष्क्रान्तः
एकान्तमधिष्ठितो भगवान् ॥

४—भगवान् नमिराज ने नगर और जन-पद सहित मिथिला नगरी, सेना, रनिवास और सब परिजनो का छोड कर अभिनिष्क्रमण किया और एकान्तवासी बन गया।

५—कोलाहलगभूय
आसी मिहिलाए पव्वयन्तमि।
तइया रायरिसिमि
नमिमि अभिणिक्खमन्तमि ॥

कोलाहलकभूतम्
आसीन्मिथिलाया प्रव्रजति।
तदाराजर्षौ
नमौ अभिनिष्क्रामति ॥

५—जब राजर्षि नमि अभिनिष्क्रमण कर रहा था, प्रव्रजित हो रहा था, उस समय मिथिला में सब जगह कोलाहल होने लगा।

६—अब्भुट्ठियं रायरिसिं पव्वज्जाठाणमुत्तमं । सक्को माहणरूवेण इमं वयणमब्बवी ॥	अभ्युत्थित राजर्षि प्रव्रज्या-स्थानमुत्तमम् । शक्रो ब्राह्मण-रूपेण इद वचनमब्रवीत् ॥	६—उत्तम प्रव्रज्या-स्थान के लिए उद्यत हुए राजर्षि से देवेन्द्र ने ब्राह्मण के रूप में आकर इस प्रकार कहा—
७—किण्णु भो ! अज्ज मिहिलाए कोलाहलगसकुला । सुव्वन्ति दारुणा सद्दा पासाएसु गिहेसु य ? ॥	किन्तु भो ! अद्य मिथिलायां कोलाहलक-सकुलाः । श्रूयन्ते दारुणा. शब्दाः प्रासादेषु गृहेषु च ? ॥	७—हे राजर्षि ! आज मिथिला के प्रासादो और गृहो में कोलाहल से परिपूर्ण दारुण शब्द क्यो सुनाई दे रहे है ?
८—एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारणचोइओ । तओ नमी रायरिसी देविन्द इणमब्बवी ॥	एतमर्थं निशम्य हेतु-कारण-चोदितः । ततो नमी राजर्षिः देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥	८—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—
९—मिहिलाए चेइए वच्छे सीयच्छाए मणोरमे । पत्तपुप्फफलोवेए बहूण बहुगुणे सया ॥	मिथिलाया चैत्यो वृक्षः शीतच्छायो मनोरम । पत्र-पुष्प-फलोपेतः बहूनां बहु-गुणः सदा ॥	९—मिथिला में एक चैत्य-वृक्ष था, शीतल छाया वाला, मनोरम, पत्र, पुष्प और फलो से लदा हुआ और बहुत पक्षियो के लिए सदा उपकारी ।
१०—वाएण हीरमाणमि चेइयमि मणोरमे । दुहिया असरणा अत्ता एए कन्दन्ति भो ! खगा ॥	वातेन ह्रियमाणे चैत्ये मनोरमे । दुःखिता अशरणा आर्ता एते क्रन्दन्ति भो ! खगाः ॥	१०—एक दिन हवा चली और उस चैत्य-वृक्ष को उखाड कर फेंक दिया । हे ब्राह्मण ! उसके आश्रित रहने वाले ये पक्षी दुःखी, अशरण और पीडित होकर आक्रन्द कर रहे है ।
११—एयमट्ठं निसामित्ता हेऊकारणचोइओ । तओ नमिं रायरिसिं देविन्दो इणमब्बवी ॥	एतमर्थं निशम्य हेतु-कारण-चोदित । ततो नमिं राजर्षि देवेन्द्र इदमब्रवीत ॥	११—इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—
१२—एस अग्गी य वाऊ य एयं डज्झइ मन्दिरं । भयवं ! अन्तेउरं तेणं कीस णं नावपेक्खसि¹ ? ॥	एषोऽग्निश्च वायुश्च एतद् दह्यते मन्दिरम् । भगवन् ! अन्त पुरं तेन कस्मान्नावप्रेक्षसे ? ॥	१२—यह अग्नि है और यह वायु है । यह आपका मन्दिर जल रहा है । भगवन् ! आप अपने रनिवास की ओर क्यों नहीं देखते ?

१ नावपिक्खह (अ) ।

१३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षि:
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

१३—यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

१४—सुहं वसामो जीवामो
जेसिं मो नत्थि किंचण ।
मिहिलाए डज्झमाणीए
न मे डज्झइ किंचण ॥

सुखं वसामो जीवाम
येषां नो नास्ति किंचन ।
मिथिलायां दह्यमानायां
न मे दह्यते किंचन ॥

१४—वे हम लोग, जिनके पास अपना कुछ भी नहीं है, सुख पूर्वक रहते और सुख से जीते हैं। मिथिला जल रही है उसमें मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।

१५—चत्तपुत्तकलत्तस्स
निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि
अप्पियं पि न विज्जए ॥

त्यक्त-पुत्र-कलत्रस्य
निर्व्यापारस्य भिक्षोः ।
प्रियं न विद्यते किंचित्
अप्रियमपि न विद्यते ॥

१५—पुत्र और स्त्रियों से मुक्त तथा व्यवसाय से निवृत्त भिक्षु के लिए कोई वस्तु प्रिय भी नहीं होती और अप्रिय भी नहीं होती।

१६—बहुं खु मुणिणो भद्दं
अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स
एगन्तमणुपस्सओ ॥

बहु खलु मुनेर्भद्रं
अनगारस्य भिक्षोः ।
सर्वतो विप्रमुक्तस्य
एकान्तमनुपश्यतः ॥

१६—सब बन्धनों से मुक्त, 'मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं'—इस प्रकार एकत्व-दर्शी, गृह-त्यागी एवं तपस्वी भिक्षु को विपुल सुख होता है।

१७—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

१७—इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

१८—पागारं कारइत्ताणं
गोपुरट्टालगाणि च ।
उस्सूलगसयग्घीओ[1]
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

प्राकारं कारयित्वा
गोपुराट्टालकानि च ।
अवचूलक-शतघ्नी
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

१८—हे क्षत्रिय ! अभी तुम परकोटा, बुर्ज वाले नगर-द्वार, खाई और शतघ्नी (एक वार में सौ व्यक्तियों का संहार करने वाला यंत्र) बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।

१९—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षि:
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

१९—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१ उच्छूलग० (स)।

२०—सद्धं नगरं[1] किच्चा
तवसंवरमग्गलं ।
'खन्ति निउणपागारं
तिगुत्तं दुप्पधंसयं'[2] ॥

श्रद्धां नगरं कृत्वा
तप संवरमर्गलाम् ।
क्षान्ति निपुण-प्राकारं
त्रिगुप्तं दुष्प्रधर्षकम् ॥

२०—श्रद्धा को नगर, तप और संयम को अर्गला, क्षमा को (बुर्ज, खाई और शतघ्नी स्थानीय) मन, वचन और काय-गुप्ति से सुरक्षित, दुर्जेय और सुरक्षा-निपुण परकोटा बना,

२१—धणुं परक्कमं किच्चा
जीवं च इरियं सया ।
धिइं च केयणं किच्चा
सच्चेण पलिमन्थए[3] ॥

धनुः पराक्रमं कृत्वा
जीवांचेर्यां सदा ।
धृतिं च केतनं कृत्वा
सत्येन परिमथनीयात् ॥

२१—पराक्रम को धनुष, ईर्या-समिति को उसकी डोर और धृति को उसकी मूठ बना, उसे सत्य से बाँधे।

२२—तवनारायजुत्तेण
भेत्तूणं कम्मकचुयं ।
मुणी विगयसंगामो
भवाओ परिमुच्चए ॥

तपो-नाराच-युक्तेन
भित्वा कर्म-कचुकम् ।
मुनिर्विगत-सङ्ग्रामः
भवात्परिमुच्यते ॥

२२—तप-रूपी लोह-वाण से युक्त धनुष के द्वारा कर्म-रूपी कवच को भेद डाले। इस प्रकार संग्राम का अन्त कर मुनि संसार से मुक्त हो जाता है।

२३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षिं
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

२३—इस अर्थ को सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२४—पासाए[4] कारइत्ताणं
वद्धमाणगिहाणि य ।
वालग्गपोइयाओ य
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

प्रासादान्कारयित्वा
वर्धमान-गृहाणि च ।
'वालग्गपोइयाओ' च
ततोगच्छ क्षत्रिय ! ॥

२४—हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रासाद, वर्धमान-गृह और चन्द्रशाला बनवाओ, फिर मुनि बन जाना।

२५—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

२५—यह अर्थ सुनकर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

---

१ नगरीं (वृ०)।
२. खन्ति निउण पागार तिगुत्ति दुप्पधसय (वृ० पा०)।
३. पलिकथए (चू०)।
४ पासाय (चू०)।

२६—ससय खलु सो कुणई
जो मग्गे कुणई घर।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा
तत्थ कुव्वेज्ज सासय ॥

सशय खलु स कुरुते
यो मार्गे कुरुते गृहम्।
यत्रैव गन्तुमिच्छेत्
तत्र कुर्वीत स्वाश्रयम् ॥

२६—वह सदिग्ध ही बना रहता है जो मार्ग में घर बनाता है। (न जाने कब उसे छोड कर जाना पडे)। अपना घर वही बनाना चाहिए जहाँ जाने की इच्छा हो—जहाँ जाने पर फिर कहीं जाना न हो।

२७—एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमव्ववी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदित.।
ततो नमिं राजर्षि
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

२७—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

२८—आमोसे लोमहारे य
गठिभेए य तक्करे।
नगरस्स खेम काऊण
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

आमोषान् लोम-हारान्
ग्रन्थि-भेदांश्च तस्करान्।
नगरस्य क्षेम कृत्वा
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

२८—हे क्षत्रिय ! अभी तुम बटमारो, प्राण हरण करने वाले लुटेरो, गिरहकटो और चोरो का निग्रह कर नगर में शान्ति स्थापित करो, फिर मुनि बन जाना।

२९—एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमव्ववी ॥

एतमर्थ निशम्य
हेतु-कारण-चोदित।
ततो नमी राजर्षि
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

२९ – यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३०—असइ तु मणुस्सेहिं
मिच्छा दण्डो पजुजई।
अकारिणोऽत्थ वज्झन्ति
मुच्चई कारओ जणो ॥

असकृत्तु मनुष्यै
मिथ्या-दण्ड. प्रयुज्यते।
अकारिणोऽत्रबध्यन्ते
मुच्यते कारको जन. ॥

३०—मनुष्यों द्वारा अनेक बार मिथ्या-दण्ड का प्रयोग किया जाता है। अपराध नही करने वाले यहाँ पकडे जाते है और अपराध करने वाला छूट जाता है।

३१—एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमव्ववी ॥

एतमर्थ निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः।
ततो नमिं राजर्षि
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

३१—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३२—जे केइ पत्थिवा तुब्भ[1]
नानमन्ति नराहिवा !।
वसे ते ठावइत्ताण
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

ये केचित् पार्थिवास्तुभ्यं
नानमन्ति नराधिप !।
वशे तान्स्थापयित्वा
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

३२—हे नराधिप क्षत्रिय ! जो कई राजा तुम्हारे सामने नही झुकते उन्हें वश में करो, फिर मुनि बन जाना।

१. तुज्झ (वृ० पा०)।

३३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदित ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

३३—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

३४—जो सहस्सं सहस्साणं
संगामे दुज्जए जिणे ।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं
एस से परमो जओ ॥

य सहस्रं सहस्राणां
सङ्ग्रामे दुर्जये जयेत् ।
एकं जयेदात्मानं
एष तस्य परमो जयः ॥

३४—जो पुरुष दुर्जेय संग्राम में दस लाख योद्धाओं को जीतता है, उसकी अपेक्षा वह एक अपने आपको जीतता है, यह उसकी परम विजय है ।

३५—अप्पाणमेव जुज्झाहि
किं ते जुज्झेण बज्झओ ? ।
अप्पाणमेव[1] अप्पाणं
जइत्ता सुहमेहए ॥

आत्मनैव युद्ध्यस्व
किं ते युद्धेन बाह्यत. ।
आत्मनैव आत्मानं
जित्वा सुखमेधते ॥

३५—आत्मा के साथ ही युद्ध कर, वाहरी युद्ध से तुझे क्या लाभ ? आत्मा को आत्मा के द्वारा ही जीत कर, मनुष्य सुख पाता है ।

३६—पंचिन्दियाणि कोहं
माणं मायं तहेव लोहं च ।
दुज्जयं चेव अप्पाणं
सव्वं अप्पे जिए जियं ॥

पञ्चेन्द्रियाणि क्रोधः
मानो माया तथैव लोभश्च ।
दुर्जयश्चैव आत्मा
सर्वमात्मनि जितेजितम् ॥

३६—पाँच इन्द्रियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ और मन ये दुर्जय है । एक आत्मा को जीत लेने पर ये सब जीत लिए जाते है ।

३७—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षि
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

३७—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

३८—जइत्ता विउले जन्ने
भोइत्ता समणमाहणे ।
दच्चा भोच्चा य जट्ठा य
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

याजयित्वा विपुलान् यज्ञान्
भोजयित्वा श्रमण-ब्राह्मणान् ।
दत्त्वा भुक्त्वा च इष्ट्वा च
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

३८—हे क्षत्रिय ! अभी तुम प्रचुर यज्ञ करो, श्रमण-ब्राह्मणों को भोजन कराओ, दान दो, भोग भोगो और यज्ञ करो, फिर मुनि वन जाना ।

३९—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदित ।
ततो नमी राजर्षिः
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

३९—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

---

१. अप्पणा चेव (अ) ।

४०—जो सहस्स सहस्साण
मासे मासे गव दए ।
तस्सावि सजमो सेओ
अदिन्तस्स वि किंचण ॥

यः सहस्र सहस्राणा
मासे मासे गवा दद्यात् ।
तस्यापि सयमः श्रेयान्
अददतोऽपि किंचन ॥

४०—जो मनुष्य प्रतिमास दस लाख गायों का दान देता है उसके लिए भी सयम ही श्रेय है, भले फिर वह कुछ भी न दे।

४१—एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदित. ।
ततो नमिं राजर्षि
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

४१—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण मे प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

४२—घोरासम चइत्ताण[1]
अन्न पत्थेसि आसमं ।
इहेव पोसहरओ
भवाहि मणुयाहिवा ! ॥

घोराश्रम त्यक्त्वा
अन्य प्रार्थयसे आश्रमम् ।
इहैव पौषध-रतः
भव मनुजाधिप ! ॥

४२—हे मनुजाधिप ! तुम घोराश्रम (गार्हस्थ्य) को छोड कर दूसरे आश्रम (सन्यास) की इच्छा करते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रह कर पौषध में रत होओ—अणुव्रत, तप आदि का पालन करो।

४३—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमी राजर्षि
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

४३—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४४—मासे मासे तु जो बालो
कुसग्गेण तु[2] भुजए ।
न सो सुयक्खायधम्मस्स
कल अग्घइ सोलसिं ॥

मासे मासे तु यो बालः
कुशाग्रेण तु भुङ्क्ते ।
न स स्वाख्यात-धर्मणः
कलामर्हति षोडशीम् ॥

४४—कोई बाल (अविवेकी) मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश की नोक पर टिके उतना-सा आहार करे तो भी वह सु-आख्यात धर्म (सम्यक्-चारित्र सम्पन्न मुनि) की सोलहवी कला को भी प्राप्त नही होता।

४५—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः ।
ततो नमिं राजर्षि
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

४५—इस अर्थ को सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

---

१ जहित्ताण (वृ० पा०)।
२. व (अ)।

४६—हिरण्ण सुवण्ण मणिमुत्तं
कस दूस 'च वाहण'[1]।
कोस वड्ढावइत्ताणं
तओ गच्छसि खत्तिया ! ॥

हिरण्यं सुवर्ण मणि-मुक्तां
कास्यं दूष्य च वाहनम्।
कोशं वर्धयित्वा
ततो गच्छ क्षत्रिय ! ॥

४६—हे क्षत्रिय ! अभी तुम चाँदी, सोना, मणि, मोती, काँसे के बर्तन, वस्त्र, वाहन और भण्डार की वृद्धि करो, फिर मुनि वन जाना।

४७—एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्द इणमब्बवी ॥

एतमर्थ निशम्य
हेतु-कारण-चोदितः।
ततो नमी राजर्षि.
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

४७—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

४८—सुवण्णरुप्पस्स उ[2] पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहिं[3] किंचि
इच्छा उ आगाससमा अणन्तिया॥

सुवर्ण-रूप्यस्य च पर्वता भवेयुः
स्यात् खलु कैलास-समा असख्यकाः।
नरस्य लुब्धस्य न तैः किंचित्
इच्छा खलु आकाश-समा अनन्तिका॥

४८—कदाचित् सोने और चाँदी के कैलास के समान असख्य पर्वत हो जाएँ, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नही होता, क्योकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है।

४९—पुढवी साली जवा चेव
हिरण्ण पसुभिस्सह।
पडिपुण्ण[4] नालमेगस्स
इइ विज्जा तव चरे॥

पृथिवी शालिर्यवाश्चैव
हिरण्य पशुभिः सह।
प्रतिपूर्णं नालमेकस्मै
इति विदित्वा तपश्चरेत् ॥

४९—पृथ्वी, चावल, जौ, सोना और पशु—ये सर्व एक की इच्छापूर्ति के लिए पर्याप्त नही है, यह जान कर तप का आचरण करे।

५०—एयमट्ठ निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमिं रायरिसिं
देविन्दो इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदित ।
ततो नमिं राजर्षि
देवेन्द्र इदमब्रवीत् ॥

५०—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से इस प्रकार कहा—

५१—अच्छेरगमब्भुदए
भोए चयसि[5] पत्थिवा ![6]।
असन्ते कामे पत्थेसि
सकप्पेण विहन्नसि ॥

आश्चर्यमभ्युदये
भोगास्त्यजसि पार्थिव !।
असतः कामान्प्रार्थयसे
सकल्पेन विहन्यसे ॥

५१—हे पार्थिव ! आश्चर्य है कि तुम इस अभ्युदय-काल में सहज प्राप्त भोगों को त्याग रहे हो और अप्राप्त काम-भोगो की इच्छा कर रहे हो—इस प्रकार तुम अपने सकल्प से ही प्रताडित हो रहे हो।

---

१. सवाहण (वृ० पा०, चू०)।
२. य (अ)।
३. तेण (वृ० पा०)।
४. सव्वत (वृ० पा०)।
५ जहासि (वृ०), चयसि (वृ० पा०)।
६ खत्तिया ! (वृ० पा०)।

५२—एयमट्ठं निसामित्ता
हेऊकारणचोइओ ।
तओ नमी रायरिसी
देविन्दं इणमब्बवी ॥

एतमर्थं निशम्य
हेतु-कारण-चोदित ।
ततो नमी राजर्षि
देवेन्द्रमिदमब्रवीत् ॥

५२—यह अर्थ सुन कर हेतु और कारण से प्रेरित हुए नमि राजर्षि ने देवेन्द्र से इस प्रकार कहा—

५३—सल्लं कामा विसं कामा
कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा
अकामा जन्ति दोग्गइं ॥

शल्य कामा विष कामा
कामा आशीविषोपमाः ।
कामान्प्रार्थयमाना
अकामा यान्ति दुर्गतिम् ॥

५३—काम-भोग शल्य है, विष है और आशीविष सर्प के तुल्य है । काम-भोग की इच्छा करने वाले, उनका सेवन न करते हुए भी दुर्गति को प्राप्त होते है ।

५४—अहे वयइ कोहेणं
माणेणं अहमा गई ।
माया गईपडिग्घाओ
लोभाओ दुहओ भयं ॥

अधो व्रजति क्रोधेन,
मानेनाधमा गति ।
मायया गति-प्रतिघातः
लोभाद् द्विधा भयम् ॥

५४—मनुष्य क्रोध से अधोगति में जाता है । मान से अधम गति होती है । माया से सुगति का विनाश होता है । लोभ से दोनो प्रकार का—ऐहिक और पारलौकिक—भय होता है ।

५५—अवउज्झिऊण माहणरूवं
विउव्विऊण इन्दत्तं ।
वन्दइ अभित्थुणन्तो
इमाहि महुराहिं वग्गूहिं ॥

अपोज्झ्य ब्राह्मण-रूपं
विकृत्येन्द्रत्वम् ।
वन्दतेऽभिष्टुवन्
आभिर्मधुराभिर्वाग्भिः ॥

५५—देवेन्द्र ने ब्राह्मण का रूप छोड, इन्द्र रूप में प्रकट हो नमि राजर्षि की वन्दना की और इन मधुर शब्दो में स्तुति करने लगा ।

५६—अहो ! ते निज्जिओ कोहो
अहो ! ते माणो पराजिओ ।
अहो ! ते निरक्किया माया
अहो ! ते लोभो वसीकओ ॥

अहो ! त्वया निर्जितः क्रोधः
अहो ! त्वया मानः पराजित ।
अहो ! त्वया निराकृता माया
अहो ! त्वया लोभो वशीकृत ॥

५६—हे राजर्षि ! आश्चर्य है तुमने क्रोध को जीता है ! आश्चर्य है तुमने मान को पराजित किया है ! आश्चर्य है तुमने माया को दूर किया है ! आश्चर्य है तुमने लोभ को वश में किया है !

५७—अहो ! ते अज्जवं साहु
अहो ! ते साहु मद्दवं ।
अहो ! ते उत्तमा खन्ती
अहो ! ते मुत्ति उत्तमा ॥

अहो ! ते आर्जवं साधु
अहो ! ते साधु मार्दवम् ।
अहो ! ते उत्तमा क्षान्तिः
अहो ! ते मुक्तिरुत्तमा ॥

५७—अहो ! उत्तम है तुम्हारा आर्जव ! अहो ! उत्तम है तुम्हारा मार्दव ! अहो ! उत्तम है तुम्हारी क्षमा ! अहो ! उत्तम है तुम्हारी निर्लोभता !

५८—इह सि उत्तमो भन्ते !
पेच्चा होहिसि उत्तमो ।
लोगुत्तमुत्तम[1] ठाणं
सिद्धिं गच्छसि नीरओ ॥

इहास्युत्तमो भदन्त !
प्रेत्य भविष्यस्युत्तम ।
लोकोत्तमोत्तम स्थानं
सिद्धिं गच्छसि नीरजाः ॥

५८—भगवन् ! तुम इस लोक में भी उत्तम हो और परलोक में भी उत्तम होओगे। तुम कर्म-रज से मुक्त होकर लोक के सर्वोत्तम स्थान (मोक्ष) को प्राप्त करोगे।

५९—एव अभित्थुणन्तो
रायरिसिं उत्तमाए सद्धाए ।
पयाहिणं[2] करेन्तो
पुणो पुणो वन्दई सक्को ॥

एवमभिष्टुवन्
राजर्षिमुत्तमया श्रद्धया ।
प्रदक्षिणा कुर्वन्
पुन पुनर्वन्दते शक्रः ॥

५९—इस प्रकार इन्द्र ने उत्तम श्रद्धा से राजर्षि की स्तुति की और प्रदक्षिणा करते हुए बार-बार वन्दना की।

६०—तो[3] वन्दिऊण पाए
चक्कंकुसलक्खणे मुणिवरस्स ।
आगासेणुप्पइओ
ललियचवलकुडलतिरीडी ॥

ततो वन्दित्वा पादौ
चक्रांकुश-लक्षणौ मुनिवरस्य ।
आकाशेनोत्पतितः
ललित-चपल-कुण्डल-किरीटी ॥

६०—इसके पश्चात् मुनिवर नमि के चक्र और अकुश से चिन्हित चरणो में वन्दना कर ललित और चपल कुण्डल एव मुकुट को धारण करने वाला इन्द्र आकाश मार्ग से चला गया।

६१—नमी नमेइ अप्पाण
सक्ख[4] सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेह वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥

नमिर्नमयत्यात्मान
साक्षाच्छक्रेण चोदित. ।
त्यक्त्वा गृहं वैदेही
श्रामण्ये पर्युपस्थित' ॥

६१—नमि राजर्षि ने अपनी आत्मा को नमा लिया—सयम के प्रति समर्पित कर दिया। वे साक्षात् देवेन्द्र के द्वारा प्रेरित होने पर भी धर्म से विचलित नही हुए और गृह और वैदेही (मिथिला) को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हो गये।

६२—एव करेन्ति सबुद्धा[5]
पडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा से नमी रायरिसि ॥
—त्ति बेमि ।

एव कुर्वन्ति सबुद्धा
पण्डिता प्रविचक्षणा. ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः
यथा स नमी राजर्षिः ॥
इति ब्रवीमि ।

६२—सबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष इसी प्रकार करते है—वे भोगो से निवृत्त होते है जैसे कि नमि राजर्षि हुए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१ लोगुत्तम मुत्तम (व० पा०)।
२ पायाहिण (वृ०)।
३ स (वृ० पा०)।
४ सक्क (वृ०)।
५ सपन्ना (चू०)।

दसमं अज्झयणं :
दुमपत्तयं

दशम अध्ययन :
द्रुम-पत्रक

आमुख

इस अध्ययन का नाम आद्य-पद (आदान-पद) 'द्रुम-पत्तए' के आधार पर 'द्रुम-पत्रक' रखा गया है ।[1]

कई कारणों से गौतम गणधर के मन में विचिकित्सा हुई । भगवान् महावीर ने उसका निवारण करने के लिए इस अध्ययन का प्रतिपादन किया ।

उस काल और उस समय पृष्ठचम्पा नाम की नगरी थी । वहाँ शाल नाम का राजा था और युवराज का नाम था महाशाल । उसके यशस्वती नाम की वहिन थी । उसके पति का नाम पिठर था । उसके एक पुत्र हुआ । उसका नाम गागली रखा गया । एक वार भगवान् महावीर राजगृह से विहार कर पृष्ठचम्पा पधारे । सुभूमि-भाग उद्यान में ठहरे । राजा शाल भगवान् की वन्दना करने गया । भगवान् से धर्म सुना और विरक्त हो गया । उसने भगवान् से प्रार्थना की—"भन्ते । मै महाशाल का राज्याभिषेक कर दीक्षित होने के लिए अभी वापस आ रहा हूँ ।" वह नगर मे गया । महाशाल से सारी वात कही । उसने भी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की । वह बोला—"मैं आपके साथ ही प्रव्रजित होऊँगा ।" राजा ने अपने भानजे गागली को काम्पिल्यपुर से वुलाया और उसे राज्य का भार सौंप दिया । गागली अव राजा हो गया । उसने अपने माता-पिता को भी वहीं वुला लिया । इधर शाल और महाशाल भगवान् के पास दीक्षित हो गए । यशस्वती भी श्रमणोपासिका हुई । उन दोनों श्रमणों ने ग्यारह अगों का अध्ययन किया ।

भगवान् महावीर पृष्ठचम्पा से विहार कर राजगृह गए । वहाँ से विहार कर चम्पा पधारे । शाल और महाशाल भगवान् के पास आए और प्रार्थना की—"यदि आपकी अनुज्ञा हो तो हम पृष्ठचम्पा जाना चाहते है । सम्भव है किसी को प्रतिवोध मिले और कोई सम्यग्दर्शी बने ।" भगवान् ने अनुज्ञा दी और गौतम के साथ उन्हें वहाँ भेजा । वे पृष्ठचम्पा गए । वहाँ के राजा गागली और उसके माता-पिता को दीक्षित कर वे पुन भगवान् महावीर के पास आ रहे थे । मार्ग मे चलते-चलते मुनि शाल और महाशाल के अध्यवसायों की पवित्रता वढी और वे केवली हो गए । गागली और उसके माता-पिता—तीनों को केवलज्ञान हुआ । सभी भगवान् के पास पहुँचे । गौतम ने भगवान् की वन्दना की और उन सबको वन्दना करने के लिए कहा । भगवान् ने गौतम को सम्बोधित कर कहा—"गौतम । केवलियों की आशातना मत करो ।" गौतम ने उनसे क्षमा-याचना की, पर मन शकाओं से भर गया । उन्होंने सोचा—"मै सिद्ध नहीं होऊँगा ।"

एक वार गौतम अष्टापद पर्वत पर गये । वहाँ पहले से ही तीन तापस अपने-अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों के परिवार से तप कर रहे थे । उनका नाम था कौडिन्य, दत्त और शैवाल ।

दत्त वेले-वेले की तपस्या करता । वह नीचे पड़े पीले पत्ते खा कर रहता था । वह अष्टापद की दूसरी मेखला तक ही चढ पाया ।

कौडिन्य उपवास-उपवास की तपस्या करता और पारण मे मूल, कन्द आदि सचित आहार करता था । वह अष्टापद पर्वत पर चढा किन्तु एक मेखला से आगे नहीं जा सका ।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा २८३

दुमपत्तेणोवम्म अहाठिईए उवक्कमेण च ।
इत्थ कय आइमी तो त दुमपत्तमज्झयण ॥

शैवाल तेले-तेले की तपस्या करता था। वह सूखी शैवाल (सेवार) खाता था। वह अष्टापद की तीसरी मेखला तक ही चढ सका।

गौतम आए। तापस उन्हें देख परस्पर कहने लगे—"हम महातपस्वी भी ऊपर नही जा सके, तो यह कैसे जाएगा ?" गौतम ने जघाचरण-लब्धि का प्रयोग किया और मकडी के जाले का सहारा ले पर्वत पर चढ गये। तापसो ने आश्चर्य भरी आँखो से यह देखा और वे अवाक् रह गए। उन्होने मन ही मन यह निश्चय कर लिया कि ज्योंही मुनि नीचे उतरेंगे, हम उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लेंगे। गौतम ने रात्रिवास पर्वत पर ही किया। जब सुबह वे नीचे उतरे, तब तापसों ने उनका रास्ता रोकते हुए कहा—"हम आपके शिष्य है और आप हमारे आचार्य"। गौतम ने कहा—"तुम्हारे और हमारे आचार्य त्रैलोक्य गुरु भगवान् महावीर है।" तापसो ने साश्चर्य पूछा—"तो क्या आपके भी आचार्य है ?" गौतम ने भगवान् के गुणगान किए और सभी तापसो को प्रव्रजित कर भगवान् की दिशा मे चल पडे। मार्ग मे भिक्षा-वेला के समय भोजन करते-करते शैवाल तथा उसके सभी शिष्यों को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। दत्त तथा उसके शिष्यो को छत्र आदि अतिशय देख कर केवलज्ञान हुआ। कौडिन्य तथा उसके शिष्यो को भगवान् महावीर को देखते ही केवलज्ञान हो गया। गौतम इस स्थिति से अनभिज्ञ थे। सभी भगवान् के पास आए। गौतम ने वदना की, स्तुति की। वे सभी तापस मुनि केवली-परिषद् मे चले गए। गौतम ने उन्हे भगवान् की वन्दना करने के लिए कहा। भगवान् ने कहा—"गौतम ! केवलियो की आशातना मत करो।" गौतम ने 'मिच्छामि दुक्कड' लिया।

गौतम का धैर्य टूट गया। भगवान् ने उनके मन की बात जान ली। उन्होने कहा—"गौतम ! देवताओं का वचन प्रमाण है या जिनवर का ?"

गौतम ने कहा—"भगवन् ! जिनवर का वचन प्रमाण है।"

भगवान् ने कहा—"गौतम ! तू मुझ से अत्यन्त निकट है, चिर-ससृष्ट है। तू और मै—दोनो ही एक ही अवस्था को प्राप्त होगे। दोनों में कुछ भी पृथकता नही रहेगी।" भगवान् ने गौतम को सम्बोधित कर 'द्रुमपुत्तए' (द्रुम-पत्रक) अध्ययन कहा।

इस अध्ययन के प्रत्येक श्लोक के अन्त मे 'समय गोयम ! मा पमायए' है। निर्युक्ति (गा० ३०६) मे 'तण्णिस्साए भगव सीसाण देइ अनुसट्ठि'—यह पद है। इसका तात्पर्य है कि भगवान् महावीर गौतम को सम्बोधित कर उनकी निश्राय मे, अन्य सभी शिष्यो को अनुशासन-शिक्षा देते है।

दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा ७८ मे 'निश्रावचन' का उदाहरण यही अध्ययन है।[1] इसकी चर्चा आवश्यक निर्युक्ति मे भी मिलती है।

इस अध्ययन मे जीवन की अस्थिरता, मनुष्य-भव की दुर्लभता, शरीर तथा इन्द्रिय बल की उत्तरोत्तर क्षीणता, स्नेहापनयन की प्रक्रिया, वान्त भोगो को पुन स्वीकार न करने की शिक्षा आदि-आदि का सुन्दर चित्रण है।

१—दशवैकालिक हारिभद्रीय वृत्ति, पत्र ५१

पुच्छाए कोणिओ खलु निस्सावयणमि गोयमस्सामी।

नाहियवाइ पुच्छे जीवत्थित्तं खणिच्छत ॥७८॥

दसमं अज्झयणं : दशम अध्ययन

दुमपत्तयं : द्रुम-पत्रकम्

मूल	सस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—दुमपत्तए पण्डुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए । एव मणुयाण जीविय समय गोयम ! मा पमायए ॥	द्रुम-पत्रक पाण्डुरक यथा निपतति रात्रि-गणानामत्यये । एव मनुजाना जोवित समय गौतम ! मा प्रमादीः ॥	१—रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिम प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।
२—कुसग्गे जह ओसविन्दुए थोव चिट्ठइ लम्बमाणए ॥ एव मणुयाण जीविय समय गोयम ! मा पमायए ॥	कुशाग्रे यथा ओसविन्दुकः स्तोक तिष्ठतिलम्बमानक । एव मनुजाना जीवित समय गौतम ! मा प्रमादी. ॥	२—कुश की नोक पर लटकते हुए ओस-विन्दु की अवधि जैसे थोडी होती है वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।
३—'इइ इत्तरियम्मि आउए जीवियए वहुपच्चवायए'[1] । विहुणाहि रय पुरे कड समय गोयम ! मा पमायए ॥	इतीत्वरिके आयुषि जीवितके बहु-प्रत्यपायके । विधुनीहि रजः पुराकृत समय गौतम ! मा प्रमादीः ॥	३—यह आयुष्य क्षण-भगुर है, यह जीवन विघ्नों से भरा हुआ है, इसलिए हे गौतम ! तू पूर्व-सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर (दूर कर) और क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।
४—दुलहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिण । गाढा य विवाग कम्मुणो समय गोयम ! मा पमायए ॥	दुर्लभः खलु मानुषो भव चिरकालेनापि सर्वप्राणिनाम् । गाढाश्च विपाका कर्मण. समय गौतम ! मा प्रमादीः ॥	४—सब प्राणियों को चिरकाल तक भी मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है । कर्म के विपाक तीव्र होते हैं, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।
५—पुढविक्कायमइगओ उक्कोस जीवो उ सवसे । काल सखाईय समय गोयम ! मा पमायए ॥	पृथिवी-कायमतिगत· उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत् । काल सख्यातीत समय गौतम ! मा प्रमादीः ॥	५—पृथ्वी-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

१. एव मणुयाण जीविए
एत्तिरिए बहुपच्चवायए । (वृ० पा०) ।

६—आउक्कायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे ॥
काल सखाईय
समय गोयम! मा पमायए ॥

अप्-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
कालं संख्यातीतं
समय गौतम! मा प्रमादी ॥

६—अप्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

७—तेउक्कायमइगओ
उक्कोसं जीवो उ सवसे।
काल सखाईयं
समय गोयम! मा पमायए ॥

तेजस्कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्।
काल सख्यातीतं
समय गौतम! मा प्रमादीः ॥

७—तेजस्-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असख्य काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८—वाउक्कायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
कालं सखाईयं
समय गोयम! मा पमायए ॥

वायु-कायमतिगत
उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
काल सख्यातीतं
समय गौतम! मा प्रमादी ॥

८—वायु-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

९—वणस्सइकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
कालमणन्तदुरन्तं
समय गोयम! मा पमायए ॥

वनस्पति-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
कालमनन्तं दुरन्तं
समय गौतम! मा प्रमादीः ॥

९—वनस्पति-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक दुरन्त अनन्त-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भी प्रमाद मत कर।

१०—वेइन्दियकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
काल सखिज्जसन्निय
समय गोयम! मा पमायए ॥

द्वीन्द्रिय-कायमतिगत·
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्।
काल सख्येय-सज्ञितं
समय गौतम! मा प्रमादीः ॥

१०—द्वीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक असख्य-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

११—तेइन्दियकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
काल सखिज्जसन्नियं
समय गोयम! मा पमायए ॥

त्रीन्द्रिय-कायमतिगगत
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्।
काल संख्येय-संज्ञित
समय गौतम! मा प्रमादाः ॥

११—त्रीन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक सख्येय-काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१२—चउरिन्दियकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
काल सखिज्जसन्नियं
समय गोयम! मा पमायए ॥

चतुरिन्द्रिय-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु संवसेत्
कालं सख्येय-सज्ञितं
समय गौतम! मा प्रमादीः ॥

१२—चतुरिन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक सख्येय काल तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१३—पचिन्दियकायमइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
सत्तट्ठभवग्गहणे
समयं गोयम! मा पमायए॥

पञ्चेन्द्रिय-कायमतिगतः
उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
सप्ताष्ट भवग्रहणानि
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

१३—पचेन्द्रिय-काय में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक सात आठ जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१४—देवे नेरइए य अइगओ
उक्कोस जीवो उ सवसे।
इक्किक्कभवग्गहणे
समय गोयम! मा पमायए॥

देवान्नैरयिकाश्चातिगत
उत्कर्ष जीवस्तु सवसेत्।
एकैकभवग्रहण
समय गौतम! मा प्रमादी॥

१४—देव और नरक-योनि में उत्पन्न हुआ जीव अधिक से अधिक एक-एक जन्म-ग्रहण तक वहाँ रह जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१५—एव भवससारे
ससरइ सुहासुहेहि कम्मेहिं।
जीवो पमायवहुलो
समय गोयम! मा पमायए॥

एव भव ससारे
ससरति शुभाशुभैः कर्मभिः।
जीव प्रमाद-वहुल.
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

१५—इस प्रकार प्रमाद-वहुल जीव शुभ-अशुभ कर्मो द्वारा जन्म-मृत्युमय ससार में परिभ्रमण करता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१६—लद्धूण वि माणुसत्तणं
आरिअत्त पुणरावि दुल्लह।
वहवे दसुया मिलेक्खुया
समय गोयम! मा पमायए॥

लब्ध्वापि मानुषत्वं
आर्यत्व पुनरपिदुर्लभम्।
वहवो दस्यवो म्लेच्छा
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

१६—मनुष्य-जन्म दुर्लभ है, उसके मिलने पर भी आर्य देश में जन्म पाना और भी दुर्लभ है। वहुत सारे लोग मनुष्य होकर भी दस्यु और म्लेच्छ होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१७—लद्धूण वि आरियत्तण
अहीणपचिन्दियया हु दुल्हा।
विगलिन्दियया हु दीसई
समय गोयम! मा पमायए॥

लब्ध्वाप्यार्यत्व
अहीन-पञ्चेन्द्रियता खलु दुर्लभा।
विकलेन्द्रियता खलु दृश्यते
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

१७—आर्य देश में जन्म मिलने पर भी पाँचो इन्द्रियो से पूर्ण स्वस्थ होना दुर्लभ है। वहुत सारे लोग इन्द्रियहीन दीख रहे हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१८—अहीणपचिन्दियत्तं पि से लहे
उत्तमधम्मसुई हु दुल्हा।
कुतित्थिनिसेवए[1] जणे
समय गोयम! मा पमायए॥

अहीन-पञ्चेन्द्रियत्वमपि स लभेत
उत्तम-धर्म-श्रुतिः खलु दुर्लभा।
कुतीर्थि-निषेवको जनो
समय गौतम! मा प्रमादी.॥

१८—पाँचो इन्द्रियाँ पूर्ण स्वस्थ होने पर भी उत्तम धर्म की श्रुति दुलभ है। वहुत सारे लोग कुतीर्थिको की सेवा करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

१९—लद्धूण वि उत्तम सुइ
सद्दहणा पुणरावि दुल्हा।
मिच्छत्तनिसेवए जणे
समय गोयम! मा पमायए॥

लब्ध्वाप्युत्तमा श्रुति
श्रद्धान पुनरपि दुर्लभम्।
मिथ्यात्व-निषेवको जनो
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

१९—उत्तम धर्म की श्रुति मिलने पर भी श्रद्धा होना और अधिक दुर्लभ है। वहुत सारे लोग मिथ्यात्व का सेवन करने वाले होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

---

[1] कुतित्थ (वृ० पा०, चू०)।

२०—धम्मं पि हु सद्दहन्तया
दुल्लहया[1] काएण फासया।
इह कामगुणेहि[2] मुच्छिया
समयं गोयम! मा पमायए॥

धर्ममपि खलु श्रद्दधतः
दुर्लभकाः कायेन स्पर्शकाः।
इह काम-गुणेषु मूर्च्छिताः
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२०—उत्तम धर्म में श्रद्धा होने पर भी उसका आचरण करने वाले दुर्लभ है। इस लोक में बहुत सारे लोग काम-गुणो में मूर्च्छित होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२१—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्छ्रोत्र-बलं च हीयते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२१—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और श्रोत्र का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२२—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तच्चक्षु-बलं च हीयते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२२—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और चक्षु का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२३—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तद्घ्राण-बलं च हीयते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२३—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और घ्राण का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२४—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से जिब्भबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तज्जिह्वा-बलं च हीयते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२४—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और जिह्वा का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२५—परिजूरइ ते सरीरयं
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से फासबले य हायई
समयं गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरकं
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् स्पर्श-बलं च हीयते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२५—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्श का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

---

१. दुलहा (उ)।
२. कामगुणेसु (उ, म, वृ०), कामगुणेहि (वृ० पा०)।

२६—परिजूरइ ते सरीरय
केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्ववले य हायई
समय गोयम! मा पमायए॥

परिजीर्यति ते शरीरक
केशाः पाण्डुरका भवन्ति ते।
तत् सर्व-बल च हीयते
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

२६—तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे है और सव प्रकार का पूर्ववर्ती वल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२७—अरई गण्डं विसूइया
आयका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धसइ ते सरीरय
समय गोयम! मा पमायए॥

अरतिर्गण्ड विसूचिका
आतङ्का विविधाः स्पृशन्ति ते।
विपतति विध्वस्यते ते शरीरकं
समय गौतम! मा प्रमादी॥

२७—पित्त-रोग, फोडा-फुन्सी, हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र-घाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२८—वोछिन्द सिणेहमप्पणो
कुमुयं सारइय व[1] पाणिय।
से सव्वसिणेहवज्जिए
समय गोयम! मा पमायए॥

व्युच्छिन्धि स्नेहमात्मनः
कुमुदं शारद-मिव पानीयम्।
तत्सर्वस्नेह-वर्जित
समय गौतम! मा प्रमादी॥

२८—जिस प्रकार शरद्-ऋतु का कुमुद (रक्त-कमल) जल में लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार तू अपने स्नेह का विच्छेद कर निर्लिप्त वन। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२९—चिच्चाण धण च भारिय
पव्वइओ हि सि अणगारिय।
मा वन्त पुणो वि आइए
समय गोयम! मा पमायए॥

त्यक्त्वा धन च भार्या
प्रव्रजितोह्यस्यनगारिताम्।
मा वान्त पुनरप्यापिव
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

२९—गाय आदि धन और पत्नी का त्याग कर तू अनगार-वृत्ति के लिए घर से निकला है। वमन किए हुए काम-भोगों को फिर से मत पी। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३०—अवउज्झिय मित्तवन्धव
विउल चेव धणोहसचय।
मा त विइय गवेसए
समय गोयम! मा पमायए॥

अपोज्झ्य मित्र-वान्धव
विपुल चैव धनौघ-सचयम्।
मा तद्द्वितीय गवेषय
समयं गौतम! मा प्रमादीः॥

३०—मित्र, वान्धव और विपुल धन-राशि को छोडकर फिर से उनकी गवेषणा मत कर। हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३१—न हु जिणे अज्ज दिस्सई
वहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
सपइ नेयाउए पहे
समयं गोयम! मा पमायए॥

न खलु जिनोऽद्य दृश्यते
वहुमतो दृश्यते मार्ग-देशिकः।
सम्प्रति नैर्यातृके पथि
समय गौतम! मा प्रमादीः॥

३१—"आज जिन नहीं दीख रहे है, जो मार्ग-दर्शक है वे एक मत नहीं है"—अगली पीढियो को इस कठिनाई का अनुभव होगा, किन्तु अभी मेरी उपस्थिति में तुझे पार ले जाने वाला (न्यायपूर्ण) पथ प्राप्त है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

---

१. च (अ, उ)।

३२—अवसोहिय कण्टगापहं
ओइण्णो सि पहं महालयं ।
गच्छसि मग्गं विसोहिया
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अवशोध्य कटक-पथं
अवतीर्णोऽसि पन्थानं महालयं ।
गच्छसि मार्गं विशोध्य
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३२—काँटों से भरे मार्ग को छोड़ कर तू विशाल-पथ पर चला आया है । दृढ़ निश्चय के साथ उसी मार्ग पर चल । हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

३३—अबले जह भारवाहए
मा मग्गे विसमे वगाहिया ।
पच्छा पच्छाणुतावए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अबलो यथा भार-वाहक
मा मार्गं विषममवगाह्य ।
पश्चात्पश्चादनुतापकः
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३३—बलहीन भार-वाहक की भाँति तू विषम मार्ग में मत चले जाना । विषम-मार्ग में जाने वाले को पछतावा होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

३४—तिण्णो हु सि अण्णवं महं
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ ।
अभितुर पारं गमित्तए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

तीर्णः खलु असि अर्णवं महान्तं
किं पुनस्तिष्ठसि तीरमागतः ।
अभित्वरस्व पारं गन्तुं
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३४—तू महान् समुद्र को तैर गया, अब तीर के निकट पहुँच कर क्यों खड़ा है ? उसके पार जाने के लिए जल्दी कर । हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

३५—अकलेवरसेणिमुस्सिया
सिद्धिं गोयम लोयं गच्छसि ।
खेमं च सिवं अणुत्तरं
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

अकलेवर-श्रेणिमुच्छ्रित्य
सिद्धिं गौतम ! लोकं गच्छसि ।
क्षेमं च शिवमनुत्तरं
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३५—हे गौतम ! तू क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उस सिद्धि-लोक को प्राप्त होगा, जो क्षेम, शिव और अनुत्तर है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

३६—बुद्धे परिनिव्वुडे चरे
गामगए नगरे व संजए ।
सन्तिमग्गं च बूहए
समयं गोयम ! मा पमायए ॥

बुद्धः परिनिर्वृतश्चरेः
ग्रामे गतो नगरे वा संयतः ।
शान्तिमार्गं बृंहयेः
समयं गौतम ! मा प्रमादीः ॥

३६—तू गाँव में या नगर में संयत, बुद्ध और उपशान्त होकर विचरण कर, शान्ति-मार्ग को बढ़ा । हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर ।

३७—बुद्धस्स निसम्म भासियं
सुकहियमट्ठपओवसोहियं ।
रागं दोसं च छिन्दिया
सिद्धिगइं गए गोयमे ॥
—त्ति बेमि ।

बुद्धस्य निशम्य भाषितं
सुकथितमर्थपदोपशोभितम् ।
रागं द्वेषं च छित्त्वा
सिद्धिगतिं गतो गौतमः ॥
इति ब्रवीमि ।

३७—अर्थ और पद से उपशोभित एवं सुकथित भगवान् की वाणी को सुन कर राग और द्वेष का छेदन कर गौतम सिद्धि-गति को प्राप्त हुए ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

इक्कारसमं अज्झयणं :

बहुस्सुयपुज्जा

एकादशम अध्ययन :

बहुश्रुत-पूजा

आमुख

इस अध्ययन में बहुश्रुत की भाव-पूजा का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'बहुस्सुयपुज्जा'—'बहुश्रुत-पूजा' रखा गया है। यहाँ बहुश्रुत का मुख्य अर्थ चतुर्दश-पूर्वी है। यह सारा प्रतिपादन उन्ही से सम्बन्धित है। उपलक्षण से शेष सभी बहुश्रुत मुनियों की पूजनीयता भी प्राप्त होती है[1]।

निशीथ-भाष्य-चूर्णि के अनुसार बहुश्रुत तीन प्रकार के होते है[2]—

१—जघन्य बहुश्रुत—जो निशीथ का ज्ञाता हो।

२—मध्यम बहुश्रुत—जो निशीथ और चौदह-पूर्वों का मध्यवर्ती ज्ञाता हो।

३—उत्कृष्ट बहुश्रुत—जो चतुर्दश-पूर्वी हो।

सूत्रकार ने बहुश्रुत को अनेक उपमाओं से उपमित किया है। सारी उपमाएँ बहुश्रुत की आन्तरिक शक्ति और तेजस्विता को प्रकट करती है—

१—बहुश्रुत कम्बोज के घोड़ों की तरह शील से श्रेष्ठ होता है।

२—बहुश्रुत दृढ पराक्रमी योद्धा की तरह अजेय होता है।

३—बहुश्रुत ६० वर्ष के बलवान हाथी की तरह अपराजेय होता है।

४—बहुश्रुत यूथाधिपति वृषभ की तरह अपने गण का प्रमुख होता है।

५—बहुश्रुत दुष्पराजेय सिंह की तरह अन्य तीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है।

६—बहुश्रुत वासुदेव की भाँति अबाधित पराक्रम वाला होता है।

७—बहुश्रुत चतुर्दश रत्नाधिपति चक्रवर्ती की भाँति चतुर्दश-पूर्वधर होता है।

८—बहुश्रुत देवाधिपति शक्र की भाँति संपदा का अधिपति होता है।

९—बहुश्रुत उगते हुए सूर्य की भाँति तप के तेज से प्रज्वलित होता है।

१०—बहुश्रुत पूर्णिमा के चन्द्रमा की भाँति सकल कलाओं से परिपूर्ण होता है।

११—बहुश्रुत धान से भरे कोठों की भाँति श्रुत से परिपूर्ण होता है।

१२—बहुश्रुत जम्बू वृक्ष की भाँति श्रेष्ठ होता है।

१३—बहुश्रुत सीता नदी की भाँति श्रेष्ठ होता है।

१४—बहुश्रुत मन्दर पर्वत की भाँति श्रेष्ठ होता है।

१५—बहुश्रुत नाना रत्नो से परिपूर्ण स्वयम्भूरमण समुद्र की भाँति अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३१७

ते किर चउदसपुव्वी, सव्वक्खरसन्निवाइणो निउणा।
जा तेसिं पूया खलु, सा भावे ताइ अहिगारो॥

२—निशीथ पीठिका भाष्य चूर्णि, पृष्ठ ४९५

बहुस्सुयं जस्स सो बहुस्सुतो, सो तिविहो—जहण्णो, मज्झिमो, उक्कोसो। जहण्णो जेणपकप्पज्झयण अधीत, उक्कोसो चोद्दस्स पुव्वधरो, तम्मज्झे मज्झिमो।

बहुश्रुतता का प्रमुख कारण है विनय । जो व्यक्ति विनीत होता है उसका श्रुत फलवान् होता है । जो विनीत नही होता उसका श्रुत फलवान् नही होता । स्तब्धता, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—ये पाँच शिक्षा के विघ्न है ।[1] इनकी तुलना योगमार्ग के नौ विघ्नो से होती है ।[2]

आठ लक्षण युक्त व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त होती है (श्लोक ४, ५)—

१—जो हास्य नही करता ।

२—जो इन्द्रिय और मन का दमन करता है ।

३—जो मर्म प्रकाशित नही करता ।

४—जो चरित्रवान् होता है ।

५—जो दु शील नही होता ।

६—जो रसों मे अतिगृद्ध नही होता ।

७—जो क्रोध नही करता ।

८—जो सत्य में रत रहता है ।

सूत्रकार ने अविनीत के १४ लक्षण और विनीत के १५ गुणो का प्रतिपादन कर अविनीत और विनीत की सुन्दर समीक्षा की है (श्लोक ६-१३) ।

इस अध्ययन में श्रुत-अध्ययन के दो कारण बताए हैं (श्लोक ३२)—

१—स्व की मुक्ति के लिए ।

२—पर को मुक्ति के लिए ।

दशवैकालिक मे श्रुत-अध्ययन के चार कारण दिए हैं—

१— मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

२—मै एकाग्र चित्त होऊँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

३—मै आत्मा को धर्म मे स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

४—मै धर्म मे स्थित होकर दूसरे को उसमे स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए ।

१—उत्तराध्ययन ११।३ .

अह पचहिं ठाणेहिं, जेहिं सिक्खा न लब्भई ।

थम्भा कोहा पमाएण, रोगेणाऽलस्सएण य ॥

२—पातजल योगदर्शन १।३०

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

३—दशवैकालिक ९।४ सू० ५

सुयं मे भविस्सइ त्ति अज्झाइयव्वं भवइ । एगग्गचित्तो भविस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ । अप्पाणं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ । ठिओ परं ठावइस्सामि त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ।

इक्कारसमं अज्झयणं : एकादश अध्ययन

बहुस्सुयपुज्जा : बहुश्रुत-पूजा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो। आयार पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे॥	संयोगाद् विप्रमुक्तस्य अनगारस्य भिक्षोः। आचार प्रादुष्करिष्यामि आनुपूर्व्या शृणुत मे॥	१—जो सयोग मे मुक्त है, जो अनगार है, जो भिक्षु है, उसका मैं क्रमश: आचार कहूँगा। मुझे सुनो।
२—जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे। अभिक्खण उल्लवई अविणीए अबहुस्सुए॥	यश्चापि भवति निर्विद्य स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः। अभीक्ष्णमुल्लपति अविनीतोऽवहुश्रुतः॥	२—जो विद्याहीन है, विद्यावान् होते हुए भी जो अभिमानी है, जो सरस आहार में लुब्ध है, जो अजितेन्द्रिय है, जो वार-वार असम्वद्ध वोलता है, जो अविनीत है, वह अवहुश्रुत कहलाता है।
३—अह पचहिं ठाणेहिं जेहिं सिक्खा न लब्भई। थम्भा कोहा पमाएण रोगेणाऽलस्सएण य॥	अथ पञ्चभिः स्थानै यैः शिक्षा न लभ्यते। स्तम्भात् क्रोधात् प्रमादेन रोगेणालस्येन च॥	३—मान, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य—इन पाँच स्थानो (हेतुओ) से शिक्षा प्राप्त नही होती।
४—अह अट्ठहिं ठाणेहिं सिक्खासीले त्ति वुच्चई। अहस्सिरे सया दन्ते न य मम्ममुदाहरे॥	अथाष्टभिः स्थानैः शिक्षा-शील इत्युच्यते। अहसिता सदा दान्त न च मर्म उदाहरेत्॥	४—आठ स्थानो (हेतुओ) से व्यक्ति को शिक्षा-शील कहा जाता है। (१) जो हास्य न करे, (२) जो सदा इन्द्रिय और मन का दमन करे, (३) जो मर्म-प्रकाशन न करे,
५—नासीले न विसीले न सिया अइलोलुए। अकोहणे सच्चरए सिक्खासीले त्ति वुच्चई॥	नाशीलो न विशीलः न स्यादतिलोलुप। अक्रोधनः सत्य-रतः शिक्षा-शील इत्युच्यते॥	५—(४) जो चरित्र से हीन न हो, (५) जिसका चरित्र दोपो से कलुपित न हो, (६) जो रसो में अति लोलुप न हो, (७) जो क्रोध न करे, और (८) जो सत्य में रत हो—उसे शिक्षा-शील कहा जाता है।

६—अह चउदसहिं ठाणेहिं
वट्टमाणे उ सजए।
अविणीए वुच्चई सो उ
निव्वाण च न गच्छइ ॥

अथ चतुर्दशसु स्थानेषु
वर्तमानस्तु सयत ।
अविनीत उच्यते स तु
निर्वाण च न गच्छति ॥

६—चौदह स्थानों (हेतुओ) में वर्तन करने वाला सयमी अविनीत कहा जाता है। वह निर्वाण को प्राप्त नही होता।

७—अभिक्खण कोही हवइ
पबन्ध च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ
सुय लद्धूण मज्जई ॥

अभीक्ष्णं क्रोधी भवति
प्रबन्धं च प्रकरोति।
मित्रीय्यमाणो वमति
श्रुत लब्ध्वा माद्यति ॥

७—(१) जो वार-वार क्रोध करता है, (२) जो क्रोध को टिका कर रखता है, (३) जो मित्रभाव रखने वाले को भी ठुकराता है, (४) जो श्रुत प्राप्त कर मद करता है,

८—अवि पावपरिक्खेवी
अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे भासइ पावग ॥

अपि पाप-परिक्षेपी
अपि मित्रेभ्यः कुप्यति।
सुप्रियस्यापि मित्रस्य
रहसि भाषते पापकम् ॥

८—(५) जो किसी की स्खलना होने पर उसका तिरस्कार करता है, (६) जो मित्रों पर कुपित होता है, (७) जो अत्यन्त प्रिय मित्र की भी एकान्त में वुराई करता है,

९—पइण्णवाई दुहिले
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असविभागी अचियत्ते
अविणीए त्ति वुच्चई ॥

प्रकीर्ण-वादी द्रोग्धा
स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः।
असविभागी 'अचियत्त'
अविनीत इत्युच्यते ॥

९—(८) जो असवद्ध-भाषी है, (९) जो द्रोही है, (१०) जो अभिमानी है, (११) जो सरम आहार आदि में लुब्ध है, (१२) जो अजितेन्द्रिय है, (१३) जो असविभागी है, और (१४) जो अप्रीतिकर है—वह अविनीत कहलाता है।

१०—अह पन्नरसहिं ठाणेहिं
सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावत्ती अचवले
अमाई अकुऊहले ॥

अथ पचदशभि स्थानः
सुविनीत इत्युच्यते।
नीचवर्त्यचपल·
अमाय्यकुतूहलः ॥

१०—पन्द्रह स्थानो (हेतुओं) से सुविनीत कहलाता है। (१) जो नम्र व्यवहार करता है, (२) जोच पल नहीं होता, (३) जो मायावी नही होता, (४) जो कुतूहल नही करता,

११—अप्प चाऽहिक्खिवई[1]
पबन्ध च न कुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो भयई
सुयं लद्धु न मज्जई ॥

अल्प चाधिक्षिपति
प्रबन्धं च न करोति।
मित्रीय्यमाणो भजति
श्रुतं लब्ध्वा न माद्यति ॥

११—(५) जो किसी का तिरस्कार नही करता, (६) जो क्रोध को टिका कर नहीं रखता, (७) जो मित्रभाव रखने वाले के प्रति कृतज्ञ होता है, (८) जो श्रुत प्राप्त कर मद नही करता,

---

१ वाऽहिक्खिवइ (अ), चऽहिक्खिवइ (उ)।

१२—न य पावपरिक्खेवी
न य मित्तेसु कुप्पई।
अप्पियस्सावि मित्तस्स
रहे कल्लाण भासई ॥

न च पाप-परिक्षेपी
न च मित्रेभ्यः कुप्यति।
अप्रियस्यापि मित्रस्य
रहसि कल्याण भाषते ॥

१२—(९) जो स्खलना होने पर किसी का तिरस्कार नही करता, (१०) जो मित्रों पर क्रोध नहीं करता, (११) जो अप्रिय मित्र की भी एकान्त में प्रसशा करता है,

१३—कलहडमरवज्जए
बुद्धे अभिजाइए।
हिरिम पडिसलीणे
सुविणीए त्ति वुच्चई ॥

कलह-डमर-वर्जक.
बुद्धोऽभिजातिगः।
ह्रीमान् प्रतिसलीनः
विनीत इत्युच्यते ॥

१३—(१२) जो कलह और हाथापाई का वर्जन करता है, (१३) जो कुलीन होता है, (१४) जो लज्जावान् होता है और (१५) जो प्रतिसलीन (इन्द्रिय और मन का सगोपन करने वाला) होता है—वह बुद्धिमान् मुनि विनीत कहलाता है।

१४—वसे गुरुकुले निच्च
जोगव उवहाणव।
पियकरे पियवाई
से सिक्ख लद्धुमरिहई ॥

वसेद्‍ गुरु-कुले नित्य
योगवानुपधानवान्।
प्रियङ्करः प्रियवादी
स शिक्षा लब्धुमर्हति ॥

१४—जो सदा गुरु-कुल में वास करता है, जो समाधियुक्त होता है, जो उपवान (श्रुत-अध्ययन के समय तप) करता है, जो प्रिय करता है, जो प्रिय बोलता है—वह शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

१५—जहा सखम्मि पय
'निहिय दुहओ वि'[1] विरायइ।
एव बहुस्सुए भिक्खू
धम्मो कित्ती तहा सुय ॥

यथाशङ्खे पयो
निहित द्विधापि विराजते।
एव बहुश्रुते भिक्षौ
धर्म. कीर्तिस्तथा श्रुतम् ॥

१५—जिस प्रकार शङ्ख में रखा हुआ दूध दोनो ओर (अपने और अपने आधार के गुणों) से सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत दोनों ओर (अपने और अपने आधार के गुणो) से सुशोभित होते हैं।

१६—जहा से कम्बोयाण
आइण्णे कन्थए सिया।
आसे जवेण पवरे
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स काम्बोजाना
आकीर्णः कन्यकः स्यात्।
अश्वो जवेन प्रवरः
एवं भवति बहुश्रुत ॥

१६—जिस प्रकार कम्बोज के घोडों में से कन्थक घोडा शील आदि गुणो से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार भिक्षुओं में बहुश्रुत श्रेष्ठ होता है।

१७—जहाइण्णसमारूढे
सूरे दढपरक्कमे।
उभओ नन्दिघोसेणं
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथाऽऽकीर्ण-समारूढः
शूरो दृढ-पराक्रमः।
उभयतो नन्दि-घोषेण
एव भवति बहुश्रुतः ॥

१७—जिस प्रकार आकीर्ण (जातिमान्) अश्व पर चढा हुआ दृढ पराक्रम वाला योद्धा दोनों ओर वजने वाले वाद्यों के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आसपास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है।

---

१. णिसित उभयतो (चू०)।

१८—जहा करेणुपरिकिण्णे कुंजरे सट्ठिहायणे । बलवन्ते अप्पडिहए एव हवइ बहुस्सुए ॥	यथा करेणुपरिकीर्णः कुञ्जरः षष्ठिहायनः । बलवानप्रतिहतः एवं भवति बहुश्रुतः ॥	१८—जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का बलवान् हाथी किसी से पराजित नही होता, उसी प्रकार बहुश्रुत दूसरो से पराजित नही होता ।
१९—जहा से तिक्खसिंगे जायखन्धे विरायई । वसहे जूहाहिवई एव हवइ बहुस्सुए ॥	यथा स तीक्ष्ण-शृंगः जात-स्कन्धो विराजते । वृषभो यूथाधिपतिः एव भवति बहुश्रुत ॥	१९—जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यन्त पुष्ट स्कन्ध वाला बैल यूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत आचार्य बनकर सुशोभित होता है ।
२०—जहा से तिक्खदाढे उदग्गे दुप्पहसए । सीहे मियाण पवरे एव हवइ बहुस्सुए ॥	यथा स तीक्ष्ण-दंष्ट्र. उदग्रो दुष्प्रधर्षकः । सिंहो मृगाणां प्रवर· एव भवति बहुश्रुतः ॥	२०—जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढों वाला पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य-पशुओ में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्य तीर्थिको मे श्रेष्ठ होता है ।
२१—जहा से वासुदेवे सखचक्कगयाधरे । अप्पडिहयबले जोहे एव हवइ बहुस्सुए ॥	यथा स वासुदेवः शङ्ख-चक्र-गदा-धर । अप्रतिहत-बलो योधः एवं भवति बहुश्रुतः ॥	२१—जिस प्रकार शङ्ख, चक्र और गदा को धारण करने वाला वासुदेव अबाधित बल वाला योद्धा होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अबाधित बल वाला होता है ।
२२—जहा से चाउरन्ते चक्कवट्टी महिड्ढिए । चउदसरयणाहिवई एव हवइ बहुस्सुए ॥	यथा स चतुरन्तः चक्रवर्ती महर्द्धिक । चतुर्दशरत्नाधिपतिः एवं भवति बहुश्रुत ॥	२२—जिस प्रकार महान् ऋद्धिशाली, चतुरन्त चक्रवर्ती चौदह रत्नो का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत चतुर्दश पूर्वधर होता है ।
२३—जहा से सहस्सक्खे वज्जपाणी पुरन्दरे । सक्के देवाहिवई एवं हवइ बहुस्सुए ॥	यथा स सहस्राक्षः वज्रपाणिः पुरन्दरः । शक्रो देवाधिपतिः एव भवति बहुश्रुतः ॥	२३—जिस प्रकार सहस्रचक्षु, वज्रपाणि और पुरों का विदारण करने वाला शक्र देवों का अधिपति होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत दैवी सम्पदा का अधिपति होता है ।

२४—जहा से तिमिरविद्धसे
उत्तिट्ठन्ते दिवायरे ।
जलन्ते इव तेएण
एव हवइ वहस्सुए ॥

यथा स तिमिर-विध्वसः
उत्तिष्ठन्दिवाकरः ।
ज्वलन्निव तेजसा
एव भवति बहुश्रुत ॥

२४—जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने वाला उगता हुआ सूर्य तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत तप के तेज से जलता हुआ प्रतीत होता है ।

२५—जहा से उडुवई चन्दे
नक्खत्तपरिवारिए ।
पडिपुण्णे पुण्णमासीए
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स उडुपतिश्चन्द्र.
नक्षत्र-परिवारितः ।
प्रतिपूर्णः पौर्णमास्या
एव भवति बहुश्रुतः ॥

२५—जिस प्रकार नक्षत्र-परिवार मे परिवृत ग्रहपति चन्द्रमा पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण होता है, उसी प्रकार साधुओ के परिवार मे परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओ में परिपूर्ण होता है ।

२६—जहा से सामाइयाण[1]
कोट्ठागारे सुरक्खिए ।
नाणाधन्नपडिपुण्णे
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स सामाजिकाना
कोष्ठागारः सुरक्षित' ।
नानाधान्य-प्रतिपूर्ण
एव भवति बहुश्रुतः ॥

२६—जिस प्रकार सामाजिको (समुदाय वृत्ति वालों) का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यो से परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से परिपूर्ण होता है ।

२७—जहा सा दुमाण पवरा
जम्बू नाम सुदसणा ।
अणाढियस्स देवस्स
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा सा द्रुमाणा प्रवरा
जम्बूर्नाम्ना सुदर्शना ।
अनादृतस्य देवस्य
एव भवति बहुश्रुतः ॥

२७—जिस प्रकार अनादृत देव का आश्रय सुदर्शना नाम का जम्बू वृक्ष सब वृक्षो मे श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओ में श्रेष्ठ होता है ।

२८—जहा सा नईण पवरा
सलिला सागरगमा ।
सीया नीलवन्तपवहा[2]
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा सा नदीना प्रवरा
सलिला सागरङ्गमा ।
शीतानीलवत्प्रवहा
एव भवति बहुश्रुतः ॥

२८—जिस प्रकार नीलवान् पर्वत से निकल कर समुद्र में मिलने वाली शीता नदी शेप नदियों में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओ में श्रेष्ठ होता है ।

२९—जहा से नगाण पवरे
सुमह मन्दरे गिरी ।
नाणोसहिपज्जलिए
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स नगाना प्रवरः
सुमहान्मन्दरो गिरिः ।
नानौषधि-प्रज्वलित
एव भवति बहुश्रुतः ॥

२९—जिस प्रकार अतिशय महान् और अनेक प्रकार की औषधियों से दीप्त मदर पर्वत सब पर्वतो में श्रेष्ठ है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है ।

---

1. सामाइयगाण (बृ० पा०) ।
2. ०पभवा (बृ०), ०पवहा (बृ० पा०) ।

३०—जहा से सयभूरमणे
उदही अक्खओदए ।
नाणारयणपडिपुण्णे[1]
एव हवइ बहुस्सुए ॥

यथा स स्वयम्भूरमणः
उदधिरक्षयोदकः ।
नानारत्न-प्रतिपूर्णः
एव भवति बहुश्रुतः ॥

३०—जिस प्रकार अक्षय जल वाला स्वयभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय ज्ञान से परिपूर्ण होता है ।

३१—समुद्दगम्भीरसमा दुरासया
अचक्किया केणइ दुप्पहसया[2] ।
सुयस्स पुण्णा विउलस्स ताइणो
खवित्तु कम्म गइमुत्तमं गया ॥

समुद्रगाम्भीर्यसमा दुरासदाः
अचकिता केनापि दुष्प्रधर्षकाः ।
श्रुतेन पूर्णा विपुलेन त्रायिण
क्षपयित्वा कर्म्मगतिमुत्तमां गता ॥

३१—समुद्र के समान गम्भीर, दुरासद (कष्टो से अबाधित), अभय, किसी प्रतिवादी के द्वारा अपराजेय, विपुलश्रुत से पूर्ण और त्राता बहुश्रुत मुनि कर्मों का क्षय करके उत्तम गति (मोक्ष) में गये ।

३२—तम्हा सुयमहिट्ठेज्जा
उत्तमट्ठगवेसए[3] ।
जेणऽप्पाण पर चेव
सिद्धि संपाउणेज्जासि ॥
—त्ति बेमि ।

तस्माच्छ्रुतमधितिष्ठेत्
उत्तमार्थ-गवेषक· ।
येनात्मानं परं चैव
सिद्धि सम्प्रापयेत् ॥
—इति ब्रवीमि ।

३२—इसलिए उत्तम-अर्थ (मोक्ष) की गवेषणा करने वाला मुनि श्रुत का आश्रयण करे, जिससे वह अपने आपको और दूसरो को सिद्धि (मुक्ति) की प्राप्ति करा सके ।
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. °सपुण्णे (अ)।
२ दुप्पहसिया (चू०)।
३. उत्तमिट्ठ° (अ)।

बारसमं अज्झयणं :
हरिएसिज्जं

द्वादशम अध्ययन :
हरिकेशीय

आमुख

यह अध्ययन मुनि हरिकेशबल से सम्बन्धित है, इसलिए इसका नाम 'हरिएसिज्जं'—'हरिकेशीय' है।

मथुरा नगरी के राजा 'शंख' विरक्त हो मुनि बन गए। ग्रामानुग्राम घूमते हुए एक बार वे हस्तिनागपुर (हस्तिनापुर) आए और भिक्षा के लिए नगर की ओर चले। ग्राम-प्रवेश के दो मार्ग थे। मुनि ने एक ब्राह्मण से मार्ग पूछा। एक मार्ग का नाम 'हुताशन' था और वह अत्यन्त निकट था। वह अग्नि की तरह प्रज्वलित रहता था। ब्राह्मण ने कुतूहलवश उस उष्ण मार्ग की ओर सकेत कर दिया। मुनि निश्छल भाव से उसी मार्ग पर चल पड़े। वे लब्धि-सम्पन्न थे। अत उनके पाद-स्पर्श से मार्ग ठण्डा हो गया। मुनि को अविचल भाव से आगे बढते देख ब्राह्मण भी उसी मार्ग पर चल पड़ा। मार्ग को बर्फ जैसा ठण्डा देख उसने सोचा—'यह मुनि का ही प्रभाव है।' उसे अपने अनुचित कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ। वह दौड़ा-दौड़ा मुनि के पास आया और उसने अपना पाप प्रकट कर क्षमा-याचना की। मुनि ने धर्म का उपदेश दिया। ब्राह्मण के मन मे विरक्ति के भाव उत्पन्न हुए। वह मुनि के पास प्रव्रजित हो गया। उसका नाम सोमदेव था। उसमे जाति का अवलेप था। 'मै ब्राह्मण हूँ, उत्तम जातीय हूँ'—यह मद उसमे बना रहा। कालक्रम से मर कर वह देव बना। देव-आयुष्य को पूरा कर जाति-मद के परिपाक से गङ्गा नदी के तट पर हरिकेश के अधिप 'बलकोष्ठ' नामक चाण्डाल की पत्नी 'गौरी' के गर्भ से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ। उसका नाम बल रखा गया। यही बालक हरिकेशबल के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

एक दिन वह अपने साथियो के साथ खेल रहा था। खेलते-खेलते वह लड़ने लगा। लोगों ने जब यह देखा तो उसको दूर ढकेल दिया। दूसरे बालक पूर्ववत् खेलने लगे किन्तु वह दर्शक मात्र ही रहा। इतने मे ही एक भयकर सर्प निकला। लोगो ने उसे पत्थरो से मार डाला। कुछ ही क्षणो बाद एक अलसिया निकला। लोगों ने उसे छोड़ दिया। दूर बैठे बालक हरिकेश ने यह सब देखा। उसने सोचा—"प्राणी अपने दोषों से ही दु ख पाता है। यदि मै सर्प के समान विषला होता हूँ तो यह स्वाभाविक ही है कि लोग मुझे मारेंगे और यदि मै अलसिए की तरह निर्विष होता हूँ तो कोई दूसरा मुझे क्यो सताएगा?" चिन्तन आगे बढा। जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। जाति-मद के विपाक का चित्र सामने आ गया। निर्वेद को प्राप्त हो उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि हरिकेशबल श्रामण्य का विशुद्ध रूप से पालन करते हुए तपस्या मे लीन रहने लगे। तप प्रभाव से अनेक यक्ष उनकी सेवा करने लगे। मुनि यक्ष-मन्दिर मे कायोत्सर्ग, ध्यान आदि करते। एक बार वे ध्यानलीन खड़े थे। उस समय वाराणसी के राजा कौशलिक की लड़की भद्रा यक्ष की पूजा करने वहाँ आई। पूजा कर वह प्रदक्षिणा करने लगी। उसकी दृष्टि ध्यानलीन मुनि पर जा टिकी। उनके मैले कपड़े देख उसे घृणा हो आई। आवेश मे आ उसने मुनि पर थूक दिया। यक्ष ने यह देखा। उसने सोचा—"इस कुमारी ने मुनि की आशातना की है। इसका फल इसे मिलना ही चाहिए।" यक्ष कुमारी के शरीर मे प्रविष्ट हो गया। कुमारी पागल हो गयी। वह अनर्गल बातें कहने लगी। दासियाँ उसे राजमहल मे ले गयी। उपचार किया गया पर सब व्यर्थ। यक्ष ने कहा—"इस कुमारी ने एक तपस्वी मुनि का तिरस्कार किया है। यदि यह उस तपस्वी के साथ पाणिग्रहण करना स्वीकार कर लेती है तो मै इसके शरीर से बाहर निकल सकता हूँ, अन्यथा नही।" राजा ने बात स्वीकार कर ली।

राजा अपनी कन्या को साथ ले यक्ष-मन्दिर मे आया और मुनि को नमस्कार कर अपनी कन्या को स्वीकार करने की प्रार्थना की। मुनि ने ध्यान पारा और कहा—"राजन्! मैं मुमुक्षु हूँ। स्त्री मोक्ष-मार्ग मे बाधक है, इसलिए मैं इसका स्पर्श भी नही कर सकता।" इतना कह मुनि पुन ध्यानलीन हो गए।

कन्या को मुनि के चरणों मे छोड़ राजा अपने स्थान पर आ गया। यक्ष ने मुनि का रूप बनाया और राजकन्या का पाणिग्रहण किया। रात भर कन्या वही रही। प्रभात मे यक्ष दूर हुआ। मुनि ने सही-सही बात कन्या से कही। वह दौड़ी-दौड़ी राजा के पास गई और यक्ष द्वारा ठगे जाने की बात बताई। राजा के पास बैठे रुद्रदेव पुरोहित ने कहा—"राजन्! यह ऋषि-पत्नी है। मुनि ने इसे त्याग दिया है, अत इसे किसी ब्राह्मण को दे देना चाहिए।" राजा ने उसी पुरोहित को कन्या सौप दी। वह उसके साथ आनन्दपूर्वक रहने लगा। कुछ काल बीता। पुरोहित ने यज्ञ किया। दूर-दूर से विद्वान्-ब्राह्मण बुलाए गए। उन सबके आतिथ्य के लिए प्रचुर भोजन-सामग्री एकत्रित की गई।

उस समय मुनि हरिकेशबल एक-एक मास का तप कर रहे थे। पारणा के दिन वे भिक्षा के लिए घर-घर घूमते हुए उसी यज्ञ-मण्डप में जा पहुँचे।

उसके बाद मुनि और वहाँ के वरिष्ठ ब्राह्मणो के बीच जो वार्ता-प्रसंग चला उसका सकलन सूत्रकार ने किया है। वार्ता के माध्यम से ब्राह्मण-धर्म और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का सार प्रतिपादित हुआ है। सर्वप्रथम ब्राह्मण-कुमार मुनि की अवहेलना करते है परन्तु अन्त में वे उनसे मार्ग-दर्शन लेते है।

इस अध्ययन मे निम्न विषयो पर चर्चा हुई है—

१—दान का अधिकारी — श्लोक १२ से १८।
२—जातिवाद — श्लोक ३६।
३—यज्ञ — श्लोक ३८ से ४४।
४—जल-स्नान — श्लोक ३८, ४५, ४६, ४७।

बौद्ध-साहित्य मे मातग जातक (४९७) में यह कथा प्रकारान्तर से मिलती है।

बारसमं अज्झयणं : द्वादश अध्ययन

हरिएसिज्जं : हरिकेशीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सोवागकुलसभूओ गुणुत्तरधरो[1] मुणी । हरिएसबलो नाम आसि भिक्खू जिइन्दिओ ॥	श्वपाककुल-सभूतः उत्तर-गुण-धरो मुनि । हरिकेशबलो नाम आसीद् भिक्षुर्जितेन्द्रिय ॥	१—चाण्डाल-कुल में उत्पन्न, ज्ञान आदि उत्तम गुणों को धारण करने वाला, धर्म-अधर्म का मनन करने वाला हरिकेशबल नामक जितेन्द्रिय भिक्षु था ।
२—इरिएसणभासाए उच्चारसमिईसु य । जओ आयाणनिक्खेवे सजओ सुसमाहिओ ॥	ईर्येषणाभाषाया उच्चारसमितौ च । यत आदान-निक्षेपे संयतः सुसमाहित ॥	२—वह ईर्या, एषणा, भाषा, उच्चार, आदान-निक्षेप—इन समितियों में सावधान था, सयमी और समाधिस्थ था ।
३—मणगुत्तो वयगुत्तो कायगुत्तो जिइन्दिओ । भिक्खट्ठा बम्भइज्जम्मि जन्नवाडं उवट्ठिओ ॥	मनो-गुप्तो वचो-गुप्त काय-गुप्तो जितेन्द्रियः । भिक्षार्थं ब्रह्मेज्ये यज्ञवाटे उपस्थितः ॥	३—वह मन, वचन और काया से गुप्त और जितेन्द्रिय था । वह भिक्षा लेने के लिए यज्ञ-मण्डप में गया, जहाँ ब्राह्मण यज्ञ कर रहे थे ।
४—त पासिऊणमेज्जन्तं तवेण परिसोसिय । पन्तोवहिउवगरण उवहसन्ति अणारिया ॥	तं दृष्ट्वाऽऽयान्त तपसा परिशोषितम् । प्रान्तोपध्युपकरणं उपहसन्त्यनार्याः ॥	४—वह तप से कृश हो गया था । उसके उपधि और उपकरण प्रान्त (जीर्ण और मलिन) थे । उसे आते देख, वे अनार्य (ब्राह्मण) हँसे ।
५—जाईमयपडिथद्धा[2] हिंसगा अजिइन्दिया । अबम्भचारिणो बाला इम वयणमब्बवी ॥	जातिमद-प्रतिस्तब्धाः हिंसका अजितेन्द्रियाः । अब्रह्मचारिणो बालाः इद वचनमब्रुवन् ॥	५—जाति-मद से मत्त, हिंसक, अजितेन्द्रिय, अब्रह्मचारी और अज्ञानी ब्राह्मणों ने परस्पर इस प्रकार कहा—

१. अणुत्तरधरो (अ, बृ० पा०, चू०)।
२. °पडिबद्धा (उ, बृ० पा०)।

६—'कयरे आगच्छइ'[1] दित्तरूवे
काले विगराले फोक्कनासे।
ओमचेलए पसुपिसायभूए
सकरदूस परिहरिय कण्ठे ॥

कतर आगच्छति दीप्तरूपः
कालो विकरालः 'फोक्क' नासः।
अवम-चेलकः पांशुपिशाचभूतः
संकर-दूष्यं परिधाय कण्ठे ? ॥

६—बीभत्स रूप वाला, काला, विकराल और बडी नाक वाला, अधनङ्गा, पांशु-पिशाच (चुडेल) सा, गले मे सकर-दूष्य (उकुरडी से उठाया हुआ चिथडा) डाले हुए वह कौन आ रहा है ?

७—कयरे[2] तुम इय अदसणिज्जे
काए व आसा इहमागओ सि।
ओमचेलगा पसुपिसायभूया
गच्छ क्खलाहि किमिह ठिओसि ? ॥

कतरस्त्वमित्यदर्शनीयः
कया वाऽऽशयेहागतोऽसि ? ।
अवम-चेलकः पांशु-पिशाचभूतः
गच्छ अपसर किमिह स्थितोसि ? ॥

७—ओ अदर्शनीय मूर्ति ! तुम कौन हो ? किस आशा से यहाँ आए हो ? अधनगे तुम पांशु-पिशाच (चुडेल) से लग रहे हो। जाओ, आँखो से परे चले जाओ ! यहाँ क्यो खडे हो ?

८—जक्खो तहिं तिन्दुयरुक्खवासी
अणुकम्पओ तस्स महामुणिस्स।
पच्छायइत्ता नियग सरीर
इमाइ वयणाइमुदाहरित्था ॥

यक्षस्तस्मिन् तिन्दुकवृक्ष-वासी
अनुकम्पकस्तस्य महामुनेः।
प्रच्छाद्य निजकं शरीर
इमानि वचनानि उदाहार्षीत् ॥

८—उस समय महामुनि हरिकेशबल की अनुकम्पा करने वाला तिन्दुक (आबनूस) वृक्ष का वासी यक्ष अपने शरीर का गोपन कर मुनि के शरीर में प्रवेश कर इस प्रकार बोला—

९—समणो अह सजओ बम्भयारी
विरओ धणपयणपरिग्गहाओ।
परप्पवित्तस्स उ भिक्खकाले
अन्नस्स अट्ठा इहमागओ मि ॥

श्रमणोऽहं सयतो ब्रह्मचारी
विरतो धन-पचन-परिग्रहात्।
पर-प्रवृत्तस्य तु भिक्षाकाले
अन्नस्यार्थं इहाऽऽगतोस्मि ॥

९—"मैं श्रमण हूँ, सयमी हूँ, ब्रह्मचारी हूँ, धन व पचन-पाचन और परिग्रह से विरत हूँ। यह भिक्षा का काल है। मैं सहज निष्पन्न भोजन पाने के लिए यहाँ आया हूँ।"

१०—वियरिज्जइ खज्जइ भुज्जई य
अन्न पभूय भवयाणमेय।
जाणाहि मे 'जायणजीविणु त्ति'[3]
सेसावसेस लभऊ तवस्सी ॥

वितीर्यते खाद्यते भुज्यते च
अन्न प्रभूत भवतामेतत्।
जानीत मा याचना-जीविनमिति
शेषावशेषं लभतां तपस्वी ॥

१०—"आपके यहाँ पर यह बहुत सारा भोजन दिया जा रहा है, खाया जा रहा है और भोगा जा रहा है। मैं भिक्षा-जीवी हूँ, यह आपको ज्ञात होना चाहिए। अच्छा ही है कुछ बचा भोजन इस तपस्वी को मिल जाए।"

११—उवक्खड भोयण माहणाण
अत्तट्ठिय सिद्धमिहेगपक्खं।
न ऊ वय एरिसमन्नपाणं
दाहामु तुज्झ किमिहं ठिओ सि? ॥

उपस्कृतं भोजन ब्राह्मणाना
आत्मार्थिक सिद्धमिहैक-पक्षम्।
न तु वयमीदृशमन्न-पान
दास्यामः तुभ्य किमिह स्थितोऽसि ? ॥

११—(सोमदेव—) यहाँ जो भोजन बना है, वह केवल ब्राह्मणो के लिए ही बना है। वह एक-पाक्षिक है—अब्राह्मण को अदेय है। ऐसा अन्न-पान हम तुम्हें नही देंगे, फिर यहाँ क्यो खडे हो ?

---

१. कयरे तुम एसिध (चू०), कयरे आगच्छति (बृ० पा०), को रे आगच्छइ (बृ०पा०)।
२. को रे (सु० पा०, बृ० पा०)।
३ °जीवणो त्ति (बृ० पा०)।

१२—थलेसु वीयाइ ववन्ति कासगा
तहेव निन्नेसु य आससाए।
एयाए सद्धाए दलाह मज्झ
'आराहए पुण्णमिणं खु खेत्तं'[1]॥

स्थलेषु बीजानि वपन्ति कर्षकाः
तथैव निम्नेषु चाऽऽशंसया।
एतया श्रद्धया दद्ध्वं मह्यं
आराधयत पुण्यमिदं खलु क्षेत्रम्॥

१२—(यक्ष—) "अच्छी उपज की आशा से किसान जैसे स्थल (ऊँची भूमि) में बीज बोते हैं, वैसे ही नीची भूमि में बोते हैं। इसी श्रद्धा से (अपने आपको निम्न भूमि और मुझे स्थल तुल्य मानते हुए भी तुम) मुझे दान दो, पुण्य की आराधना करो। यह क्षेत्र है, बीज खाली नहीं जाएगा।"

१३—खेत्ताणि अम्हं विइयाणि लोए
जहिं पकिण्णा विरुहन्ति पुण्णा।
जे माहणा जाइविज्जोववेया
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥

क्षेत्राण्यस्माकं विदितानि लोके
येषु प्रकीर्णानि विरोहन्ति पूर्णानि।
ये ब्राह्मणा जातिविद्योपेता
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि॥

१३—(सोमदेव—) "जहाँ बोए हुए सारे के सारे बीज उग जाते हैं, वे क्षेत्र इस लोक में हमें ज्ञात हैं। जो ब्राह्मण जाति और विद्या से युक्त हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१४—कोहो य माणो य वहो य जेसिं
मोसं अदत्तं च परिग्गहं च।
ते माहणा जाइविज्जाविहूणा
ताइं तु खेत्ताइं सुपावयाइं॥

क्रोधश्च मानश्च वधश्च येषां
मृषा अदत्तं च परिग्रहश्च।
ते ब्राह्मणा जाति-विद्या-विहीनाः
तानि तु क्षेत्राणि सुपापकानि॥

१४—(यक्ष—) "जिनमें क्रोध है, मान है, हिंसा है, झूठ है, चोरी है और परिग्रह है—वे ब्राह्मण जाति-विहीन, विद्या-विहीन और पाप-क्षेत्र हैं।

१५—तुब्भेत्थ भो! भारधरा[2] गिराणं
अट्ठं न जाणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति
ताइं तु खेत्ताइं सुपेसलाइं॥

यूयमत्र भो! भारधरा गिरां
अर्थं न जानीथाधीत्य वेदान्।
उच्चावचानि चरन्ति मुनयः
तानि तु क्षेत्राणि सुपेशलानि॥

१५—"हे ब्राह्मणो! इस संसार में तुम केवल वाणी का भार ढो रहे हो। वेदों को पढ़ कर भी उनका अर्थ नहीं जानते। जो मुनि उच्च और नीच घरों में भिक्षा के लिए जाते हैं, वे ही पुण्य-क्षेत्र हैं।"

१६—अज्झावयाणं पडिकूलभासी
पभाससे किं तु सगासि अम्हं।
अवि एयं विणस्सउ अन्नपाणं[3]
न य णं दहामु तुमं नियण्ठा!॥

अध्यापकानां प्रतिकूलभाषी
प्रभाषसे किं तु सकाशेऽस्माकम्।
अप्येतद् विनश्यतु अन्न-पानं
न च दास्यामः तुभ्यं निर्ग्रन्थ!॥

१६—(सोमदेव—) "ओ! अध्यापकों के प्रतिकूल बोलने वाले साधु! हमारे समक्ष तू क्या बढ़-बढ़ कर बोल रहा है? हे निर्ग्रन्थ! यह अन्न-पान भले ही सड़ कर नष्ट हो जाए किन्तु तुझे नहीं देंगे।"

१७—समिईहि मज्झं सुसमाहियस्स
गुत्तीहि गुत्तस्स जिइन्दियस्स।
जइ मे न दाहित्थ अहेसणिज्जं
किमज्ज जन्नाण लहित्थ लाहं?॥

समितिभिर्मह्यं सुसमाहिताय
गुप्तिभिर्गुप्ताय जितेन्द्रियाय।
यदि मह्यं न दास्यथाऽथैषणीयं
किमद्य यज्ञानां लप्स्यध्वे लाभम्?॥

१७—(यक्ष—) "मैं समितियों से समाहित, गुप्तियों से गुप्त और जितेन्द्रिय हूँ। यह एषणीय (विशुद्ध) आहार यदि तुम मुझे नहीं दोगे, तो इन यज्ञों का आज तुम्हें क्या लाभ होगा?"

---

1. आराहगा होहिम पुण्ण खेत्त (वृ० पा०)।
2. भारवहा (वृ० पा०)।
3. भत्तपाण (अ०)।

१८—के एत्थ खत्ता उवजोइया वा
अज्झावया वा सह खण्डिएहिं।
एयं[1] दण्डेण फलेण हन्ता
कण्ठम्मि घेत्तूण खलेज्ज जो णं ?॥

केऽत्र क्षत्रा उपज्योतिषा वा
अध्यापका वा सह खण्डिकैः।
एनं खलु दण्डेन फलेन हत्वा
कण्ठे गृहीत्वा स्खलयेयुः ये ? ॥

१८—(सोमदेव—) "यहाँ कौन है क्षत्रिय, रसोइया, अध्यापक या छात्र, जो डण्डे और फल से पीट, गलहत्था दे इस निर्ग्रन्थ को यहाँ से बाहर निकाले ?"

१९—अज्झावयाणं वयणं सुणेत्ता
उद्धाइया तत्थ बहू कुमारा।
दण्डेहि वित्तेहि कसेहि चेव
समागया तं 'इसि तालयन्ति'[2] ॥

अध्यापकानां वचनं श्रुत्वा
उद्धावितास्तत्र बहवः कुमाराः।
दण्डैर्वेत्रैः कशैश्चैव
समागतास्तमृषिं ताडयन्ति ॥

१९—अध्यापको का वचन सुनकर बहुत से कुमार उधर दौड़े। वहाँ आ डण्डों, वेंतों और चाबुकों से उस ऋषि को पीटने लगे।

२०—रन्नो तहिं कोसलियस्स धूया
भद्द त्ति नामेण अणिन्दियंगी।
तं पासिया संजय हम्ममाणं
कुद्धे कुमारे परिनिव्ववेइ ॥

राज्ञस्तत्र कौशलिकस्य दुहिता
भद्रेति नाम्ना अनिन्दिताङ्गी।
तं दृष्ट्वा संयतं हन्यमानं
क्रुद्धान्कुमारान्परिनिर्वापयति ॥

२०—राजा कौशलिक की सुन्दर पुत्री भद्रा यज्ञ-मण्डप में मुनि को प्रताडित होते देख क्रुद्ध कुमारों को शान्त करने लगी।

२१—देवाभिओगेण निओइएणं
दिन्ना मु रन्ना मणसा न झाया।
नरिन्ददेविन्दऽभिवन्दिएणं
जेणम्हि वन्ता इसिणा स एसो ॥

देवाभियोगेन नियोजितेन
दत्ता ऽस्मि राज्ञा मनसा न ध्याता।
नरेन्द्रदेवेन्द्राभिवन्दितेन
येनास्मि वान्ता ऋषिणा स एष ॥

२१—(भद्रा—) "राजाओं और इन्द्रों से पूजित यह वह ऋषि है, जिसने मेरा त्याग किया। देवता के अभियोग से प्रेरित हो कर राजा द्वारा मैं दी गई, किन्तु जिसने मुझे मन से भी नहीं चाहा।

२२—एसो हु सो उग्गतवो महप्पा
जिइन्दिओ संजओ बम्भयारी।
'जो मे'[3] तया नेच्छइ दिज्जमाणिं
पिउणा सयं कोसलिएणं रन्ना ॥

एष खलु स उग्र-तपा महात्मा
जितेन्द्रियः संयतो ब्रह्मचारी।
यो मां तदा नेच्छति दीयमानां
पित्रा स्वयं कौशलिकेन राज्ञा ॥

२२—"यह वही उग्र तपस्वी, महात्मा, जितेन्द्रिय, संयमी और ब्रह्मचारी है, जिसने मुझे मेरे पिता राजा कौशलिक द्वारा दिये जाने पर भी नहीं चाहा।

२३—महाजसो एस महाणुभागो[4]
घोरव्वओ घोरपरक्कमो य।
मा एयं हीलह अहीलणिज्जं
मा सव्वे तेएण भे निद्दहेज्जा ॥

महायशा एष महानुभागः
घोर-व्रतो घोर-पराक्रमश्च।
मैनं हीलयताहीलनीयं
मा सर्वान् तेजसा भवतो निर्धाक्षीत् ॥

२३—"यह महान् यशस्वी है। महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) से सम्पन्न है। घोर व्रती है। घोर पराक्रमी है। इसकी अवहेलना मत करो, यह अवहेलनीय नहीं है। कहीं यह अपने तेज से तुम लोगों को भस्मसात् न कर डाले ?"

---

१ एय खु (अ, उ), एय तु (आ)।
२. इसि ताडयंति (उ, ऋ०)।
३. जो म (अ, आ)।
४. महाणुभावो (वृ० पा०, चू०)।

२४—एयाइ तीसे वयणाइ सोच्चा
पत्तीइ भद्दाइ सुहासियाइ।
इसिस्स वेयावडियट्ठयाए
जक्खा कुमारे विणिवाडयन्ति[1]॥

एतानि तस्या वचनानि श्रुत्वा
पत्न्या भद्रायाः सुभाषितानि।
ऋषेर्वैयापृत्यार्थं
यक्षाः कुमारान् विनिवारयन्ति॥

२४—सोमदेव पुरोहित की पत्नी भद्रा के सुभाषित वचनो को सुन कर यक्षों ने ऋषि का वैयापृत्य (परिचर्या) करने के लिए कुमारों को भूमि पर गिरा दिया।

२५—ते घोररूवा ठिय अन्तलिक्खे
असुरा तहिं त जण तालयन्ति।
ते भिन्नदेहे रुहिर वमन्ते
पासित्तु भद्दा इणमाहु भुज्जो॥

ते घोर-रूपाः स्थिता अन्तरिक्षे
असुरास्तत्र त जन ताडयन्ति।
तान् भिन्न-देहान् रुधिर वमत
दृष्ट्वा भद्रेदमाह भूयः॥

२५—घोर रूप वाले यक्ष आकाश में स्थिर हो कर उन छात्रों को मारने लगे। उनके शरीरो को क्षत-विक्षत और उन्हें रुधिर का वमन करते देख भद्रा फिर कहने लगी—

२६—गिरिं नहेहिं खणह
अयं दन्तेहिं खायह।
जायतेय पाएहि हणह
जे भिक्खु अवमन्नह॥

गिरिं नखैः खनथ
अयो दन्तैः खादथ।
जाततेजस पादैर्हथ
ये भिक्षुमवमन्यध्वे॥

२६—"जो इस भिक्षु का अपमान कर रहे है, वे नखों से पर्वत खोद रहे है, दाँतों से लोहे को चबा रहे है और पैरो से अग्नि को प्रताडित कर रहे हैं।

२७—आसीविसो उग्गतवो महेसी
घोरव्वओ घोरपक्कमो य।
अगणिं व पक्खन्द पयगसेणा
जे भिक्खुय भत्तकाले वहेह[2]॥

आशीविष उग्र-तपा महर्षि
घोर-व्रतो घोर-पराक्रमश्च।
अग्निमिव प्रस्कन्दथ पतङ्गसेना
ये भिक्षुक भक्त-काले विध्यथ॥

२७—"यह महर्षि आशीविष-लब्धि से सम्पन्न है। उग्र तपस्वी है। घोर व्रती और घोर पराक्रमी है। भिक्षा के समय जो भिक्षु का वध कर रहे हैं, वे पतग-सेना की भाँति अग्नि में झपापात कर रहे हैं।

२८—सीसेण एय सरण उवेह
समागया सव्वजणेण तुब्भे।
जइ इच्छह जीविय वा धण वा
लोग पि एसो कुविओ डहेज्जा॥

शीर्षेण शरणमुपेत
समागताः सर्वजनेन यूयम्।
यदीच्छथ जीवित वा धनं वा
लोकमप्येष कुपितो दहेत्॥

२८—"यदि तुम जीवन और धन चाहते हो तो सब मिलकर, शिर झुका कर इस मुनि की शरण में आओ। कुपित होने पर यह समूचे ससार को भस्म कर सकता है।"

२९—अवहेडिय[3] पिट्ठसउत्तमगे
पसारियाबाहु अकम्मचेट्ठे।
निब्भेरियच्छे रुहिर वमन्ते
उड्ढमुहे निग्गयजीहनेत्ते॥

अवहेठित-पृष्ठ-सदुत्तमाङ्गान्
प्रसारित बाह्वकर्मचेष्टान्।
प्रसारिताक्षान् रुधिर वमत
ऊर्ध्व-मुखान्निर्गत-जिह्वा-नेत्रान्॥

२९—उन छात्रों के सिर पीठ की ओर झुक गए। उनकी भुजाएँ फैल गईं। वे निष्क्रिय हो गए। उनकी आँखें खुली की खुली रह गई। उनके मुँह से रुधिर निकलने लगा। उनके मुँह ऊपर को हो गए। उनकी जीभें और नेत्र बाहर निकल आए।

---

१. विणिवारयति (बृ० पा०)।
२. हणेह (बृ०)।
३. आवडिय (बृ० पा०)।

३०—ते पासिया खण्डिय कट्ठभूए
विमणो विसण्णो अह माहणो सो।
इसिं पसाएइ सभारियाओ
हील च निन्द च खमाह भन्ते!॥

तान् दृष्ट्वा खण्डिकान्काष्ठभूतान्
विमना विषण्णोऽथ ब्राह्मणः सः।
ऋषिं प्रसादयति सभार्याकः
हीला च निन्दां च क्षमस्व भदन्त!॥

३०—उन छात्रों को काठ की तरह निश्चेष्ट देख कर वह सोमदेव ब्राह्मण उदास और, घबराया हुआ अपनी पत्नी सहित मुनि के पास आ उन्हें प्रसन्न करने लगा—"भन्ते! हमने जो अवहेलना और निन्दा की उसे क्षमा करें।

३१—बालेहि मूढेहि अयाणएहिं
ज हीलिया तस्स खमाह भन्ते!।
महप्पसाया इसिणो हवन्ति
न हु मुणी कोवपरा हवन्ति॥

बालैर्मूढैरज्ञैः
यद् हीलितास्तत्क्षमस्व भदन्त!।
महाप्रसादा ऋषयो भवन्ति
न खलु मुनयः कोपपरा भवन्ति॥

३१—"भन्ते! मूढ बालकों ने अज्ञानवश जो आपकी अवहेलना की, उसे आप क्षमा करें। ऋषि महान् प्रसन्नचित्त होते हैं। मुनि कोप नहीं किया करते।"

३२—'पुव्विं च इण्हिं च अणागयं च'[1]
मणप्पदोसो न मे अत्थि कोइ।
जक्खा हु वेयावडियं करेन्ति
तम्हा हु एए निहया कुमारा॥

पूर्वं चेदानीं चानागतं च
मनः-प्रदोषो न मेऽस्तिकोऽपि।
यक्षाः खलु वैयापृत्यं कुर्वन्ति
तस्मात् खलु एतेनिहताः कुमाराः॥

३२—(मुनि—) "मेरे मन में कोई प्रद्वेष न पहले था, न अभी है और न आगे भी होगा। किन्तु यक्ष मेरा वैयापृत्य कर रहे हैं। इसी-लिए ये कुमार प्रताडित हुए।"

३३—अत्थं च धम्मं च वियाणमाणा
तुब्भे न वि कुप्पह भूइपन्ना।
तुब्भं तु पाए सरणं उवेमो
समागया सव्वजणेण अम्हे॥

अर्थं च धर्मं च विजानन्त
यूयं नापि कुप्यथ भूति-प्रज्ञाः।
युष्माकं तु पादौ शरणमुपेमः
समागताः सर्वजनेन वयम्॥

३३—(सोमदेव—) "अर्थ और धर्म को जानने वाले भूति-प्रज्ञ (मंगल-प्रज्ञा युक्त) आप कोप नहीं करते। इसलिए हम सब मिल कर आपके चरणों की शरण ले रहे हैं।

३४—अच्चेमु ते महाभाग![2]
न ते किंचि न अच्चिमो।
भुजाहि सालिमं कूरं
नाणावंजणसंजुयं॥

अर्चयामस्ते महाभाग!
न ते किंचिन्नार्चयाम।
भुङ्क्ष्व शालिमत् कूरं
नानाव्यञ्जन-संयुतम्॥

३४—"महाभाग! हम आपकी अर्चा करते हैं। आपका कुछ भी ऐसा नहीं है, जिसकी हम अर्चा न करें। आप नाना व्यंजनों से युक्त चावल-निष्पन्न भोजन ले कर खाइए।

३५—इमं च मे अत्थि पभूयमन्नं
तं भुंजसू अम्ह अणुग्गहट्ठा।
बाढं ति पडिच्छइ भत्तपाणं
मासस्स ऊ पारणए महप्पा॥

इदं च मेऽस्ति प्रभूतमन्नं
तद्भुङ्क्ष्वास्माकमनुग्रहार्थम्।
बाढमिति प्रतीच्छति भक्त-पानं
मासस्य तु पारणके महात्मा॥

३५—"मेरे यहाँ यह प्रचुर भोजन पड़ा है। हमें अनुगृहीत करने के लिए आप कुछ खाएँ।" महात्मा हरिकेशबल ने हाँ भर ली और एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए भक्त-पान लिया।

---

१ पुव्विं च पच्छा व तहेव मज्झे (बृ० पा०); पुव्विं च पच्छा व अणागयं च (चू०)।
२. महाभागा! (अ, उ, ऋ०)।

३६—तहियं गन्धोदयपुप्फवासं
दिव्वा तहिं वसुहारा य वुट्ठा ।
पहयाओ[1] दुन्दुहीओ सुरेहिं
आगासे अहो दाणं च घुट्ठं ॥

तस्मिन् गन्धोदक-पुष्पवर्षं
दिव्या तस्मिन् वसु-धारा च वृष्टा ।
प्रहता दुन्दुभयः सुरैः
आकाशेऽहो दानं च घुष्टम् ॥

३६—देवों ने वहाँ सुगंधित जल, पुष्प और दिव्य-धन की वर्षा की। आकाश में दुन्दुभि बजाई और 'अहो दानम्' (आश्चर्यकारी दान)—इस प्रकार का घोष किया ।

३७—सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो
न दीसई जाइविसेस कोई ।
'सोवागपुत्ते हरिएससाहू'[2]
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

साक्षात् खलु दृश्यते तपो-विशेषः
न दृश्यते जाति-विशेषः कोऽपि ।
श्वपाक-पुत्रः हरिकेश-साधुः
यस्येदृशी ऋद्धिर्महानुभागा ॥

३७—यह प्रत्यक्ष ही तप की महिमा दीख रही है, जाति की कोई महिमा नहीं है । जिसकी ऋद्धि ऐसी महान् (अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न) है, वह हरिकेश मुनि चाण्डाल का पुत्र है ।

३८—किं माहणा ! जोइसमारभन्ता
उदएण सोहिं बहिया विमग्गहा ? ।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं
न तं सुदिट्ठं कुसला वयन्ति ॥

किं ब्राह्मणा ! ज्योतिः समारभमाणाः
उदकेन शुद्धिं बाह्यां विमार्गयथ ।
यद् मार्गयथ बाह्यां विशुद्धिं
न तत् सुदृष्टं कुशला वदन्ति ॥

३८—(मुनि—) "ब्राह्मणो ! अग्नि का समारम्भ (यज्ञ) करते हुए तुम बाहर से (जल से) शुद्धि की क्या माँग कर रहे हो ? जिस शुद्धि की बाहर से माँग कर रहे हो, उसे कुशल लोग सुदृष्ट (सम्यग्दर्शन) नहीं कहते ।

३९—कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं
सायं च पायं उदगं फुसन्ता ।
पाणाइ भूयाइ विहेडयन्ता
भुज्जो वि मन्दा ! पगरेह पावं ॥

कुशं च यूपं तृण-काष्ठमग्निं
सायं च प्रातरुदकं स्पृशन्तः ।
प्राणान् भूतान् विहेठयन्तः
भूयोऽपि मन्दाः प्रकुरुथ पापम् ॥

३९—'दर्भ, यूप (यज्ञ-स्तम्भ), तृण, काष्ठ और अग्नि का उपयोग करते हुए, सन्ध्या और प्रातःकाल में जल का स्पर्श करते हुए, प्राणों और भूतों की हिंसा करते हुए, मंदबुद्धि वाले तुम बार-बार पाप करते हो ।"

४०—कहं चरे ? भिक्खु ! वयं जयामो ?
पावाइ कम्माइ पणोल्लयामो ? ।
अक्खाहि णे संजय ! जक्खपूइया !
कहं सुजट्ठं कुसला वयन्ति ? ॥

कथं चरामो ? भिक्षो ! वयं यजामः ?
पापानि कर्माणि प्रणुदामः ? ।
आख्याहि नः संयत ! यक्षपूजित !
कथं स्विष्टं कुशला वदन्ति ? ॥

४०—(सोमदेव—) "हे भिक्षो ! हम कैसे प्रवृत्त हों ? यज्ञ कैसे करें ? जिससे पाप-कर्मों का नाश कर सकें । यक्ष-पूजित संयत ! आप हमें बताएँ—कुशल पुरुषों ने सुइष्ट (श्रेष्ठ-यज्ञ) का विधान किस प्रकार किया है ?"

---

१. पहया (उ, ऋ०) ।
२. सोवागपुत्त हरिएससाहुं (बृ० पा०) ।

४१—छज्जीवकाए असमारभन्ता
मोस अदत्त च असेवमाणा।
परिग्गह इत्थिओ माणमाय
एय परिन्नाय चरन्ति[1] दन्ता॥

षड्जीवकायानसमारभमाणाः
मृषाअदत्त चासेवमाना ।
परिग्रहं स्त्रियो मान मायां
एतत्परिज्ञाय चरन्ति दान्ताः ॥

४१—(मुनि—) "मन और इन्द्रियों का दमन करने वाले छह जीव-निकाय की हिंसा नही करते, असत्य और चौर्य का सेवन नहीं करते, परिग्रह, स्त्री, मान और माया का परित्याग कर के विचरण करते हैं।

४२—सुसवुडो[2] पचहिं सवरेहिं
इह जीविय अणवकखमाणो[3]।
वोसट्ठकाओ[4] सुइचत्तदेहो[5]
महाजय जयई जन्नसिट्ठ॥

सुसवृताः पञ्चभिः संवरैः
इह जीवितमनवकांक्षन्तः ।
व्युत्सृष्ट-काय शुचि-त्यक्तदेहः
महाजयं यजते यज्ञ-श्रेष्ठम् ॥

४२—"जो पाँच सवरो से सुसवृत्त होता है, जो असयम-जीवन की इच्छा नहीं करता, जो काय का व्युत्सर्ग करता है, जो शुचि है और जो देह का त्याग करता है, वह महाजयी श्रेष्ठ यज्ञ करता है।"

४३—के ते जोई? के व ते जोइठाणे?
का ते सुया? किं व[6] ते कारिसग?।
एहा य ते कयरा सन्ति? भिक्खू!
कयरेण होमेण हुणासि जोइ?॥

किं ते ज्योतिः? किं वा ते ज्योतिः-स्थानं?
कास्ते श्रुव ? किं वा ते करीषाङ्गम्?।
एधाश्च ते कतराः? शान्तिः? भिक्षो!
कतरेण होमेन जुहोषि ज्योतिः?॥

४३—(सोमदेव—) "भिक्षो! तुम्हारी ज्योति कौन-सी है? तुम्हारा ज्योति-स्थान (अग्नि-स्थान) कौन-सा है? तुम्हारे घी डालने की करछियाँ कौन-सी है? तुम्हारे अग्नि को जलाने के कण्डे कौन-से है? तुम्हारे ईंधन और शान्ति-पाठ कौन-से हैं? और किस होम से तुम ज्योति को हुत (प्रीणित) करते हो?"

४४—तवो जोई जीवो जोइठाण
जोगा सुया सरीर कारिसग।
कम्म एहा सजमजोगसन्ती
होम हुणामी इसिण पसत्थ॥

तपोज्योतिर्जीवो ज्योतिः-स्थान
योगा श्रुवः शरीर करीषाङ्गम्।
कर्मैधाः सयम-योगा शान्तिः
होम जुहोमि ऋषीणा प्रशस्तम्॥

४४—(मुनि—) "तप ज्योति है। जीव ज्योति-स्थान है। योग (मन, वचन और काया की सत् प्रवृत्ति) घी डालने की करछियाँ है। शरीर अग्नि जलाने के कण्डे है। कर्म ईंधन है। सयम की प्रवृत्ति शान्ति-पाठ है। इस प्रकार मैं ऋषि प्रशस्त (अहिंसक) होम करता हूँ।"

४५—के ते हरए? के य ते सन्तितित्थे?
कहिंसि ण्हाओ व रय जहासि?।
आइक्ख णे सजय! जक्खपूइया!
इच्छामो नाउ भवओ सगासे॥

कस्ते ह्रद ? किंच ते शान्ति-तीर्थं?
कस्मिन् स्नातो वा रजो जहासि?।
आचक्ष्व नः सयत! यक्षपूजित!
इच्छामो ज्ञातु भवतः सकाशे॥

४५—(सोमदेव—) "आपका नद (जलाशय) कौन-सा है? आपका शान्ति-तीर्थ कौन-सा है? आप कहाँ नहा कर कर्मरज धोते है? हे यक्ष-पूजित सयत! हम आपसे जानना चाहते है—आप बताइए।"

---

१ चरेज्ज (बृ०), चरन्ति (बृ० पा०)।
२. सुसवुडा (उ, सु)।
३. अणवकखमाणा (उ, सु)।
४. वोसट्ठकाया (उ, सु)।
५ सुइचत्तदेहा (उ, सु)।
६ च (उ, ऋ०)।

४६—धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ[1] पजहामि दोसं ॥

धर्मो ह्रदः ब्रह्म शान्ति-तीर्थं
अनाविले आत्मप्रसन्न-लेश्ये ।
यस्मिन् स्नातो विमलो विशुद्धः
सुशीतीभूत प्रजहामि दोषम् ॥

४६—(मुनि—) "अकलुषित एवं आत्मा का प्रसन्न-लेश्या वाला धर्म मेरा नद (जलाशय) है। ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति-तीर्थ है। जहाँ नहा कर मैं विमल, विशुद्ध और सुशीतल होकर कर्म-रज का त्याग करता हूँ।

४७—एयं सिणाणं कुसलेहि दिट्ठं
महासिणाणं इसिणं पसत्थं ।
'जहिंसि ण्हाया'[2] विमला विसुद्धा
महारिसी उत्तमं ठाणं पत्त ॥
—त्ति बेमि ।

एतत्स्नानं कुशलैर्दृष्टं
महास्नानमृषीणां प्रशस्तम् ।
यस्मिन्स्नाता विमला विशुद्धाः
महर्षय उत्तमं स्थानं प्राप्ताः ॥
—इति ब्रवीमि ।

४७—"यह स्नान, कुशल पुरुषों द्वारा दृष्ट है। यह महा स्नान है। अतः ऋषियों के लिए यही प्रशस्त है। इस धर्म-नद में नहाए हुए महर्षि विमल और विशुद्ध होकर उत्तम-स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए।"

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१ सुसीलभूओ (बृ० पा०)।
२ जहिं सिणाया (अ, उ, ऋ)।

तेरसमं अज्झयणं :
चित्तसम्भूइज्जं

त्रयोदश अध्ययन :
चित्र-सम्भूतीय

आमुख

इस अध्ययन मे चित्र और सभूत के पारस्परिक सम्बन्ध और विसम्बन्ध का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'चित्तसम्भूइज्ज' 'चित्र-सम्भूतीय' है।[1]

उस काल और उस समय साकेत नगर मे चन्द्रावतसक राजा का पुत्र मुनिचन्द्र राज्य करता था। राज्य का उपभोग करते-करते उसका मन काम-भोगों से विरक्त हो गया। उसने मुनि सागरचन्द के पास दीक्षा ग्रहण की। वह अपने गुरु के साथ-साथ देशान्तर जा रहा था। एक बार वह भिक्षा लेने गाँव मे गया, पर सार्थ से बिछुड़ गया और एक भयानक अटवी मे जा पहुँचा। वह भूख और प्यास से व्याकुल हो रहा था। वहाँ चार ग्वाल-पुत्र गाएँ चरा रहे थे। उन्होंने मुनि की अवस्था देखी। उनका मन करुणा से भर गया। उन्होंने मुनि की परिचर्या की। मुनि स्वस्थ हुए। चारों ग्वाल-बालकों को धर्म का उपदेश दिया। चारों बालक प्रतिबुद्ध हुए और मुनि के पास दीक्षित हो गए। वे सभी आनन्द से दीक्षा-पर्याय का पालन करने लगे। किन्तु उनमें से दो मुनियों के मन मे मैले कपड़ों के विषय में जुगुप्सा रहने लगी। चारों मर कर देव-गति में गए। जुगुप्सा करने वाले दोनों देवलोक से च्युत हो दशपुर नगर में शाँडिल्य ब्राह्मण की दासी यशोमती की कुक्षी से युगल रूप में जन्मे। वे युवा हुए। एक बार वे जगल मे अपने खेत की रक्षा के लिए गए। रात हो गई। वे एक वट वृक्ष के नीचे सो गए। अचानक ही वृक्ष की कोटर से एक सर्प निकला और एक को डँस कर चला गया। दूसरा जागा। उसे यह बात मालूम हुई। तत्काल ही वह सर्प की खोज मे निकला। वही सर्प उसे भी डँस गया। दोनों मर कर कालिजर पर्वत पर एक मृगी के उदर से युगल रूप से उत्पन्न हुए। एक बार दोनों आसपास चर रहे थे। एक व्याध ने एक ही बाण से दोनों को मार डाला। वहाँ से मर कर वे गगा नदी के तीर पर एक राजहँसिनी के गर्भ मे आए। युगल रूप मे जन्मे। वे युवा बने। वे दोनों साथ-साथ घूम रहे थे। एक बार एक मछुआ ने उन्हें पकड़ा और गर्दन मरोड़ कर मार डाला।

उस समय वाराणसी नगरी में चाण्डालों का एक अधिपति रहता था। उसका नाम था भूतदत्त। वह बहुत समृद्ध था। वे दोनों हँस मर कर उसके पुत्र हुए। उनका नाम चित्र और सम्भूत रखा गया। दोनों भाइओं मे अपार स्नेह था।

उस समय वाराणसी नगरी मे शङ्ख राजा राज्य करता था। नमुचि उसका मन्त्री था। एक बार उसके किसी अपराध पर राजा क्रुद्ध हो गया और वध की आज्ञा दे दी। चाण्डाल भूतदत्त को यह कार्य सौंपा गया। उसने नमुचि को अपने घर मे छिपा लिया और कहा—"मन्त्रिन्! यदि आप मेरे तल-घर मे रहकर मेरे दोनों पुत्रों को अध्यापन कराना स्वीकार करें तो मै आपका वध नही करूँगा।" जीवन की आशा से मन्त्री ने बात मान ली। अब वह चाण्डाल के पुत्रों—चित्र और संभूत को पढाने लगा। चाण्डाल-पत्नी नमुचि की परिचर्या करने लगी। कुछ काल बीता। नमुचि चाण्डाल-स्त्री मे आसक्त हो गया। भूतदत्त ने यह बात जान ली। उसने नमुचि को मारने का विचार किया। चित्र और सभूत दोनों ने अपने पिता के विचार जान लिए। गुरु के प्रति कृतज्ञता से प्रेरित हो उन्होंने नमुचि को कहीं

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३३२

चित्तेसभूआउ वेअतो, भावओ अ नायव्वो।
तत्तो समुट्ठिअमिण, अज्झयण चित्तसभूय॥

भाग जाने की सलाह दी। नमुचि वहाँ से भागा-भागा हस्तिनापुर में आया और चक्रवर्ती सनत्कुमार का मन्त्री बन गया।

चित्र और सभूत बड़े हुए। उनका रूप और लावण्य आकर्षक था। नृत्य और सगीत मे वे प्रवीण हुए। वाराणसी के लोग उनकी कलाओं पर मुग्ध थे।

एक बार मदन-महोत्सव आया। अनेक गायक-टोलियाँ मधुर राग मे अलाप रही थीं और तरुण-तरुणियों के अनेक गण नृत्य कर रहे थे। उस समय चित्र-सभूत की नृत्य-मण्डली भी वहाँ आ गई। उनका गाना और नृत्य सबसे अधिक मनोरम था। उसे सुन और देख कर सारे लोग उनकी मण्डली की ओर चले आए। युवतियाँ मन्त्र-मुग्ध सी हो गयी। सभी तन्मय थे। ब्राह्मणो ने यह देखा। मन में ईर्ष्या उभर आई। जातिवाद की आड ले वे राजा के पास गए और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। राजा ने दोनो मातग-पुत्रो को नगर से निकाल दिया। वे अन्यत्र चले गए।

कुछ समय बीता। एक बार कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर वे दोनों मातग-पुत्र पुन नगर मे आए। वे मुँह पर कपड़ा डाले महोत्सव का आनन्द ले रहे थे। चलते-चलते उनके मुँह से सगीत के स्वर निकल पड़े। लोग अवाक् रह गए। वे उन दोनो के पास आए। आवरण हटाते ही उन्हे पहचान गए। उनका रक्त ईर्ष्या से उबल गया। "ये चाण्डाल-पुत्र है"—ऐसा कहकर उन्हे लातों और चाटों से मारा और नगर से बाहर निकाल दिया। वे बाहर एक उद्यान में ठहरे। उन्होंने सोचा—"धिक्कार है हमारे रूप, यौवन, सौभाग्य और कला-कौशल को! आज हम चाण्डाल होने के कारण प्रत्येक वर्ग से तिरस्कृत हो रहे है। हमारा सारा गुण-समूह दूषित हो रहा है। ऐसा जीवन जीने से लाभ ही क्या?" उनका मन जीने से ऊब गया। वे आत्म-हत्या का दृढ सङ्कल्प ले वहाँ से चले। एक पहाड़ पर इसी विचार से चढे। ऊपर चढकर उन्होंने देखा कि एक श्रमण ध्यान-लीन है। वे साधु के पास आए और बैठ गए। ध्यान पूर्ण होने पर साधु ने उनका नाम-धाम पूछा। दोनों ने अपना पूर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मुनि ने कहा—"तुम अनेक कला-शास्त्रों के पारगामी हो। आत्म-हत्या करना नीच व्यक्तियों का काम है। तुम्हारे जैसे विमल-बुद्धि वाले व्यक्तियो के लिए वह उचित नहीं। तुम इस विचार को छोड़ो और जिन-धर्म की शरण मे आओ। इससे तुम्हारे शारीरिक और मानसिक सभी दु ख उच्छिन्न हो जायेंगे।" उन्होने मुनि के वचन को शिरोधार्य किया और हाथ जोड़कर कहा—"भगवन्! आप हमे दीक्षित करें।" मुनि ने उन्हें योग्य समझ दीक्षा दी। गुरु-चरणों की उपासना करते हुए वे अध्ययन करने लगे। कुछ समय बाद वे गीतार्थ हुए। विचित्र तपस्याओं से आत्मा को भावित करते हुए वे ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। एक बार वे हस्तिनापुर आए। नगर के बाहर एक उद्यान मे ठहरे। एक दिन मास-क्षमण का पारणा करने के लिए मुनि सभूत नगर मे गए। भिक्षा के लिए वे घर-घर घूम रहे थे। मत्री नमुचि ने उन्हे देख कर पहचान लिया। उसकी सारी स्मृतियाँ सद्यस्क हो गई। उसने सोचा—यह मुनि मेरा सारा वृत्तान्त जानता है। वहाँ के लोगों के समक्ष यदि इसने कुछ कह डाला तो मेरी महत्ता नष्ट हो जायगी। ऐसा विचार कर उसने लाठी और मुक्को से मार कर मुनि को नगर से बाहर निकालना चाहा। कई लोग मुनि को पीटने लगे। मुनि शान्त रहे। परन्तु लोग जब अत्यन्त उग्र हो गए, तब मुनि का चित्त अशान्त हो गया। उनके मुँह से धुँआ निकला और सारा नगर अन्धकारमय हो गया। लोग घबड़ाए। अब वे मुनि को शान्त करने लगे। चक्रवर्ती सनत्कुमार भी वहाँ आ पहुँचा। उसने मुनि से प्रार्थना की—"भते! यदि हम से कोई त्रुटि हुई हो तो आप क्षमा करे। आगे हम ऐसा अपराध नही करेंगे। आप महान् हैं। नगर-निवासियों को जीवन-दान दें।" इतने से मुनि का क्रोध शान्त नही हुआ। उद्यान मे बैठे मुनि चित्र ने यह सम्वाद सुना और आकाश को धूम्र से आच्छादित देखा। वे तत्काल वहाँ आये और उन्होंने मुनि सभूत से कहा—"मुने! क्रोधानल को उपशान्त करो, उपशान्त करो। महर्षि उपशम-प्रधान होते है। वे अपराधी पर भी क्रोध नहीं करते। तुम अपनी शक्ति का सवरण करो।" मुनि सभूत का मन शान्त हुआ। उन्होंने तेजोलेश्या का सवरण किया। अधकार मिट गया। लोग प्रसन्न हुए। दोनो मुनि उद्यान मे

लौट गए। उन्होंने सोचा—"हम काय-सलेखना कर चुके है, इसलिए अब अनशन करना चाहिए।" दोनों ने बड़े धैर्य के साथ अनशन ग्रहण किया।

चक्रवर्ती सनत्कुमार ने जब यह जाना कि मन्त्री नमुचि के कारण ही सभी लोगों को सत्रास सहना पड़ा है तो उसने मन्त्री को बाँधने का आदेश दिया। मन्त्री को रस्सों से बाँध कर मुनियों के पास लाए। मुनियों ने राजा को समझाया और उसने मन्त्री को मुक्त कर दिया। चक्रवर्ती दोनों मुनियो के पैरो पर गिर पड़ा। रानी सुनन्दा भी साथ थी। उसने भी वन्दना की। अकस्मात् ही उसके केश मुनि सम्भूत के पैरों को छू गए। मुनि सम्भूत को अपूर्व आनन्द का अनुभव हुआ। उसने निदान करने का विचार किया। मुनि चित्र ने ज्ञान-शक्ति से यह जान लिया और निदान न करने की शिक्षा दी, पर सब व्यर्थ। मुनि सम्भूत ने निदान किया—"यदि मेरी तपस्या का फल है तो मै चक्रवर्ती बनूँ।"

दोनो मुनियों का अनशन चालू था। वे मर कर सौधर्म देवलोक मे देव बने। वहाँ का आयुष्य पूरा कर चित्र का जीव पुरिमताल नगर मे एक इभ्य सेठ का पुत्र बना और सम्भूत का जीव काँपिल्यपुर में ब्रह्म राजा की रानी चुलनी के गर्भ मे आया। रानी ने चौदह महा स्वप्न देखे। बालक का जन्म हुआ। उसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया।

राजा ब्रह्म के चार मित्र थे—(१) काशी देश का अधिपति कटक, (२) गजपुर का राजा कणेरदत्त, (३) कोशल देश का राजा दीर्घ और (४) चम्पा का अधिपति पुष्पचूल। राजा ब्रह्म का इनके साथ अगाध प्रेम था। वे सभी एक-एक वर्ष एक-एक के राज्य मे रहते थे। एक बार वे सब राजा ब्रह्म के राज्य मे समुदित हो रहे थे। उन्हीं दिनो की बात है, एक दिन राजा ब्रह्म को असह्य मस्तक-वेदना उत्पन्न हुई। स्थिति चिन्ताजनक बन गई। राजा ब्रह्म ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को चारो मित्रो को सौपते हुए कहा—"इसका राज्य तुम्हें चलाना है।" मित्रो ने स्वीकार किया।

कुछ काल बाद राजा ब्रह्म की मृत्यु हो गई। मित्रों ने उसका अन्त्येष्टि-कर्म किया। उस समय कुमार ब्रह्मदत्त छोटी अवस्था मे था। चारो मित्रों ने विचार-विमर्श कर कोशल देश के राजा दीर्घ को राज्य का सारा भार सौंपा और बाद मे सब अपने-अपने राज्य की ओर चले गए। राजा दीर्घ राज्य की व्यवस्था करने लगा। सर्वत्र उसका प्रवेश होने लगा। रानी चुलनी के साथ उसका प्रेम-बन्धन गाढ होता गया। दोनो नि सकोच विषय-वासना का सेवन करने लगे।

रानी के इस दुश्चरण को जानकर राजा ब्रह्म का विश्वस्त मन्त्री धनु चिन्ताग्रस्त हो गया। उसने सोचा—"जो व्यक्ति अधम आचरण मे फँसा हुआ है, वह भला कुमार ब्रह्मदत्त का क्या हित साध सकेगा?"

उसने रानी चुलनी और राजा दीर्घ के अवैध-सम्बन्ध की बात अपने पुत्र वरधनु के द्वारा कुमार तक पहुँचाई। कुमार को यह बात बहुत बुरी लगी। उसने एक उपाय ढूँढा। एक कौवे और एक कोकिल को पिंजरे मे बन्द कर अन्त पुर मे ले गया और रानी चुलनी को सुनाते हुए कहा—"जो कोई भी अनुचित सम्बन्ध जोड़ेगा, उसे मै इसी प्रकार पिंजरे मे डाल दूँगा।" राजा दीर्घ ने यह बात सुनी। उसने चुलनी से कहा—"कुमार ने हमारा सम्बन्ध जान लिया है। मुझे कौवा और तुम्हे कोयल मान सकेत दिया है। अब हमे सावधान हो जाना चाहिए।" चुलनी ने कहा—"वह अभी बच्चा है। जो कुछ मन मे आता है कह देता है।" राजा दीर्घ ने कहा—"नहीं, ऐसा नही है। वह हमारे प्रेम मे बाधा डालने वाला है। उसको मारे बिना अपना सम्बम्ध नही निभ सकता।" चुलनी ने कहा—"जो आप कहते है, वह सही है किन्तु उसे कैसे मारा जाय? लोकापवाद से भी तो हमें डरना चाहिए।" राजा दीर्घ ने कहा—"जनापवाद से बचने के लिए पहले हम इसका विवाह कर दें, फिर ज्यों-त्यो इसे मार देंगे।" रानी ने बात मान ली।

एक शुभ-वेला मे कुमार का विवाह सम्पन्न हुआ। उसके शयन के लिए राजा दीर्घ ने हजार स्तम्भ वाला एक लाक्षा-गृह बनवाया।

इधर मन्त्री धनु ने राजा दीर्घ से प्रार्थना की—"स्वामिन्। मेरा पुत्र वरधनु मन्त्री-पद का कार्यभार सभालने के योग्य हो गया है। मै अब कार्य से निवृत्त होना चाहता हूँ।" राजा ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और छलपूर्वक कहा—"तुम और कही जा कर क्या करोगे ? यही रहो और दान आदि धर्मों का पालन करो।" मन्त्री ने राजा की बात मान ली। उसने नगर के बाहर गङ्गा नदी के तट पर एक विशाल प्याऊ बनाई। वहाँ वह पथिकों और परिव्राजको को प्रचुर अन्न-पान देने लगा। दान और सम्मान के वशीभूत हुए पथिकों और परिव्राजकों द्वारा उसने लाक्षा-गृह से प्याऊ तक एक सुरग खुदवाई। राजा-रानी को इस सुरग की बात ज्ञात नही हुई।

रानी चुलनी ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपनी नववधू के साथ उस लाक्षा-गृह मे भेजा। दोनो वहाँ गए। रानी ने शेष सभी ज्ञाति-जनों को अपने-अपने घर भेज दिया। मन्त्री का पुत्र वरधनु वही रहा। रात्रि के दो पहर बीते। कुमार ब्रह्मदत्त गाढ निद्रा मे लीन था। वरधनु जाग रहा था। अचानक लाक्षा-गृह एक ही क्षण मे प्रदीप्त हो उठा। हाहाकार मचा। कुमार जागा और दिङ्मूढ बना हुआ वरधनु के पास आ बोला—"यह क्या हुआ ? अब क्या करें ?" वरधनु ने कहा—"यह राज-कन्या नही है, जिसके साथ आपका पाणि-ग्रहण हुआ है। इसमे प्रतिबन्ध करना उचित नही है। चलो हम चलें।" उसने कुमार ब्रह्मदत्त को एक सकेतित स्थान पर लात मारने को कहा। कुमार ने लात मारी। सुरग का द्वार खुल गया। वे उसमें घुसे। मन्त्री ने पहले ही अपने दो विश्वासी पुरुष सुरग के द्वार पर नियुक्त कर रखे थे। वे घोडो पर चढे हुए थे। ज्यों ही कुमार ब्रह्मदत्त और वरधनु सुरग से बाहर निकले त्यों ही उन्हे घोड़ों पर चढा दिया। वे दोनों वहाँ से चले। पचास योजन दूर जा कर ठहरे। लम्बी यात्रा के कारण घोडे खिन्न हो कर गिर पडे। अब वे दोनों वहाँ से पैदल चले। वे चलते-चलते वाराणसी पहुँचे। राजा कटक ने जब यह सवाद सुना तब वह बहुत ही प्रसन्न हुआ और पूर्ण सम्मान से कुमार ब्रह्मदत्त का नगर मे प्रवेश करवाया। अपनी पुत्री कटकावती से उसका विवाह किया। राजा कटक ने दूत भेजकर सेना सहित पुष्पचूल को बुला लिया। मन्त्री धनु और राजा कणेरुदत्त भी वहाँ आ पहुँचे। और भी अनेक राजा मिल गए। उन सबने वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त कर काँपिल्यपुर पर चढाई कर दी। घमासान युद्ध हुआ। राजा दीर्घ मारा गया। "चक्रवर्ती की विजय हुई"—यह घोष चारों ओर फैल गया। देवों ने आकाश से फूल बरसाए। "बारहवाँ चक्रवर्ती उत्पन्न हुआ है"—यह नाद हुआ। सामन्तो ने कुमार ब्रह्मदत्त का चक्रवर्ती के रूप मे अभिषेक किया।

राज्य का परिपालन करता हुआ ब्रह्मदत्त सुखपूर्वक रहने लगा। एक बार एक नट आया। उसने राजा से प्रार्थना की—"मै आज मधुकरी गीत नामक नाट्य-विधि का प्रदर्शन करना चाहता हूँ।" चक्रवर्ती ने स्वीकृति दे दी। अपराह्न मे नाटक होने लगा। उस समय एक कर्मकरी ने फूल-मालाएँ ला कर राजा के सामने रखी। राजा ने उन्हें देखा और मधुकरी गीत सुना। तब चक्रवर्ती के मन मे एक विकल्प उत्पन्न हुआ—"ऐसा नाटक उसके पहले भी कही देखा है।" वह इस चिन्तन मे लीन हुआ और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई। उसने जान लिया कि ऐसा नाटक मैने सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान मे देखा था।

इसकी स्मृति मात्र से वह मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पडा। पास में बैठे हुए सामन्त उठे, चन्दन का लेप किया। राजा की चेतना लौट आई। सम्राट् आश्वस्त हुआ। पूर्वजन्म के भाई की याद सताने लगी। उसकी खोज करने के लिए उसने एक मार्ग ढूँढा। रहस्य को छिपाते हुए सम्राट् ने महामात्य वरधनु से कहा—"आस्वदासौ, मृगौ हसौ, मातगावमरौ तथा"—इस श्लोकार्द्ध को सब जगह प्रचारित करो और यह घोषणा करो कि इस श्लोक की पूर्ति करने वाले को सम्राट् अपना आधा राज्य देगा। प्रतिदिन यह घोषणा होने लगी। यह अर्द्ध श्लोक दूर-दूर तक प्रसारित हो गया और व्यक्ति-व्यक्ति को कण्ठस्थ हो गया।

इधर चित्र का जीव देवलोक से च्युत हो कर पुरिमताल नगर मे एक इभ्य सेठ के घर जन्मा। युवा हुआ। एक दिन पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और वह मुनि बन गया। एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते-करते वही कांपिल्यपुर मे आया और मनोरम नाम के कानन में ठहरा। एक दिन वह कायोत्सर्ग कर रहा था। उसी समय रहँट को चलाने वाला एक व्यक्ति वहाँ बोल उठा—

"आस्वदासौ मृगौ हसौ, मातगावमरौ तथा।"

मुनि ने यह सुना और उसके आगे के दो चरण पूरा करते हुए कहा—

"एषा नौ षष्ठिका जाति, अनन्योन्याभ्यां वियुक्तयो ॥"

रहँट चलाने वाले उस व्यक्ति ने उन दोनों चरणों को एक पत्र में लिखा और आधा राज्य पाने की खुशी में वह दौड़ा-दौडा राज-दरबार मे पहुँचा। सम्राट् की अनुमति प्राप्त कर वह राज्यसभा मे गया और एक ही साँस मे पूरा श्लोक सम्राट् को सुना डाला। उसे सुनते ही सम्राट् स्नेहवश मूर्च्छित हो गए। सारी सभा क्षुब्ध हो गई। सभासद क्रुद्ध हुए और उसे पीटने लगे। उन्होंने कहा—"तू ने सम्राट् को मूर्च्छित कर दिया। यह कैसी तेरी श्लोक-पूर्ति ?" मार पड़ी तब वह बोला—"मुझे मत मारो। श्लोक की पूर्ति मैंने नही की है।" "तो किसने की है ?"—सभासदों ने पूछा। वह बोला—"मेरे रहँट के पास खड़े एक मुनि ने की है।" अनुकूल उपचार पा कर सम्राट् सचेतन हुआ। सारी बात की जानकारी प्राप्त की और वह मुनि के दर्शन के लिए सपरिवार चल पड़ा। कानन मे पहुँचा। मुनि को देखा। वन्दना कर विनयपूर्वक उनके पास बैठ गया। बिछुड़ा हुआ योग पुन मिल गया। अब वे दोनो भाई सुख-दु ख के फल-विपाक की चर्चा करने लगे। वही चर्चा इस अध्ययन में प्रतिपादित है। बौद्ध ग्रथों मे भी इस कथा का प्रकारान्तर से उल्लेख मिलता है[1]।

१—मिलाइए—चित्र-सभूत जातक संख्या ४६८,

तेरसमं अज्झयणं : त्रयोदश अध्ययन
चित्तसम्भूइज्जं : चित्र-सम्भूतीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जाईपराजिओ खलु कासि नियाण तु हत्थिणपुरम्मि। चुलणीए वम्भदत्तो उववन्नो पउमगुम्माओ ॥	जाति-पराजित' खलु अकार्षीत् निदान तु हस्तिनापुरे। चुलन्या ब्रह्मदत्त उपपन्न पद्मगुल्मात् ॥	१—जाति से पराजित हुए सम्भूत ने हस्तिनापुर में निदान (चक्रवर्ती होऊँ—ऐसा सङ्कल्प) किया। वह पद्म-गुल्म नामक विमान में देव बना। वहाँ से च्युत होकर चुलनी की कोख में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के रूप में उत्पन्न हुआ।
२—कम्पिल्ले सभूओ चित्तो पुण जाओ पुरिमतालम्मि। सेट्ठिकुलम्मि विसाले धम्म सोऊण पव्वइओ ॥	काम्पिल्ये सम्भूत चित्र' पुनर्जातः पुरिमताले। श्रेष्ठि-कुले विशाले धर्म-श्रुत्वा प्रव्रजितः ॥	२—सम्भूत काम्पिल्य नगर में उत्पन्न हुआ। चित्र पुरिमताल में एक विशाल श्रेष्ठि-कुल में उत्पन्न हुआ। वह धर्म सुन प्रव्रजित हो गया।
३—कम्पिल्लम्मि य नयरे समागया दो वि चित्तसम्भूया। सुहदुक्खफलविवाग कहेन्ति ते एक्कमेक्कस्स ॥	काम्पिल्ये च नगरे समागतौ द्वावपि चित्र-सम्भूतौ। सुख-दुःख-फल-विपाक कथयतस्तावेकैकस्य ॥	३—काम्पिल्य नगर मे चित्र और सम्भूत दोनो मिले। दोनो ने परस्पर एक दूसरे के सुख-दु ख के विपाक की वात की।
४—चक्कवट्टी महिड्ढीओ वम्भदत्तो महायसो। भायर वहुमाणेण इम वयणमव्ववी ॥	चक्रवर्ती महर्द्धिक ब्रह्मदत्तो महायशा । भ्रातर वहु-मानेन इद वचनमब्रवीत् ॥	४—महान् ऋद्धि-सम्पन्न और महान् यशस्वी चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने वहुमान-पूर्वक अपने भाई से इस प्रकार कहा—
५—आसिमो भायरा दो वि अन्नमन्नवसाणुगा । अन्नमन्नमणूरत्ता अन्नमन्नहिएसिणो ॥	आस्व भ्रातरौ द्वावपि अन्योऽन्यवशानुगौ। अन्योऽन्यमनुरक्तौ अन्योऽन्य हितैषिणौ ॥	५—"हम दोनो भाई थे—एक दूसरे के वशवर्ती, परस्पर अनुरक्त और परस्पर हितैषी।

६—दासा दसण्णे आसी
मिया कालिंजरे नगे।
हसा मयगतीरे[1]
सोवागा[2] कासिभूमिए ॥

दासौ दशार्णेषु आस्व
मृगौ कालिंजरे नगे।
हंसौ मृत-गङ्गातीरे
श्वपाकौ काशीभूम्याम् ॥

६—"हम दोनो दशार्ण देश में दास, कालिंजर पर्वत पर हरिण, मृत-गङ्गा के किनारे हस और काशी देश में चाण्डाल थे।

७—देवा य[3] देवलोगम्मि
आसि अम्हे महिड्ढिया।
'इमा नो'[4] छट्ठिया जाई
अन्नमन्नेण जा विणा ॥

देवौ च देवलोके
आस्वाऽऽवा महर्द्धिकौ।
इय नौ षष्ठिका जाति
अन्योऽन्येन या विना ॥

७—"हम दोनो सौधर्म देवलोक में महान् ऋद्धि वाले देव थे। यह हमारा छठवाँ जन्म है, जिसमें हम एक दूसरे से विछुड गये।"

८—कम्मा नियाणप्पगडा
तुमे राय विचिन्तिया।
तेसिं फलविवागेण
विप्पओगमुवागया ॥

कर्माणि निदान-प्रकृतानि
त्वया राजन्! विचिन्तितानि।
तेषा फल-विपाकेन
विप्रयोगमुपागतौ ॥

८—(मुनि—) "राजन्! तू ने निदान-कृत (भोग-प्रार्थना से वद्धयमान) कर्मो का चिन्तन किया। उनके फल-विपाक से हम विछुड गये।"

९—सच्चसोयप्पगडा
कम्मा मए पुरा कडा।
ते अज्ज परिभुजामो
किं नु चित्ते वि से तहा ? ॥

सत्य-शौच-प्रकटानि
कर्माणि मया पुराकृतानि।
तान्यद्य परिभुजे
किन्तु चित्रोऽपि तानि तथा ? ॥

९—(चक्री—) "चित्र! मैंने पूर्व-जन्म में सत्य और शौचमय शुभ अनुष्ठान किये थे। आज मैं उनका फल भोग रहा हूँ। क्या तू भी वैसा ही भोग रहा है ?"

१०—सव्व सुचिण्ण सफल नराण
कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं
आया मम पुण्णफलोववेए ॥

सर्वं सुचीर्णं सफल नराणां
कृतेभ्यः कर्मभ्यो न मोक्षोऽस्ति।
अर्थैः कामैश्चोत्तमैः
आत्मा मम पुण्य-फलोपेत ॥

१०—(मुनि—) "मनुष्यो का सव सुचीर्ण (सुकृत) सफल होता है। किए हुए कर्मो का फल भोगे बिना मुक्ति नही होती। मेरी आत्मा उत्तम अर्थ और कामों के द्वारा पुण्य-फल से युक्त है।"

११—जाणासि सभूय! महाणुभागं
महिड्ढिय पुण्णफलोववेयं।
चित्त पि जाणाहि तहेव राय!
इड्ढी जुई तस्स वि य प्पभूया ॥

जानासि सम्भूत! महानुभागं
महर्द्धिक पुण्य-फलोपेतम्।
चित्रमपि जानीहि तथैव राजन्!
ऋद्धिर्द्युतिस्तस्यापि च प्रभूता ॥

११—"सम्भूत! जिस प्रकार तू अपने को महान् अनुभाग (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल से युक्त मानता है, उसी प्रकार चित्र को भी जान। राजन्! उसको भी प्रचुर ऋद्धि और द्युति थी।

१. मयगतीराए (अ, उ, ऋ०)।
२. चडाला (उ, ऋ०)।
३ वि (उ)।
४ इमामे (बृ०), इमाणो (वृ० पा०)।

१२—महत्थरूवा वयणप्पभूया
गाहाणुगीया नरसंघमज्झे।
जं भिक्खुणो सीलगुणोववेया
'इहऽज्जयन्ते समणो' 'म्हि जाओ॥[1]

महार्थरूपा वचनाऽल्पभूता
गाथाऽनुगीता नर-संघ-मध्ये।
या भिक्षव शील-गुणोपेताः
इहार्जयन्ति श्रमणोऽस्मि जातः॥

१२—"स्थविरों ने जन समुदाय के बीच अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाली जो गाथा गाई, जिसे शील और श्रुत से सम्पन्न भिक्षु बड़े यत्न से अर्जित करते हैं, उसे सुनकर मैं श्रमण हो गया।"

१३—उच्चोयए महु कक्के य बम्भे
पवेइया आवसहा 'य रम्मा'[2]।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं[3]
पसाहि पंचालगुणोववेयं॥

उच्चोदयो मधु कर्कश्च ब्रह्मा
प्रवेदिता आवसथाश्च रम्याः।
इदं गृहं प्रभूत-चित्र-धनं
प्रशाधि पञ्चालगुणोपेतम्॥

१३—(चक्री—) "उच्चोदय, मधु, कर्क, मध्य और ब्रह्मा—ये प्रधान प्रासाद तथा दूसरे अनेक रम्य प्रासाद हैं। पंचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर एवं विचित्र हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है—इसका तू उपभोग कर।

१४—नट्टेहि गीएहि य वाइएहिं
नारीजणाइं परिवारयन्तो[4]।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू!
मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं॥

नाट्यैर्गीतैश्च वादित्रैः
नारी-जनान् परिवारयन्।
भुङ्क्ष्व भोगानिमान् भिक्षो!
मह्यं रोचते प्रव्रज्या खलु दुःखम्॥

१४—"हे भिक्षु! तू नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारी-जनों को परिवृत्त करता हुआ इन भोगों को भोग। यह मुझे रुचता है। प्रव्रज्या वास्तव में ही कष्टकर है।"

१५—तं पुव्वनेहेण कयाणुरागं
नराहिवं कामगुणेसु गिद्धं।
धम्मस्सिओ तस्स हियाणुपेही
चित्तो इमं वयणमुदाहरित्था[5]॥

तं पूर्व-स्नेहेन कृतानुरागं
नराधिपं काम-गुणेषु गृद्धम्।
धर्माश्रितस्तस्य हितानुप्रेक्षी
चित्र इदं वचनमुदाहार्षीत्॥

१५—धर्म में स्थित और उस (राजा) का हित चाहने वाले चित्र मुनि ने पूर्व-भव के स्नेह-वश अपने प्रति अनुराग रखने वाले काम-गुणों में आसक्त राजा से यह वचन कहा—

१६—सव्वं विलवियं गीयं
सव्वं नट्टं विडम्बियं[6]।
सव्वे आभरणा भारा
सव्वे कामा दुहावहा॥

सर्वं विलपितं गीतं
सर्वं नाट्यं विडम्बितम्।
सर्वाण्याभरणानि भाराः
सर्वे कामा दुःखावहाः॥

१६—"सब गीत विलाप है, सब नाट्य विडम्बना है, सब आभरण भार है और सब काम-भोग दुःखकर हैं।

---

१. इहऽज्जवते समणो (चू० पा०), इहऽज्जयन्ते समणो (वृ० पा०)।
२. ऽतिरम्मा, सुरम्मा वा (वृ० पा०)।
३. वित्तधणोववेयं (वृ०), धणवित्तोववेयं (चू०); चित्तधणप्पभूयं (वृ० पा०)।
४. पवियारियंतो (वृ० पा०), परियारयंतो (अ, उ, ऋ०)।
५. वक्क॰ (वृ०), वयण० (वृ० पा०)।
६. विडंबणा (उ, चू०)।

१७—'बालाभिरामेसु दुहावहेसु
न त सुह कामगुणेसु राय!।
विरत्तकामाण तवोधणाण
ज भिक्खुण सीलगुणे रयाण॥'[1]

बालाभिरामेषु दुःखावहेषु
न तत्सुखं काम-गुणेषु राजन्!।
विरक्त-कामानां तपोधनानां
यद् भिक्षूणां शील-गुणे रतानाम्॥

१७—"राजन्! अज्ञानियो के लिए रमणीय और दु खकर काम-गुणो में वह सुख नही है, जो सुख कामो से विरक्त, शील और गुण में रत तपोधन भिक्षु को प्राप्त होता है।

१८—नरिंद! जाई अहमा नराण
सोवागजाई दुहओ गयाण।
जहिं वय सव्वजणस्स वेस्सा
वसीय सोवागनिवेसणेसु॥

नरेन्द्र! जातिरधमा नराणा
श्वपाक-जातिर्द्वयोः गतयोः।
यस्यामावां सर्वजनस्य द्वेष्यौ
अवसाव श्वपाक-निवेशनेषु॥

१८—"नरेन्द्र! मनुष्यो में चाण्डाल-जाति अधम है। उसमें हम दोनो उत्पन्न हो चुके है। वहाँ हम चाण्डालो की बस्ती में रहते थे और सब लोग हम से द्वेष करते थे।

१९—तीसे य जाईइ उ पावियाए
वुच्छामु सोवागनिवेसणेसु।
सव्वस्स लोगस्स दुगंछणिज्जा
इह तु कम्माइ पुरेकडाइ॥

तस्या च जातौ तु पापिकायाम्
उषितौ आवां श्वपाक-निवेशनेषु।
सर्वस्य लोकस्य जुगुप्सनीयौ
इह तु कर्माणि पुराकृतानि॥

१९—"दोनो ने कुत्सित चाण्डाल-जाति में जन्म लिया और चाण्डालों की बस्ती में निवास किया। सब लोग हमसे घृणा करते थे। इस जन्म में जो उच्चता प्राप्त हुई है, वह पूर्व-कृत शुभ कर्मों का फल है।

२०—सो दाणि सिं राय! महाणुभागो
महिड्ढिओ पुण्णफलोववेओ।
चइत्तु भोगाइ असासयाइ
'आयाणहेउ अभिणिक्खमाहि'[2]॥

स इदानी राजा महानुभागः
महर्द्धिकः पुण्य-फलोपेतः।
त्यक्त्वा भोगानशाश्वतान्
आदान-हेतोरभिनिष्क्राम॥

२०—"उसी के कारण वह तू महान् अनुभाव (अचिन्त्य-शक्ति) सम्पन्न, महान् ऋद्धिमान् और पुण्य-फल युक्त राजा बना है। इसीलिए तू अशाश्वत भोगो को छोड कर चारित्र-धर्म की आराधना के लिए अभिनिष्क्रमण कर।

२१—इह जीविए राय! असासयम्मि
धणियं तु पुण्णाइ अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए
धम्मं अकाऊण परंसि लोए॥

इह जीविते राजन्! अशाश्वते
अत्यर्थं तु पुण्यान्यकुर्वाणः।
स शोचति मृत्युमुखोपनीत
धर्ममकृत्वा परस्मिँल्लोके॥

२१—"राजन्! जो इस अशाश्वत जीवन में प्रचुर शुभ अनुष्ठान नही करता, वह मृत्यु के मुँह में जाने पर पश्चात्ताप करता है और धर्म की आराधना नही होने के कारण परलोक में भी पश्चात्ताप करता है।

२२—जहेह सीहो व मियं गहाय
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया 'व पिया व भाया'[3]
कालम्मि तम्मिसहरा[4] भवंति॥

यथेह सिंहो वा मृग गृहीत्वा
मृत्युर्नर नयति खलु अन्तकाले।
न तस्य माता वा पिता वा भ्राता
काले तस्यांशधरा भवन्ति॥

२२—"जिस प्रकार सिंह हरिण को पकड कर ले जाता है, उसी प्रकार अन्तकाल में मृत्यु मनुष्य को ले जाती है। काल आने पर उसके माता-पिता या भाई अंशधर नही होते—अपने जीवन का भाग दे कर बचा नही पाते।

---

१ यह श्लोक चूर्णि में व्याख्यात नहीं है।

२. आदाणमेव अणुचितयाहि (चू०), आदाण हेउं अभिणिक्खमाहि (चू० पा०), आयाणमेवा अणुचिंतयाहि (बृ० पा०)।

३. न पिया न भाया (उ)।

४. तम्मसहरा (उ)।

२३—न तस्स दुक्ख विभयन्ति नाइओ
न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सय पच्चणुहोइ दुक्ख
कत्तारमेव अणुजाइ कम्म ॥

न तस्य दुःख विभजन्ति ज्ञातयः
न मित्र-वर्गा न सुता न बान्धवाः।
एकः स्वय प्रत्यनुभवति दुःख
कर्तारमेवानुयाति कर्म ॥

२३—"ज्ञाति, मित्र-वर्ग, पुत्र और बान्धव उसका दुःख नहीं बँटा सकते। वह स्वय अकेला दुःख का अनुभव करता है। क्योंकि कर्म कर्त्ता का अनुगमन करता है।

२४—चेच्चा दुपय च चउप्पय च
खेत्त गिह धणधन्न च सव्व।
कम्मप्पबीओ[1] अवसो पयाइ
पर भव सुदर पावग वा ॥

त्यक्त्वा द्विपद च चतुष्पद च
क्षेत्र गृह धन-धान्य च सर्वम्।
कर्मात्म-द्वितीयोऽवश[1] प्रयाति
पर भव सुन्दर पापक वा ॥

२४—"यह पराधीन आत्मा द्विपद, चतुष्पद, खेत, घर, धन, धान्य, वस्त्र आदि सब कुछ छोड कर केवल अपने किये कर्मों को साथ लेकर सुखद या दुःखद पर-भव में जाता है।

२५—त इक्कग तुच्छसरीरग से
चिईगय डहिय उ पावगेण।
भज्जा य पुत्ता[2] वि य नायओ य
दायारमन्न अणुसकमन्ति ॥

तदेकक तुच्छ-शरीरक तस्य
चिति-गत दग्ध्वा तु पावकेन।
भार्या च पुत्रोपि च ज्ञातयश्च
दातारमन्यमनुसङ्क्रामन्ति ॥

२५—"उस अकेले और असार शरीर को अग्नि से चिता में जलाकर स्त्री, पुत्र और ज्ञाति किसी दूसरे दाता (जीविका देने वाले) के पीछे चले जाते है।

२६—उवणिज्जई जीवियमप्पमाय
वण्ण जरा हरइ नरस्स राय!।
पचालराया! वयण सुणाहि
मा कासि कम्माइ महालयाइ ॥

उपनीयते जीवितमप्रमाद
वर्ण जरा हरति नरस्य राजन्!।
पञ्चाल-राज! वचन शृणु
मा कार्षीः कर्माणि महालयानि ॥

२६—"राजन्! कर्म विना भूल किए (निरन्तर) जीवन को मृत्यु के समीप ले जा रहे हैं। बुढापा मनुष्य के वर्ण (सुस्निग्ध काति) का हरण कर रहा है। पचाल-राज! मेरा वचन सुन। प्रचुर कर्म मत कर।"

२७—अह पि जाणामि 'जहेह साहू!'[3]
ज मे तुम साहसि वक्कमेय।
भोगा इमे सगकरा हवन्ति
जे दुज्जया अज्जो! अम्हारिसेहिं ॥

अहमपि जानामि यथेह साधो!
यन्मम त्व साधयसि वाक्यमेतत्।
भोगा इमे सङ्गकरा भवन्ति
ये दुर्जया आर्य! अस्मादृशैः ॥

२७—(चक्री—) "साधो! तू जो मुझे यह वचन जैसे कह रहा है, वैसे मैं भी जानता हूँ कि ये भोग आसक्तिजनक होते है। किन्तु हे आर्य! हमारे जैसे व्यक्तियों के लिए वे दुर्जय हैं।

२८—हत्थिणपुरम्मि चित्ता!
दट्ठूण नरवइ महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेण
नियाणमसुह कड ॥

हस्तिनापुरे चित्र!
दृष्ट्वा नरपतिं महर्द्धिकम्।
काम-भोगेषु गृद्धेन
निदानमशुभ कृतम् ॥

२८—"चित्र मुने! हस्तिनापुर में महान् ऋद्धि वाले चक्रवर्ती (सनतकुमार) को देख भोगो में आसक्त होकर मैंने अशुभ निदान (भोग-सङ्कल्प) कर डाला।

१. सकम्मप्पबीओ (उ), सकम्मबीओ (ऋ०), कम्मप्पविइओ (अ)।
२ पुत्तो (बृ०)।
३ जो एत्थ सारो (बृ० पा०, चू०)।

२९—तस्स मे अपडिकन्तस्स
इम एयारिस फल।
जाणमाणो वि ज धम्म
कामभोगेसु मुच्छिओ॥

तस्मान्मेऽप्रतिक्रान्तस्य
इदमेतादृशं फलम्।
जानन्नपि यद्ध धर्म
काम-भोगेषु मूर्च्छितः॥

२९—"उसका मैंने प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) नही किया। उसी का यह ऐसा फल है कि मैं धर्म को जानता हुआ भी काम-भोगो में मूर्च्छित हो रहा हूँ।

३०—नागो जहा पकजलावसन्नो
दट्ठु थल नाभिसमेइ तीर।
एव वय कामगुणेसु गिद्धा
न भिक्खुणो मग्गमणुव्वयामो॥

नागो यथा पङ्क-जलावसन्न
दृष्ट्वा स्थल नाभिसमेति तीरम्।
एव वयं काम-गुणेषु गृद्धाः
न भिक्षोर्मार्गमनुव्रजाम॥

३०—"जैसे पक-जल (दलदल) में फँसा हुआ हाथी स्थल को देखता हुआ भी किनारे पर नही पहुँच पाता, वैसे ही काम-गुणो में आसक्त वने हुए हम श्रमण-धर्म को जानते हुए भी उसका अनुसरण नही कर पाते।"

३१—अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिस चयन्ति[1]
दुम जहा खीणफल व पक्खी॥

अत्येति कालस्त्वरन्ते रात्रयः
न चापि भोगाः पुरुषाणा नित्याः।
उपेत्य भोगाः पुरुष त्यजन्ति
द्रुम यथा क्षीणफलमिव पक्षी॥

३१—(मुनि—) "जीवन वीत रहा है। रात्रियाँ दौडी जा रही है। मनुष्यों के भोग भी नित्य नही है। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड देते हैं, जैसे क्षीण फल वाले वृक्ष को पक्षी।

३२—'जइ ता सि'[2] भोगे चइउ असत्तो
अज्जाइ कम्माइ करेहि राय!।
धम्मे ठिओ सव्वपयाणुकम्पी
तो होहिसि देवो इओ विउव्वी॥

यदि तावदसि भोगान् त्यक्तुमशक्तः
आर्याणि कर्माणि कुरु राजन्!।
धर्मे स्थितः सर्वप्रजानुकम्पी
तस्माद्भविष्यसि देव इतो वैक्रियी॥

३२—"राजन्! यदि तू भोगों का त्याग करने में असमर्थ है तो आर्य-कर्म कर। धर्म में स्थित होकर सब जीवों पर अनुकम्पा करने वाला बन, जिससे तू जन्मान्तर में वैक्रिय शरीर वाला देव होगा।

३३—न तुज्झ भोगे चइऊण बुद्धी
गिद्धो सि आरम्भपरिग्गहेसु।
मोह कओ एत्तिउ विप्पलावो
गच्छामि राय! आमन्तिओ सि॥

न तव भोगान् त्यक्तु बुद्धिः
गृद्धोसि आरम्भ-परिग्रहेषु।
मोघं कृत एतावान् विप्रलापः
गच्छामि राजन्! आमन्त्रितोऽसि॥

३३—"तुझ में भोगो को त्यागने की बुद्धि नही है। तू आरम्भ और परिग्रह में आसक्त है। मैंने व्यर्थ ही इतना प्रलाप किया। तुझे आमन्त्रित (सम्बोधित) किया। राजन्! अब मैं जा रहा हूँ।"

३४—पचालराया वि य बम्भदत्तो
साहुस्स तस्स[3] वयण अकाउ।
अणुत्तरे भुजिय कामभोगे
अणुत्तरे सो नरए पविट्ठो॥

पञ्चाल-राजोपि च ब्रह्मदत्तः
साधोस्तस्य वचनमकृत्वा।
अनुत्तरान् भुक्त्वा काम-भोगान्
अनुत्तरे स नरके प्रविष्टः॥

३४—पचाल जनपद के राजा ब्रह्मदत्त ने मुनि के वचन का पालन नही किया। वह अनुत्तर काम-भोगों को भोग कर अनुत्तर नरक में गया।

---
१. जहति (चू०)।
२. जइ तसि (उ, वृ० पा०, ऋ०), जईऽसि (चू०)।
३. तस्सा (अ, आ, इ, स)।

३५—चित्तो वि कामेहि विरत्तकामो
उदग्गचारित्ततवो[1] महेसी ।
अणुत्तरं सजम पालइत्ता
अणुत्तरं सिद्धिगइं गओ ॥
—त्ति बेमि ।

चित्रोपि कामेभ्यो विरक्त-काम
उदग्र-चारित्र-तपा महर्षि: ।
अनुत्तर सयम पालयित्वा
अनुत्तरां सिद्धि-गति गतः ॥
—इति ब्रवीमि ।

३५—कामना से विरक्त और प्रधान चारित्र-तप वाला महर्षि चित्र अनुत्तर सयम का पालन कर अनुत्तर सिद्धि-गति को प्राप्त हुआ ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. उदत्त° (चू०, बृ०, छ०)।

चउदसमं अज्झयणं :
उसुयारिज्जं

चतुर्दश अध्ययन :
इषुकारीय

आमुख

इस अध्ययन के छह पात्र है—(१) महाराज इषुकार, (२) रानी कमलावती, (३) पुरोहित भृगु, (४) पुरोहित की पत्नी यशा और (५-६) पुरोहित के दो पुत्र ।

इनमे भृगु पुरोहित का कुटुम्ब ही इस अध्ययन का प्रधान पात्र है । किन्तु राजा की लौकिक प्रधानता के कारण इस अध्ययन का नाम 'इषुकारीय' रखा गया है ।[1]

इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है 'अन्यत्व भावना' का उपदेश । आगम-काल में कई मतावलम्बियों की यह मान्यता थी कि पुत्र के बिना गति नहीं होती, स्वर्ग नहीं मिलता । जो व्यक्ति गृहस्थ-धर्म का पालन करता है वह स्वर्ग प्राप्त कर लेता है । जिसके कोई सन्तान नहीं है उसका कोई लोक नही होता । पुत्र से ही परभव होता है—सुधरता है । इसी के फलस्वरूप—

१—"अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च ।
गृहिधर्ममनुष्ठाय, तेन स्वर्गं गमिष्यति ॥"

२—"अनपत्यस्य लोका न सन्ति ।"

३—"पुत्रेण जायते लोक, इत्येषा वैदिकी श्रुति ।
अथ पुत्रस्य पुत्रेण, स्वर्गलोके महीयते ॥"

आदि-आदि सूक्त प्रचलित हो रहे थे और लोगों का अधिक भाग इसमे विश्वास करने लगा था । पुत्र-प्राप्ति के लिए सभी समावित प्रयत्न किए जाते थे । पुत्रोत्पत्ति से जीवन की महान् सफलता मानी जाती थी । इस विचार-धारा ने दाम्पत्य-जीवन का उद्देश्य स्पष्ट कर दिया था, परन्तु अध्यात्म के प्रति उदासीन भाव प्रतिदिन बढते जा रहे थे । उस समय यह भी मान्यता प्रचलित थी कि यदि पुत्र से ही स्वर्ग-प्राप्ति हो जाती है तो दान आदि धर्म व्यर्थ है ।

भगवान् महावीर स्वर्ग और नरक की प्राप्ति मे व्यक्ति-व्यक्ति की प्रवृत्ति को महत्त्व देते थे । उन्होंने कहा—"पुण्य-पाप व्यक्ति-व्यक्ति का अपना होता है । माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-स्त्री आदि कोई भी प्राणी त्राण नही होता । सबको स्वतन्त्र रूप से अपने-अपने कर्मों का फल-विपाक भोगना पड़ता है ।" इस अध्ययन में इस भावना का स्फुट चित्रण है ।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६२
उसुआरनामगोए वेयतो भावओ अ उसुआरो ।
तत्तो समुट्ठियमिण उसुआरिज्जति अज्झयण ॥

निर्युक्तिकार ने ग्यारह गाथाओ मे कथावस्तु को प्रस्तुत किया है। उसमे सभी पात्रों के पूर्व-भव, वर्तमान-भव में उनकी उत्पत्ति तथा निर्वाण का संक्षिप्त चित्रण है।[1]

पूर्व अध्ययन मे वर्णित चित्र और सम्भूत के पूर्व-जन्म मे दो ग्वाले मित्र थे। उन्हे साधु के अनुग्रह से सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। वे वहाँ से मर कर देवलोक में गए। वहाँ से च्युत हो कर उन्होंने क्षितिप्रतिष्ठित नगर के एक इभ्य-कुल मे जन्म लिया। वे बडे हुए। चार इभ्य-पुत्र उनके मित्र बने। उन सबने युवावस्था मे काम-भोगों का उपभोग किया, फिर स्थविरो से धर्म सुन प्रव्रजित हुए। चिरकाल तक सयम का अनुपालन किया। अन्त में अनशन कर सौधर्म देवलोक के पद्मगुल्म नामक विमान मे चार पल्य की स्थिति वाले देव बने। दोनों ग्वाल-पुत्रों को छोड कर शेष चारो मित्र वहाँ से च्युत हुए। उनमे एक कुरु जनपद के इषुकार नगर में इषुकार नाम का राजा हुआ और दूसरा उसी राजा की रानी कमलावती। तीसरा भृगु नाम का पुरोहित हुआ और चौथा भृगु पुरोहित की पत्नी यशा। बहुत काल बीता। भृगु पुरोहित के कोई पुत्र नही हुआ। पति-पत्नी चिन्तित रहने लगे।

एक बार उन दोनो ग्वाल-पुत्रों ने, जो अभी देव-भव मे थे, अवधिज्ञान से जाना कि वे भृगु पुरोहित के पुत्र होंगे। वे वहाँ से चले। श्रमण का रूप बना भृगु पुरोहित के पास आए। भृगु और यशा दोनो ने वन्दना की। मुनियों ने धर्म का उपदेश दिया। भृगु-दम्पति ने श्रावक के व्रत स्वीकार किए। पुरोहित ने पूछा—"भगवन्! हमको कोई

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६३ ३७३ :

पुव्वभवे सघडिआ सपीआ अन्नमन्नमणुरत्ता।
भुत्तूण भोगभोए निग्गथा पव्वए समणा॥
काऊण य सामन्न पउमगुम्मे विमाणि उववन्ना।
पलिओवमाइ चउरो ठिई उक्कोसिआ तेसि॥
तत्तो य चुआ सता कुरुजणवयपुरवरमि उसुआरे।
छावि जणा उववन्ना चरिमसरीरा विगयमोहा॥
राया उसुयारो या कमलावइ देवि अग्गमहिसी से।
भिगुनामे य पुरोहिय वासिट्ठा भारिआ तस्स॥
उसुआरपुरे नयरे उसुआरपुरोहिओ अ अणवच्चो।
पुत्तस्स कए बहुसो परितप्पती दुअग्गावि॥
काऊण समणरूव तहिअ देवो पुरोहिअ भणइ।
होहिति तुज्झ पुत्ता दुन्नि जणा देवलोगचुआ॥
तेहि अ पव्वइअव्व जहा य न करेह अंतराय ण्हे।
ते पव्वइआ सता बोहेहिती जण बहुअ॥
त वयण सोऊण नगराओ निति ते वयग्गामे।
वड्ढति अ ते तहिअ गाहिति अ ण असब्भाव॥
एए समणा धुत्ता पेयपिसाया य पोरुसादा य।
मा तेसि अल्लिअहा मा भे पुत्ता! विणासिज्जा॥
दट्ठूण तहि समणे जाइ पोराणिअ च सरिऊण।
बोहितअम्मापिअर उसुआर रायपुत्त च॥
सीमधरो य राया भिगू अ वासिट्ठ रायपत्ती य।
बभणी दारगा चेव छप्पेए परिनिव्वुआ॥

पुत्र होगा या नहीं ?" श्रमण युगल ने कहा—"तुम्हें दो पुत्र होंगे किन्तु वे बाल्यावस्था में ही दीक्षित हो जायेंगे। उनकी प्रव्रज्या मे तुम्हें कोई व्याघात उपस्थित नहीं करना होगा। वे दीक्षित होकर धर्म-शासन की प्रभावना करेंगे।" इतना कह दोनों श्रमण वहाँ से चले गए। पुरोहित पति-पत्नी को प्रसन्नता हुई। कालान्तर मे वे दोनों देव पुरोहित पत्नी के गर्भ मे आए। दीक्षा के भय से पुरोहित नगर को छोड़ व्रज गाँव मे जा बसा। वहाँ पुरोहित की पत्नी यशा ने दो पुत्रों को जन्म दिया। वे कुछ बड़े हुए। माता-पिता ने सोचा ये कहीं दीक्षित न हो जाएँ अत एक बार उनसे कहा—"पुत्रो। ये श्रमण सुन्दर-सुन्दर बालकों को उठा ले जाते है और मार कर उनका मास खाते है। उनके पास तुम दोनों कभी मत जाना।"

एक बार दोनो बालक खेलते-खेलते गाँव से बहुत दूर निकल गए। उन्होंने देखा कि कई साधु उसी मार्ग से आ रहे है। भयभीत हो वे एक वृक्ष पर चढ गए। सयोगवश साधु भी उसी वृक्ष की सघन छाया मे आ बैठे। बालको का भय बढा। माता-पिता की शिक्षा स्मृति-पटल पर नाचने लगी। साधुओं ने कुछ विश्राम किया। झोली से पात्र निकाले और सभी एक मण्डली में भोजन करने लगे। बालकों ने देखा कि मुनि के पात्रों मे मास जैसी कोई वस्तु है ही नही। साधुओं को सामान्य भोजन करते देख बालको का भय कम हुआ। बालकों ने सोचा—"अहो। हमने ऐसे साधु अन्यत्र भी कही देखे है।" चिन्तन चला। उन्हे जातिस्मृति-ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे नीचे उतरे, मुनियों की वन्दना की और सीधे अपने माता-पिता के पास आए।

उन्होंने माता-पिता से कहा—"हमने देख लिया है कि मनुष्य-जीवन अनित्य है, विघ्न-बहुल है और आयु थोड़ी है इसलिए घर मे हमे कोई आनन्द नही है। हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते है।" (श्लोक ७)

पिता ने कहा—"पुत्रो। वेदो को जानने वाले इस प्रकार कहते है कि जिनके पुत्र नही होता उनकी गति नही होती। इसलिए वेदों को पढो। ब्राह्मणो को भोजन कराओ। स्त्रियो के साथ भोग करो। पुत्रोत्पन्न करो। पुत्रों का विवाह कर, उन्हे घर सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना।" (श्लोक ८,९)

पुत्रो ने कहा—"वेद पढने पर भी वे त्राण नही होते। ब्राह्मणो को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते है। औरस पुत्र भी त्राण नही होते। ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दु ख देने वाले, बहुत दु ख और थोड़ा सुख देने वाले, ससार-मुक्ति के विरोधी और अनर्थों की खान है। काल सदा तैयार खड़ा है। ऐसी स्थिति मे प्रमाद कैसे किया जाए ?" (श्लोक १२,१३,१५)

पिता ने कहा—"पुत्रो। जिसके लिए सामान्यतया लोग तप किया करते है वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के विषय तुम्हें यहीं प्राप्त है फिर तुम किसलिए श्रमण होना चाहते हो ?" (श्लोक १६)

पुत्रों ने कहा—"जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रियो के विषय का क्या प्रयोजन ? हम सभी प्रतिबन्धों से मुक्त होकर भिक्षा से निर्वाह करने वाले श्रमण होंगे।" (श्लोक १७)

नास्तिक मान्यता का यह घोष था कि शरीर से भिन्न कोई चैतन्य नहीं है। पाँच भूतो के समवाय से उसकी उत्पत्ति होती है और जब वे भूत विलग हो जाते है तब चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। "अरणि मे अग्नि, दूध मे घृत और तिल मे तेल अविद्यमान होने पर भी उचित प्रक्रिया के द्वारा उत्पन्न हो जाते है। उसी प्रकार भूतो से चैतन्य की उत्पत्ति माननी चाहिए।" (श्लोक १८)

आस्तिक मान्यता को स्पष्ट करते हुए पुत्रो ने कहा—"आत्मा अमूर्त है इसलिए यह इन्द्रियों द्वारा गम्य नही है। यह अमूर्त है इसलिए नित्य है। आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु है और बन्धन ही ससार का हेतु है।" (श्लोक १९)

पिता-पुत्र का यह वार्तालाप आगे चलता है। पिता ब्राह्मण-सस्कृति का प्रतिनिधित्व कर बातें करते है और दोनों पुत्र श्रमण-सस्कृति की भित्ति पर चर्चा करते है। अन्त मे पुरोहित को ससार की असारता और क्षणभगुरता पर विश्वास पैदा हो जाता है और उसका मन सवेग से भर जाता है। वह अपनी पत्नी को समझाता है। पूर्ण विचार-विमर्श कर चारों (माता-पिता तथा दोनो पुत्र) प्रव्रजित हो जाते है।

यहाँ एक सामाजिक तथ्य का उद्घाटन हुआ है। उस समय यह राज्य का विधान था कि जिसके कोई उत्तराधिकारी नही होता उसको सम्पत्ति राजा की मानी जाती थी। भृगु पुरोहित का सारा परिवार दीक्षित हो गया। राजा ने यह बात सुनी। उसने सारी सम्पत्ति पर अधिकार करना चाहा। रानी कमलावती को यह मालूम हुआ और उसने राजा से कहा—"राजन्! वमन को खाने वाले पुरुष की प्रशसा नहीं होती। आप ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते है यह वमन पीने जैसा है।" (श्लोक ३७,३८)

रानी ने भोगों की असारता पर पूर्ण प्रकाश डाला। राजा के मन में विराग जाग उठा। राजा-रानी दोनों प्रव्रजित हो गए।

इस प्रकार यह अध्ययन ब्राह्मण-परम्परा तथा श्रमण-परम्परा की मौलिक मान्यताओं की चर्चा प्रस्तुत करता है। निर्युक्तिकार ने राजा के लिए 'सीमधर' नाम का भी प्रयोग किया है।[1] वृत्तिकार ने 'इषुकार' को राज्य-कालीन नाम और 'सीमधर' को राजा का मौलिक नाम होने की कल्पना की है।[2]

बौद्ध-साहित्य के हस्तिपाल जातक (५०९) में कुछ परिवर्तन के साथ इस कथा का निरूपण हुआ है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३७३

सीमधरो य राया ''।

२—बृहद् वृत्ति, पत्र ३९४ ·

अत्र चेषुकारमिति राज्यकालनाम्ना सीमन्धरश्चेति मौलिकनाम्नेति सम्भावयाम।

चउदसमं अज्झयणं : चतुर्दश अध्ययन
उसुयारिज्जं : इषुकारीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—देवा भवित्ताण पुरे भवम्मी केई चुया एगविमाणवासी । पुरे पुराणे उसुयारनामे खाए समिद्धे सुरलोगरम्मे ॥	देवा भूत्वा पुरा भवे केचिच्च्युता एकविमान-वासिनः । पुरे पुराणे इषुकारनाम्नि ख्याते समृद्धे सुरलोक-रम्ये ॥	१— पूर्व-जन्म में, देवता हो कर एक ही विमान में रहने वाले कुछ जीव देवलोक मे च्युत हुए । उम समय इषुकार नाम का एक नगर था—प्राचीन, प्रसिद्ध, समृद्धिशाली और देवलोक के समान ।
२—सकम्मसेसेण पुराकएण कुलेसु दग्गेसु[1] य ते पसूया । निव्विणससारभया जहाय जिणिन्दमग्ग सरण पवन्ना ॥	स्वकर्म-शेषेण पुराकृतेन कुलेषूदग्रेषु च ते प्रसूता[1] । निर्विण्णा ससार-भयाद् हित्वा जिनेन्द्र-मार्गं शरण प्रपन्नाः ॥	२—उन जीवों के अपने पूर्वकृत पुण्य-कर्म बाकी थे । फलस्वरूप वे इषुकार नगर के उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए । ससार के भय से खिन्न होकर उन्होंने भोगो को छोडा और जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए ।
३—पुमत्तमागम्म कुमार दो वी पुरोहिओ तस्स जसा य पत्ती। विसालकित्ती य तहोसुयारो रायत्थ देवी कमलावई य ॥	पुस्त्वमाऽऽगम्य कुमारौ द्वावपि पुरोहित[1] तस्य यशा च पत्नी । विशालकीर्तिश्च तथेषुकारः राजात्र देवी कमलावती च ॥	३—दोनों पुरोहित कुमार, पुरोहित, उसकी पत्नी यशा, विशाल कीर्ति वाला इषुकार राजा और उसकी रानी कमलावती—ये छहों व्यक्ति मनुष्य-जीवन प्राप्त कर जिनेन्द्र-मार्ग की शरण में चले गए ।
४—जाईजरामच्चुभयाभिभूया[2] वहिंविहाराभिनिविट्ठचित्ता । ससारचक्कस्स विमोक्खणट्ठा दट्ठूण ते कामगुणे विरत्ता ॥	जाति-जरा-मृत्यु-भयाभिभूतौ वहिर्विहाराभिनिविष्टचित्तौ । ससार-चक्रस्य विमोक्षणार्थं दृष्ट्वा तौ काम-गुणेभ्यो विरक्तौ ॥	४-५—ब्राह्मण के योग्य यज्ञ आदि करने वाले पुरोहित के दोनों प्रिय पुत्रों ने एक बार निर्ग्रन्थ को देखा । उन्हें पूर्व-जन्म की स्मृति हुई और भली-भाँति आचरित तप और सयम की स्मृति जाग उठी । वे जन्म, जरा और मृत्यु के भय से अभिभूत हुए । उनका चित्त मोक्ष की ओर खिंच गया । ससार-चक्र से मुक्ति पाने के लिए वे काम-गुणों से विरक्त हो गए ।
५—पियपुत्तगा दोन्नि वि माहणस्स सकम्मसीलस्स पुरोहियस्स । सरित्तु पोराणिय तत्थ जाइं तहा सुचिण्णं तवसजम च ॥	प्रिय पुत्रकौ द्वावपि ब्राह्मणस्य स्वकर्म-शीलस्य पुरोहितस्य । स्मृत्वा पौराणिकीं तत्र जातिं तथा सुचीर्णं तपः-सयम च ॥	

१ दत्तेछ (चू०, वृ०), उग्गेछ (उ) ।
२ ०भयाभिभूए (वृ० पा०) ।

६—ते कामभोगेसु असज्जमाणा
माणुस्सएसुं जे यावि दिव्वा।
मोक्खाभिकखी अभिजायसड्ढा
ताय उवागम्म इम उदाहु ॥

तौ काम-भोगेष्वसजन्तौ
मानुष्यकेषु ये चापि दिव्याः ।
मोक्षाभिकाङ्क्षिणावभिजात-श्रद्धौ
तातमुपागम्येदमुदाहरताम् ॥

६—उनकी मनुष्य और देवता सम्बन्धी काम-भोगो मे आसक्ति जाती रही। मोक्ष की अभिलाषा और धर्म की श्रद्धा से प्रेरित होकर पिता के पास आए और इस प्रकार कहने लगे—

७—असासय दट्ठु इम विहार
बहुअन्तराय न य दीहमाउ।
तम्हा गिहसि न रइं लहामो
आमन्तयामो चरिस्सामु मोण॥

अशाश्वत दृष्ट्वेम विहार
बह्वन्तराय न च दीर्घमायुः ।
तस्माद् गृहे न रतिं लभावहे
आमंत्रयावहे चरिष्यावो मौनम् ॥

७—"हमने देखा है कि यह मनुष्य-जीवन अनित्य है, उसमें भी विघ्न बहुत है और आयु थोडी है । इसलिए घर में हमें कोई आनन्द नहीं है । हम मुनि-चर्या को स्वीकार करने के लिए आपकी अनुमति चाहते हैं ।"

८—अह तायगो तत्थ मुणीण तेसिं
तवस्स वाघायकर वयासी।
इम वय वेयविओ वयन्ति
जहा न होई असुयाण लोगो॥

अथ तातकस्तत्र मुन्योस्तयोः
तपसो व्याघातकरमवादीत् ।
इमां वाच वेद-विदो वदन्ति
यथा न भवत्यसुताना लोकः ॥

८—उनके पिता ने उन कुमार मुनियों की तपस्या में बाधा उत्पन्न करने वाली बातें कही—"पुत्रो । वेदों को जानने वाले इस प्रकार कहते हैं कि जिनको पुत्र नही होता उनकी गति नही होती ।

९—अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे
पुत्ते पडिट्ठप्प[1] गिहसि जाया।।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं
'आरण्णगा होह मुणी पसत्था'[2]॥

अधीत्य वेदान् परिवेष्य विप्रान्
पुत्रान् प्रतिष्ठाप्य गृहे जातौ ! ।
भुक्त्वा भोगान् सह स्त्रीभिः
आरण्यकौ भवत मुनी प्रशस्तौ ॥

९—"पुत्रो ! इसलिए वेदो को पढो। ब्राह्मणों को भोजन कराओ । स्त्रियों के साथ भोग करो । पुत्रों को उत्पन्न करो । उनका विवाह कर, घर का भार सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि हो जाना ।"

१०—सोयग्गिणा आयगुणिन्धणेण
मोहाणिला पज्जलणाहिएण।
सतत्तभाव परित्तप्पमाण
लोलुप्पमाण बहुहा बहुं च॥

शोकाग्निना आत्म-गुणेन्धनेन
मोहानिलात् प्रज्वलनाधिकेन ।
संतप्त-भावं परितप्यमान
लोलुप्यमानं बहुधा बहु च ॥

११—पुरोहिय त कमसोऽणुणन्त[3]
निमतयन्त च सुए धणेण।
जहक्कम कामगुणेहि[4] चेव
कुमारगा ते पसमिक्ख वक्क॥

पुरोहित त क्रमशोऽनुनयन्त
निमत्रयन्त च सुतौ धनेन ।
यथाक्रम काम-गुणैश्चैव
कुमारकौ तौ प्रसमीक्ष्य वाक्यम् ॥

१०-११—दोनो कुमारो ने सोच-विचार पूर्वक उस पुरोहित को—जिसका मन और शरीर, आत्म-गुण रूपी इन्धन और मोह रूपी पवन से अत्यन्त प्रज्वलित शोकाग्नि से, सतप्त और परितप्त हो रहा था, जिसका हृदय वियोग की आशका से अतिशय छिन्न हो रहा था, जो एक-एक कर अपना अभिप्राय अपने पुत्रों को समझा रहा था और उन्हें धन और क्रम-प्राप्त काम-भोगो का निमंत्रण दे रहा था—ये वाक्य कहे—

१ परिट्ठप्प (वृ० पा०)।
२ पच्छा वणप्पवेस पसत्थ (चू०)।
३. °णिणत (उ)।
४. कामगुणेसु (वृ० पा०)।

१२—वेया अहीया न भवन्ति ताण
भुत्ता दिया निन्ति तम तमेण।
जाया य पुत्ता न हवन्ति ताण
को णाम ते अणुमन्नेज्ज[1] एय ॥

वेदा अधीता न भवन्ति त्राण
भोजिता द्विजा नयन्ति तमस्तमसि।
जाताश्च पुत्रा न भवन्ति त्राण
को नाम तवानुमन्येतैतत् ॥

१२—"वेद पढने पर भी वे त्राण नही होते। ब्राह्मणो को भोजन कराने पर वे नरक में ले जाते हैं। औरस पुत्र भी त्राण नही होते। इसलिए आपने जो कहा उसका अनुमोदन कौन कर सकता है ?

१३—खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा।
ससारमोक्खस्स विपक्खभूया
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥

क्षणमात्र-सौख्या बहुकाल-दुःखाः
प्रकाम-दुःखा अनिकाम-सौख्याः।
ससार-मोक्षस्य विपक्ष-भूताः
खानिरनर्थाना तु काम-भोगा ॥

१३—"ये काम-भोग क्षण भर सुख और चिरकाल दुख देने वाले है, बहुत दुख और थोडा सुख देने वाले हैं, ससार-मुक्ति के विरोधी हैं और अनर्थों की खान हैं।

१४—परिव्वयन्ते अणियत्तकामे
अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे
पप्पोति मच्चु पुरिसे जर च॥

परिव्रजन्ननिवृत्त-काम
अह्नि च रात्रौ परितप्यमानः।
अन्य-प्रमत्तो धनमेषयन्
प्राप्नोति मृत्यु पुरुषो जरा च ॥

१४—"जिसे कामनाओ से मुक्ति नही मिली वह पुरुष अतृप्ति की अग्नि से सतप्त होकर दिन-रात परिभ्रमण करता है। दूसरो के लिए प्रमत्त होकर धन की खोज में लगा हुआ वह जरा और मृत्यु को प्राप्त होता है।

१५—इम च मे अत्थि इम च नत्थि
इम च मे किच इम अकिच्च।
त एवमेव लालप्पमाण
हरा हरति त्ति कह पमाए ? ॥

इदं च मेऽस्ति इद च नास्ति
इद च मे कृत्यमिदमकृत्यम्।
तमेवमेव लालप्यमान
हरा हरन्तीति कथ प्रमाद ? ॥

१५—"यह मेरे पास है और यह नही है, यह मुझे करना है और यह नही करना है—इस प्रकार वृथा वकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है। इस स्थिति में प्रमाद कैसे किया जाय ?"

१६—धण पभूय सह इत्थियाहिं
सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तव कए तप्पइ जस्स लोगो
त सव्व साहीणमिहेव तुब्भ ॥

धन प्रभूत सह स्त्रीभिः
स्वजनास्तथा काम-गुणाः प्रकामाः।
तपः कृते तप्यति यस्य लोक
तत् सर्वं स्वाधीनमिहैव युवयो ॥

१६—"जिसके लिए लोग तप किया करते हैं वह सब कुछ—प्रचुर धन, स्त्रियाँ, स्वजन और इन्द्रियों के विपय तुम्हें यही प्राप्त हैं फिर किसलिए तुम श्रमण होना चाहते हो ?"—पिता ने कहा।

१७—धणेण किं धम्मधुराहिगारे
सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी
बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं॥

धनेन किं धर्म-धुराधिकारे
स्वजनेन वा कामगुणैश्चैव।
श्रमणौ भविष्यावो गुणौघधारिणौ
बहिर्विहारावभिगम्य भिक्षाम् ॥

१७—पुत्र बोले—"पिता ! जहाँ धर्म की धुरा को वहन करने का अधिकार है वहाँ धन, स्वजन और इन्द्रिय-विषय का क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नही। हम गुण-समूह से सम्पन्न श्रमण होंगे, प्रतिबन्ध-मुक्त होकर गाँवो और नगरों में विहार करने वाले और भिक्षा लेकर जीवन चलाने वाले।"

---

१. अणुमोदेज्ज (अ)।

१८—जहा य अग्गी अरणीउऽसन्तो
खीरे घय तेल्ल महातिलेसु ।
एमेव जाया ! सरीरसि सत्ता
समुच्छई नासइ नावचिट्ठे ॥

यथा चाग्निररणितोऽसन्
क्षीरे घृत तैल महातिलेषु ।
एवमेव जातौ ! शरीरे सत्त्वा·
समूर्च्छन्ति नश्यन्ति नावतिष्ठन्ते ॥

१८—"पुत्रो ! जिस प्रकार अरणी में अविद्यमान अग्नि उत्पन्न होती है, दूध में घी और तिल में तैल पैदा होता है, उसी प्रकार शरीर में जीव उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते है । शरीर का नाश हो जाने पर उनका अस्तित्व नही रहता"—पिता ने कहा ।

१९—नो इन्दियग्गेज्झ अमुत्तभावा
अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो ।
अज्झत्थहेउ निययऽस्स बन्धो
ससारहेउ च वयन्ति बन्ध ॥

नो इन्द्रिय-ग्राह्योऽमूर्त-भावात्
अमूर्त-भावादपि च भवति नित्य ।
आध्यात्म-हेतुर्नियतोऽस्य बन्धः
संसार-हेतु च वदन्ति बन्धम् ॥

१९—कुमार बोले—"पिता ! आत्मा अमूर्त है इसलिए यह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता । यह अमूर्त है इसलिए नित्य है । यह निश्चय है कि आत्मा के आन्तरिक दोष ही उसके बन्धन के हेतु हैं और बन्धन ही ससार का हेतु है—ऐसा कहा है ।

२०—जहा वय धम्ममजाणमाणा
पाव पुरा कम्ममकासि मोहा ।
ओरुज्झमाणा परिरक्खियन्ता
त नेव भुज्जो वि समायरामो ॥

यथाऽऽवां धर्ममजानानौ
पापं पुरा कर्माकार्ष्व मोहात् ।
अवरुध्यमानौ परिरक्ष्यमाणौ
तन्नैव भूयोऽपि समाचराव· ॥

२०—"हम धर्म को नही जानते थे तब घर में रहे, हमारा पालन होता रहा और मोह-वश हमने पाप-कर्म का आचरण किया । किन्तु अब फिर पाप-कर्म का आचरण नहीं करेंगे ।

२१—अब्भाहयमि लोगमि
सव्वओ परिवारिए ।
'अमोहाहिं पडन्तीहिं'[1]
गिहसि न रइ लभे ॥

अभ्याहते लोके
सर्वतः परिवारिते ।
अमोघाभिः पतन्तीभिः
गृहे न रतिं लभावहे ॥

२१—"यह लोक पीडित हो रहा है, चारों ओर से घिरा हुआ है, अमोघा आ रही है । इस स्थिति में हमें सुख नही मिल रहा है ।"

२२—केण अब्भाहओ लोगो ?
केण वा परिवारिओ ? ।
का वा अमोहा वुत्ता ?
जाया ! चिंतावरो हुमि ॥

केनाभ्याहतो लोक. ?
केन वा परिवारित ? ।
का वाऽमोघा उक्ता ?
जातौ ! चिन्तापरो भवामि ॥

२२—"पुत्रो ! यह लोक किससे पीड़ित है ? किससे घिरा हुआ है ? अमोघा किसे कहा जाता है ? मैं जानने के लिए चिन्तित हूँ"—पिता ने कहा ।

२३—मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो
जराए परिवारिओ ।
अमोहा रयणी वुत्ता
एव ताय ! वियाणह ॥

मृत्युनाऽभ्याहतो लोकः
जरया परिवारितः ।
अमोघा रात्रय उक्ता
एव तात ! विजानीहि ॥

२३—कुमार बोले—"पिता ! आप जानें कि यह लोक मृत्यु से पीडित है, जरा से घिरा हुआ है और रात्रि को अमोघा कहा जाता है ।

---

१ अमोहायए पतीहि (उ) ।

२४—जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
अहम्म कुणमाणस्स
अफला जन्ति राइओ ॥

या या व्रजति रजनी
न सा प्रतिनिवर्तते।
अधर्मं कुर्वाणस्य
अफला यान्ति रात्रय ॥

२४—"जो-जो रात वीत रही है, वह लौट कर नहीं आती। अधर्म करने वाले की रात्रियाँ निष्फल चली जाती है।

२५—जा जा वच्चइ रयणी
न सा पडिनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स
सफला जन्ति राइओ ॥

या या व्रजति रजनी
न सा प्रतिनिवर्तते।
धर्मं च कुर्वाणस्य
सफला यान्ति रात्रयः ॥

२५—"जो-जो रात वीत रही है वह लौट कर नही आती। धर्म करने वाले की रात्रियाँ सफल होती हैं।"

२६—एगओ सवसित्ताण
दुहओ सम्मत्तसजुया।
पच्छा जाया! गमिस्सामो
भिक्खमाणा कुले कुले ॥

एकत समुष्य
द्वये सम्यक्त्व-संयुताः।
पश्चाज्जातौ! गमिष्याम
भिक्षमाणाः कुले कुले ॥

२६—"पुत्रो! पहले हम सव एक साथ रह कर सम्यक्त्व और व्रतो का पालन करें फिर तुम्हारा यौवन वीत जाने के वाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे"—पिता ने कहा।

२७—जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख
जस्स वऽत्थि[1] पलायण।
जो जाणे न मरिस्सामि
सो हु कखे सुए सिया ॥

यस्यास्ति मृत्युना सख्य
यस्य वास्ति पलायनम्।
यो जानीते न मरिष्यामि
स खलु काङ्क्षति श्वः स्यात् ॥

२७—पुत्र वोले—"पिता! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुँह से वच कर पलायन कर सके और जो जानता हो—मैं नहीं मरूँगा।

२८—अज्जेव धम्म पडिवज्जयामो
जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागय नेव य अत्थि किंचि
सद्धाखम णे विणइत्तु राग ॥

अद्यैव धर्मं प्रतिपद्यामहे
य प्रपन्ना न पुनर्भविष्यामः।
अनागत नैव चास्ति किंचित्
श्रद्धाक्षम नो विनीय रागम् ॥

२८—"हम आज ही उस मुनि-धर्म को स्वीकार कर रहे है, जहाँ पहुँच कर फिर जन्म लेना न पडे। भोग हमारे लिए अप्राप्त नही है—हम उन्हें अनेक वार प्राप्त कर चुके हैं। राग-भाव को दूर कर श्रद्धा पूर्वक श्रेय की प्राप्ति के लिए हमारा प्रयत्न युक्त है।"

२९—पहीणपुत्तस्स हु नत्थि वासो
वासिट्ठि! भिक्खायरियाइ कालो।
साहाहि रुक्खो लहए समाहिं
छिन्नाहि साहाहि तमेव खाणु ॥

प्रहीण पुत्रस्य खलु नास्ति वासः
वासिष्ठि! भिक्षाचर्यायाः काल।
शाखाभिर्वृक्षो लभते समाधि
छिन्नाभि शाखाभिस्तमेव स्थाणुम् ॥

२९—"पुत्रों के चले जाने के वाद मैं घर में नहीं रह सकता। हे वाशिष्ठि! अव मेरे भिक्षाचर्या का काल आ चुका है। वृक्ष शाखाओं से समाधि को प्राप्त होता है। उनके कट जाने पर लोग उसे ठूठ कहते हैं।

१. चऽत्थि (बृ०) ...

३०—पखाविहूणो व्व[1] जहेह[2] पक्खी
भिच्चाविहूणो[3] व्व[4] रणे नरिन्दो।
विवन्नसारो वणिओ व्व पोए
पहीणपुत्तो मि तहा अहं पि ॥

पक्ष-विहीन इव यथेह पक्षी
भृत्य-विहीन इव रणे नरेन्द्र ।
विपन्न-सारो वणिगिव पोते
प्रहीण-पुत्रोऽस्मि तथाऽहमपि ॥

३०—"विना पख का पक्षी, रण-भूमि में सेना रहित राजा और जल-पोत पर धन-रहित व्यापारी जैसा असहाय होता है, पुत्रो के चले जाने पर मैं भी वैसा ही हो जाता हूँ।"

३१—सुसभिया कामगुणा इमे ते
सपिण्डिया अग्गरसापभूया[5]।
भुजामु ता कामगुणे पगाम
पच्छा गमिस्सामु पहाणमग्ग ॥

सुसभृताः काम-गुणा इमे ते
सम्पिण्डिता अग्र्य-रस-प्रभूताः।
भंजीवहि तावत् काम-गुणान् प्रकामं
पश्चात् गमिष्याव प्रधान-मार्गम् ॥

३१—वाशिष्ठी ने कहा—"ये सुसस्कृत और प्रचुर श्रृगार-रस से परिपूर्ण इन्द्रिय-विषय, जो तुम्हें प्राप्त है, उन्हें अभी हम खूब भोगें। उसके बाद हम मोक्ष-मार्ग को स्वीकार करेंगे।"

३२—भुत्ता रसा भोइ[6]! जहाइ णे वओ
न जीवियट्ठा पजहामि भोए।
लाभ अलाभ च सुह च दुक्ख
सचिक्खमाणो[7]चरिस्सामि[8]मोण ॥

भुक्ता रसा भवति! जहाति नो वयः
न जीवितार्थं प्रजहामि भोगान्।
लाभमलाभं च सुखं च दुःखं
सवीक्षमाणश्चरिष्यामि मौनम् ॥

३२—पुरोहित ने कहा—"हे भवति! हम रसो को भोग चुके है, वय हमें छोडते चला जा रहा है। मैं असयम-जीवन के लिए भोगो को नही छोड रहा हूँ। लाभ-अलाभ और सुख-दुख को समदृष्टि से देखता हुआ मुनि-धर्म का आचरण करूँगा।"

३३—मा हू तुम सोयरियाण सम्भरे
जुण्णो व हसो पडिसोत्तगामी।
भुजाहि भोगाइ मए समाण
दुक्ख खु भिक्खायरियाविहारो ॥

मा खलु त्व सोदर्याणा स्मार्षीः
जीर्ण इव हंसः प्रतिस्रोतोगामी।
भुंक्ष्व भोगान् मया सम
दुःख खलु भिक्षाचर्या-विहारः ॥

३३—वाशिष्ठी ने कहा—"प्रतिस्रोत में वहने वाले बूढे हँस की तरह तुम्हें पीछे अपने बन्धुओं को याद करना न पडे, इसलिए मेरे साथ भोगो का सेवन करो। यह भिक्षाचर्या और ग्रामानुग्राम विहार सचमुच दुखदायी है।"

३४—जहा य भोई[9]! तणुय भुयगो[10]
निम्मोयणि हिच्च पलेइ मुत्तो।
एमेए[11] जाया पयहन्ति भोए
'ते ह'[12] कह नाणुगमिस्समेक्को ?॥

यथा च भवति! तनुजा भुजंगः
निर्मोचनी हित्वा पर्येति मुक्तः।
एवमेतौ जातौ प्रजहीतो भोगान्
तौ अहं कथ नानुगमिष्याम्येकः ?॥

३४—"हे भवति! जैसे साप अपने शरीर की केंचुली को छोड मुक्त-भाव से चलता है वैसे ही पुत्र भोगों को छोड कर चले जा रहे हैं। पीछे मैं अकेला क्यो रहूँ, उनका अनुगमन क्यो न करूँ ?

१ व (उ, ऋ०)।
२ जहेव (अ, उ, ऋ०)।
३ भिच्चव्विहीणु (ऋ०), भिच्चुविहीणु (उ)।
४. व (उ, ऋ०)।
५. अग्गरसप्पभूया (उ, ऋ०)।
६ होइ (वृ०)।
७. सविक्खमाणो (चू०, उ)।
८ चरिसामि (अ, ऋ०), करिस्सामि (चू०)।
९ भोगि (वृ० पा०)।
१०. भुयगमो (अ, वृ०)।
११ इमेति (वृ० पा०)।
१२ ताह (उ, चू०), तोह (अ)।

३५—छिन्दित्तु जालं अबलं व रोहिया
मच्छा जहा कामगुणे पहाय ।
धोरेयसीला तवसा उदारा
धीरा हु भिक्खायरियं चरन्ति ॥

छित्त्वा जालमबलमिव रोहिताः
मत्स्या यथाकाम-गुणान् प्रहाय ।
धौरेय-शीलास्तपसा उदारा.
धीराः खलु भिक्षाचर्यां चरन्ति ॥

३५—"जैसे रोहित मच्छ जर्जरित जाल को काट कर बाहर निकल जाते है वैसे ही उठाए हुए भार को वहन करने वाले प्रधान तपस्वी और धीर पुरुष काम-भोगो को छोड कर भिक्षाचर्या को स्वीकार करते हैं ।"

३६—नहेव कुंचा समइक्कमन्ता
तयाणि जालाणि दलित्तु हंसा ।
पलेन्ति पुत्ता य पई य मज्झं
'ते हं'[1] कहं नाणुगमिस्समेक्का ?॥

नभसीव क्रौंचा समतिक्रामन्तः
ततानि जालानि दलित्वा हंसाः ।
परियान्ति पुत्रौ च पतिश्च मम
तानहं कथं नानुगमिष्याम्येका ? ॥

३६—वाशिष्ठी ने कहा—"जैसे क्रौंच पक्षी और हँस बहेलियो द्वारा बिछाए हुए जालो को काट कर आकाश में उड जाते है वैसे ही मेरे पुत्र और पति जा रहे हैं। पीछे मैं अकेली क्यों रहूँ ? उनका अनुगमन क्यो न करूँ ?"

३७—पुरोहियं तं ससुयं सदारं
सोच्चाऽभिनिक्खम्म पहाय भोए।
कुडुम्बसारं विउलुत्तमं तं
रायं अभिक्खं समुवाय देवी ॥

पुरोहितं तं ससुतं सदारं
श्रुत्वाऽभिनिष्क्रम्य प्रहाय भोगान् ।
कुटुम्ब-सारं विपुलोत्तमं तद्
राजानमभीक्ष्णं समुवाच देवी ॥

३७—पुरोहित अपने पुत्र और पत्नी के साथ भोगों को छोड कर प्रव्रजित हो चुका है, यह सुन राजा ने उसके प्रचुर और प्रधान धन-धान्य आदि को लेना चाहा तब महारानी कमलावती ने बार-बार कहा—

३८—वन्तासी पुरिसो राय !
न सो होइ पसंसिओ ।
माहणेण परिच्चत्तं
धणं आदाउमिच्छसि ॥

वान्ताशी पुरुषो राजन् !
न स भवति प्रशसनीयः ।
ब्राह्मणेन परित्यक्तं
धनमादातुमिच्छसि ॥

३८—"राजन् ! वमन खाने वाले पुरुष की प्रशसा नही होती । तुम ब्राह्मण के द्वारा परित्यक्त धन को लेना चाहते हो—यह क्या है ?

३९—सव्वं जगं जइ तुहं
सव्वं वावि धणं भवे ।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं
नेव ताणाय तं तव ॥

सर्वं जगद् यदि तव
सर्वं वापि धनं भवेत् ।
सर्वमपि ते अपर्याप्तं
नैव त्राणाय तत्तव ॥

३९—"यदि समूचा जगत् तुम्हें मिल जाए अथवा समूचा धन तुम्हारा हो जाए तो भी वह तुम्हारी इच्छा-पूर्ति के लिए पर्याप्त नही होगा और वह तुम्हें त्राण भी नही दे सकेगा ।

४०—मरिहिसि राय ! जया तया वा
मणोरमे कामगुणे पहाय[2] ।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताणं
न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

मरिष्यसि राजन् ! यदा तदा वा
मनोरमान् काम-गुणान् प्रहाय ।
एकः खलु धर्मो नरदेव ! त्राणं
न विद्यतेऽन्यमिहेह किंचित् ॥

४०—"राजन् ! इन मनोरम काम-भोगों को छोड कर जब कभी मरना होगा । हे नरदेव ! एक धर्म ही त्राण है । उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु त्राण नही दे सकती ।

---

१. ताहं (उ, चू०) , तोहं (अ) ।
२. जहाय (चू०) ।

४१—नाह रमे पक्खिणि पजरे वा
सताणछिन्ना चरिस्सामि मोणं ।
अकिंचणा उज्जुकडा निरामिसा
परिग्गहारम्भनियत्तदोसा ॥

नाह् रमे पक्षिणी पंजर इव
छन्न-सन्ताना चरिष्यामि मौनम् ।
अकिंचना ऋजु-कृता निरामिषा
परिग्रहारम्भ-दोष-निवृत्ता ॥

४१—"जैसे पक्षिणी पिंजडे में आनन्द नहीं मानती, वैसे ही मुझे इस बन्धन में आनन्द नहीं मिल रहा है। मैं स्नेह के जाल को तोड कर अकिंचन, सरल क्रिया वाली, विषय-वासना से दूर और परिग्रह एव हिंसा के दोषो से मुक्त हो कर मुनि-धर्म का आचरण करूँगी ।

४२—दवग्गिणा जहा रण्णे
डज्झमाणेसु जन्तुसु ।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति
रागद्दोसवस गया ॥

दवाग्निना यथारण्ये
दह्यमानेषु जन्तुषु ।
अन्ये सत्त्वाः प्रमोदन्ते
राग-द्वेष-वश गताः ॥

४२—"जैसे दवाग्नि लगी हुई है, अरण्य में जीव-जन्तु जल रहे है, उन्हें देख राग-द्वेष के वशीभूत हो कर दूसरे जीव प्रमुदित होते हैं,

४३—एवमेव[1] वय मूढा
कामभोगेसु मुच्छिया ।
डज्झमाण न बुज्झामो
रागद्दोसग्गिणा जग ॥

एवमेव वय मूढाः
काम-भोगेषु मूर्च्छिता ।
दह्यमान न बुध्यामहे
राग-द्वेषाग्निना जगत् ॥

४३—"उसी प्रकार काम-भोगों में मूर्च्छित हो कर हम मूढ लोग यह नही समझ पाते कि यह समूचा ससार राग-द्वेष की अग्नि से जल रहा है ।

४४—भोगे भोच्चा वमित्ता य
लहुभूयविहारिणो ।
आमोयमाणा गच्छन्ति
दिया कामकमा इव ॥

भोगान् भुक्त्वा वान्त्वा च
लघुभूत-विहारिणः ।
आमोदमाना गच्छन्ति
द्विजाः काम-क्रमा इव ॥

४४—"विवेकी पुरुष भोगो को भोग कर फिर उन्हें छोड वायु की तरह अप्रतिबद्ध-विहार करते हैं और वे स्वेच्छा से विचरण करने वाले पक्षियो की तरह प्रसन्नतापूर्वक स्वतत्र विहार करते है ।

४५—इमे य बद्धा[2] फन्दन्ति
मम हत्थऽज्जमागया ।
वय च सत्ता कामेसु
भविस्सामो जहा इमे ॥

इमे च बद्धाः स्पन्दन्ते
मम हस्तमार्य ! आगताः ।
वय च सक्ताः कामेषु
भविष्यामो यथेमे ॥

४५—"आर्य ! जो काम-भोग अपने हाथों में आए हुए है और जिनको हमने नियत्रित कर रखा है, वे कूद-फाँद कर रहे है। हम कामनाओ में आसक्त बने हुए हैं किन्तु अब हम भी वैसे ही होंगे, जैसे कि अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ भृगु हुए हैं ।

४६—सामिस कुलल दिस्स
बज्झमाण निरामिस ।
आमिस सव्वमुज्झित्ता
विहरिस्सामि निरामिसा ॥

सामिष कुललं दृष्ट्वा
बाध्यमान निरामिषम् ।
आमिषं सर्वमुज्झित्वा
विहरिष्यामि निरामिषा ॥

४६—"जिस गीध के पास मास होता है उस पर दूसरे पक्षी झपटते हैं और जिसके पास मास नही होता उस पर नही झपटते—यह देख कर मैं आमिष (धन, धान्य आदि) को छोड, निरामिष हो कर विचरूँगी ।

१. एवमेव (वृ०) ।
२. लद्धा (चू०) ।

४७—गिद्धोवमे उ नच्चाण
कामे ससारवड्ढणे।
उरगो 'सुवण्णपासे व'[1]
सकमाणो तणु चरे॥

गृध्रोपमांस्तु ज्ञात्वा
कामान् ससार-वर्धनान्।
उरगः सौपर्णेय-पार्श्वे इव
शङ्कमानस्तनु चरेत्॥

४७—"गीध की उपमा से काम-भोगों को ससार-वर्धक जान कर मनुष्य को इनसे इसी प्रकार शकित होकर चलना चाहिए, जिस प्रकार गरुड के सामने साँप शकित होकर चलता है।

४८—नागो व्व वन्धण छित्ता
अप्पणो वसहिं वए।
एय पत्थ महाराय!
उसुयारि त्ति मे सुय॥

नाग इव वन्धन छित्वा
आत्मनो वसतिं व्रजेत्।
एतत्पथ्य महाराज!
इषुकार! इति मया श्रुतम्॥

४८—"जैसे वन्धन को तोड कर हाथी अपने स्थान (विंध्याटवी) में चला जाता है, वैसे ही हमें अपने स्थान (मोक्ष) में चले जाना चाहिए। हे महाराज इषुकार! यह पथ्य है, इसे मैंने ज्ञानियों से सुना है।"

४९—चइत्ता विउल रज्ज[2]
कामभोगे य दुच्चए।
निव्विसया निरामिसा
निन्नेहा निप्परिग्गहा॥

त्यक्त्वा विपुल राज्यं
काम-भोगांश्च दुस्त्यजान्।
निर्विषयौ निरामिषौ
निःस्नेहौ निष्परिग्रहौ॥

४९—राजा और रानी विपुल राज्य और दुस्त्यज काम-भोगों को छोड निर्विषय, निरामिष, नि स्नेह और निष्परिग्रह हो गए।

५०—सम्मं धम्म वियाणित्ता
चेच्चा कामगुणे वरे।
तव पगिज्झऽहक्खाय[3]
घोर घोरपरक्कमा॥

सम्यग् धर्मं विज्ञाय
त्यक्त्वा काम-गुणान् वरान्।
तपः प्रगृह्य यथाख्यात
घोरं घोर-पराक्रमौ॥

५०—धर्म को सम्यक् प्रकार से जान, आकर्षक भोग-विलास को छोड, वे तीर्थङ्कर के द्वारा उपदिष्ट घोर तपश्चर्या को स्वीकार कर सयम में घोर पराक्रम करने लगे।

५१—एव ते कमसो वुद्धा
सव्वे धम्मपरायणा[4]।
जम्ममच्चुभउव्विग्गा
दुक्खस्सन्तगवेसिणो॥

एव ते क्रमशो वुद्धाः
सर्वे धर्म-परायणाः।
जन्म-मृत्यु-भयोद्विग्नाः
दु खस्यान्त-गवेषिण॥

५१—इस प्रकार वे सव क्रमश वुद्ध हो कर, धर्म-परायण, जन्म और मृत्यु के भय से उद्विग्न वन गए तथा दु ख के अन्त की खोज में लग गए।

१. सुवण्णपासेव्व (उ, चू०, सु०), सुवण्णपासित्ता (बृ०), सुवण्णपासिव्वा (अ)।
२. रट्ठ (बृ०, चू०); रज्ज (बृ० पा०)।
३. ० अहकाम (चू० पा०)।
४. ० परपरा (बृ० पा०)।

५२—सासणे विगयमोहाण
पुव्विं भावणभाविया ।
अचिरेणेव कालेण
दुक्खस्सन्तमुवागया ॥

शासने विगत-मोहानां
पूर्वं भावना-भाविताः ।
अचिरेणैव कालेन
दुःखस्यान्तमुपागताः ॥

५३—राया सह देवीए
माहणो य पुरोहिओ ।
माहणी दारगा चेव
सव्वे ते परिनिव्वुड[1] ॥
—त्ति बेमि ॥

राजा सह देव्या
ब्राह्मणश्च पुरोहितः ।
ब्राह्मणी दारकौ चैव
सर्वे ते परिनिर्वृता ॥
—इति ब्रवीमि ॥

५२-५३—जिनकी आत्मा पूर्व-जन्म में कुशल-भावना से भावित थी वे सब—राजा, रानी, ब्राह्मण पुरोहित, ब्राह्मणी और दोनों पुरोहित कुमार अर्हत् के शासन में आकर दुःख का अंत पा गए—मुक्त हो गए ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

पनरसमं अज्झयणं :

सभिक्खुयं

पंचदश अध्ययन :

सभिक्षुक

आमुख

इस अध्ययन मे भिक्षु के लक्षणों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'सभिक्खुय'—'सभिक्षुक' रखा गया है।

भिक्षु अकेला होता है। उसके न कोई मित्र होता है और न कोई शत्रु। वह सभी सम्बन्धों से विप्रमुक्त होता है। वह साधना करता है। वह अध्यात्म की कला को कभी जीविका-उपार्जन के लिए प्रयुक्त नहीं करता। वह सदा जितेन्द्रिय रहता है। (श्लोक १६)

जीवन भयाकुल है। उसके प्रत्येक चरण में भय ही भय है। भिक्षु अभय की साधना करता है। पहले-पहल वह भय को जीतने के लिए उपाश्रय मे ही मध्य रात्रि में उठ कर अकेला ही कायोत्सर्ग करता है। दूसरी बार उपाश्रय से बाहर, तीसरी बार दूर चौराहे पर, चौथी बार शून्य-गृह मे और अन्त में श्मशान मे अकेला जा कायोत्सर्ग करता है। वह भय-मुक्त हो जाता है। अभय अहिंसा का परिपाक है। (श्लोक १४)

मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित ही मिलती है। अयाचित कुछ भी नही मिलता। जो इच्छित वस्तु मिलने पर प्रसन्न और न मिलने पर अप्रसन्न नहीं होता वह भिक्षु है। भिक्षु के लिए सभी द्वार खुले है। कोई दाता देता है और कोई नहीं भी देता। इन दोनों स्थितियो मे जो सम रहता है वह भिक्षु है। (श्लोक ११,१२)

मुनि सरस आहार मिलने पर उसकी प्रशसा और नीरस मिलने पर उसकी गर्हा न करे। ऊँचे कुलों की भिक्षा करने के साथ-साथ प्रान्त कुलों से भी भिक्षा ले। भिक्षा मे जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तोष करने वाला भिक्षु होता है। (श्लोक १३)

मुनि अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिए हीन-भाव से किसी के आगे हाथ नहीं पसारता। वह याचना में भी अपने आत्म-गौरव को नहीं खोता। बड़े व्यक्तियों की न वह चापलूसी करता है और न छोटे व्यक्तियों का तिरस्कार, न वह धनवानों की श्लाघा करता है और न निर्धनों की निन्दा। सबके प्रति उसका बर्ताव सम होता है। (श्लोक ६)

दशवैकालिक का दसवाँ अध्ययन 'सभिक्खु' है। उसमें २१ श्लोक है। इस अध्ययन मे १६ श्लोक है। उद्देश्य-साम्य होने पर भी दोनों के वर्णन मे अन्तर है। कहीं-कही श्लोकों के पदों मे शब्द-साम्य है। इस अध्ययन मे प्रयुक्त भिक्षु के कई विशेषण नए है। इसके समग्र अध्ययन से भिक्षु की जीवन-यापन विधि का अथ से इति तक सम्यक् परिज्ञान हो जाता है।

इस अध्ययन मे अनेक दार्शनिक तथा सामाजिक तथ्यों का सकलन हुआ है। आगम काल मे कुछ श्रमण और ब्राह्मण मन्त्र, चिकित्सा आदि का प्रयोग करते थे। भगवान् महावीर ने जैन-मुनि के लिए ऐसा करने का निषेध किया है।

वमन, विरेचन और धूमनेत्र—ये चिकित्सा-प्रणाली के अङ्ग है। आयुर्वेद मे प्रचलित 'पचकर्म' की प्रक्रिया में प्रथम दो का महत्त्वपूर्ण स्थान है और आज भी इस प्रक्रिया से चिकित्सा की जाती है। धूमनेत्र मस्तिष्क-सम्बन्धी रोगों का निवारण करने के लिए प्रयुक्त होता था। इसका उल्लेख दशवैकालिक ३।६ और सूत्रकृताग २।४।६७ मे भी हुआ है।

सातवें श्लोक मे अनेक विद्याओं का उल्लेख हुआ है। आजीवक आदि श्रमण इन विद्याओं का प्रयोग कर अपनी आजीविका चलाते थे। इससे लोगों मे आकर्षण और विकर्षण—दोनों होते थे। साधना भग होती थी। भगवान् ने इन विद्या-प्रयोगों से आजीविका चलाने का निषेध किया है।

निर्युक्तिकार ने भिक्षु के लक्षण इस प्रकार बतलाए हैं[1]—

भिक्षु वह है जो राग-द्वेष को जीत लेता है।

भिक्षु वह है जो मन, वचन और काया—इन तीनों दण्डों मे सावधान रहता है।

भिक्षु वह है जो न सावद्य कार्य करता है, न दूसरों से करवाता है और न उसका अनुमोदन करता है।

भिक्षु वह है जो ऋद्धि, रस और साता का गौरव नहीं करता।

भिक्षु वह है जो मायावी नही होता, जो निदान नहीं करता और जो सम्यग्दर्शी होता है।

भिक्षु वह है जो विकथाओं से दूर रहता है।

भिक्षु वह है जो आहार, भय, मैथुन और परिग्रह—इन चार सञ्ज्ञाओं को जीत लेता है।

भिक्षु वह है जो कषायो पर विजय पा लेता है।

भिक्षु वह है जो प्रमाद से दूर रहता है।

भिक्षु वह है जो कर्म-बन्धन को तोडने के लिए सदा प्रयत्नशील रहता है।

जो ऐसा होता है वह समस्त ग्रन्थियो का छेदन कर अजर-अमर पद को पा लेता है।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३७८,३७९ . रागद्दोसा दडा जोगा तह गारवा य सल्ला य।
विगहाओ सण्णाओ खुह कसाया पमाया य॥
एयाइ तु खुद्दाइ जे खलु भिंदति सुव्वया रिसओ।
ते भिन्नकम्मगंठी उविंति अयरामर ठाण॥

पनरसमं अज्झयणं : पंचदश अध्ययन

सभिक्खुयं : सभिक्षुकम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मोणं चरिस्सामि[1] समिच्च धम्मं सहिए उज्जुकडे नियाणछिन्ने । संथवं जहिज्ज अकामकामे अन्नायएसी परिव्वए जे स भिक्खू ॥	मौनं चरिष्यामि समेत्य धर्मं सहित ऋजुकृतः छिन्न-निदानः । संस्तवं जह्यादकाम-कामः अज्ञातैषी परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥	१—'धर्म को स्वीकार कर मुनि-व्रत का आचरण करूँगा'—जो ऐसा सङ्कल्प करता है, जो दूसरे भिक्षुओ के साथ रहता है, जिसका अनुष्ठान ऋजु है, जो वासना के सकल्प का छेदन करता है, जो परिचय का त्याग करता है, जो काम-भोगो की अभिलाषा को छोड चुका है, जो तप आदि का परिचय दिए विना भिक्षा की खोज करता है, जो अप्रतिबद्ध विहार करता है—वह भिक्षु है ।
२—राओवरयं[2] चरेज्ज लाढे विरए वेयवियाऽऽयरक्खिए । पन्ने अभिभूय सव्वदंसी जे कम्हिचि[3] न मुच्छिए स भिक्खू ॥	रात्र्युपरतं चरेद् 'लाढे' विरतो वेदविदात्म-रक्षितः । प्राज्ञोऽभिभूय सर्व-दर्शी य कस्मिन्नपि न मूर्च्छित स भिक्षुः ॥	२—जो रात्रि-भोजन या रात्रि-विहार नही करता, जो निर्दोष आहार से जीवन-यापन करता है, जो विरत, आगम को जानने वाला और आत्म-रक्षक है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहो को जीतने वाला और सब जीवो को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो किसी भी वस्तु में मूर्च्छित नही होता—वह भिक्षु है ।
३—अक्कोसवहं विइत्तु धीरे मुणी चरे लाढे निच्चमायगुत्ते । अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥	आक्रोश-वधं विदित्वा धीरः मुनिश्चरेद् 'लाढे' नित्यमात्म-गुप्त । अव्यग्र-मना असंप्रहृष्ट. य कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षु ॥	३—जो धीर मुनि कठोर वचन और ताडना को अपने कर्मो का फल जान कर शान्त भाव से विचरण करता है, जो प्रशस्त है, जो सदा आत्मा का सवरण किये रहता है, जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है ।
४—पन्तं सयणासणं भइत्ता सीउण्हं विविहं च दंसमसगं । अव्वग्गमणे असंपहिट्ठे जे कसिणं अहियासए स भिक्खू ॥	प्रान्तं शयनासनं भुक्त्वा शीतोष्णं विविधं च दंश-मशकम् । अव्यग्र-मना असंप्रहृष्ट यः कृत्स्नमध्यास्ते स भिक्षुः ॥	४—निकृष्ट शयन और आसन का सेवन करके तथा सर्दी, गर्मी, डास और मच्छरो की त्रास को सहन करके भी जिसका मन आकुलता और हर्ष से रहित होता है, जो सब कुछ सहन करता है—वह भिक्षु है ।

१. चरिस्सामो (वृ०) ।
२ रागोवरयं (वृ०), रातोवरयं (वृ० पा०) ।
३. कम्हि वि (अ, उ, ऋ०) ।

५—नो सक्कियमिच्छई न पूयं
नो वि य वन्दणगं कुओ पसंसं ? ।
से संजए सुव्वए तवस्सी
सहिए आयगवेसए स भिक्खू ॥

नो सत्कृतमिच्छति न पूजां
नो अपि च वन्दनकं कुतः प्रशंसाम् ? ।
स संयतः सुव्रतस्तपस्वी
सहित आत्म-गवेषकः स भिक्षुः ॥

५—जो सत्कार, पूजा और वन्दना की इच्छा नहीं करता वह प्रशंसा की इच्छा कैसे करेगा ? जो संयत, सुव्रत, तपस्वी, दूसरे भिक्षुओं के साथ रहने वाला और आत्म-गवेषक है—वह भिक्षु है ।

६—जेण पुण जहाइ जीवियं
मोहं वा कसिणं नियच्छई ।
नरनारिं पजहे सया तवस्सी
न य कोऊहलं उवेइ स भिक्खू ॥

येन पुनर्जहाति जीवितं
मोहं वा कृत्स्नं नियच्छति ।
नर-नारिं प्रजह्यात् सदा तपस्वी
न च कुतूहलमुपैति स भिक्षुः ॥

६—जिसके संयोग मात्र से संयम-जीवन छूट जाये और समग्र मोह से बंध जाए वैसे स्त्री या पुरुष की संगति का जो त्याग करता है, जो सदा तपस्वी है, जो कुतूहल नहीं करता—वह भिक्षु है ।

७—छिन्नं सरं भोमं अन्तलिक्खं
सुमिणं लक्खणदण्डवत्थुविज्जं ।
अंगवियारं सरस्स विजयं
जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खू ॥

छिन्नं स्वरं भौममन्तरिक्षं
स्वप्नं लक्षण-दण्ड-वास्तु-विद्याम् ।
अंग-विकारः स्वरस्य विचयं
यो विद्याभिर्न जीवति स भिक्षुः ॥

७—जो छिन्न (छिद्र-विद्या), स्वर (सप्त-स्वर विद्या), भौम, अन्तरिक्ष, स्वप्न, लक्षण, दण्ड, वास्तु-विद्या, अंग-विकार और स्वर-विज्ञान (पशु-पक्षी स्वर-विद्या)—इन विद्याओं के द्वारा जो आजीविका नहीं करता—वह भिक्षु है ।

८—मन्तं मूलं विविहं वेज्जचिन्तं
वमणविरेयणधूमणेत्तसिणाणं ।
आउरे सरणं तिगिच्छियं च
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

मन्त्रं मूलं विविधां वैद्य-चिन्तां
वमन-विरेचन-धूमनेत्र-स्नानम् ।
आतुरे शरणं चिकित्सितं च
तत् परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥

८—मन्त्र, मूल, विविध प्रकार की आयुर्वेद सम्बन्धी चिन्ता, वमन, विरेचन, धूम-पान की नली, स्नान, आतुर होने पर स्वजन की शरण, चिकित्सा—इनका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है ।

९—खत्तियगणउग्गरायपुत्ता
माहणभोइय विविहा 'य सिप्पिणो'[1] ।
नो तेसिं वयइ[2] सिलोगपूयं
तं परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू ॥

क्षत्रियगणोग्रराजपुत्राः
ब्राह्मण-भोगिका विविधाश्च शिल्पिनः ।
नो तेषां वदति श्लोक-पूजे
तत्परिज्ञाय परिव्रजेत् स भिक्षुः ॥

९—क्षत्रिय, गण, उग्र, राजपुत्र, ब्राह्मण, भोगिक (सामन्त) और विविध प्रकार के शिल्पी जो होते हैं, उनको श्लाघा और पूजा नहीं करता किन्तु उसे दोष-पूर्ण जान उसका परित्याग कर जो परिव्रजन करता है—वह भिक्षु है ।

---

१ सिप्पियणोऽणे (वृ० पा०) ।
२ करेइ (चू०) ।

१०—गिहिणो जे पव्वइएण दिट्ठा
अप्पव्वइएण व सथुया हविज्जा।
तेसिं इहलोइयफलट्ठा[1]
जो सथव न करेइ स भिक्खू॥

गृहिणो ये प्रव्रजितेन दृष्टा
अप्रव्रजितेन च सस्तुता भवेयुः।
तेषामिहलौकिकफलार्थं
यः सस्तव न करोति स भिक्षुः॥

१०—दीक्षा लेने के पश्चात् जिन्हें देखा हो या उससे पहले जो परिचित हो उनके साथ इहलौकिक फल (वस्त्र-पात्र आदि) की प्राप्ति के लिए जो परिचय नही करता— वह भिक्षु है।

११—सयणासणपाणभोयण
विविह खाइमसाइम परेसिं।
अदए पडिसेहिए नियण्ठे
जे तत्थ न पउस्सई स भिक्खू॥

शयनासन-पान-भोजन
विविध खाद्य-स्वाद्य परेभ्यः।
अददद्भ्यः प्रतिषिद्धो निर्ग्रन्थः
यस्तत्र न प्रदुष्यति स भिक्षुः॥

११—शयन, आसन, पान, भोजन और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य गृहस्थ न दे तथा कारण विशेष से माँगने पर भी इन्कार हो जाए, उस स्थिति में जो प्रद्वेष न करे—वह भिक्षु है।

१२—ज किंचि आहारपाण[2] विविह
खाइमसाइम परेसिं लद्धु।
जो त तिविहेण नाणुकम्पे
मणवयकायसुसवुडे स भिक्खू॥

यत्किंचिदाहार-पानं
विविध खाद्य-स्वाद्यं परेभ्यो: लब्ध्वा।
यस्तेन त्रिविधेन नानुकम्पते
सवृत-मनोवाक्कायः स भिक्षुः॥

१२—गृहस्थों के घर से जो कुछ आहार, पानक और विविध प्रकार के खाद्य-स्वाद्य प्राप्त कर जो गृहस्थ की मन, वचन और काया से अनुकम्पा नही करता—उन्हें आशीर्वाद नहीं देता, जो मन, वचन और काया से सुसवृत होता है—वह भिक्षु है।

१३—आयामग चेव जवोदण च
'सीय च सोवीरजवोदग च'[3]।
नो हीलए पिण्ड नीरस तु
पन्तकुलाइ परिव्वए स भिक्खू॥

आयामक चैव यवौदन च
शीत सौवीर यवोदक च।
न हीलयेत् पिण्ड नीरस तु
प्रान्त-कुलानि परिव्रजेत् स भिक्षुः॥

१३—ओसामन, जौ का दलिया, ठण्डा-वासी आहार, काँजी का पानी, जौ का पानी जैसी नीरस भिक्षा की जो निन्दा नही करता, जो सामान्य घरो में भिक्षा के लिए जाता है—वह भिक्षु है।

१४—सद्दा विविहा भवन्ति लोए
दिव्वा 'माणुस्सगा तहा तिरिच्छा'[4]।
भीमा भयभेरवा उराला
जो सोच्चा न वहिज्जई[5] स भिक्खू॥

शब्दा विविधा भवन्ति लोके
दिव्या मानुष्यकास्तैरश्चाः।
भीमा भय-भैरवा उदाराः
यः श्रुत्वा न बिभेति स भिक्षु॥

१४—लोक में देवता, मनुष्य और तिर्यञ्चों के अनेक प्रकार के रौद्र, अमित भयकर और अद्भुत शब्द होते है, उन्हें सुनकर जो नहीं डरता—वह भिक्षु है।

---

१. इहलोगफलट्ठाए (अ, आ, इ, चू०)।
२. वाहार ० (अ)।
३ सीय छवीर च जवोदग च (स, छ)।
४. माणुस्सया तिरिच्छा य (चू०)।
५. वहिए (ड)।

१५—वाद विविह समिच्च लोए
सहिए खेयाणुगए य कोवियप्पा।
पन्ने अभिभूय सव्वदंसी
उवसन्ते अविहेडए[1] स भिक्खू॥

वादं विविधं समेत्य लोके
सहितः खेदानुगतश्च कोविदात्मा।
प्राज्ञोऽभिभूय सर्वदर्शी
उपशान्तोऽविहेठकः स भिक्षुः॥

१५—लोक में विविध प्रकार के वादों को जान कर भी जो भिक्षुओं के साथ रहता है, जो संयमी है, जिसे आगम का परम अर्थ प्राप्त हुआ है, जो प्राज्ञ है, जो परीषहों को जीतने वाला और सब जीवों को आत्म-तुल्य समझने वाला है, जो उपशान्त और किसी को भी अपमानित न करने वाला होता है—वह भिक्षु है।

१६—असिप्पजीवी[2] अगिहे अमित्ते
जिइन्दिए सव्वओ विप्पमुक्के।
अणुक्कसाई लहुअप्पभक्खी
चेच्चा गिहं एगचरे स भिक्खू॥
—त्ति बेमि।

अशिल्पजीव्यगृहोऽमित्र
जितेन्द्रियः सर्वतो विप्रमुक्तः।
अणु-कषायी लघ्वल्पभक्षी
त्यक्त्वा गृहमेकचरः स भिक्षुः॥
—इति ब्रवीमि।

१६—जो शिल्प-जीवी नहीं होता, जिसके घर नहीं होता, जिसके मित्र नहीं होते, जो जितेन्द्रिय और सब प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है, जिसका कषाय मन्द होता है, जो थोड़ा और निस्सार भोजन करता है, जो घर को छोड़ अकेला (राग-द्वेष से रहित हो) विचरता है—वह भिक्षु है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. उविहेडए (उ)।
२. असिप्पजीवे (अ)।

सोलसमं अज्झयणं :
बम्भचेरसमाहिठाणं

षोडश अध्ययन :
ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान

आमुख

ब्रह्मचर्य-समाधि का निरूपण होने के कारण इस अध्ययन का नाम 'बम्भचेरसमाहिठाण'—'ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान' है। इसमें ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थानों का वर्णन है। स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में भी ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। तुलनात्मक तालिका यों है—

स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में वर्णित नौ गुप्तियाँ[1] :

१—निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से संसक्त शयन और आसन का सेवन न करे।

२—केवल स्त्रियों के बीच कथा न कहे अर्थात् स्त्री-कथा न करे।

३—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।[2]

४—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को न देखे और न अवधान पूर्वक उनका चिन्तन करे।

५—प्रणीत रसभोजी न हो।

६—मात्रा से अधिक न खाए और न पीए।

७—पूर्व-क्रीड़ाओं का स्मरण न करे।

८—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा श्लोक-कीर्ति में आसक्त न हो।

९—साता और सुख में प्रतिबद्ध न हो।

उत्तराध्ययन के दस स्थान

१—निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुंसक से आकीर्ण शयन और आसन का प्रयोग न करे।

२—स्त्रियों के बीच कथा न कहे।

३—स्त्रियों के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गड़ाकर न देखे।

५—स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, विलाप आदि के शब्द न सुने।

६—पूर्व-क्रीड़ाओं का अनुस्मरण न करे।

७—प्रणीत आहार न करे।

८—मात्रा से अधिक न खाए और न पीए।

९—विभूषा न करे।

१०—शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न हो।

उत्तराध्ययन में जो दसवाँ स्थान है, वह स्थानाङ्ग और समवायाङ्ग में आठवाँ स्थान है। अन्य स्थानों का वर्णन प्राय समान है। केवल पाँचवाँ स्थान स्थानाङ्ग तथा समवायाङ्ग में नहीं है।

१—(क) स्थानाङ्ग ९।६६३

नव बंभचेरगुत्तीतो प० त०—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता भवति णो इत्थिसंसत्ताइं नो पसुसंसत्ताइं नो पंडगसंसत्ताइं १, नो इत्थिणं कहं कहेत्ता २, नो इत्थिठाणाइं सेवित्ता भवति ३, णो इत्थीणमिंदिताइं मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४, णो पणीतरसभोती ५, णो पाणभोयणस्स अतिमत्त आहारते सता भवति ६, णो पुव्वरत पुव्वकीलियं समरेत्ता भवति ७, णो सद्दाणुवाती णो रूवाणुवाती णो सिलोगाणुवाती ८, णो सातसोक्खपडिबद्धे यावि भवति ९।

(ख) समवायाङ्ग समवाय ९

नव बंभचेरगुत्तीओ प० त०—नो इत्थीपसुपंडगसंसत्ताणि सिज्जासणाणि सेवित्ता भवइ १, नो इत्थीणं कहं कहित्ता भवइ २, नो इत्थीणं गणाइं सेवित्ता भवइ ३, नो इत्थीणं इंदियाणि मणोहराइं मणोरमाइं आलोइत्ता निज्झाइत्ता भवइ ४, नो पणीयरसभोई ५, नो पाण-भोयणस्स अइमायाए आहारइत्ता ६, नो इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलिआइं समरइत्ता भवइ ७, नो सद्दाणुवाई नो रूवाणुवाई नो गन्धाणुवाई नो रसाणुवाई नो फासाणुवाई नो सिलोगाणुवाई ८, नो सायासोक्खपडिबद्धे यावि भवइ ९।

२—समवायाङ्ग में इसके स्थान पर—निर्ग्रन्थ स्त्री-समुदाय की उपासना न करे—ऐसा पाठ है। देखें पा० टि० १ (ख)।

प्रस्तुत अध्ययन मे चक्षु-गृद्धि की भाँति पाँचवें स्थान में शब्द-गृद्धि का भी वर्जन किया गया है और दसवें स्थान मे पाँचों इन्द्रियों की आसक्ति का समवेत रूप मे वर्जन किया गया है।

यहाँ दस समाधि-स्थानों का वर्णन बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढग से हुआ है। शयन, आसन, काम-कथा, स्त्री-पुरुष का एक आसन पर बैठना, चक्षु-गृद्धि, शब्द-गृद्धि, पूर्व-क्रीडा का स्मरण, सरस आहार, अतिमात्र आहार, विभूषा, इन्द्रिय-विषयों की आसक्ति—ये सब ब्रह्मचर्य की साधना मे विघ्न हैं। इसलिए इनके निवारण को 'ब्रह्मचर्य समाधि-स्थान' या 'ब्रह्मचर्य-गुप्ति' कहा गया है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्ति-निग्रह है। वह पाँचों इन्द्रियों तथा मन के सयम के बिना प्राप्त नही होता। इसलिए उसका अर्थ 'सर्वेन्द्रिय-सयम' है। ये समाधि-स्थान इन्द्रिय-सयम के ही स्थान है :

स्पर्शन-इन्द्रिय-सयम के लिए सह-शयनासन और एक आसन पर बैठना वर्जित है।

रसन-इन्द्रिय-सयम के लिए सरस और अति-मात्रा मे आहार करना वर्जित है।

घ्राण इन्द्रिय-सयम के लिए कोई पृथक् विभाग निर्दिष्ट नही है।

चक्षु इन्द्रिय-सयम के लिए स्त्री देह व उसके हाव-भावों का निरीक्षण वर्जित है।

श्रोत्र-इन्द्रिय-सयम के लिए हास्य-विलास पूर्ण शब्दों का सुनना वर्जित है।

मानसिक-सयम के लिए काम-कथा, पूर्व-क्रीड़ा का स्मरण और विभूषा वर्जित है।

दसवाँ स्थान इन्द्रिय-सयम का सकलित रूप है।

मूलाचार में शील-विराधना (अब्रह्मचर्य) के दस कारण बतलाए गए हैं[1]—

१—स्त्री-ससर्ग—स्त्रियो के साथ ससर्ग करना।

२—प्रणीत-रस-भोजन—अत्यन्त गृद्धि से पाँचों इन्द्रियों के विकारों को बढाने वाला आहार करना।

३—गधमाल्य-सस्पर्श—सुगन्धित द्रव्यों तथा पुष्पो के द्वारा शरीर का सस्कार करना।

४—शयनासन—शयन और आसन मे गृद्धि रखना।

५—भूषण—शरीर का मण्डन करना।

६—गीत-वाद्य—नाट्य, गीत आदि की अभिलाषा करना।

७—अर्थ-सप्रयोजन—स्वर्ण आदि का व्यवहरण।

८—कुशील-ससर्ग—कुशील व्यक्तियों का ससर्ग।

९—राज-सेवा—विषयो की पूर्ति के लिए राजा का गुण कीर्तन करना।

१०—रात्रि-सचरण—बिना प्रयोजन रात्रि में इधर-उधर जाना।

दिगम्बर-विद्वान् पण्डित आशाधरजी ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों को निम्न रूप मे रखा है[2]—

१—मूलाचार ११।१३,१४ : इत्थीससग्गी पणीदरसभोयण गधमल्लसठप्प।
सयणासणभूसणय, छट्ठ पुण गीयवाइय चेव॥
अत्थस्स सपओगो, कुसीलससग्गि रायसेवा य।
रत्ति वि य सयरण, दस सील विराहणा भणिया॥

२—अनगारधर्मामृत ४।६१ : मा रूपादिरस पिपास छदृशां मा वस्तिमोक्ष कृथा,
वृष्य स्त्रीशयनादिक च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम्।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च सस्कुरु रत वृत्त स्मरस्मार्य मा,
वर्त्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्वि पञ्चधा ब्रह्मणे॥६१॥

१—मा रूपादिरस पिपासा सुदृशाम्—ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रसों को पान करने की इच्छा न करे।

२—मा वस्तिमोक्ष कृथा—वह ऐसा कार्य न करे, जिससे लिङ्ग-विकार हो।

३—वृष्य मा भज—वह कामोद्दीपक आहार न करे।

४—स्त्रीशयनादिक च मा भज—स्त्री तथा शयन-आसन आदि का प्रयोग न करे।

५—वराङ्गं दृश मा दा—स्त्रियों के अगो को न देखे।

६—स्त्री मा सत्कुरु—स्त्रियों का सत्कार न करे।

७—मा च सस्कुरु—शरीर-सस्कार न करे।

८—रत वृत्त मा स्मर—पूर्व सेवित का स्मरण न करे।

९—वर्त्स्यन् मा इच्छ—भविष्य मे क्रीड़ा करने का न सोचे।

१०—इष्ट विषयान् मा जुजस्व—इष्ट रूपादि विषयो से मन को युक्त न करे।

इनमे क्रमाङ्क १,३,४,५,७ और ८ तो वे ही है जो श्वेताम्बर-आगमों मे हैं, शेष भिन्न है।

वेद अथवा उपनिषदो मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे शृखलाबद्ध नियमो का उल्लेख नही मिलता। स्मृति मे कहा है—स्मरण, क्रीड़ा, देखना, गुह्यभाषण, सकल्प, अध्यवसाय और क्रिया—इस प्रकार मैथुन आठ प्रकार के है। इन सबमे विलग हो ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए।[1]

बौद्ध-साहित्य मे भी ब्रह्मचर्य-गुप्तियों जैसा कोई व्यवस्थित क्रम नही मिलता, किन्तु विकीर्ण रूप मे कुछ नियम मिलते है। वहॉ रूप के प्रति आसक्ति-भाव को दूर करने के लिए अशुचि भावना के चिन्तन का मत्र मान्य रहा है। यह 'कायगता-स्मृति' के नाम से विख्यात है।[2]

बुद्ध मृत्यु-शय्या पर थे तब शिष्यों ने पूछा—"भते। स्त्रियो के साथ हम कैसा व्यवहार करेंगे?"

"अदर्शन, आनन्द।"

"दर्शन होने पर भगवन्। कैसा बर्ताव करेंगे?"

"आलाप न करना, आनन्द।"

"बातें करने वाले को कैसा करना चाहिए?"

"स्मृति को सभाल रखना चाहिए।"[3]

उक्त अनेक परम्पराओ के सदर्भ मे दस समाधि-स्थानों का अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

१—दक्षस्मृति ७।३१-३३ ब्रह्मचर्य्यं सदा रक्षेदष्टधा मैथुन पृथक्।
स्मरण कीर्त्तन केलि प्रेक्षण गुह्यभाषणम्॥
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्ग प्रवदन्ति मनीषिण॥
न ध्यातव्यं न वक्तव्य न कर्त्तव्य कदाचन।
एतै सर्वैं सुसम्पन्नो यतिर्भवति नेतर॥

२—सुत्तनिपात १।११, विशुद्धि मग्ग (प्रथम भाग) परिच्छेद ८, पृष्ठ २१८-२६०।

३—दीघनिकाय (महापरिनिब्बाण सुत्त) २।३।

सोलसमं अज्झयणं : षोडशम् अध्ययनम्
वम्भचेरसमाहिठाणं : ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानम्

मूल

सू० १—सुय मे, आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—

इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस वम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, सजमवहुले, सवरवहुले, समाहिवहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तवम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ।

सस्कृत छाया

श्रुत मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्—इह खलु स्थविरै भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षु श्रुत्वा, निशम्य, सयम-वहुलः, सवर-वहुल, समाधि-वहुलः, गुप्त, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत् ।

हिन्दी अनुवाद

१—आयुष्मन्! मैंने सुना है, भगवान (प्रज्ञापक आचार्य) ने ऐसा कहा है—निर्ग्रन्थ प्रवचन में जो स्थविर (गणधर) भगवान हुए है उन्होंने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान वतलाए है, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु सयम, सवर और समाधि का पुन-पुन अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियों को उनके विषयो से वचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओ से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे।

सू० २—कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस वम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, सजमवहुले, सवरवहुले समाहिवहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तवम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ?

कतराणि खलु तानि स्थविर-भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, सयम-वहुल, सवर-वहुलः, समाधि-वहुल, गुप्त, गुप्तेन्द्रियः, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत ?

२—स्थविर भगवान ने वे कौन से ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान वतलाए हैं, जिन्हें सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु सयम, सवर और समाधि का पुन-पुन अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे, इन्द्रियो को उनके विषयो से वचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओं से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे ?

सू० ३—इमे खलु ते थेरेहि भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता, जे भिक्खू सोच्चा, निसम्म, सजमवहुले, सवरबहुले, समाहिबहुले, गुत्ते, गुत्तिन्दिए, गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा, त जहा—'विवित्ताइ सयणासणाइ सेविज्जा[1], से निग्गन्थे।'[2] नो इत्थीपसुपण्डगससत्ताइ सयणासणाइ सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

इमानि खलु स्थविरैर्भगवद्भिर्दश ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थानानि प्रज्ञप्तानि, यानि भिक्षुः श्रुत्वा, निशम्य, संयम-बहुल, संवर-बहुलः, समाधि-बहुलः, गुप्तः, गुप्तेन्द्रिय, गुप्त-ब्रह्मचारी, सदाऽप्रमत्तो विहरेत्। तद्यथा—विविक्तानि शयनासनानि सेवेत स निर्ग्रन्थः नो स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थ।

३—स्थविर भगवान ने ब्रह्मचर्य-समाधि के दस स्थान ये बतलाए है, जिन्हे सुन कर, जिनके अर्थ का निश्चय कर, भिक्षु सयम, सवर, और समाधि का पुन-पुन अभ्यास करे। मन, वाणी और शरीर का गोपन करे। इन्द्रियो को उनके विषयो से बचाए, ब्रह्मचर्य को नौ सुरक्षाओ से सुरक्षित रखे और सदा अप्रमत्त होकर विहार करे। वे इस प्रकार है—

जो एकान्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ स्त्री, पशु और नपुसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नही करता।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीपसुपण्डगससत्ताइ सयणासणाइ सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ 'वा धम्माओ'[3] भसेज्जा। तम्हा नो इत्थिपसुपण्डगससत्ताइ सयणासणाइ सेवित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

तत् कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्री-पशु-पण्डक-ससक्तानि शयनासनानि सेवमानस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्मादं वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् धर्माद् भ्रश्येत्, तस्मान्नो स्त्री-पशु-पण्डक-संसक्तानि शयनासनानि सेविता भवति स निर्ग्रन्थः।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—स्त्री, पशु और नपुसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए जो स्त्री, पशु और नपुसक से आकीर्ण शयन और आसन का सेवन नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

---

१ सेविज्जा हवइ (उ)।
२ × (चू०)।
३ धम्माओ (उ, इ)।

मू० ४—नो इत्थीण कह कहित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीण कह कहेमाणस्स, वम्भयारिस्स वम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा । 'तम्हा नो इत्थीण'[1] कह कहेज्जा ।

नो स्त्रीणा कथा कथयिता भवति, स निर्ग्रन्थ. ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणा कथा कथयतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मान्नो स्त्रीणा कथा कथयेत् ।

४—जो केवल स्त्रियो के बीच में कथा नहीं करता वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—केवल स्त्रियों के वीच कथा करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती हैं अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए केवल स्त्रियो के बीच में कथा न करे ।

मू० ५—नो इत्थीहिं[2] सद्धि सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धि सन्निसेज्जागयस्स, वम्भयारिस्स वम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा । तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धि सन्निसेज्जागए विहरेज्जा[3] ।

नो स्त्रीभि. सार्धं सन्निषद्यागतो विहर्ता भवति स निर्ग्रन्थ ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीभिः सार्धं सन्निषद्यागतस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीभि सार्धं सन्निषद्यागतो विहरेत् ।

५—जो स्त्रियो के साथ पीठ आदि एक आसन पर नही बैठता, वह निर्ग्रन्थ है ।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—स्त्रियो के साथ एक आसन पर बैठने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्रियो के साथ एक आसन पर न बैठे ।

---

१ तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीण (उ) ।

२ इत्थीण (अ, ऋ०) ।

३ विहरइ (अ) ।

सू० ६—नो इत्थीण इन्दियाइ मणोहराइ, मणोरमाइ आलोइत्ता, निज्झाइत्ता हवइ, से निग्गन्थे ।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीण इन्दियाइ मणोहराइ, मणोरमाइ आलोएमाणस्स, निज्झायमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा । तम्हा खलु 'निग्गन्थे नो'[1] इत्थीण इन्दियाइं मणोहराइ, मणोरमाइ आलोएज्जा, निज्झाएज्जा ।

नो स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयिता निर्ध्याता भवति स निर्ग्रन्थ ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यवलोकमानस्य निध्र्यायतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलिप्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत् । तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणामिन्द्रियाणि मनोहराणि मनोरमाण्यालोकयेन्निध्र्यायेत् ।

६—जो स्त्रियो की मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को दृष्टि गडा कर नही देखता, उनके विषय में चिन्तन नहीं करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—स्त्रियों की मनोहर और मनोरम इन्द्रियों को दृष्टि गडा कर देखने वाले और उनके विषय में चिन्तन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए स्त्रियो के मनोहर और मनोरम इन्द्रियो को दृष्टि गडा कर न देखे और उनके विषय में चिन्तन न करे ।

१ नो निग्गन्थे (अ)।

मू० ७—नो इत्थीण कुडुन्तरसि वा, दूसन्तरसि वा, भित्तन्तरसि वा, कुइयसद्द वा, रुइयसद्द वा, गीयसद्द वा, हसियसद्द वा, थणियसद्द वा, कन्दियसद्द वा, विलवियसद्द वा, सुणेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

नो स्त्रीणा कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा, कूजित-शब्दं वा, रुदित-शब्द वा, गीत-शब्द वा, हसित-शब्द वा, स्तनित-शब्द वा क्रन्दित-शब्द वा, विलपित-शब्द वा श्रोता भवति सनिर्ग्रन्थ.।

७—जो मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दो को नहीं सुनता, वह निर्ग्रन्थ है।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु इत्थीण 'कुडुन्तसि वा, दूसन्तरसि वा, भित्तन्तरसि[1] वा'[2], कुइयसद्द वा, रुइयसद्द वा, गीयसद्द वा, हसियसद्द वा, थणियसद्द वा, कन्दियसद्द वा, विलवियसद्द वा, सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु निग्गन्थे नो इत्थीण कुडुन्तरसि वा, दूसन्तरसि वा, भित्तन्तरसि वा, कुइयसद्द वा, रुइयसद्द वा, गीयसद्दं वा, हसियसद्द वा, थणियसद्द वा, कन्दियसद्द वा, विलवियसद्द वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

तत्कथमिति चेत ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणा कुड्यान्तरे वा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजित-शब्द वा, रुदित-शब्द वा, गीत-शब्द वा, हसित-शब्द वा, स्तनित-शब्द वा, क्रन्दित-शब्द वा, विलपित-शब्द वा शृण्वतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्यते। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणा कुड्यान्तरेवा, दूष्यान्तरे वा, भित्त्यन्तरे वा कूजित-शब्दं वा, रुदित-शब्दं वा, गीत-शब्दं वा हसित-शब्दं वा, स्तनित-शब्दं वा, क्रन्दित-शब्द वा, विलपित-शब्द वा शृण्वन् विहरेत्।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को सुनने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए मिट्टी की दीवार के अन्तर से, परदे के अन्तर से, पक्की दीवार के अन्तर से स्त्रियों के कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन, आक्रन्दन या विलाप के शब्दों को न सुने।

---

१. भित्ति अतरसि वा (अ, ऋ०); भित्तितरसि (उ)।

२ कुड्डुन्तरसि वा भित्तन्तरसि वा दूसन्तरंसि वा (चू०, स), कड्डुतरसि वा (अ)।

सू० ८—नो निग्गन्थे पुव्वरय, पुव्वकीलिय अणुसरित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पुव्वरय[1], पुव्वकीलिय अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं, पुवक्कीलिय अणुसरेज्जा।

नो निर्ग्रन्थ पूर्व-रत पूर्व-क्रीडित मनुस्मर्ता भवेत्, स निर्ग्रन्थ ।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु स्त्रीणा पूर्व-रतं पूर्व-क्रीडितमनुस्मरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घ-कालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः स्त्रीणां पूर्व-रतं पूर्व-क्रीडित-मनुस्मरेत्।

८—जो गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए गृहवास में की हुई रति और क्रीडा का अनुस्मरण न करे।

सू० ९—नो पणीयं आहार आहारित्ता हवइ, से निग्गन्थे।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु पणीय पाणभोयणं आहारेमाणस्स वम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा।

नो प्रणीतमाहारमाहर्त्ता भवति, स निर्ग्रन्थः।

तत्कथमिति चेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु प्रणीतमाहारमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचि-कित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः प्रणीतमाहारमाहरेत।

९—जो प्रणीत आहार नही करता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—प्रणीत पान-भोजन करने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, कांक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए प्रणीत आहार न करे।

---

१. इत्थीण पुव्वरय (उ, ऋ०)।

मू० १०—नो अइमायाए पाणभोयण आहारेत्ता हवइ, से निग्गन्थे।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयण आहारेमाणस्स वम्भयारिस्स वम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयण भुजिज्जा।

नो अतिमात्रया पान-भोजनमाहर्ता भवति, सनिर्ग्रन्थः।

तत्कथमितिचेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खल्वतिमात्रया पान-भोजनमाहरतो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात् दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत। तस्मात खलु नो निर्ग्रन्थोऽतिमात्रया पान-भोजन भुजीत।

१०—जो मात्रा से अधिक नही पीता और नहीं खाता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—मात्रा से अधिक पीने और खाने वाले ब्रह्मचारी निर्ग्रन्थ को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए मात्रा से अधिक न पीए और न खाए।

सू० ११—नो विभूसाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—विभूसावत्तिए[1], विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ ण तस्स इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवाई सिया।

नो विभूषानुपाती भवति, स निर्ग्रन्थ।

तत्कथमितिचेन् ?

आचार्य आह—विभूषावर्तिको विभूषितशरीरः स्त्रीजनस्याभिलषणीयो भवति। ततस्तस्य स्त्रीजनेनाभिलष्यमाणस्य ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत भेद वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत, केवलि-प्रज्ञप्ताद् वा धर्माद् भ्रश्येत। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थो विभूषानुपाती स्यात्।

११—जो विभूषा नही करता—शरीर को नही सजाता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यों ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते है—जिसका स्वभाव विभूषा करने का होता है, जो शरीर को विभूषित किए रहता है, उसे स्त्रियाँ चाहने लगती है। पश्चात् स्त्रियो के द्वारा चाहे जाने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शङ्का, काङ्क्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए विभूषा न करे।

१. निग्गन्थस्स खलु विभूसावत्तिए (अ)।

सू० १२—नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हवइ, से निग्गन्थे।

त कहमिति चे ?

आयरियाह—निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाइस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा, कखा वा, वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे सद्दरूवरसगन्धफासाणुवाई हविज्जा। दसमे बम्भचेरसमाहिठाणे हवइ।

भवन्ति इत्थ सिलोगा, तं जहा—

नो शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपाती भवति, सनिर्ग्रन्थ।

तत्कथमितिचेत् ?

आचार्य आह—निर्ग्रन्थस्य खलु शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपातिनो ब्रह्मचारिणो ब्रह्मचर्ये शङ्का वा काङ्क्षा वा विचिकित्सा वा समुत्पद्येत, भेदं वा लभेत, उन्माद वा प्राप्नुयात्, दीर्घकालिको वा रोगातङ्को भवेत्, केवलि-प्रज्ञप्ताद्द वा धर्माद्द भ्रश्येत्। तस्मात् खलु नो निर्ग्रन्थः शब्द-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शानुपाती भवेत्। दशम ब्रह्मचर्य-समाधि-स्थान भवति।

भवन्ति अत्र श्लोका, तद् यथा—

१२—जो शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त नहीं होता, वह निर्ग्रन्थ है।

यह क्यो ?

ऐसा पूछने पर आचार्य कहते हैं—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त होने वाले ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य के विषय में शका, काक्षा या विचिकित्सा उत्पन्न होती है अथवा ब्रह्मचर्य का विनाश होता है अथवा उन्माद पैदा होता है अथवा दीर्घकालिक रोग और आतक होता है अथवा वह केवली-कथित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, इसलिए शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्त न बने। ब्रह्मचर्य की समाधि का यह दसवाँ स्थान है।

यहाँ श्लोक हैं जैसे—

१—ज विवित्तमणाइण्ण
रहिय थीजणेण य।
वम्भचेरस्स रक्खट्ठा
आलय तु निसेवए॥

यो विविक्तोनाकीर्णः
रहित स्त्रीजनेन च।
ब्रह्मचर्यस्य रक्षार्थम्
आलय तु निषेवते॥

१—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए मुनि वैसे आलय में रहे जो एकान्त, अनाकीर्ण और स्त्रियो से रहित हो।

२—मणपल्हायजणणिं
कामरागविवड्ढणिं।
वम्भचेररओ भिक्खू
थीकह तु विवज्जए॥

मनः-प्रह्लाद-जननीं
काम-राग-विवर्धनीम्।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
स्त्री-कथां तु विवर्जयेत्॥

२—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु मन को आह्लाद देने वाली तथा काम-राग बढाने वाली स्त्री-कथा का वर्जन करे।

३—सम च सथव थीहिं
सकह च अभिक्खण।
वम्भचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए॥

सम च सस्तवं स्त्रीभि
सकथा चाभीक्ष्णम्।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
नित्यशः परिवर्जयेत्॥

३—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियो के साथ परिचय और बार-बार वार्तालाप का सदा वर्जन करे।

४—अगपच्चगसठाण
चारुल्लवियपेहिय ।
वम्भचेररओ थीण[1]
चक्खुगिज्झ विवज्जए ॥

अग-प्रत्यग-सस्थान
चारुल्लपित-प्रेक्षितम् ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणा
चक्षु-ग्राह्य विवर्जयेत् ॥

४—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के चक्षु-ग्राह्य, अंग-प्रत्यग, आकार, वोलने की मनहर-मुद्रा और चितवन को न देखे—देखने का यत्न न करे ।

५—कुइय रुइय गीय
हसिय थणियकन्दिय ।
वम्भचेररओ थीण
सोयगिज्झ विवज्जए ॥

कूजित रुदित गीत
हसित स्तनित-क्रन्दितम् ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणा
श्रोत्र-ग्राह्य विवर्जयेत् ॥

५—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु स्त्रियों के श्रोत्र-ग्राह्य कूजन, रोदन, गीत, हास्य, गर्जन और क्रन्दन को न सुने—सुनने का यत्न न करे ।

६—'हास किड्ड रइ दप्प
सहसाऽवत्तासियाणि[2] य'[3] ।
वम्भचेररओ थीण
नाणुचिन्ते कयाइ वि ॥

हास क्रीडा रति दर्प
सहसाऽवत्रासितानि च ।
ब्रह्मचर्य-रतः स्त्रीणा
नानुचिन्तयेत् कदाचिदपि ॥

६—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु पूर्व-जीवन में स्त्रियों के साथ अनुभूत हास्य, क्रीडा, रति, अभिमान और आकस्मिक त्रास का कभी भी अनुचिंतन न करे ।

७—पणीय भत्तपाण तु[4]
खिप्प मयविवड्ढण ।
वम्भचेररओ भिक्खू
निच्चसो परिवज्जए ॥

प्रणीत भक्त-पान तु
क्षिप्र मद-विवर्धनम् ।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षु
नित्यशः परिवर्जयेत् ॥

७—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु शीघ्र ही काम-वासना को वढाने वाले प्रणीत भक्त-पान का सदा वर्जन करे ।

८—धम्मलद्ध[5] मिय काले
जत्तत्थं पणिहाणव ।
नाइमत्त तु भुजेज्जा
वम्भचेररओ सया ॥

धर्म्य-लब्ध मित काले
यात्रार्थं प्रणिधानवान् ।
नाऽतिमात्र तु भुञ्जीत
ब्रह्मचर्य-रत सदा ॥

८—ब्रह्मचर्य-रत और स्वस्थ चित्त वाला भिक्षु जीवन निर्वाह के लिए उचित समय में निर्दोष, भिक्षा द्वारा प्राप्त, परिमित भोजन करे, किन्तु मात्रा से अधिक न खाए ।

---

१. भिक्खू (बृ०) ।
२. सहसावित्ता ० (बृ०), सहभुत्ता ० (अ) ।
३ हस्स दप्प रइ किड्ड सहभुत्ता ० (बृ० पा०) ।
४. च (अ) ।
५. धम्म लद्ध (बृ०), धम्मलद्ध, धम्मलद्ध (बृ० पा०) ।

९—विभूस परिवज्जेज्जा
सरीरपरिमण्डण ।
वम्भचेररओ भिक्खू
सिंगारत्थ न धारए ॥

विभूषा परिवर्जयेत्
शरीर-परिमण्डनम् ।
ब्रह्मचर्य-रतो भिक्षुः
शृङ्गारार्थं न धारयेत् ॥

९—ब्रह्मचर्य में रत रहने वाला भिक्षु विभूषा का वर्जन करे और शरीर की शोभा बढाने वाले केश, दाढी आदि को शृङ्गार के लिए धारण न करे।

१०—सद्दे रूवे य गन्धे य
रसे फासे तहेव य।
पचविहे कामगुणे
निच्चसो परिवज्जए ॥

शब्दान् रूपांश्च गधांश्च
रसान् स्पर्शांस्तथैव च ।
पञ्चविधान् काम-गुणान्
नित्यशः परिवर्जयेत् ॥

१०—शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पाँच प्रकार के काम-गुणो का सदा वर्जन करे।

११—आलओ थीजणाइण्णो
थीकहा य मणोरमा।
सथवो चेव नारीण[1]
तासिं इन्दियदरिसण ॥

आलयः स्त्रीजनाकीर्णः
स्त्री-कथा च मनोरमा ।
सस्तवश्चैव नारीणा
तासामिन्द्रिय-दर्शनम् ॥

११—(१) स्त्रियो से आकीर्ण आलय,
(२) मनोरम स्त्री-कथा,
(३) स्त्रियों का परिचय,
(४) उनके इन्द्रियो को देखना,

१२—कुइय रुइय गीय
हसिय[2] भुत्तासियाणि य।
पणीय भत्तपाण च
अइमाय[3] पाणभोयण ॥

कूजितं रुदितं गीत
हसित भुक्तासितानि च ।
प्रणीतं भक्त-पान च
अतिमात्र पान-भोजनम् ॥

१२—(५) उनके कूजन, रोदन, गीत और हास्य-युक्त शब्दो को सुनना,
(६) भुक्त-भोग और सहावस्थान, को याद करना,
(७) प्रणीत पान-भोजन,

१३—गतभूसणमिट्ठ च
कामभोगा य दुज्जया।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स
विस तालउड जहा ॥

गात्र-भूषणमिष्ट च
काम-भोगाश्च दुर्जयाः ।
नरस्यात्म-गवेषिणः
विष तालपुट यथा ॥

१३—(८) मात्रा से अधिक पान-भोजन,
(९) शरीर को सजाने की इच्छा और
(१०) दुर्जय काम-भोग—ये दस आत्म-गवेषी मनुष्य के लिए तालपुट विष के समान हैं।

१ नारिहि (बृ०)।
२ सहभुत्ता ० (अ)।
३. अइमाण (बृ०)।

१४—दुज्जए कामभोगे य
निच्चसो परिवज्जए।
सकट्ठाणाणि सव्वाणि
वज्जेज्जा[1] पणिहाणव॥

दुर्जयान् काम-भोगाश्च
नित्यश. परिवर्जयेत्।
शका-स्थानानि सर्वाणि
वर्जयेत् प्रणिधानवान्॥

१४—एकाग्रचित्त वाला मुनि दुर्जय काम-भोगो और ब्रह्मचर्य में शका उत्पन्न करने वाले पूर्वोक्त सभी स्थानों का वर्जन करे।

१५—धम्मारामे चरे भिक्खू
धिइम धम्मसारही।
धम्मारामरए दन्ते
वम्भचेरसमाहिए॥

धर्मारामे चरेद् भिक्षुः
धृतिमान् धर्म-सारथिः।
धर्माराम-रतो दान्त
ब्रह्मचर्य-समाहितः॥

१५—धैर्यवान्, धर्म के रथ को चलाने वाला, धर्म के आराम में रत, दान्त और ब्रह्मचर्य में चित्त का समाधान पाने वाला भिक्षु धर्म के आराम में विचरण करे।

१६—देवदाणवगन्धव्वा
जक्खरक्खसकिन्नरा।
वम्भयारिं नमसन्ति
दुक्कर जे करन्ति त[2]॥

देव-दानव-गन्धर्वाः
यक्ष-राक्षस-किन्नरा।
ब्रह्मचारिण नमस्कुर्वन्ति
दुष्कर यः करोति तत्॥

१६—उस ब्रह्मचारी को देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर—ये सभी नमस्कार करते है, जो दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है।

१७—एस धम्मे धुवे निअए
सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण
सिज्झिस्सन्ति तहापरे॥
—त्ति वेमि॥

एष धर्मो ध्रुवो नित्य
शाश्वतो जिन-देशितः।
सिद्धाः सिध्यन्ति चानेन
सेत्स्यन्ति तथापरे॥
—इति ब्रवीमि।

१७—यह ब्रह्मचर्य-धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और अर्हत् के द्वारा उपदिष्ट है। इसका पालन कर अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, हो रहे हैं और भविष्य में भी होंगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१ वज्जिया (बृ०)।
२. ते (अ)।

सत्तरसमं अज्झयणं :

पावसमणिज्जं

सप्तदश अध्ययन :

पाप-श्रमणीयम्

आमुख

इस अध्ययन मे पाप-श्रमण के स्वरूप का निरूपण है, इसलिए इसे 'पावसमणिज्ज—'पाप-श्रमणीय' कहा गया है ।

श्रमण दो प्रकार के होते है—श्रेष्ठ-श्रमण और पाप-श्रमण । जो ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप और वीर्य—इन पाँच आचारो का पालन करता है वह श्रेष्ठ-श्रमण है । उसके लक्षण पन्द्रहवें अध्ययन मे बताए गए है । जो ज्ञान आदि आचारों का सम्यक् पालन नही करता, इस अध्ययन मे वर्णित अकरणीय कार्यों का आचरण करता है वह पाप-श्रमण होता है ।[1]

जो प्रव्रज्या ग्रहण कर सुख-शील हो जाता है—'सोहत्ताए णिक्खतो सियालत्ताए विहरति'—सिंह की भाँति निष्क्रान्त होने पर भी गीदड की तरह प्रव्रज्या का पालन करता है, वह पाप-श्रमण होता है । (श्लो० १)

जो खा-पीकर सो जाता है वह पाप-श्रमण होता है । जैन-परम्परा मे यह औत्सर्गिक मर्यादा रही है कि मुनि दिन मे न सोए । इसके कई अपवाद भी है । जो मुनि विहार मे परिश्रान्त हो गया हो, वृद्ध हो गया हो, रोगी हो, वह मुनि आचार्य से आज्ञा लेकर दिन मे भी सो सकता है, अन्यथा नही ।[2]

आयुर्वेद के ग्रन्थो मे सोने का विधान इस प्रकार है—नींद लेने का उपयुक्त काल रात है । यदि रात मे पूरी नींद न आए तो प्रात काल भोजन मे पूर्व सोए । रात मे जागने से रूक्षता[3] और दिन मे लेट कर नीद लेने से स्निग्धता पैदा होती है । परन्तु दिन मे बैठे-बैठे नीद लेना न रूक्षता पैदा करता है और न स्निग्धता । यह स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद है ।

जो मुनि आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक होता है, पापो से नही डरता, कलह की उदीरणा करता है, चपल होता है, रस-गृद्ध होता है, तप कर्म नहीं करता, गण और गणी को छोड़ देता है, वह पाप-श्रमण है ।

इस अध्ययन मे—

श्लोक १-४ मे ज्ञान-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है ।
श्लोक ५ मे दर्शन-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है ।
श्लोक ६-१४ मे चरित्र-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है ।
श्लोक १५-१६ मे तप -आचार की निरपेक्षता का वर्णन है ।
श्लोक १७-१६ मे वीर्य-आचार की निरपेक्षता का वर्णन है ।

---

१ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३६० — जे भावा अकरणिज्जा, इहमज्झयणमि वन्निअ जिणेहिं ।
तं भावे सेवतो, नायव्वो पावसमणोत्ति ॥

२ ओघनिर्युक्ति, गाथा ४१६ — अद्धाण परिस्सतो, गिलाण वुड्ढो अणुन्नवेत्ताण ।
सथारुत्तरपट्टो, अत्थरण निवज्जणा लोग ॥

३. अष्टागहृदय सूत्रस्थान ७।५५,६५ — यथाकाल मतो निद्रां, रात्रौ सेवेत सात्मत ।
असात्म्याद् जागरादर्ध, प्रात स्वप्यादभुक्तवान् ॥
रात्रौ जागरण रूक्ष, स्निग्ध प्रस्वपन दिवा ।
अरूक्षमनभिस्यन्दि, त्वासीनप्रचलायितम् ॥

सतरसमं अज्झयण : सप्तदश अध्ययन

पावसमणिज्जं : पाप-श्रमणीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जे 'के इमे'[1] पव्वइए नियण्ठे धम्म सुणिता विणओववन्ने । सुदुल्लह लहिउ बोहिलाभं विहरेज्ज पच्छा य जहासुह तु ॥	यः कश्चिदय प्रव्रजितो निर्ग्रन्थः धर्मं श्रुत्वा विनयोपपन्नः । सुदुर्लभ लब्ध्वा बोधि-लाभ विहरेत् पश्चाच्च यथासुख तु ॥	१—जो कोई निर्ग्रन्थ धर्म को सुन, दुर्लभतम बोधि-लाभ को प्राप्त कर विनय से युक्त हो प्रव्रजित होता है किन्तु प्रव्रजित होने के पश्चात् स्वच्छन्द-विहारी हो जाता है,
२—सेज्जा दढा पाउरण मे अत्थि उप्पज्जई भोत्तु[2] तहेव पाउ । जाणामि ज वट्टइ आउसु ! त्ति किं नाम काहामि सुएण भन्ते ! ॥	शय्या दृढा प्रावरण मेऽस्ति, उत्पद्यते भोक्तु तथैव पातुम् । जानामि यद्वर्तत आयुष्मन् ! इति किं नाम करिष्यामि श्रुतेन भदन्त ? ॥	२—(गुरु के द्वारा अध्ययन की प्रेरणा प्राप्त होने पर वह कहता है—) मुझे रहने को अच्छा उपाश्रय मिल रहा है, कपडा भी मेरे पास है, खाने-पीने को भी मिल जाता है । आयुष्मन् ! जो हो रहा है, उसे मैं जान लेता हूँ । भन्ते ! फिर मैं श्रुत का अध्ययन कर के क्या करूँगा ?
३—जे के इमे पव्वइए निद्दासीले पगामसो । भोच्चा पेच्चा सुह सुवइ[3] पावसमणि त्ति वुच्चई ॥	यः कश्चिदय प्रव्रजितो निद्राशीलः प्रकामशः । भुक्त्वा पीत्वा सुख स्वपिति पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥	३—जो प्रव्रजित होकर वार-वार नीद लेता है, खा-पी कर आराम से लेट जाता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।
४—आयरियउवज्झाएहिं सुय विणय च गाहिए । ते चेव खिंसई बाले पावसमणि त्ति वुच्चई ॥	आचार्योपाध्यायैः श्रुत विनयं च ग्राहितः । तांश्चैव खिसति बालः पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥	४—जिन आचार्य और उपाध्याय ने श्रुत और विनय सिखाया उन्ही की निन्दा करता है, वह विवेक-विकल भिक्षु पाप-श्रमण कहलाता है ।

---

१ केइ उ (बृ०, अ०, सु०), के इमे (बृ० पा) ।
२. भुत्तु (अ०) ।
३. वसइ (बृ० पा०) ।

५—आयरियउवज्झायाण
सम्म नो पडितप्पइ।
अप्पडिपूयए थद्धे
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

आचार्योपाध्यायाना
सम्यग् न प्रतितप्यते।
अप्रतिपूजकः स्तब्धः
पाप-श्रमण इत्युच्यते॥

५—जो आचार्य और उपाध्याय के कार्यो की सम्यक् प्रकार से चिन्ता नही करता—उनकी सेवा नही करता, जो बडो का सम्मान नही करता, जो अभिमानी होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

६—सम्मद्दमाणे पाणाणि
बीयाणि हरियाणि य।
असजए सजयमन्नमाणे
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

समर्दयन् प्राणान्
बीजानि हरितानि च।
असयतः सयतो(ऽहमिति) मन्यमानः
पाप-श्रमण इत्युच्यते॥

६—द्वीन्द्रिय आदि प्राणी तथा बीज और हरियाली का मर्दन करने वाला, असयमी होते हुए भी अपने आपको सयमी मानने वाला, पाप-श्रमण कहलाता है।

७—सथार फलगं पीढं
निसेज्ज पायकम्बल।
अप्पमज्जियमारुहइ
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

सस्तार फलकं पीठ
निषद्या पाद-कम्बलम्।
अप्रमृज्यारोहति
पाप-श्रमण इत्युच्यते॥

७—जो बिछौने, पाट, पीठ, आसन और पैर पोछने के कम्बल का प्रमार्जन किए बिना (तथा देखे बिना) उन पर बैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

८—दवदवस्स चरई
पमत्ते य अभिक्खण।
उल्लघणे य चण्डे य
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

द्रव द्रवं चरति
प्रमत्तश्चाभीक्ष्णम्।
उल्लघनश्च चण्डश्च
पाप-श्रमण इत्युच्यते॥

८—जो द्रुतगति से चलता है, जो बार-बार प्रमाद करता है, जो प्राणियो को लाघ कर—उनके ऊपर होकर चला जाता है, जो क्रोधी है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

९—पडिलेहेइ पमत्ते
अवउज्झइ पायकम्बल।
पडिलेहणाअणाउत्ते[1]
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

प्रतिलेखयति प्रमत्त
अपोज्झति पाद-कम्बलम्।
प्रतिलेखनाऽनायुक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते॥

९—जो असावधानी से प्रतिलेखन करता है, जो पाद-कम्बल को जहाँ कही रख देता है, इस प्रकार जो प्रतिलेखना में असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

१०—पडिलेहेइ पमत्ते
से किंचि हु निसामिया।
गुरुपरिभावए[2] निच्चं
पावसमणि त्ति वुच्चई॥

प्रतिलेखयति प्रमत्तः
सकिंचिन् खलु निशम्य।
गुरु-परिभावको नित्यं
पाप-श्रमण इत्युच्यते॥

१०—जो कुछ भी बातचीत हो रही हो उसे सुनकर प्रतिलेखना में असावधानी करने लगता है, जो गुरु का तिरस्कार करता है—शिक्षा देने पर उनके सामने बोलने लगता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है।

---

१ पडिलेहा० (स)।
२ गुरुपरिभवइ (अ), गुरूपरिभासए (वृ०); गुरूपरिभावए (वृ० पा०)।

११—बहुमाई पमुहरे[1]
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे ।
असंविभागी अचियत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

बहुमायी प्रमुखरः
स्तब्धो लुब्धोऽनिग्रहः ।
असंविभागी 'अचियत्ते'
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

११—जो बहुत कपटी, वाचाल, अभिमानी, लालची, इन्द्रिय और मन पर नियंत्रण न रखने वाला, भक्त-पान आदि का संविभाग न करने वाला और गुरु आदि से प्रेम न रखने वाला होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१२—विवादं च उदीरेइ
अहम्मे अत्तपन्नहा[2] ।
वुग्गहे कलहे रत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

विवादं चोदीरयति
अधर्मे आत्म-प्रज्ञाहा ।
व्युद्ग्रहे कलहे रक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१२—जो शान्त हुए विवाद को फिर से उभाड़ता है, जो सदाचार से शून्य होता है, जो (कुतर्क से) अपनी प्रज्ञा का हनन करता है, जो कदाग्रह और कलह में रक्त होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१३—अथिरासणे कुक्कुईए
जत्थ तत्थ निसीयई ।
आसणम्मि अणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

अस्थिरासनः कौकुचिकः
यत्र तत्र निषीदति ।
आसनेऽनायुक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१३—जो स्थिरासन नहीं होता—विना प्रयोजन इधर-उधर चक्कर लगाता है, जो हाथ, पैर आदि अवयवों को हिलाता रहता है, जो जहाँ कहीं बैठ जाता है—इस प्रकार आसन (या बैठने) के विषय में जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१४—ससरक्खपाए सुवई
सेज्जं न पडिलेहइ ।
संथारए अणाउत्ते
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

ससरजस्क-पादः स्वपिति
शय्यां न प्रतिलेखयति ।
संस्तारकेऽनायुक्तः
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१४—जो सचित्त रज से भरे हुए पैरों का प्रमार्जन किए विना ही सो जाता है, सोने के स्थान का प्रतिलेखन नहीं करता—इस प्रकार विछौने (या सोने) के विषय में जो असावधान होता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१५—दुद्धदहीविगईओ
आहारेइ अभिक्खणं ।
अरए य तवोकम्मे
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

दुग्ध-दधि-विकृतीः
आहरत्यभीक्ष्णम् ।
अरतश्च तपः-कर्मणि
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१५—जो दूध, दही आदि विकृतियों का बार-बार आहार करता है और तपस्या में रत नहीं रहता, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१६—अत्थन्तम्मि[3] य सूरम्मि
आहारेइ अभिक्खणं ।
चोइओ पडिचोएइ
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

अस्तान्ते च सूर्ये
आहरत्यभीक्ष्णम् ।
चोदितः प्रतिचोदयति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१६—जो सूर्य के उदय से लेकर अस्त होने तक बार-बार खाता रहता है । 'ऐसा नहीं करना चाहिए'—इस प्रकार सीख देने वाले को कहता है कि तुम उपदेश देने में कुशल हो, करने में नहीं, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१. पमुहरी (इ, चू०, स) ।
२. अत्तपण्हहा (बृ०), अत्तपण्णहा (बृ० पा०) ।
३. अत्थतमयम्मि (बृ० पा०) ।

१७—आयरियपरिच्चाई
परपासण्डसेवए ।
गाणगणिए दुब्भूए
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

आचार्य-परित्यागी
पर-पाषण्ड-सेवकः ।
गाणङ्गणिको दुर्भूत.
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१७—जो आचार्य को छोड दूसरे धर्म-सम्प्रदायो में चला जाता है, जो छह मास की अवधि में एक गण से दूसरे गण में सक्रमण करता है, जिसका आचरण निन्दनीय है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१८—सय गेह परिच्चज्ज
परगेहसि वावडे[1] ।
निमित्तेण य ववहरई
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

स्वक गेहं परित्यज्य
पर-गेहे व्याप्रियते ।
निमित्तेन च व्यवहरति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१८—जो अपना घर छोड कर (प्रव्रजित होकर) दूसरों के घर में व्यापृत होता है—उनका कार्य करता है, जो शुभाशुभ बता कर धन का अर्जन करता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

१९—सन्नाइपिण्ड जेमेइ
नेच्छई सामुदाणिय ।
गिहिनिसेज्ज च वाहेइ
पावसमणि त्ति वुच्चई ॥

स्व-ज्ञाति-पिण्ड जेमति
नेच्छति सामुदानिकम् ।
गृहि-निषद्या च वाहयति
पाप-श्रमण इत्युच्यते ॥

१९—जो अपने ज्ञाति-जनों के घरों में भोजन करता है, किन्तु सामुदायिक भिक्षा करना नहीं चाहता, जो गृहस्थ की शैया पर वैठता है, वह पाप-श्रमण कहलाता है ।

२०—एयारिसे पचकुसीलसवुडे
रूवधरे मुणिपवराण हेट्ठिमे ।
अयसि लोए विसमेव गरहिए
न से इहं नेव परत्थ लोए ॥

एतादृशः पच-कुशीलाऽसवृत
रूपधरो मुनि-प्रवराणामघस्तनः ।
अस्मिँल्लोके विषमिव गर्हितः
न स इह नैव परत्र लोके ॥

२०—जो पूर्वोक्त आचरण करने वाला, पाँच प्रकार के कुशील साधुओ की तरह असवृत, मुनि के वेश को धारण करने वाला और मुनि-प्रवरों की अपेक्षा तुच्छ सयम वाला होता है, वह इस लोक में विष की तरह निंदित होता है । वह न इस लोक में कुछ होता है और न परलोक में ।

२१—जे वज्जए एए सया उ दोसे
से सुव्वए होइ मुणीण मज्झे ।
अयसि लोए अमय व पूइए
आराहए 'दुहओ लोगमिण'[2] ॥
—त्ति वेमि ॥

यो वर्जयत्येतान् सदा तु दोषान्
स सुव्रतो भवति मुनीनां मध्ये ।
अस्मिँल्लोकेऽमृतमिव पूजितः
आराधयति लोकमिमं तथा परम् ॥
—इति ब्रवीमि

२१—जो इन दोषो का सदा वर्जन करता है वह मुनियों में सुव्रत होता है । वह इस लोक में अमृत की तरह पूजित होता है तथा इस लोक और परलोक—दोनो लोकों की आराधना करता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१ वावरे (बृ०, सु०) , ववहरे (बृ० पा०) ।
२ लोगमिण तहापर (उ, स, सु०, ऋ०) ।

अट्ठारसमं अज्झयणं :
संजइज्जं

अष्टादश अध्ययन :
संजयीयम्

आमुख

यह अध्ययन राजा संजय के वर्णन से समुत्पन्न है, इसलिए इसका नाम 'संजइज्ज'--'संजयीय' है ।[1]

कांपिल्य नगर मे संजय नाम का एक राजा राज्य करता था । एक बार वह शिकार के लिए निकला । उसके साथ चारों प्रकार की सेनाएँ थी । वह केसर उद्यान मे गया । वहाँ उसने सत्रस्त मृगों को मारा । इधर-उधर देखते उसकी दृष्टि गर्दभाली मुनि पर जा टिकी । वे ध्यानस्थ थे । उन्हें देख वह सम्भ्रान्त हो गया । उसने सोचा—मैने यहाँ के मृगों को मार मुनि की आशातना की है । वह घोड़े से नीचे उतरा । मुनि के पास जा, वन्दना कर बोला—"भगवन् ! मुझे क्षमा करें ।" मुनि ध्यानलीन थे । वे कुछ नहीं बोले । राजा का भय बढा । उसने सोचा—यदि मुनि क्रुद्ध हो गए तो वे अपने तेज से समूचे विश्व को नष्ट कर देंगे । उसने पुन कहा—"भंते ! मै राजा संजय हूँ । मौन तोड कर मुझे कुछ कहे ।" (श्लोक १-१०)

मुनि ने ध्यान पारा और अभयदान देते हुए बोले—"राजन् ! तुझे अभय है । तू भी अभयदाता बन । इस अनित्य जीव-लोक मे तू क्यों हिंसा मे आसक्त हो रहा है ।" (श्लोक ११) मुनि ने जीवन की अस्थिरता, ज्ञाति-सम्बन्धी की असारता, कर्म-परिणामों की निश्चितता का उपदेश दिया । राजा ने सुना । वैराग्य उभर आया । वह राज्य को त्याग कर मुनि गर्दभाली के पास श्रमण बन गया ।

एक दिन एक क्षत्रीय मुनि संजय मुनि के पास आया और पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है ? तुम्हारा गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ।" (श्लोक २१)

मुनि संजय ने उत्तर दिया—"नाम से मै संजय हूँ । गोत्र मेरा गौतम है । गर्दभाली मेरे आचार्य है । मुक्ति के लिए मै माहन बना हूँ । आचार्य के उपदेशानुसार मै सेवा करता हूँ इसलिए मै विनीत हूँ ।" (श्लोक २२,२३)

क्षत्रिय मुनि ने उनके उत्तर से आकृष्ट हो बिना पूछे ही कई तथ्य प्रकट किए और मुनि संजय को जैन प्रवचन मे विशेष दृढ करने के लिए महापुरुषों के अनेक उदाहरण दिए । (श्लोक २३-३३)

इस अध्ययन मे भरत, सगर, मघव, सनत्कुमार, शाँति, अर, कुन्थु, महापद्म, हरिषेण, जय आदि चक्रवर्ती राजाओं के नाम है ।

दशार्णभद्र, नमि, करकन्डु, द्विमुख, नग्गति, उद्रायण, काशीराज, विजय, महाबल आदि नरेश्वरो के नाम है ।

दशार्ण, कलिंग, पाचाल, विदेह, गान्धार, सौवीर, काशी आदि देशों के नाम है ।

यह अध्ययन प्राग् ऐतिहासिक व ऐतिहासिक जैन-शासन की परम्परा का सकलन-सूत्र जैसा है । इसमें महावीर कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद का उल्लेख हुआ है । (श्लोक २३)

---

१ उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ३९४ संजयनाम गोय, वेयतो भावसंजओ होइ ।
तत्तो समुट्ठियमिणं, अज्झयण संजइज्जति ॥

अट्ठारसमं अज्झयणं : अष्टादश अध्ययन

संजइज्जं : संजयीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—कम्पिल्ले नयरे राया उदिण्णबलवाहणे । नामेण संजए नाम मिगव्वं उवणिग्गए ॥	काम्पिल्ये नगरे राजा उदीर्ण-बल-वाहनः । नाम्ना संजयो नाम मृगव्यामुपनिर्गतः ॥	१—कांपिल्य नगर में सेना और वाहनों से सम्पन्न संजय नाम का राजा था । एक दिन वह शिकार करने के लिए गया ।
२—हयाणीए गयाणीए रहाणीए तहेव य । पायत्ताणीए महया सव्वओ परिवारिए[1] ॥	हयानीकेन गजानीकेन रथानीकेन तथैव च । पादातानीकेन महता सर्वतः परिवारितः ॥	२—वह घोड़े, हाथी और रथ पर आरूढ़ तथा पैदल चलने वाले महान् सैनिकों द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था ।
३—मिए छुभित्ता हयगओ कम्पिल्लुज्जाणकेसरे । भीए सन्ते मिए तत्थ वहेइ रसमुच्छिए ॥	मृगान् क्षिप्त्वा हय-गतः काम्पिल्योद्यानकेसरे । भीतान् श्रान्तान् मृगान् तत्र व्यथते रस-मूर्च्छितः ॥	३—वह घोड़े पर चढ़ा हुआ था । सैनिक हिरणों को कांपिल्य नगर के केशर नामक उद्यान की ओर ढकेल रहे थे । वह रस-मूर्च्छित होकर उन डरे हुए और खिन्न बने हुए हिरणों को वहाँ व्यथित कर रहा था—मार रहा था ।
४—अह केसरम्मि उज्जाणे अणगारे तवोधणे । सज्झायज्झाणजुत्ते धम्मज्झाणं झियायई ॥	अथ केसर उद्याने अनगारस्तपोधनः । स्वाध्याय-ध्यान-संयुक्तः धर्म्य-ध्यानं ध्यायति ॥	४—उस केशर नामक उद्यान में स्वाध्याय और ध्यान में लीन रहने वाले एक तपोधन अनगार धर्म्य-ध्यान में एकाग्र हो रहे थे ।

१. परिवारए (अ) ।

५—अप्फोवमण्डवम्मि
झायई झवियासवे[1]।
तस्सागए मिए पासं
वहेई से नराहिवे ॥

'अप्फोव' मण्डपे
ध्यायति क्षपितास्रवः।
तस्यागतान् मृगान् पार्श्वं
विध्यति स नराधिप. ॥

५—कर्म-बन्धन के हेतुओ को निर्मूल करने वाले अनगार लता-मण्डप में ध्यान कर रहे थे। राजा ने उनके समीप आए हुए हिरणों पर बाणो के प्रहार किए।

६—अह आसगओ राया
खिप्पमागम्म सो तहिं ॥
हए मिए उ पासित्ता
अणगारं तत्थ पासई ॥

अथाश्वगतो राजा
क्षिप्रमागम्य स तस्मिन्।
हतान् मृगान् तु दृष्ट्वा
अनगारं तत्र पश्यति ॥

६—राजा अश्व पर आरूढ था। वह तुरन्त वहाँ आया। उसने पहले मरे हुए हिरणों को ही देखा, फिर उसने उसी स्थान मे अनगार को देखा।

७—अह राया तत्थ संभन्तो
अणगारो मणाऽऽहओ।
मए उ मन्दपुण्णेणं
रसगिद्धेण घन्तुणा[2] ॥

अथ राजा तत्र सम्भ्रान्तः
अनगारो मनागाहतः।
मया तु मन्द-पुण्येन
रस-गृद्धेन घातुकेन ॥

७—राजा अनगार को देख कर भय-भ्रान्त हो गया। उसने सोचा—मैं भाग्यहीन, रस-लोलुप और जीवो को मारने वाला हूँ। मैंने तुच्छ प्रयोजन के लिए मुनि को आहत किया है।

८—आस विसज्जइत्ताणं
अणगारस्स सो निवो।
विणएण वन्दए पाए
भगव! एत्थ मे खमे ॥

अश्वं विसृज्य
अनगारस्य स नृपः।
विनयेन वन्दते पादौ
भगवन्! अत्र मे क्षमस्व ॥

८—वह राजा घोडे को छोड कर विनय पूर्वक अनगार को वन्दना करता और कहता है—"भगवन्! इस कार्य के लिए मुझे क्षमा करें।"

९—अह मोणेण सो भगवं
अणगारे झाणमस्सिए।
रायाण न पडिमन्तेइ
तओ राया भयद्दुओ ॥

अथ मौनेन स भगवान्
अनगारो ध्यानमाश्रितः।
राजानं न प्रतिमन्त्रयते
ततो राजा भय-द्रुतः ॥

९—वे अनगार भगवान् मौन पूर्वक ध्यान में लीन थे। उन्होंने राजा को प्रत्युत्तर नही दिया। उससे राजा और अधिक भयाकुल हो गया।

१०—सजओ अहमस्सीति
भगव! वाहराहि मे।
कुद्धे तेएण अणगारे
डहेज्ज नरकोडिओ ॥

संजयोऽहमस्मीति
भगवन्! व्याहर माम्।
क्रुद्धस्तेजसाऽनगारः
दहेत् नर-कोटीः ॥

१०—राजा बोला—"हे भगवन्! मैं सजय हूँ। आप मुझसे बातचीत कीजिए। अनगार कुपित होकर अपने तेज से करोडो मनुष्यो को जला डालता है।"

---

१ खवियासवे (स)।
२. घत्तुणा (उ), घम्मुणा (ऋ०)

११—अभओ[1] पत्थिवा ! तुब्भ
अभयदाया भवाहि य ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं हिंसाए पसज्जसि ? ॥

अभय पार्थिव ! तव
अभय-दाता भव च ।
अनित्ये जीव-लोके
किं हिंसायां प्रसजसि ? ॥

११—अनगार बोले—"पार्थिव ! तुझे अभय है और तू भी अभयदाता बन । इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों हिंसा में आसक्त हो रहा है ?

१२—जया सव्वं परिच्चज्ज
गन्तव्वमवसस्स ते ।
अणिच्चे जीवलोगम्मि
किं रज्जम्मि[2] पसज्जसि ? ॥

यदा सर्वं परित्यज्य
गन्तव्यमवशस्य ते ।
अनित्ये जीव-लोके
किं राज्ये प्रसजसि ? ॥

१२—"जबकि तू पराधीन है और इसलिए सब कुछ छोड़ कर तुझे चले जाना है तब इस अनित्य जीव-लोक में तू क्यों राज्य में आसक्त हो रहा है ?

१३—जीवियं चेव रूवं च
विज्जुसंपायचंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसी रायं
पेच्चत्थं नावबुज्झसे ॥

जीवितं चैव रूपं च
विद्युत्-सम्पात-चंचलम् ।
यत्र त्वं मुह्यसि राजन् !
प्रेत्यार्थं नावबुध्यसे ॥

१३—"राजन् ! तू जहाँ मोह कर रहा है वह जीवन और सौन्दर्य बिजली की चमक के समान चंचल है । तू परलोक के हित को क्यों नहीं समझ रहा है ?

१४—'दाराणि य सुया चेव
मित्ता य तह बन्धवा ।
जीवन्तमणुजीवन्ति
मयं नाणुव्वयन्ति य ॥'[3]

दाराश्च सुताश्चैव
मित्राणि च तथा बान्धवाः ।
जीवन्तमनुजीवन्ति
मृतं नानुव्रजन्ति च ॥

१४—"स्त्रियाँ, पुत्र, मित्र और बान्धव जीवित व्यक्ति के साथ जीते हैं किन्तु वे मृत के पीछे नहीं जाते ।

१५—नीहरन्ति मयं पुत्ता
पियरं परमदुक्खिया ।
पियरो वि तहा पुत्ते
बन्धू रायं ! तवं चरे ॥

निःसारयन्ति मृतं पुत्रा
पितरं परम-दुःखिताः ।
पितरोऽपि तथा पुत्रान्
बन्धवो राजन् ! तपश्चरे ॥

१५—"पुत्र अपने मृत पिता को परम दुःख के साथ श्मशान ले जाते हैं और इसी प्रकार पिता भी अपने पुत्रों और बन्धुओं को श्मशान में ले जाता है, इसलिए हे राजन् ! तू तपश्चरण कर ।

१६—तओ तेणऽज्जिए दव्वे
दारे य परिरक्खिए ।
कीलन्तऽन्ने नरा राय !
हट्ठतुट्ठमलंकिया ॥

ततस्तेनार्जिते द्रव्ये
दारेषु च परिरक्षितेषु ।
क्रीडन्त्यन्ये नरा राजन् !
हृष्ट-तुष्टाऽलङ्कृताः ॥

१६—"राजन् ! मृत्यु के पश्चात् उस मृत व्यक्ति के द्वारा अर्जित धन और सुरक्षित स्त्रियों को हृष्ट, तुष्ट और अलंकृत होकर दूसरे व्यक्ति भोगते हैं ।

---

१ अभय (अ, आ) ।
२ रज्जेण (उ, ऋ०), हिंसाए (बृ० पा०) ।
३ इदं सूत्रं चिरन्तनवृत्तिकृता न व्याख्यातं, प्रत्यन्तरेषु च दृश्यत इत्यस्माभिरुन्नीतम् (बृ०) ।

१७—तेणावि ज कय कम्म
सुह वा जइ वा दुह।
कम्मुणा तेण सजुत्तो
गच्छई उ पर भवं॥

तेनापि यत् कृत कर्म
सुखं वा यदि वा दुःखम्।
कर्मणा तेन सयुक्तः
गच्छति तु पर भवम्॥

१७—"उस मरने वाले व्यक्ति ने भी जो कर्म किया—सुखकर या दु खकर—उसी के साथ वह परभव में चला जाता है।"

१८—सोऊण तस्स सो धम्म
अणगारस्स अन्तिए।
महया सवेगनिव्वेय
समावन्नो नराहिवो॥

श्रुत्वा तस्य स धर्मम्
अनगारस्यान्तिके।
महान्त सवेग-निर्वेदं
समापन्नो नराधिपः॥

१८—वह सजय राजा अनगार के समीप महान् आदर के साथ धर्म सुन कर मोक्ष का इच्छुक और ससार से उद्विग्न हो गया।

१९—संजओ चइउ रज्ज
निक्खन्तो जिणसासणे।
गद्दभालिस्स भगवओ
अणगारस्स अन्तिए॥

संजयस्त्यक्त्वा राज्य
निष्क्रान्तो जिन-शासने।
गर्दभालेर्भगवतः
अनगारस्यान्तिके॥

१९—सजय राज्य छोड कर भगवान् गर्दभालि अनगार के समीप जिन-शासन में दीक्षित हो गया।

२०—चिच्चा रट्ठ पव्वइए
खत्तिए परिभासइ।
जहा ते दीसई रूव
पसन्न ते तहा मणो॥

त्यक्त्वा राष्ट्र प्रव्रजितः
क्षत्रियः परिभाषते।
यथा ते दृश्यते रूप
प्रसन्न ते तथा मनः॥

२०—जिसने राष्ट्र को छोड कर प्रव्रज्या ली, उस क्षत्रिय ने (अप्रतिबद्ध विहारी राजर्षि सजय से) कहा—"तुम्हारी आकृति जैसे प्रसन्न दीख रही है वैसे ही तुम्हारा मन भी प्रसन्न दीख रहा है।

२१—किनामे ? किंगोत्ते ?
कस्सट्ठाए व माहणे ?।
कह पडियरसी बुद्धे ?
कह विणीए त्ति वुच्चसि[1] ?॥

किं नामा ? कि गोत्रः ?
कस्मं अर्थाय वा माहनः ?।
कथं प्रतिचरसि बुद्धान् ?
कथं विनीत इत्युच्यसे ?॥

२१—"तुम्हारा नाम क्या है ? गोत्र क्या है ? किसलिए तुम माहन—मुनि बने हो ? तुम किस प्रकार आचार्यों की सेवा करते हो ? और किस प्रकार विनीत कहलाते हो ?"

२२—सजओ नाम नामेण
तहा गोत्तेण गोयमो।
गद्दभाली ममायरिया
विज्जाचरणपारगा॥

सयतो नाम नाम्ना
तथा गोत्रेण गौतमः।
गर्दभालयो ममाचार्याः
विद्या-चरण-पारगाः॥

२२—"नाम से मैं सजय हूँ। गोत्र से मैं गौतम हूँ। गर्दभालि मेरे आचार्य हैं—विद्या और चारित्र के पारगामी। मुक्ति के लिए मैं माहन बना हूँ। आचार्य के उपदेशानुसार मैं सेवा करता हूँ इसलिए मैं विनीत कहलाता हूँ।"

१ वुच्चई (अ, ऋ०, बृ०)।

२३—किरियं अकिरियं विणयं
अन्नाणं च महामुणी ।
एएहिं चउहिं ठाणेहिं
मेयन्ने[1] किं पभासई ? ॥

क्रियाऽक्रिया विनयः
अज्ञानं च महामुने ।
एतैश्चतुर्भिः स्थानैः
मेयज्ञाः किं प्रभाषन्ते ॥

२३—वे क्षत्रिय श्रमण बोले—"महामुने ! क्रिया, अक्रिया, विनय और अज्ञान—इन चार स्थानों के द्वारा एकान्तवादी तत्त्ववेत्ता क्या तत्त्व बतलाते हैं—

२४—इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुडे ।
विज्जाचरणसंपन्ने
सच्चे सच्चपरक्कमे ॥

इति प्रादुरकरोद् बुद्धः
ज्ञातकः परिनिर्वृतः ।
विद्या-चरण-संपन्नः
सत्यः सत्य-पराक्रमः ॥

२४—"उन्हें तत्त्ववेत्ता ज्ञात-वंशीय, उपशांत, विद्या और चारित्र से सम्पन्न, सत्य-वाक् और सत्य-पराक्रम वाले भगवान् महावीर ने प्रकट किया है ।

२५—पडन्ति नरए घोरे
जे नरा पावकारिणो ।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति
चरित्ता धम्ममारियं ॥

पतन्ति नरके घोरे
ये नराः पाप-कारिणः ।
दिव्यां च गतिं गच्छन्ति
चरित्वा धर्ममार्यम् ॥

२५—"जो मनुष्य पाप करने वाले हैं वे घोर नरक में जाते हैं और आर्य-धर्म का आचरण कर मनुष्य दिव्य-गति को प्राप्त होते हैं ।

२६—'मायावुइयमेयं तु
मुसाभासा निरत्थिया ।
संजममाणो वि अहं
वसामि इरियामि य' ॥[2]

मायोक्तमेतत् तु
मृषाभाषा निरर्थिका ।
संयच्छन्नप्यहम्
वसामि ईरे च ॥

२६—"इन एकान्त-दृष्टि वाले क्रियावादी आदि वादियों ने जो कहा है, वह माया पूर्ण है इसलिए वह मिथ्या-वचन है, निरर्थक है । मैं उन माया-पूर्ण एकान्तवादों से बच कर रहता हूँ और चलता हूँ ।

२७—सव्वे ते विइया मज्झं
मिच्छादिट्ठी अणारिया ।
विज्जमाणे परे लोए
सम्मं जाणामि अप्पगं ॥

सर्वे ते विदिता मम
मिथ्यादृष्टयोऽनार्याः ।
विद्यमाने परे लोके
सम्यग् जानाम्यात्मानम् ॥

२७—"मैंने उन सबको जान लिया है जो मिथ्या-दृष्टि और अनार्य हैं । मैं परलोक के अस्तित्व में आत्मा को भली-भाँति जानता हूँ ।

२८—अहमासी महापाणे
जुइमं वरिससओवमे ।
जा सा पाली महापाली
दिव्वा वरिससओवमा ॥

अहमासं महाप्राणे
द्युतिमान् वर्षशतोपमः ।
या सा पाली महा-पाली
दिव्या वर्षशतोपमा ॥

२८—"मैं महाप्राण नामक विमान में कान्तिमान देव था । मैंने वहाँ पूर्ण आयु का भोग किया । जैसे यहाँ सौ वर्ष की आयु पूर्ण होती है, वैसे ही देवलोक में पल्योपम और सागरोपम की आयु पूर्ण मानी जाती है ।

---

१. मियन्ना (चू०) ।
२. इदमपि सूत्रं प्रायो न दृश्यते (वृ०) ।

२९—से चुए[1] बम्भलोगाओ
माणुस्स भवमागए।
अप्पणो य परेसि च
आउ जाणे जहा तहा॥

अथ च्युतो ब्रह्म-लोकान्
मानुष्यं भवमागतः।
आत्मनश्च परेषा च
आयुर्जानामि यथा तथा॥

२९—"वह मैं ब्रह्मलोक से च्युत होकर मनुष्य-लोक में आया हूँ। मैं जिस प्रकार अपनी आयु को जानता हूँ उसी प्रकार दूसरो की आयु को भी जानता हूँ।

३०—नाणारुइ च छन्द च
परिवज्जेज्ज सजए॥
अणट्ठा जे य सव्वत्था
इइ विज्जामणुसचरे॥

नानारुचिं च छन्दश्च
परिवर्जयेत् संयतः।
अनर्था ये च सर्वत्र
इति विद्या मनुसचरेः॥

३०—"सयमी को नाना प्रकार की रुचि, अभिप्राय और जो सब प्रकार के अनर्थ हैं उनका वर्जन करना चाहिए—इस विद्या के पथ पर तुम्हारा सचरण हो"—(क्षत्रिय मुनि ने राजर्षि से कहा)—

३१—पडिक्कमामि पसिणाण
परमन्तेहिं वा पुणो।
अहो उट्ठिए अहोराय
इइ विज्जा तव चरे॥

प्रतिक्रमामि प्रश्नेभ्य
पर-मन्त्रेभ्यो वा पुनः।
अहो उत्थितोऽहोरात्रम्
इति विद्वान् तपश्चरेः॥

३१—"मैं (शुभाशुभ सूचक) प्रश्नो और गृहस्थ-कार्य-सम्बन्धी मन्त्रणाओं से दूर रहता हूँ। अहो! मैं दिन-रात धर्माचरण के लिए सावधान रहता हूँ—यह समझ कर तुम तप का आचरण करो।

३२—ज च मे पुच्छसी काले
सम्म सुद्धेण[2] चेयसा।
ताइ पाउकरे बुद्धे
तं नाण जिणसासणे॥

यच्च मा पृच्छसि काले
सम्यक् शुद्धेन चेतसा।
तत् प्रादुरकरोद् बुद्धः
तज्ज्ञान जिन-शासने॥

३२—"जो तुम मुझे सम्यक् शुद्ध-चित्त से आयु के विषय में पूछते हो, उसे सर्वज्ञ भगवान् ने प्रकट किया है, वह ज्ञान जिन-शासन में विद्यमान है।

३३—किरिय च रोयए धीरे
अकिरिय परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठिसपन्ने
धम्म चर सुदुच्चर॥

क्रिया च रोचयेद् धीरः
अक्रिया परिवर्जयेत्।
दृष्ट्या दृष्टि-सपन्नः
धर्मं चर सुदुश्चरम्॥

३३—"धीर-पुरुष को क्रियावाद पर रुचि करनी चाहिए और अक्रियावाद को त्याग देना चाहिए। सम्यक् दृष्टि के द्वारा दृष्टि-सम्पन्न होकर तुम सुदुश्चर धर्म का आचरण करो।

३४—एय पुण्णपय सोच्चा
अत्थधम्मोवसोहिय।
भरहो वि भारहं वासं
चेच्चा कामाइ पव्वए॥

एतत् पुण्य-पद श्रुत्वा
अर्थ-धर्मोपशोभितम्।
भरतोऽपि भारत वर्षं
त्यक्त्वा कामान् प्राव्रजत्॥

३४—"अर्थ और धर्म से उपशोभित इस पवित्र उपदेश को सुनकर भरत चक्रवर्ती ने भारतवर्ष और काम-भोगो को छोडकर प्रव्रज्या ली।

१. चुया (अ)।
२. बुद्धेण (बृ०)।

३५—सगरो वि सागरन्त
भरहवास नराहिवो।
इस्सरियं केवलं हिच्चा
दयाए परिनिव्वुडे[1] ॥

सगरो पि सागरान्त
भरतवर्षं नराधिप·।
ऐश्वर्यं केवलं हित्वा
दयया परिनिर्वृतः ॥

३५—"सगर चक्रवर्ती सागर पर्यन्त भारतवर्ष और पूर्ण ऐश्वर्य को छोड, सयम की आराधना कर मुक्त हुए।

३६—चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पव्वज्जमब्भुवगओ
मघवं नाम महाजसो ॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं
चक्रवर्ती महर्द्धिक·।
प्रव्रज्यामभ्युपगत
मघवा नाम महायशा ॥

३६—"महर्द्धिक और महान् यशस्वी मघवा चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोडकर प्रव्रज्या ली।

३७—सणंकुमारो मणुस्सिन्दो
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
पुत्तं रज्जे ठवित्ताण[2]
सो वि राया तवं चरे ॥

सनत्कुमारो मनुष्येन्द्रः
चक्रवर्ती महर्द्धिक·।
पुत्रं राज्ये स्थापयित्वा
सोऽपि राजा तपोऽचरत् ॥

३७—"महर्द्धिक राजा सनत्कुमार चक्रवर्ती ने पुत्र को राज्य पर स्थापित कर तपश्चरण किया।

३८—चइत्ता भारहं वासं
चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
सन्ती सन्तिकरे लोए
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं
चक्रवर्ती महर्द्धिक।
शान्तिः शान्तिकरो लोके
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

३८—"महर्द्धिक और लोक में शान्ति करने वाले शान्तिनाथ चक्रवर्ती ने भारतवर्ष को छोडकर अनुत्तर गति प्राप्त की।

३९—इक्खागरायवसभो
कुन्थू नाम नराहिवो।
विक्खायकित्ती धिइमं[3]
'मोक्खं गओ अणुत्तरं'[4] ॥

इक्ष्वाकु-राज-वृषभः
कुन्थुर्नामनराधिपः।
विख्यात-कीर्तिर्धृतिमान्
मोक्षं गतोऽनुत्तरम् ॥

३९—"इक्ष्वाकु कुल के राजाओ में श्रेष्ठ, विख्यात कीर्ति वाले, धृतिमान् भगवान् कुन्थु नरेश्वर ने अनुत्तर मोक्ष प्राप्त किया।

---

१. परिनिव्वुओ (उ, ऋ०)।
२. ठवेऊण (उ, ऋ०)।
३. भगव (उ, ऋ०)।
४. पत्तो गइमणुत्तर (उ, ऋ०)।

[नमी नमेइ अप्पाणं
सक्खं सक्केण चोइओ ।
चइऊण गेहं वइदेही
सामण्णे पज्जुवट्ठिओ ॥][1]

(नमि-र्नामयति आत्मानं
साक्षाच्छक्रेण चोदितः ।
त्यक्त्वा गेहं वैदेही
श्रामण्ये पर्युपस्थितः ॥)

"(विदेह के अधिपति नमिराज ने, जो गृह को त्याग कर श्रामण्य में उपस्थित हुए और देवेन्द्र ने जिन्हें साक्षात् प्रेरित किया, आत्मा को नमा लिया—वे अत्यन्त नम्र बन गए ।)

४५—करकण्डू कलिंगेसु
पंचालेसु य दुम्मुहो[2] ।
नमी राया विदेहेसु
गन्धारेसु य नग्गई ॥

करकण्डुः कलिङ्गेषु
पञ्चालेषु च द्विमुखः ।
नमी राजा विदेहेषु
गान्धारेषु च नग्गतिः ॥

४५—"कलिंग में करकण्डु, पांचाल में द्विमुख, विदेह में नमि राजा और गान्धार में नग्गति—

४६—एए[3] नरिन्दवसभा
निक्खन्ता जिणसासणे ।
पुत्ते रज्जे ठवित्ताण[4]
सामण्णे पज्जुवट्ठिया ॥

एते नरेन्द्रः-वृषभाः
निष्क्रान्ता जिन-शासने ।
पुत्रान् राज्ये स्थापयित्वा
श्रामण्ये पर्युपस्थिताः ॥

४६—"राजाओं में वृषभ के समान ये अपने-अपने पुत्रों को राज्य पर स्थापित कर जिन-शासन में प्रव्रजित हुए और श्रमण-धर्म में सदा यत्न-शील रहे ।

४७—सोवीररायवसभो
'चेच्चा रज्जं'[5] मुणी चरे ।
उद्दायणो[6] पव्वइओ
पत्तो गइमणुत्तरं ॥

सौवीर-राज-वृषभः
त्यक्त्वा राज्यं मुनिरचरत् ।
उद्रायणः प्रव्रजितः
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४७—"सौवीर राजाओं में वृषभ के समान उद्रायण राजा ने राज्य को छोड़ कर प्रव्रज्या ली, मुनि-धर्म का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४८—तहेव कासीराया
सेओसच्चपरक्कमे ।
कामभोगे परिच्चज्ज
पहणे कम्ममहावणं ॥

तथैव काशी-राजः
श्रेयः-सत्य-पराक्रमः ।
काम-भोगान् परित्यज्य
प्राहन् कर्म-महावनम् ॥

४८—"इसी प्रकार श्रेय और सत्य के लिए पराक्रम करने वाले काशीराज ने काम-भोगों का परित्याग कर कर्म-रूपी महावन का उन्मूलन किया ।

---

१ × (आ, इ, स, चू०, वृ०) ।
२ दुम्मुहा (ऋ०) ।
३. एव (उ, ऋ०) ।
४ ठवेऊण (उ, ऋ०) ।
५. चइत्ताण (अ, उ, ऋ०) ।
६. उदाहणो (ऋ०), उदायणो (वृ०, आ, उ, ऋ०) ।

४०—सागरन्त जहित्ताण[1]
'भरह वासं नरीसरो'[2] ।
अरो य अरयं[3] पत्तो
पत्तो गइमणुत्तर ॥

सागरान्त हित्वा
भरत-वर्षं नरेश्वरः ।
अरश्चारजः प्राप्त
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४०—"सागर पर्यन्त भारतवर्ष को छोड़-कर, कर्म-रज से मुक्त हो कर नरेश्वर ने अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४१—चइत्ता भारह वास
चक्कवट्टी नराहिओ[4] ।
चइत्ता उत्तमे भोए
महापउमे तव चरे ॥

त्यक्त्वा भारतं वर्षं
चक्रवर्ती नराधिपः ।
त्यक्त्वा उत्तमान् भोगान्
महापद्मस्तपोऽचरत् ॥

४१—"विपुल राज्य, सेना और वाहन तथा उत्तम भोगों को छोडकर महापद्म चक्रवर्ती ने तप का आचरण किया ।

४२—एगच्छत्त पसाहित्ता
महिं माणनिसूरणो ।
हरिसेणो मणुस्सिन्दो
पत्तो[5] गइमणुत्तर ॥

एक-च्छत्रां प्रसाध्य
महीं मान-निषूदनः ।
हरिषेणो मनुष्येन्द्रः
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४२—"(शत्रु-राजाओं का) मान-मर्दन करने वाले हरिषेण चक्रवर्ती ने पृथ्वी पर एक-छत्र शासन किया, फिर अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४३—अन्निओ रायसहस्सेहिं
सुपरिच्चाई दम चरे ।
जयनामो जिणक्खायं
पत्तो गइमणुत्तर ॥

अन्वितो राज-सहस्रैः
सुपरित्यागी दममचरत् ।
जयनामा जिनाख्यात
प्राप्तो गतिमनुत्तराम् ॥

४३—"जय चक्रवर्ती ने हजार राजाओं के साथ राज्य का परित्याग कर जिन-भाषित दम का आचरण किया और अनुत्तर गति प्राप्त की ।

४४—दसण्णरज्ज मुइय
चइत्ताण मुणी चरे ।
दसण्णभद्दो निक्खन्तो
सक्ख सक्केण चोइओ ॥

दशार्ण-राज्य मुदितं
त्यक्त्वा मुनिरचरत् ।
दशार्णभद्रो निष्क्रान्त
साक्षाच्छक्रेण चोदितः ॥

४४—"साक्षात् शक्र के द्वारा प्रेरित दशार्णभद्र ने दशार्ण देश का प्रमुदित राज्य छोड कर प्रव्रज्या ली और मुनि-धर्म का आचरण किया ।

१ चइत्ताण (उ, ऋ०, स)।
२ भरह नरवरीसरो (उ, ऋ०)।
३ अरस (बृ० पा०)।
४ महिड्डिओ (उ, ऋ०)।
५ गओ (अ)।

४९—तहेव विजओ राया
'अणट्ठाकित्ति'[1] पव्वए'[2] ।
रज्जं तु गुणसमिद्धं
पयहित्तु महाजसो ॥

तथैव विजयो राजा
अनष्ट-कीर्तिः प्राव्रजत् ।
राज्यं तु गुण-समृद्धं
प्रहाय महायशाः ॥

४९—"इसी प्रकार विमल-कीर्ति, महायशस्वी विजय राजा ने गुण से समृद्ध राज्य को छोड कर जिन-शासन में प्रव्रज्या ली ।

५०—तहेवुग्गं[3] तवं किच्चा
अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
महाबलो[4] रायरिसी
अद्दाय[5] सिरसा सिरं[6] ॥

तथैवोग्रं तपः कृत्वा
अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
महाबलो राजर्षिः
आदित शिरसा शिरं ॥

५०—"इसी प्रकार अनाकुल-चित्त से उग्र तपस्या कर राजर्षि महाबल ने अपना शिर देकर शिर (मोक्ष) को प्राप्त किया ।

५१—कहं धीरो अहेऊहिं
उम्मत्तो[7] व्व[8] महिं चरे ? ।
एए विसेसमादाय
सूरा दढपरक्कमा ॥

कथं धीरः अहेतुभिः
उन्मत्त इव महीं चरेत् ? ।
एते विशेषमादाय
शूरा दृढ़-पराक्रमाः ॥

५१—"ये भरत आदि शूर और दृढ पराक्रम-शाली राजा दूसरे धर्म-शासनों से जैन-शासन में विशेषता पाकर यहीं प्रव्रजित हुए तो फिर धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादों के द्वारा उन्मत्त की तरह कैसे पृथ्वी पर विचरण करे ?

५२—अच्चन्तनियाणखमा
सच्चा[9] मे भासिया वई ।
अतरिंसु तरन्तेगे[10]
तरिस्सन्ति अणागया[11] ॥

अत्यन्त-निदान-क्षमा
सत्या मया भाषिता वाक् ।
अतीर्षुः तरन्त्येके
तरिष्यन्ति अनागताः ॥

५२—"मैंने यह अत्यन्त युक्तियुक्त बात कही है । इसके द्वारा कई जीवो ने ससार-समुद्र का पार पाया है, पा रहे है और भविष्य में पाएँगे ।

---

१ अणट्टा ० (वृ०), आणट्ठा ० (सु०) ।
२ आणट्टा किइ पव्वइ (वृ० पा०)।
३. तहेवउग्ग (अ)।
४ महब्बलो (अ, आ, ऋ०), महवलो (उ)।
५. आदाय (उ, ऋ०, सु, वृ०पा०)।
६ सिरिं (वृ० पा०, अ, आ, उ, ऋ०)।
७ उम्मत्तु (उ, ऋ०)।
८ व (अ)।
९ एसा (वृ०); सव्वा, सच्चा (वृ० पा०)।
१०. तरतन्ने (वृ० पा०)।
११. अणागय (अ)।

५३—कह धीरे अहेऊहिं
अत्ताण[1] परियावसे ? ।
सव्वसगविनिम्मुक्के
सिद्धे हवइ नीरए ॥
—त्ति वेमि ॥

कथ धीरः अहेतुभिः
आत्मान पर्यावासयेत् ? ।
सर्व-सङ्ग-विनिर्मुक्त
सिद्धो भवति नीरजा ॥
—इति ब्रवीमि ।

५३—"धीर पुरुष एकान्त-दृष्टिमय अहेतुवादों में अपने आपको कैसे लगाए ? जो सब सगो से मुक्त होता है वह कर्म-रहित होकर सिद्ध हो जाता है ।"

—ऐसा मैं कहता हूं ।

१. अद्दाण (बृ०), अत्ताण (बृ० पा०) ।

एगूणवीसइमं अज्झयणं :

मियापुत्तिज्जं

एकोनविंश अध्ययन :

मृगापुत्रीयम्

आमुख

निर्युक्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'मिगपुत्तिज्ज'—'मृगापुत्रीय' है। मृगा रानी के पुत्र से यह अध्ययन समुत्पन्न है, इसलिए इसका नाम 'मृगापुत्रीय' रखा गया है।[1]

समवायाग के अनुसार इसका नाम 'मियचारिया'—'मृगचारिका' है।[2] यह नामकरण प्रतिपाद्य के आधार पर है।

सुग्रीव नगर में बलभद्र नाम का राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम मृगावती था। उसके एक पुत्र था। माता-पिता ने उसका नाम बलश्री रखा। वह लोक में मृगापुत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ। युवा हुआ। पाणि-ग्रहण सम्पन्न हुआ। एक बार वह अपनी पत्नियों के साथ प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ क्रीड़ा कर रहा था। मार्ग मे लोग आ-जा रहे थे। स्थान-स्थान पर नृत्य-सगीत की मण्डलियाँ आयोजित थी। एकाएक उसकी दृष्टि राजमार्ग पर मन्द गति से चलते हुए निर्ग्रन्थ पर जा टिकी। मुनि के तेजोदीप्त ललाट, चमकते हुए नेत्रों तथा तपस्या से कृश शरीर को वह अनिमेष दृष्टि से देखता रहा। मन आलोड़ित हुआ। चिन्तन तीव्र हुआ। उसने सोचा—"अन्यत्र भी मैने ऐसा रूप देखा है।" विचारों में लीन हुआ और उसे जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। पूर्व जन्म की सारी घटनाएँ प्रत्यक्ष हो गई। उसने जान लिया कि पूर्व-भव मे वह श्रमण था। इस अनुभूति से उसका मन वैराग्य से भर गया। वह अपने माता-पिता के पास आया और बोला—"तात। मै प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ। शरीर अनित्य है, अशुचिमय है, दु ख और क्लेशों का भाजन है। मुझे इसमें कोई रस नहीं है। जिसे आज या कल छोड़ना ही होगा, उसे मैं अभी छोड़ देना चाहता हूँ। ससार मे दु ख ही दु ख है। जन्म दु ख है, मरण दु ख है, जरा दु ख है और रोग दु ख है। सारे भोग आपात-भद्र है, परिणाम-विरस।"

माता-पिता ने उसे समझाया और श्रामण्य की कठोरता और उसकी दुश्चरता का दिग्दर्शन कराया। उन्होंने कहा—

"पुत्र। श्रामण्य दुश्चर है। मुनि को हजारों गुण धारण करने होते है। उसे जीवन भर प्राणातिपात से विरति करनी होती है। इसी प्रकार मृषावाद, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का विवर्जन करना होता है। रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग अत्यन्त कठिन है। अनेक कष्ट सहने पड़ते है।

"भिक्षाचर्या दु खप्रद होती है। याचना और अलाभ दोनों को सहना दुष्कर है। साधु को कुक्षि-सबल होना पड़ता है।

"तुम सुकोमल हो, श्रामण्य अत्यन्त कठोर है। तुम उसका पालन नहीं कर सकोगे। दूसरी बात है कि यह श्रामण्य यावज्जीवन का होता है। इसमें अवधि नही होती। श्रामण्य वालुका-कवल की तरह नि स्वाद और असि-धारा की तरह दुश्चर है। इसका पालन करना लोहे के चने चबाने जैसा है।"

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४०८

मिगदेवीपुत्ताओ, बलसिरिनामा समुट्ठिय जम्हा।
तम्हा मिगपुत्तिज्ज, अज्झयण होइ नायव्व॥

२—समवाय ३६

इस प्रकार मृगापुत्र और उसके माता-पिता के बीच सुन्दर सवाद चलता है। माता-पिता उसे भोग की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं और वह साधना की ओर अग्रसर होना चाहता है। माता-पिता ने श्रामण्य को जिन उपमाओं से उपमित किया है वे सयम की गुरुता और दुष्करता को प्रभावित करती है।

मृगापुत्र का आत्म-विश्वास मूर्त्त हो जाता है और वह इन सबको आत्मसात् करने के लिए अपने आपको योग्य बताता है।

अन्त में माता-पिता कहते है—“वत्स। जो कुछ तू कहता है वह सत्य है परन्तु श्रामण्य का सबसे बडा दु ख है—निष्प्रतिकर्मता अर्थात् रोग की चिकित्सा न करना।” (श्लोक ७५)

मृगापुत्र ने कहा—“तात्। अरण्य मे बसने वाले मृग आदि पशुओ तथा पक्षियो की कौन चिकित्सा करता है ? कौन उनको औषधि देता है ? कौन उनकी सुख-पृच्छा करता है ? कौन उनको भक्त-पान देता है ? मैं भी उन्हीं की भाँति रहूँगा—मृग-चारिका से अपना जीवन बिताऊँगा।” (श्लोक ७६-८५)

माता-पिता ने मृगापुत्र की बातें सुनी। उसकी सयम-ग्रहण की दृढता से पराभूत हो उन्होने प्रव्रज्या की आज्ञा दी। मृगापुत्र मुनि बन गया। उसने पवित्रता से श्रामण्य का पालन किया और अन्त मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गया।

एगूणविंसइमं अज्झयणं : एकोनविंश अध्ययन

मियापुत्तिज्जं : मृगापुत्रीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुग्गीवे नयरे रम्मे काणणुज्जाणसोहिए । राया बलभद्दो त्ति मिया तस्सग्गमाहिसी ॥	सुग्रीवे नगरे रम्ये काननोद्यान-शोभिते । राजा बलभद्र इति मृगा तस्याग्रमहिषी ॥	१—कानन और उद्यान से शोभित सुरम्य सुग्रीव नगर में बलभद्र राजा था। मृगा उसकी पटरानी थी ।
२—तेसिं पुत्ते बलसिरी मियापुत्ते त्ति विस्सुए । अम्मापिऊण दइए जुवराया दमीसरे ॥	तयो पुत्रो बलश्रीः मृगापुत्र इति विश्रुतः । अम्बापित्रोर्दयितः युवराजो दमीश्वरः ॥	२—उनके 'बलश्री' नाम का पुत्र था । जनता में वह 'मृगापुत्र'—इस नाम से विश्रुत था । वह माता-पिता को प्रिय, युवराज और दमीश्वर था ।
३—नन्दणे सो उ पासाए कीलए[1] सह इत्थिहिं । देवो दोगुन्दगो चेव निच्चं मुइयमाणसो ॥	नन्दने स तु प्रासादे क्रीडति सह स्त्रीभिः । देवो गोगुन्दकश्चेव नित्य मुदित-मानसः ॥	३—वह दोगुन्दग देवों की भाँति सदा प्रमुदित-मन रहता हुआ आनन्द देने वाले प्रासाद में स्त्रियों के साथ क्रीडा कर रहा था ।
४—मणिरयणकुट्टिमतले पासायालोयणट्ठिओ । आलोएइ नगरस्स चउक्कतियचच्चरे ॥	मणि-रत्न-कुट्टिम-तले प्रसादालोकन-स्थितः । आलोकते नगरस्य चतुष्क-त्रिक-चत्वराणि ॥	४—मणि और रत्न से जडित फर्श वाले प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ मृगापुत्र नगर के चौराहों, तिराहों और चौहट्टों को देख रहा था ।
५—अह तत्थ अइच्छन्तं पासई समणसंजय । तवनियमसंजमधरं सीलड्ढं गुणआगरं ॥	अथ तत्रातिक्रामन्त पश्यति श्रमण-सयतम् । तपो-नियम-सयम-धर शीलाढ्य गुणाकरम् ॥	५—उसने वहाँ जाते हुए एक सयत श्रमण को देखा, जो तप नियम और सयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणों का आकर था ।

१—कीलिए (बृ०) ।

६—तं देहई[1] मियापुत्ते
दिट्ठीए अणिमिसाए उ।
कहिं मन्नेरिसं रूवं
दिट्ठपुव्वं मए पुरा ॥

तं पश्यति मृगापुत्रः
दृष्ट्याऽनिमेषया तु।
कुत्र मन्ये ईदृश रूप
दृष्ट-पूर्वं मया पुरा ? ॥

६ — मृगापुत्र ने उसे अनिमेष-दृष्टि से देखा और मन ही मन चिन्तन करने लगा—"मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।"

७—साहुस्स दरिसणे तस्स
अज्झवसाणम्मि सोहणे।
मोहंगयस्स सन्तस्स
जाईसरणं समुप्पन्नं ॥

साधोर्दर्शने तस्य
अध्यवसाने शोभने।
मोह गतस्य सतः
जाति-स्मरण समुत्पन्नम् ॥

७—साधु के दर्शन और अध्यवसाय पवित्र होने पर "मैंने ऐसा कहीं देखा है"—ऐसी सघन चित्त-वृत्ति हुई और उसे पूर्व-जन्म की स्मृति हो आई।

[देवलोग चुओ संतो
माणुसं भवमागओ।
सन्निनाणे समुप्पण्णे
जाइं सरइ पुराणयं ॥][2]

[देवलोक-च्युतः सन्
मानुषं भवमागतः।
संज्ञि-ज्ञाने समुत्पन्ने
जातिं स्मरति पौराणिकीम् ॥]

[देवलोक से च्युत हो मनुष्य-जन्म में आया। समनस्क-ज्ञान उत्पन्न हुआ तब पूर्व-जन्म की स्मृति हुई।]

८—जाईसरणे समुप्पन्ने
मियापुत्ते महिड्ढिए।
सरई पोराणियं जाइं
सामण्णं च पुराकयं ॥

जाति-स्मरणे समुत्पन्ने
मृगापुत्रो महर्द्धिकः।
स्मरति पौराणिकीं जातिं
श्रामण्य च पुराकृतम् ॥

८—जाति-स्मृति ज्ञान उत्पन्न होने पर महर्द्धिक मृगापुत्र को पूर्व-जन्म और पूर्व-कृत श्रामण्य की स्मृति हो आई।

९—विसएहि अरज्जन्तो
रज्जन्तो संजमम्मि य।
अम्मापियरं उवागम्म
इमं वयणमब्बवी ॥

विषयेष्वरज्यन्
रज्यन् संयमे च।
अम्बापितरावुपागम्य
इदं वचनमब्रवीत् ॥

९—अब विषयों में उसकी आसक्ति नही रही। वह सयम में अनुरक्त हो गया। माता-पिता के समीप आ उसने इस प्रकार कहा—

१०—सुयाणि मे पंच महव्वयाणि
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु।
निव्विण्णकामो मि[3] महण्णवाओ
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो! ॥

श्रुतानि मया पंच महाव्रतानि
नरकेषु दुःखं च तिर्यग-योनिषु।
निर्विण्णा-कामोऽस्मि महार्णवात्
अनुजानात प्रव्रजिष्यामि मातः ॥

१०—"मैंने पाँच महाव्रतो को सुना है। नरक और तिर्यंच योनियो में दुःख है। मैं संसार समुद्र से निर्विण्ण-काम (विरक्त) हो गया हूँ। मैं प्रव्रजित होऊँगा। माता! मुझे आप अनुज्ञा दें।

१. पेहई (वृ०)।
२ × (आ, इ, स, ब०, चू०, वृ०)।
३. म्हि (स)।

११—अम्मताय ! मए भोगा
भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा
अणुबन्धदुहावहा ॥

अम्ब-तात ! मया भोगाः
भुक्ता विष-फलोपमाः ।
पश्चात् कटुक-विपाकाः
अनुबन्ध-दुःखावहाः ॥

११—"माता-पिता ! मैं भोगों को भोग चुका हूँ। ये भोग विष के तुल्य हैं, इनका परिणाम कटु होता है और ये निरन्तर दुःख देने वाले हैं।

१२—इमं सरीरं अणिच्चं
असुइं असुइसंभवं ।
असासयावासमिणं
दुक्खकेसाण भायणं ॥

इदं शरीरमनित्यम्
अशुच्यशुचि-संभवम् ।
अशाश्वतावासमिदं
दुःख-क्लेशानां भाजनम् ॥

१२—"यह शरीर अनित्य है, अशुचि है, अशुचि से उत्पन्न है, आत्मा का यह अशाश्वत आवास है तथा दुःख और क्लेशों का भाजन है।

१३—असासए[1] सरीरम्मि
रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे
फेणबुब्बुयसन्निभे ॥

अशाश्वते शरीरे
रतिं नोपलभेऽहम् ।
पश्चात् पुरा वा त्यक्तव्ये
फेन-बुद्बुद्-सन्निभे ॥

१३—"इस अशाश्वत-शरीर में मुझे आनन्द नहीं मिल रहा है। इसे पहले या पीछे जब कभी छोड़ना है। यह पानी के बुलबुले के समान नश्वर है।

१४—माणुसत्ते असारम्मि
वाहीरोगाण आलए ।
जरामरणघत्थम्मि
खणं पि न रमामऽहं ॥

मानुषत्वे असारे
व्याधि-रोगाणामालये ।
जरा-मरण-ग्रस्ते
क्षणमपि न रमेऽहम् ॥

१४—"मनुष्य-जीवन असार है, व्याधि और रोगों का घर है, जरा और मरण से ग्रस्त है। इसमें मुझे एक क्षण भी आनन्द नहीं मिल रहा है।

१५—जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं
रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो
जत्थ कीसन्ति जन्तवो[2] ॥

जन्म दुःखं जरादुःखं
रोगाश्च मरणानि च ।
अहो दुःखं खलु संसारः
यत्र क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥

१५—"जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो ! संसार दुःख ही है, जिसमें जीव क्लेश पा रहे हैं।

१६—खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च
पुत्तदारं च बन्धवा[3] ।
चइत्ताणं इमं देहं
गन्तव्वमवसस्स मे ॥

क्षेत्रं वास्तु हिरण्यं च
पुत्र-दारांश्च बान्धवान् ।
त्यक्त्वेमं देहं
गन्तव्यमवशस्य मे ॥

१६—"भूमि, घर, सोना, पुत्र, स्त्री, बान्धव और इस शरीर को छोड़ कर मुझे अवश हो चले जाना है।

---

१. आसासए (अ, उ)।
२. जन्तुणो (आ, ऋ०), पाणिणो (उ, स)।
३. बंधव (उ)।

१७—जहा किम्पागफलाण
परिणामो न सुन्दरो।
एव भुत्ताण भोगाणं
परिणामो न सुन्दरो॥

यथा किम्पाक-फलाना
परिणामो न सुन्दरः।
एव भुक्ताना भोगाना
परिणामो न सुन्दरः॥

१७—"जिस प्रकार किम्पाक-फल खाने का परिणाम सुन्दर नहीं होता उसी प्रकार भोगे हुए भोगो का परिणाम भी सुन्दर नहीं होता।

१८—अद्धाणं जो महन्त तु
अपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो दुही होइ
छुहातण्हाए पीडिओ॥

अध्वान यो महान्त तु
अपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स दु'खी भवति
क्षुधा-तृष्णया पीडित'॥

१८—"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है और साथ में सम्बल नहीं लेता, वह भूख और प्यास से पीडित हो कर चलता हुआ दु खी होता है।

१९—एव धम्म अकाऊण
जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो दुही होइ
वाहीरोगेहि पीडिओ॥

एव धर्ममकृत्वा
यो गच्छति पर भवम्।
गच्छन् स दुःखी भवति
व्याधि-रोगै. पीडितः॥

१९—"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म किए विना परभव में जाता है वह व्याधि और रोग से पीडित होकर जीवन-यापन करता हुआ दु खी होता है।

२०—अद्धाण जो महन्त तु
सपाहेओ पवज्जई।
गच्छन्तो सो सुही होइ
छुहातण्हाविवज्जिओ॥

अध्वान यो महान्त तु
सपाथेयः प्रव्रजति।
गच्छन् स सुखी भवति
क्षुधा-तृष्णा-विवर्जित.॥

२०—"जो मनुष्य लम्बा मार्ग लेता है, किन्तु सम्बल के साथ, वह भूख-प्यास से रहित हो कर चलता हुआ सुखी होता है।

२१—एव धम्म पि काऊण
जो गच्छइ पर भव।
गच्छन्तो सो सुहो होइ
अप्पकम्मे अवेयणे॥

एव धर्ममपि कृत्वा
यो गच्छति पर भवम्।
गच्छन् स सुखी भवति
अल्पकर्माऽवेदनः॥

२१—"इसी प्रकार जो मनुष्य धर्म की आराधना कर परभव में जाता है, वह अल्प-कर्म वाला और वेदना रहित हो कर जीवन-यापन करता हुआ सुखी होता है।

२२—जहा गेहे पलित्तम्मि
तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ
असार अवउज्झइ॥

यथा गेहे प्रदीप्ते
तस्य गेहस्य यः प्रभु.।
सार-भाण्डानि गमयति
असारमपोज्झति॥

२२—"जैसे घर में आग लग जाने पर उस घर का जो स्वामी होता है, वह मूल्यवान् वस्तुओ को उसमें से निकालता है और मूल्य-हीन वस्तुओं को वही छोड देता है,

२३—एव लोए पलित्तम्मि
जराए मरणेण य।
अप्पाण तारइस्सामि
तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

एव लोके-प्रदीप्ते
जरया मरणेन च।
आत्मान तारयिष्यामि
युष्माभिरनुमतः ॥

२३—"इसी प्रकार यह लोक जरा और मृत्यु से प्रज्वलित हो रहा है। मैं आपकी आज्ञा पाकर उसमें से अपने आपको निकालूँगा।"

२४—त वित ऽम्मापियरो
सामण्ण पुत्त! दुच्चर।
गुणाण तु सहस्साइ
धारेयव्वाइ भिक्खुणो[1] ॥

तवूतोऽम्वापितरौ
श्रामण्य पुत्र! दुश्चरम्।
गुणाना तु सहस्राणि
धारयितव्यानि भिक्षोः ॥

२४—माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र! श्रामण्य का आचरण बहुत कठिन है। भिक्षु को हजारो गुण धारण करने होते है।

२५—समया सव्वभूएसु
सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई
जावज्जीवाए दुक्करा[2] ॥

समता सर्व-भूतेषु
शत्रु-मित्रेषु वा जगति।
प्राणातिपात-विरतिः
यावज्जीव दुष्करा ॥

२५—"विश्व के शत्रु और मित्र सभी जीवो के प्रति समभाव रखना और यावज्जीवन प्राणातिपात की विरति करना बहुत ही कठिन कार्य है।

२६—निच्चकालऽप्पमत्तेण
मुसावायविवज्जण।
भासियव्व हिय सच्च
निच्चाउत्तेण दुक्कर ॥

नित्य-कालाप्रमत्तेन
मृषावाद-विवर्जनम्।
भाषितव्य हित सत्य
नित्यायुक्तेन दुष्करम् ॥

२६—"सदा अप्रमत्त रह कर मृषावाद का वर्जन करना और सतत सावधान रह कर हितकारी सत्य वचन बोलना बहुत ही कठिन कार्य है।

२७—दन्तसोहणमाइस्स
अदत्तस्स विवज्जण।
अणवज्जेसणिज्जस्स
गेण्हणा अवि दुक्कर ॥

दन्तशोधनादे
अदत्तस्य विवर्जनम्।
अनवद्यैषणीयस्य
ग्रहणमपि दुष्करम् ॥

२७—"दत्तौन आदि को भी विना दिए न लेना और ऐसी दत्त वस्तु भी वही लेना, जो अनवद्य और एषणीय हो बहुत ही कठिन कार्य है।

२८—विरई अबम्भचेरस्स
कामभोगरसन्नुणा।
उग्ग महव्वय बम्भ
धारेयव्व सुदुक्कर ॥

विरतिरब्रह्मचर्यस्य
काम-भोग-रसज्ञेन।
उग्र महाव्रत ब्रह्म
धारयितव्य सुदुष्करम् ॥

२८—"काम-भोग का रस जानने वाले व्यक्ति के लिए अब्रह्मचर्य की विरति करना और उग्र ब्रह्मचर्य महाव्रत को धारण करना बहुत ही कठिन कार्य है।

---

१ भिक्खुणा (चू०), भिक्खुणो (बृ० पा०)।
२ दुक्कर (बृ०, छ०)।

२९—धणधन्नपेसवग्गेसु
परिग्गहविवज्जण[1] ।
सव्वारम्भपरिच्चाओ
निम्ममत्त सुदुक्कर ॥

धन-धान्य-प्रेष्यवर्गेषु
परिग्रह-विवर्जनम् ।
सर्वारम्भ-परित्याग.
निर्ममत्व सुदुष्करम् ॥

२९—"धन-धान्य और प्रेष्य-वर्ग के परिग्रहण का वर्जन करना, सब आरम्भो (द्रव्य की उत्पत्ति के व्यापारो) और ममत्व का त्याग करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३०—चउव्विहे वि आहारे
राईभोयणवज्जणा ।
सन्निहीसचओ चेव
वज्जेयव्वो सुदुक्करो[2] ॥

चतुर्विधेऽप्याहारे
रात्रि-भोजन-वर्जनम् ।
सन्निधि-सचयश्चैव
वर्जयितव्य सुदुष्कर. ॥

३०—"चतुर्विध आहार को रात में खाने का त्याग करना तथा सन्निधि और सचय का वर्जन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३१—छुहा तण्हा य सीउण्ह
दसमसगवेयणा ।
अक्कोसा दुक्खसेज्जा य
तणफासा जल्लमेव य ॥

क्षुधा तृषा च शीतोष्ण
दश-मशक-वेदना ।
आक्रोशा दुःख-शय्या च
तृण-स्पर्शा 'जल्ल' मेव च ॥

३१—"भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, डाँस और मच्छरो का कष्ट, आक्रोश-वचन, कष्टप्रद उपाश्रय, घास का बिछौना, मैल,

३२—तालणा तज्जणा चेव
वहबन्धपरीसहा ।
दुक्ख भिक्खायरिया
जायणा य अलाभया ॥

ताडना तर्जना चैव
वध-बन्धौ परीषहौ ।
दुःख भिक्षा-चर्या
याचना चालाभता ॥

३२—ताडना, तर्जना, वध, बन्धन का कष्ट, भिक्षा-चर्या, याचना और अलाभ—इन्हें सहन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

३३—कावोया जा इमा वित्ती
केसलोओ य दारुणो ।
दुक्ख बम्भवय घोर
धारेउ अ महप्पणो ॥

कापोती येय वृत्तिः
केश-लोचश्च दारुणः ।
दुःख ब्रह्मव्रत घोर
धारयितु च महात्मन. ॥

३३—"यह जो कापोती-वृत्ति (कबूतर के समान दोष-भीरु वृत्ति), दारुण केश-लोच और घोर-ब्रह्मचर्य को धारण करना है, वह महान् आत्माओ के लिए भी दुष्कर है।

३४—सुहोइओ तुम पुत्ता !
सुकुमालो सुमज्जिओ ।
न हु सी पभू तुमं पुत्ता !
सामण्णमणुपालिउ[3] ॥

सुखोचितस्त्व पुत्र !
सुकुमारश्च सुमज्जितः ।
न खलु असि प्रभुस्त्व पुत्र !
श्रामण्यमनुपालयितुम् ॥

३४—"पुत्र ! तू सुख भोगने योग्य है, सुकुमार है, साफ-सुथरा रहने वाला है। पुत्र ! तू श्रामण्य का पालन करने के लिए समर्थ नही है।

१ ० विवज्जणा (आ, इ, बृ०)।
२. सुदुक्कर (उ)।
३ ० पालिया (अ, आ, इ, उ, ऋ०)।

३५—जावज्जीवमविस्सामो
गुणाण तु महाभरो ।
गुरुओ लोहभारो व्व
जो पुत्ता ! होइ दुव्वहो ॥

यावज्जीवमविश्राम
गुणाना तु महाभरः ।
गुरुको लोहभार इव
यः पुत्र ! भवति दुर्वह ॥

३५—"पुत्र ! श्रामण्य में जीवन पर्यन्त विश्राम नहीं है । यह गुणों का महान् भार है । भारी भरकम लोह-भार की भाँति इसे उठाना बहुत ही कठिन है ।

३६—आगासे गगसोउ व्व
पडिसोओ व्व दुत्तरो ।
बाहाहिं सागरो चेव
तरियव्वो गुणोयही ॥

आकाशे गङ्गा-स्रोत इव
प्रतिस्रोत इव दुस्तरः ।
बाहुभ्यां सागरश्चैव
तरितव्यो गुणोदधिः ॥

३६—"आकाश-गगा के स्रोत, प्रति-स्रोत और भुजाओ से सागर को तैरना जैसे कठिन कार्य है वैसे ही गुणोदधि-सयम को तैरना कठिन कार्य है ।

३७—वालुयाकवले[1] चेव
निरस्साए उ[2] सजमे ।
असिधारागमण चेव
दुक्कर चरिउ तवो ॥

वालुका-कवलश्चैव
निरास्वादस्तु सयम. ।
असि-धारा-गमन चैव
दुष्कर चरितु तप. ॥

३७—"सयम वालू के कौर की तरह स्वाद-रहित है । तप का आचरण करना तलवार की धार पर चलने जैसा है ।

३८—अहीवेगन्तदिट्ठीए
चरित्ते पुत्त ! दुच्चरे ।
जवा लोहमया चेव
चावेयव्वा सुदुक्कर ॥

अहिरिवैकान्तदृष्ट्या
चारित्र पुत्र ! दुश्चरम् ।
यवा लोहमयाश्चैव
चर्वयितव्या सुदुष्करम् ॥

३८—"पुत्र ! साँप जैसे एकाग्र-दृष्टि से चलता है, वैसे एकाग्र-दृष्टि से चारित्र का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है । लोहे के जवों को चवाना जैसे कठिन है वैसे ही चारित्र का पालन कठिन है ।

३९—जहा अग्गिसिहा दित्ता
पाउ होइ सुदुक्कर[3] ।
तह दुक्कर करेउ जे
तारुण्णे समणत्तण ॥

यथाग्निशिखा दीप्ता
पातु भवति सुदुष्करम् ।
तथा दुष्कर कर्तुं 'जे'
तारुण्ये श्रमणत्वम् ॥

३९—"जैसे प्रज्वलित अग्नि-शिखा को पीना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही यौवन में श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है ।

४०—जहा दुक्ख भरेउ जे
होइ वायस्स कोत्थलो ।
तहा दुक्ख करेउ जे
कीवेण समणत्तण ॥

यथा दुःख भर्तुं 'जे'
भवति वायो 'कोत्थलो'
तथा दुष्कर कर्तुं 'जे'
क्लीबेन श्रमणत्वम् ॥

४०—"जैसे वस्त्र के थैले को हवा से भरना कठिन कार्य है वैसे ही सत्वहीन व्यक्ति के लिए श्रमण-धर्म का पालन करना कठिन कार्य है ।

---

१ ०कवला (अ) ।
२ व (उ) ।
३ छदुक्करा (वृ० पा०) ।

४१—जहा तुलाए तोलेउं
दुक्कर मन्दरो गिरी।
तहा निहुय नीसक
दुक्कर समणत्तण ॥

था तुलया तोलयितु
दुष्कर मन्दरो गिरिः।
तथा निभृतं निःशङ्कं
दुष्करं श्रमणत्वम् ॥

४१—"जैसे मेरु-पर्वत को तराजू से तोलना बहुत ही कठिन कार्य है वैसे ही निश्चल और निर्भय भाव से श्रमण-धर्म का पालन करना बहुत ही कठिन कार्य है।

४२—जहा भुयाहिं तरिउ
दुक्कर रयणागरो।
तहा अणुवसन्तेण
दुक्कर[1] दमसागरो ॥

यथा भुजाभ्यां तरितुं
दुष्करं रत्नाकरः।
तथाऽनुपशान्तेन
दुष्कर दम-सागरः ॥

४२—"जैसे समुद्र को भुजाओं से तैरना बहुत ही कठिन कार्य है, वैसे ही उपशमहीन व्यक्ति के लिए दमरूपी समुद्र को तैरना बहुत ही कठिन कार्य है।

४३—भुज माणुस्सए भोगे
पचलक्खणए तुम।
भुत्तभोगी तओ जाया।
पच्छा धम्म चरिस्ससि ॥

भुङ्क्ष्व मानुष्यकान् भोगान्
पच-लक्षणकान् त्वम्।
भुक्त-भोगी ततो जात!
पश्चाद् धर्मं चरेः ॥

४३—"पुत्र! तू मनुष्य सम्बन्धी पाँच इन्द्रियों के भोगों का भोग कर। फिर भुक्त-भोगी हो कर मुनि-धर्म का आचरण करना।"

४४—'त बित ऽम्मापियरो'[2]
एवमेय जहा फुड।
इह लोए निप्पिवासस्स
नत्थि किंचि वि दुक्कर ॥

तद् ब्रूतो अम्बापितरौ
एवमेतद् यथास्फुटम्।
इह लोके निष्पिपासस्य
नास्ति किंचिदपि दुष्करम् ॥

४४—मृगापुत्र ने कहा—"माता-पिता! जो आपने कहा वह सही है किन्तु जिस व्यक्ति की ऐहिक सुखों की प्यास बुझ चुकी है उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है।

४५—सारीरमाणसा चेव
वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढावो भीमाओ
असइं दुक्खभयाणि य ॥

शारीरमानस्यश्चैव
वेदनास्तु अनन्तश।
मया सोढा भीमाः
असकृद् दुःख-भयानि च ॥

४५—"मैंने भयकर शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को अनन्त बार सहा है और अनेक बार दुःख एव भय का अनुभव किया है।

४६—जरामरणकन्तारे
चाउरन्ते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि
जम्माणि मरणाणि य ॥

जरा-मरण-कान्तारे
चतुरन्ते भयाकरे।
मया सोढानि भीमानि
जन्मानि मरणानि च ॥

४६—"मैंने चार अन्त वाले और भय के आकर जन्म-मरणरूपी जगल में भयकर जन्म-मरणों को सहा है।

---

१ दुत्तर (आ)।
२ सो बे अम्मापियरो (उ, बृ० पा०, ऋ०), तो बेंतऽम्मापियरो (बृ० पा०)।

४७—जहा इह अगणी उण्हो
'एत्तोऽणन्तगुणे तहिं'[1]।
नरएसु वेयणा उण्हा
अस्साया वेइया मए॥

यथेहाग्निरुष्णः
इतोऽनन्तगुणस्तत्र।
नरकेषु वेदना उष्णा
असाता वेदिता मया॥

४७—"जैसे यहाँ अग्नि उष्ण है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय उष्ण-वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है।

४८—जहा 'इमं इहं'[2] सीयं
'एत्तोऽणन्तगुणं तहिं'[3]।
नरएसु वेयणा सीया
अस्साया वेइया मए॥

यथेदमिह शीतम्
इतोऽनन्तगुणं तत्र।
नरकेषु वेदना शीता
असातावेदिता मया॥

४८—"जैसे यहाँ यह शीत है, इससे अनन्त गुना अधिक दुःखमय शीत-वेदना वहाँ नरक में मैंने सही है।

४९—कन्दन्तो कंदुकुम्भीसु
उड्ढपाओ अहोसिरो।
हुयासणे जलन्तम्मि
पक्कपुव्वो अणन्तसो॥

क्रन्दन् कन्दु-कुम्भीषु
ऊर्ध्व-पादोऽधः-शिराः।
हुताशने ज्वलति
पक्व-पूर्वोऽनन्तशः॥

४९—"पकाने के पात्र में, जलती हुई अग्नि में पैरों को ऊँचा और सिर को नीचा कर आक्रन्द करता हुआ मैं अनन्त बार पकाया गया हूँ।

५०—महादवग्गिसंकासे
मरुम्मि वइरवालुए।
कलम्बवालुयाए य
दड्ढपुव्वो अणन्तसो॥

महादवाग्नि-सकाशे
मरौ वज्र-वालुकायाम्।
कदम्ब-वालुकाया च
दग्ध-पूर्वोऽनन्तशः॥

५०—"महा दवाग्नि और मरु-देश और वज्रवालुका जैसी कदम्ब नदी के वालू में मैं अनन्त बार जलाया गया हूँ।

५१—रसन्तो कंदुकुम्भीसु
उड्ढं बद्धो अबन्धवो।
करवत्तकरकयाईहिं
छिन्नपुव्वो अणन्तसो॥

रसन् कन्दु-कुम्भीषु
ऊर्ध्वं बद्धोऽबान्धवः।
करपत्र-क्रकचैः
छिन्न-पूर्वोऽनन्तशः॥

५१—"मैं पाक-पात्र में त्राण रहित हो कर आक्रन्द करता हुआ ऊँचा बांधा गया तथा करवत और आरा आदि के द्वारा अनन्त बार छेदा गया हूँ।

५२—अइतिक्खकण्टगाइण्णे
तुंगे सिम्बलिपायवे।
खेवियं[4] पासबद्धेणं
कड्ढोकड्ढाहिं दुक्करं॥

अतितीक्ष्ण-कण्टकाकीर्णे
तुंगे शाल्मलि-पादपे।
क्षेपित पाश-बद्धेन
कर्षापकर्षैर्दुष्करम्॥

५२—"अत्यन्त तीखे काँटों वाले ऊँचे शाल्मलि वृक्ष पर पाश से बांध, इधर-उधर खींच कर असह्य वेदना से मैं खिन्न किया गया हूँ।

---

१. इत्तोऽणंतगुणा तहिं (बृ० पा०)।
२. इह इमं (उ, ऋ०)।
३. एत्तोऽणन्तगुणा तहिं (बृ० पा०)।
४. खेविय (बृ०)।

५३—महाजन्तेसु उच्छू वा
आरसन्तो सुभेरवं।
पीलिओ मि सकम्मेहिं
पावकम्मो अणन्तसो ॥

महायन्त्रेष्विक्षुरिव
आरसन् सुभैरवम्।
पीडितोऽस्मि स्वकर्मभिः
पाप-कर्माऽनन्तशः ॥

५३—"पापकर्मा मैं अति भयंकर आक्रन्द करता हुआ अपने ही कर्मों द्वारा महायंत्रों में ऊख की भाँति अनन्त बार पेरा गया हूँ।

५४—कूवन्तो कोलसुणएहिं
सामेहिं सबलेहि य।
पाडिओ फालिओ छिन्नो
विप्फुरन्तो[1] अणेगसो ॥

कूजन् कोल-शुनकैः
श्यामैः शबलैश्च।
पातित स्फाटितः छिन्नः
विस्फुरन्ननेकशः ॥

५४—"मैं इधर-उधर जाता और आक्रन्द करता हुआ काले और चितकबरे सूअर एवं कुत्तों के द्वारा अनेक बार गिराया, फाड़ा और काटा गया हूँ।

५५—असीहि[2] अयसिवण्णाहिं
भल्लीहिं पट्टिसेहि य।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नो य
ओइण्णो[3] पावकम्मुणा ॥

असिभिरतसी-वर्णाभिः
भल्लीभिः पट्टिशैश्च।
छिन्नो भिन्नो विभिन्नश्च
उपपन्नः पाप-कर्मणा ॥

५५—"पाप-कर्मों के द्वारा नरक में अवतरित हुआ मैं अलसी के फूलों के समान नीले रंग वाली तलवारों, भल्लियों और लोह-दण्डों के द्वारा छेदा, भेदा और छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किया गया हूँ।

५६—अवसो लोहरहे जुत्तो
जलन्ते[4] समिलाजुए।
चोइओ तोत्तजुत्तेहिं
रोज्झो वा जह पाडिओ ॥

अवशो लोह-रथे युक्तः
ज्वलति समिला-युते।
चोदितस्तोत्र-योक्त्रैः
'रोज्झो' वा यथा पातितः ॥

५६—"युग-कीलक (जूए के छेदों में डाली जाने वाली लकड़ी की कीलों) से युक्त जलते हुए लोह-रथ में परवश बनाया गया मैं जोता गया, चाबुक और रस्सी के द्वारा हाका गया तथा रोझ की भाँति भूमि पर गिराया गया हूँ।

५७—हुयासणे जलन्तम्मि
चियासु महिसो विव।
दड्ढो पक्को य अवसो
पावकम्मेहि पाविओ ॥

हुताशने ज्वलति
चितासु महिष इव।
दग्धः पक्वश्चावशः
पाप-कर्मभिः प्रावृत ॥

५७—"पाप-कर्मों से घिरा और परवश हुआ मैं भैंसे की भाँति अग्नि की जलती हुई चिताओं में जलाया और पकाया गया हूँ।

५८—बला सडासतुण्डेहिं
लोहतुण्डेहि पक्खिहिं।
विलुत्तो विलवन्तो हं
ढंकगिद्धेहिऽणन्तसो ॥

बलात् सदंश-तुण्डैः
लोह-तुण्डैः पक्षिभिः।
विलुप्तो विलपन्नहम्
ढंक-गृध्रै रनन्तशः ॥

५८—"सडासी जैसी चोंच वाले और लोहे जैसी कठोर चोंच वाले ढंक और गीध पक्षियों के द्वारा विलाप करता हुआ मैं बल-प्रयोग पूर्वक अनन्त बार नोचा गया हूँ।

---

१ विप्फरतो (अ, ऋ०)।
२. अरसाहिं (वृ०); असीहिं (वृ० पा०)।
३ उववण्णो (ऋ०)।
४ जलत (वृ० पा०)।

५६—तण्हाकिलन्तो धावन्तो
पत्तो वेयरणिं नदिं ।
जलं 'पाहिं ति'[1] चिन्तन्तो
खुरधाराहिं विवाइओ[2] ॥

तृष्णा-क्लान्तो धावन्
प्राप्तो वैतरणीं नदीम् ।
जलं पास्यामीति चिन्तयन्
क्षुर-धाराभिर्विपादितः ॥

५६—"प्यास से पीडित होकर मैं दौड़ता हुआ वैतरणी नदी पर पहुँचा । जल पीऊँगा—यह सोच रहा था, इतने में छूरे की धार से मैं चीरा गया ।

६०—उण्हाभितत्तो सपत्तो
असिपत्तं महावणं ।
असिपत्तेहिं पडन्तेहिं
छिन्नपुव्वो अणेगसो[3] ॥

उष्णाभितप्तः सम्प्राप्तः
असि-पत्रं महावनम् ।
असि-पत्रैः पतद्भिः
छिन्न-पूर्वोऽनेकशः ॥

६०—"गर्मी से संतप्त होकर असि-पत्र महावन में गया । वहाँ गिरते हुए तलवार के समान तीखे पत्तों से अनेक बार छेदा गया हूँ ।

६१—मुग्गरेहिं मुसढीहिं
सूलेहिं मुसलेहि य ।
गयासं भग्गगत्तेहिं
पत्तं दुक्खं अणन्तसो ॥

मुद्गरैः 'मुसुढीहिं'
शूलैर्मुसलैश्च ।
गताशं भग्न-गात्रैः
प्राप्तं दुःखमनन्तशः ॥

६१—"मुद्गरों, मुण्डियों, शूलों और मुसलों से त्राण-हीन दशा में मेरा शरीर चूर-चूर किया गया—इस प्रकार मैं अनन्त बार दुःख को प्राप्त हुआ हूँ ।

६२—खुरेहिं तिक्खधारेहिं[4]
छुरियाहिं[5] कप्पणीहि य ।
कप्पिओ फालिओ छिन्नो
उक्कत्तो[6] य अणेगसो[7] ॥

क्षुरैः तीक्ष्ण-धारैः
क्षुरिकाभिः कल्पनीभिश्च ।
कल्पितः पाटितश्छिन्नः
उत्क्रान्तश्चानेकशः ॥

६२—"तेज धार वाले छूरों, छुरियों और कैंचियों से मैं अनेक बार खण्ड-खण्ड किया गया, दो टूक किया गया और छेदा गया हूँ तथा मेरी चमड़ी उतारी गई है ।

६३—पासेहिं कूडजालेहिं
मिओ वा अवसो अहं ।
वाहिओ[8] बद्धरुद्धो अ
'बहु सो'[9] चेव विवाइओ ॥

पाशैः कूट-जालैः
मृग इव अवशोऽहम् ।
वाहितो बद्ध-रुद्धो वा
बहुशश्चैव विपादितः ॥

६३—"पाशों और कूटजालों द्वारा मृग की भाँति परवश बना हुआ मैं अनेक बार ठगा गया, बाँधा गया, रोका गया और मारा गया हूँ ।

---

१ पाह ति (वृ०) ।
२ विपाडिओ (बृ०), विवाइओ (बृ० पा०) ।
३,८ अणतसो (उ, ऋ०) ।
४ तिक्ख दाढेहि (उ) ।
५ छुरीहि (ऋ०) ।
६. उक्कित्तो (बृ० पा०, उ) ।
७ गहिओ (बृ० पा०) ।
९. विवसो (उ, ऋ०) ।

६४—गलेहिं मगरजालेहिं
मच्छो वा अवसो अहं।
उल्लिओ[1] फालिओ गहिओ
मारिओ य अणन्तसो ॥

गलैर्मकर-जालैः
मत्स्य इव अवशोऽहम्।
उल्लिखितः पाटितो गृहीतः
मारितश्चाऽनन्तशः ॥

६४—"मछली के फँसाने की कटियों और मगरों को पकड़ने के जालों के द्वारा मत्स्य की तरह परवश बना हुआ मैं अनन्त बार खींचा, फाड़ा, पकड़ा और मारा गया हूँ।

६५—वीदसएहिं[2] जालेहिं
लेप्पाहिं सउणो विव।
गहिओ लग्गो[3] बद्धो य
मारिओ य अणन्तसो ॥

विदशकैर्जालैः
लेपैः शकुन इव।
गृहीतो लग्नो बद्धश्च
मारितश्चाऽनन्तशः ॥

६५—"बाज पक्षियों, जालों और वज्र-लेपों के द्वारा पक्षी की भाँति मैं अनन्त बार पकड़ा, चिपकाया, बाँधा और मारा गया हूँ।

६६—कुहाडफरसुमाईहिं
वड्ढईहिं दुमो विव।
कुट्टिओ फालिओ छिन्नो
तच्छिओ य अणन्तसो ॥

कुठार-परश्वादिभिः
वर्धकिभिर्द्रुम इव।
कुट्टितः पाटितश्छिन्नः
तक्षितश्चाऽनन्तशः ॥

६६—"बढ़ई के द्वारा वृक्ष की भाँति कुल्हाड़ी और फरसा आदि के द्वारा मैं अनन्त बार कूटा, दो टूक किया, छेदा और छीला गया हूँ।

६७—चवेडमुट्ठिमाईहिं
कुमारेहिं अयं पिव।
ताडिओ कुट्टिओ भिन्नो
चुण्णिओ य अणन्तसो ॥

चपेटा-मुष्ट्यादिभिः
कुमारैः अय इव।
ताडितः कुट्टितो भिन्नः
चूर्णितश्चाऽनन्तशः ॥

६७—"लोहार के द्वारा लोह की भाँति चपत और मुट्ठी आदि के द्वारा मैं अनन्त बार पीटा, कूटा, भेदा और चूरा किया गया हूँ।

६८—तत्ताइं तम्बलोहाइं
तउयाइं सीसयाणि य।
पाइओ कलकलन्ताइं
आरसन्तो सुभेरवं ॥

तप्तानि ताम्र-लोहानि
त्रपुकानि सीसकानि च।
पायितः कलकलायमानानि
आरसन् सुभैरवम् ॥

६८—"भयंकर आक्रन्द करते हुए मुझे गर्म और कलकल शब्द करता हुआ तांबा, लोहा, रांगा और सीसा पिलाया गया।

---

१ अहिओ (उ, ऋ०)।
२ वीसदएहिं (ऋ०), वीस देहिए (उ)।
३ भग्गो (अ)।

६९—तुह पियाइ मसाइ
खण्डाइं सोल्लगाणि य।
खाविओ मि[1] समसाइ
अग्गिवण्णाइ णेगसो॥

तव प्रियाणि मासानि
खण्डानि शूल्यकानि च।
खादितोऽस्मि स्व-मासानि
अग्निवर्णान्यनेकशः॥

६९—"तुझे खण्ड किया हुआ और शूल में खोंस कर पकाया हुआ मास प्रिय था—यह याद दिलाकर मेरे शरीर का मास काट अग्नि जैसा लाल कर मुझे खिलाया गया।

७०—तुह पिया सुरा सीहू
मेरओ य महूणि य।
पाइओ[2] मि जलन्तीओ
वसाओ रुहिराणि य॥

तव प्रिया सुरा सीधु
मेरकश्च मधूनि च।
पायितोऽस्मि ज्वलन्तीः
वसा रुधिराणि च॥

७०—"तुझे सुरा, सीधु, मैरेय और मधु—ये मदिराएँ प्रिय थीं—यह याद दिलाकर मुझे जलती हुई चर्बी और रुधिर पिलाया गया।

७१—निच्चं[3] भीएण तत्थेण
दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसबद्धा
वेयणा वेइया मए॥

नित्य भीतेन त्रस्तेन
दुःखितेन व्यथितेन च।
परमा दुःख-सवद्धा
वेदना वेदिता मया॥

७१—"सदा भयभीत, सत्रस्त, दुःखित और व्यथित रूप में रहते हुए मैंने परम दुःखमय वेदना का अनुभव किया है।

७२—तिव्वचण्डप्पगाढाओ
घोराओ अइदुस्सहा।
महब्भयाओ[4] भीमाओ
नरएसु वेइया मए॥

तीव्र-चण्ड-प्रगाढा
घोरा अतिदुस्सहाः।
महाभया भीमाः
नरकेषु वेदिता मया॥

७२—"तीव्र, चण्ड, प्रगाढ, घोर, अत्यन्त दुःसह, भीम और अत्यन्त भयंकर वेदनाओं का मैंने नरक-लोक में अनुभव किया है।

७३—जारिसा माणुसे लोए
ताया! दीसन्ति वेयणा।
एत्तो[5] अणन्तगुणिया
नरएसु दुक्खवेयणा॥

यादृश्यो मानुषे लोके
तात! दृश्यन्ते वेदनाः।
इतोऽनन्तगुणिताः
नरकेषु दुःख-वेदनाः॥

७३—"माता-पिता! मनुष्य-लोक में जैसी वेदना है उससे अनन्तगुना अधिक दुःख देने वाली वेदना नरक-लोक में है।

---

१ वि (ऋ०)।
२. पज्जितो (बृ०)।
३. निच्च (अ, ऋ०)।
४. महालया (बृ० पा०)।
५ तत्तो (अ); इत्तो (उ, ऋ०)।

७४—सव्वभवेसु अस्साया
वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्त पि
जं साया नत्थि वेयणा ॥

सर्व-भवेष्वसाता
वेदना वेदिता मया।
निमेषान्तर-मात्रमपि
यत् साता नास्ति वेदना ॥

७४—"मैंने सभी जन्मों में दु खमय वेदना का अनुभव किया है। वहाँ एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नही है।"

७५—त बिंतऽम्मापियरो
छन्देण पुत्त! पव्वया।
नवर पुण सामण्णे
दुक्ख निप्पडिकम्मया ॥

त ब्रूतोऽम्बापितरौ
छन्दसा पुत्र! प्रव्रज।
'नवर' पुन श्रामण्ये
दुःखं निष्प्रतिकर्मता ॥

७५—माता-पिता ने उससे कहा—"पुत्र! तुम्हारी इच्छा है तो प्रव्रजित हो जाओ। परन्तु श्रमण बनने के बाद रोगो की चिकित्सा नही की जाती, यह कितना कठिन मार्ग है। (यह जानते हो?)"

७६—सो बिंत ऽम्मापियरो!
एवमेय जहाफुड।
पडिकम्म को कुणई
अरण्णे मियपक्खिण? ॥

स ब्रूतेऽम्बापितरौ!
एवमेतद् यथास्फुटम्।
प्रतिकर्म कः करोति
अरण्ये मृग-पक्षिणाम्? ॥

७६—उसने कहा—"माता-पिता! आपने जो कहा वह ठीक है। किन्तु जगल में रहने वाले हरिण और पक्षियों की चिकित्सा कौन करता है?

७७—एगभूओ अरण्णे वा
जहा उ चरई मिगो।
एव धम्म चरिस्सामि
सजमेण तवेण य ॥

एकभूतोऽरण्ये वा
यथा तु चरति मृगः।
एव धर्मं चरिष्यामि
सयमेन तपसा च ॥

७७—"जैसे जगल में हरिण अकेला विचरता है, वैसे मैं भी सयम और तप के साथ एकाकी भाव को प्राप्त कर धर्म का आचरण करूँगा।

७८—जया मिगस्स आयको
महारण्णम्मि जायई।
अच्छन्तं रुक्खमूलम्मि
को ण ताहे तिगिच्छई[1]? ॥

यथा मृगस्यातङ्कः
महारण्ये जायते।
तिष्ठन्तं वृक्ष-मूले
क एनं तदा चिकित्सति? ॥

७८—"जब महावन में हरिण के शरीर में आतक उत्पन्न होता है तब किसी वृक्ष के पास बैठे हुए उस हरिण को कौन चिकित्सा करता है?

७९—को वा से ओसह देई?
को वा से पुच्छई सुह?।
को से भत्त च 'पाण च'[2]
आहरित्त पणामए? ॥

को वा तस्मै औषध दत्ते?
को वा तस्य पृच्छति सुखम्?।
कस्तस्मै भक्त च पानं च
आहृत्यार्पयेत्? ॥

७६—"कौन उसे औषध देता है? कौन उससे सुख की बात पूछता है? कौन उसे खाने-पीने को भक्त-पान लाकर देता है?

१ विगिच्छई (उ), चिगिच्छई (ऋ०)।
२ पाण वा (ऋ०)।

८०—जया य से सुही होइ
तया गच्छइ गोयरं ।
भत्तपाणस्स अट्ठाए
वल्लराणि सराणि य ॥

यदा च स सुखी भवति
तदा गच्छति गोचरम् ।
भक्त-पानस्यार्ऽथाय
वल्लराणि सरासि च ॥

८०—"जब वह स्वस्थ हो जाता है तब गोचर में जाता है । खाने-पीने के लिए लता-निकुजों और जलाशयों में जाता है ।

८१—खाइत्ता पाणिय पाउ
वल्लरेहिं सरेहि वा ।
मिगचारिय चरित्ताण
गच्छई मिगचारिय ॥

खादित्वा पानीय पीत्वा
वल्लरेषु सरस्सु वा ।
मृग-चारिकां चरित्वा
गच्छति मृग-चारिकाम् ॥

८१—"लता-निकुजो और जलाशयों में खा-पीकर वह मृग-चर्या (कुदान) के द्वारा मृग-चर्या (स्वतत्र-विहार) को चला जाता है ।

८२—एव समुट्ठिओ भिक्खू
एवमेव अणेगओ[1] ।
मिगचारिय चरित्ताणं
उड्ढ पक्कमई दिस ॥

एवं समुत्थितो भिक्षु
एवमेवाऽनेकगः ।
मृग-चारिका चरित्वा
ऊर्ध्वा प्रक्रामति दिशम् ॥

८२—"इसी प्रकार सयम के लिए उठा हुआ भिक्षु स्वतत्र विहार करता हुआ मृग-चर्या का आचरण कर ऊँची-दिशा—मोक्ष को चला जाता है ।

८३—जहा मिगे एग अणेगचारी
अणेगवासे धुवगोयरे य ।
एव मुणी गोयरियं पविट्ठे
नो हीलए नो वि य खिसएज्जा ॥

यथा मृग एकोऽनेकचारी
अनेकवासो ध्रुव-गोचरश्च ।
एव मुनिर्गोचर्या प्रविष्टः
नो हीलयेन्नो अपि च खिसयेत् ॥

८३—"जिस प्रकार हरिण अकेला अनेक स्थानों मे भक्त-पान लेने वाला, अनेक स्थानों में रहने वाला और गोचर से ही जीवन-यापन करने वाला होता है, उसी प्रकार गोचर-प्रविष्ट मुनि जब भिक्षा के लिए जाता है तब किसी की अवज्ञा और निन्दा नहीं करता ।

८४—मिगचारिय चरिस्सामि
एव पुत्ता ! जहासुह ।
अम्मापिऊहिंअणुन्नाओ
जहाइ उवहिं तओ ॥

मृग-चारिका चरिष्यामि
एव पुत्र ! यथासुखम् ।
अम्बापितृभ्यामनुज्ञात
जहात्युपधि ततः ॥

८४—"मैं मृग-चर्या का आचरण करूँगा ।" "पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो ।" इस प्रकार माता-पिता की अनुमति पाकर वह उपधि को छोड रहा है ।

८५—मियचारिय चरिस्सामि
सव्वदुक्खविमोक्खणिं ।
तुब्भेहिं अम्म ! ऽणुन्नाओ
गच्छ पुत्त ! जहासुह ॥

मृग-चारिका चरिष्यामि
सव-दुःख-विमोक्षणीम् ।
युवाभ्यामम्ब ! अनुज्ञातः
गच्छ पुत्र ! यथासुखम् ॥

८५—"मैं तुम्हारी अनुमति पाकर सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली मृग-चर्या का आचरण करूँगा ।" (माता-पिता ने कहा)—"पुत्र ! जैसे तुम्हें सुख हो वैसे करो ।"

---

१. अणेगसो (अ, ऋ०), अणिएयणे (बृ० पा०) ।

८६—एव सो अम्मापियरो
अणुमाणित्ताण बहुविह ।
ममत्त छिन्दई ताहे
महानागो व्व कचुय ॥

एव सोऽम्बापितरौ
अनुमान्य बहुविधम् ।
ममत्व छिनत्ति तदा
महानाग इव कचुकम् ॥

८६—"इस प्रकार वह नाना उपायो से माता-पिता को अनुमति के लिए राजी कर ममत्व का छेदन कर रहा है जैसे महानाग काचुली का छेदन करता है ।

८७—इड्ढि[1] वित्त च मित्ते य
पुत्तदार च नायओ ।
रेणुय व पडे लग्गं
निद्धुणित्ताण निग्गओ ॥

ऋद्धि वित्त च मित्राणि च
पुत्र-दाराश्च ज्ञातीन् ।
रेणुकमिव पटे लग्न
निर्धूय निर्गत ॥

८७—"ऋद्धि, धन, मित्र, पुत्र, कलत्र और ज्ञातिजनो को कपडे पर लगी हुई धूलि की भाँति झटकाकर वह निकल गया—प्रव्रजित हो गया ।

८८—पचमहव्वयजुत्तो
पचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य ।
सब्भिन्तरबाहिरओ
तवोकम्मसि उज्जुओ ॥

पञ्चमहाव्रत-युक्त
पञ्चभि समितस्त्रिगुप्ति-गुप्तश्च ।
साभ्यन्तरबाह्ये
तपः-कर्मणि उद्यु क्तः ॥

८८—"वह पाँच महाव्रतो से युक्त, पाँच समितियो से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, आन्तरिक और बाहरी तपस्या में तत्पर—

८९—निम्ममो निरहकारो
निस्सगो चत्तगारवो ।
समो य सव्वभूएसु
तसेसु थावरेसु य ॥

निर्ममो निरहकारः
निस्सङ्गस्त्यक्त-गौरवः ।
समश्च सर्व-भूतेषु
त्रसेषु स्थावरेषु च ॥

८६—"ममत्व-रहित, अहकार-रहित, निर्लेप, गौरव को त्यागने वाला, त्रस और स्थावर सभी जीवों में समभाव रखने वाला—

९०—लाभालाभे सुहे दुक्खे
जोविए मरणे तहा ।
समो निन्दापससासु
तहा माणावमाणओ ॥

लाभालाभे सुखे दुःखे
जीविते मरणे तथा ।
समो निन्दा-प्रशंसयो
तथा मानापमानयोः ॥

६०—"लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, जीवन-मरण, निन्दा-प्रशंसा, मान-अपमान में सम रहने वाला—

९१—गारवेसु कसाएसु
दण्डसल्लभएसु य ।
नियत्तो हाससोगाओ
अनियाणो अबन्धणो ॥

गौरवेभ्यः कषायेभ्यः
दण्ड-शल्य-भयेभ्यश्च ।
निवृत्तो हास्य-शोकात्
अनिदानोऽबन्धनः ॥

६१—"गौरव, कषाय, दण्ड, शल्य, भय, हास्य और शोक से निवृत्त, निदान और बन्धन से रहित—

---

१ इड्ढी (उ, ऋ०) ।

९२—अणिस्सिओ इह लोए
परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो य
असणे अणसणे तहा ॥

अनिश्रित इह लोके
परलोकेऽनिश्रितः ।
वासी-चन्दन-कल्पश्च
अशनेऽनशने तथा ॥

६२—"इहलोक और परलोक में अनासक्त, वसूले से काटने और चन्दन लगाने पर तथा आहार मिलने या न मिलने पर सम रहने वाला—

९३—अप्पसत्थेहिं दारेहिं
सव्वओ पिहियासवे ।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं
पसत्थदमसासणे ॥

अप्रशस्तेभ्यो द्वारेभ्यः
सर्वतः पिहितास्रवः ।
अध्यात्म-ध्यान-योगैः
प्रशस्त-दम-शासनः ॥

६३—"प्रशस्त द्वारों से आने वाले कर्म-पुद्गलों का सर्वतोनिरोध करने वाला, शुभ-ध्यान की प्रवृत्ति से प्रशस्त एव उपशम-प्रधान शासन में रहने वाला हुआ ।

९४—एव नाणेण चरणेण
दसणेण तवेण य ।
भावणाहि 'य सुद्धाहिं'[1]
सम्म भावेत्तु अप्पय ॥

एवं ज्ञानेन चरणेन
दर्शनेन तपसा च ।
भावनाभिश्च शुद्धाभिः
सम्यग् भावयित्वाऽऽत्मानम् ॥

६४—"इस प्रकार ज्ञान, चारित्र, तप और विशुद्ध भावनाओं के द्वारा आत्मा को भली-भाँति भावित कर—

९५—बहुयाणि उ[2] वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
मासिएण उ[3] भत्तेण
सिद्धिं पत्तो अणुत्तर ॥

बहुकानि तु वर्षाणि
श्रामण्यमनुपाल्य ।
मासिकेन तु भक्तेन
सिद्धिं प्राप्तोऽनुत्तराम् ॥

६५—"बहुत वर्षों तक श्रमण-धर्म का पालन कर, अन्त में एक महीने का अनशन कर वह अनुत्तर सिद्धि—मोक्ष को प्राप्त हुआ ।

९६—एव करन्ति सबुद्धा[4]
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
मियापुत्ते जहारिसी[5] ॥

एव कुर्वन्ति सबुद्धाः
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः
मृगा-पुत्रो यथा ऋषि ॥

६६—"सबुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण जो होते हैं वे ऐसा करते हैं। वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त होते हैं, जिस प्रकार मृगा-पुत्र ऋषि हुए थे ।

१ विछद्धाहि (वृ०, छ) ।
२. ओ (उ), अ (ऋ०) ।
३. य (अ) ।
४ सपन्ना (उ, वृ०) ।
५ जहामिसी (वृ०, छ) ।

९७—महापभावस्स महाजसस्स
मियाइ पुत्तस्स निसम्म भासियं ।
तवप्पहाण चरिय[1] च उत्तमं
गइप्पहाण च तिलोगविस्सुय ॥

महाप्रभावस्य महायशसः
मृगायाः पुत्रस्य निशम्य भाषितम् ।
तपः-प्रधानं चरितं चोत्तम
प्रधान-गतिं च त्रिलोक-विश्रुताम् ॥

६७—"महा प्रभावशाली, महान् यशस्वी मृगा-पुत्र का कथन, तप-प्रधान उत्तम-आचरण और त्रिलोक-विश्रुत प्रधान-गति (मोक्ष) को सुनकर—

९८—वियाणिया दुक्खविवद्धण धण
ममत्तबध च महब्भयावह ।
सुहावह धम्मधुर अणुत्तरं
धारेह निव्वाणगुणावहं[2] मह ॥
—त्ति बेमि ॥

विज्ञाय दुःख-विवर्धनं धनं
ममत्व-बन्ध च महाभयावहम् ।
सुखावहा धर्म-धुरामनुत्तरा
धारय निर्वाण-गुणावहां महतीम्॥
—इति ब्रवीमि ।

६८—धन को दु ख वढानेवाला और ममता के वन्धन को महान् भयकर जानकर सुख देने वाली, अनुत्तर निर्वाण के गुणों को प्राप्त कराने वाली, महान् धर्म की धुरा को धारण करो ।"
—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१ चरित्त (अ) ।
२. नेव्वाणु° (अ) ।

विसइमं अज्झयणं :
महानियण्ठिज्जं

विंशति अध्ययन :
महानिर्ग्रन्थीय

आमुख

मगध देश का सम्राट् श्रेणिक एक बार विहार-यात्रा के लिए मण्डितकुक्षि नामक उद्यान में आया। घूम-फिर कर उसने उद्यान की शोभा निहारी। देखते-देखते उसकी आँखें एक ध्यानस्थ मुनि पर जा टिकीं। राजा पास में गया। वन्दना की। मुनि के रूप-लावण्य को देख वह अत्यन्त विस्मित हुआ। उसने पूछा—'मुने! भोग-काल में सन्यास-ग्रहण की बात समझ में नहीं आती। आप तरुण हैं, भोग भोगने योग्य हैं। इस अवस्था में आप मुनि क्यों बने?' मुनि ने कहा—'राजन्! मैं अनाथ हूँ। मेरा कोई भी नाथ नहीं है, त्राण नहीं है। इसीलिए मैं मुनि बना हूँ।' राजा ने मुस्कराते हुए कहा—'शरीर-सम्पदा से आप ऐश्वर्यशाली लगते हैं फिर अनाथ कैसे? कुछ भी हो मैं आपका नाथ बनता हूँ। आप मेरे साथ चलें। सुखपूर्वक भोग भोगें। मुने! मनुष्य-भव बार-बार नहीं मिलता।' मुनि ने कहा—'तुम स्वय अनाथ हो। मेरे नाथ कैसे बन सकोगे?' राजा को यह वाक्य तीर की भाँति चुभा। उसने कहा—'मुने! आप झूठ क्यों बोलते हैं। मैं अपार-सम्पत्ति का स्वामी हूँ। मेरे राज्य में मेरी हर आज्ञा अखण्ड रूप से प्रवर्तित होती है। मेरे पास हजारों हाथी, घोड़े, रथ, सुभट और नौकर-चाकर हैं। सारी सुख-सामग्री उपनीत है। मेरे आश्रय मे हजारों व्यक्ति पलते हैं। ऐसी अवस्था में मैं अनाथ कैसे?' मुनि ने कहा—'तुम अनाथ का अर्थ नहीं जानते और नहीं जानते कि कौन व्यक्ति कैसे सनाथ होता है और कैसे अनाथ?'

मुनि ने आगे कहा—'मैं कौशाम्बी नगरी में रहता था। मेरे पिता अपार धन-राशि के स्वामी थे। हमारा कुल सम्पन्न था। मेरा विवाह उच्च कुल में हुआ था। एक बार मुझे असह्य अक्षि-रोग उत्पन्न हुआ। उसको मिटाने के लिए नानाविध प्रयत्न किए गए। पिता ने अपार धन-राशि का व्यय किया। सभी परिवार वालों ने नानाविध प्रयत्न किए, पर सब व्यर्थ। मेरे सगे-सम्बन्धियों ने मेरी वेदना पर अपार आँसू बहाए। पर मेरी वेदना को वे न बँटा सके। यह थी मेरी अनाथता। यदि इस पीड़ा से मै मुक्त हो जाऊँ तो मैं मुनि बन जाऊँ—इस सकल्प को साथ ले मैं सो गया। जैसे-जैसे रात बीती वैसे-वैसे रोग शान्त होता गया। सूर्योदय होते-होते मैं स्वस्थ हो गया। मैं साधु बना—मैं अपना नाथ बन गया। अपना त्राण मैं स्वय बन गया। त्रस और स्थावर सभी प्राणियों का नाथ बन गया। उन सबको मुझ से त्राण मिल गया। यह है मेरी सनाथता। मैंने आत्मा पर शासन किया—यह है मेरी सनाथता। मैं श्रामण्य का विधिपूर्वक पालना करता हूँ—यह है मेरी सनाथता।'

राजा ने सनाथ और अनाथ का यह अर्थ पहली बार सुना। उसके ज्ञान-चक्षु खुले। वह बोला—"महर्षे! आप ही वास्तव मे सनाथ और सबान्धव है। मैं आपसे धर्म का अनुशासन चाहता हूँ।" (श्लोक ५५)

मुनि ने उसे निर्ग्रन्थ धर्म की दीक्षा दी। वह धर्म में अनुरक्त हो गया।

इस अध्ययन मे अनेक विषय चर्चित हुए हैं—

१—आत्मकर्तृत्व के लिए ३६, ३७ एव ४८ श्लोक मननीय हैं।

२—४४वें श्लोक मे विषयोपपन्न धर्म के परिणामों का दिग्दर्शन है। जैसे पीया हुआ कालकूट विष, अविधि से पकड़ा हुआ शस्त्र और अनियन्त्रित वेताल विनाशकारी होता है, वैसे ही विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

३—द्रव्य-लिंग से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती, इसके लिए ४१ से ५० श्लोक मननीय हैं।

मिलाइए—सुत्त निपात—महावग्ग—पवज्जा सुत्त।

विसइमं अज्झयणं : विंशति अध्ययन
महानियण्ठिज्जं : महानिर्ग्रन्थीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सिद्धाण नमो किच्चा सजयाण च भावओ । अत्थधम्मगइ[1] तच्च अणुसट्ठि सुणेह मे ॥	सिद्धेभ्यो नमः कृत्वा सयतेभ्यश्च भावत॰ । अर्थ-धर्म-गति तथ्याम् अनुशिष्टि शृणुत मे ॥	१—सिद्धों और सयत-आत्माओं को भाव-भरा नमस्कार कर मैं अर्थ (साध्य) और धर्म का ज्ञान कराने वाली तथ्य-पूर्ण अनुशासना का निरूपण करता हूँ। वह मुझसे सुनो ।
२—पभूयरयणो राया सेणिओ मगहाहिवो । विहारजत्त निज्जाओ मण्डिकुच्छिसि चेइए ॥	प्रभूत-रत्नो राजा श्रेणिको मगधाधिपः । विहार-यात्रा निर्यातः मण्डिकुक्षौ चैत्ये ॥	२—प्रचुर रत्नो से सम्पन्न, मगध का अधिपति राजा श्रेणिक मण्डिकुक्षि नामक उद्यान में विहार-यात्रा (क्रीडा-यात्रा) के लिए गया ।
३—नाणादुमलयाइण्ण नाणापक्खिनिसेविय । नाणाकुसुमसछन्न उज्जाण नन्दणोवम ॥	नाना-द्रुम-लताकीर्णं नाना-पक्षि-निषेवितम् । नाना-कुसुम-सछन्नम् उद्यान नन्दनोपमम् ॥	३—वह उद्यान नाना प्रकार के द्रुमों और लताओं से आकीर्ण, नाना प्रकार के पक्षियों से आश्रित, नाना प्रकार के कुसुमों से पूर्णत ढका हुआ और नन्दनवन के समान था ।
४—तत्थ सो पासई साहु सजय सुसमाहिय । निसन्न रुक्खमूलम्मि सुकुमाल सुहोइय ॥	तत्र स पश्यति साधु सयत सुसमाहितम् । निषण्ण वृक्ष-मूले सुकुमार सुखोचितम् ॥	४—वहाँ राजा ने सयत, मानसिक समाधि से सम्पन्न, वृक्ष के पास बैठे हुए सुकुमार और सुख भोगने योग्य साधु को देखा ।
५—तस्स रूव तु पासित्ता राइणो तम्मि संजए । अच्चन्तपरमो आसी अउलो रूवविम्हओ ॥	तस्य रूप तु दृष्ट्वा राजा तस्मिन् सयते । अत्यन्त-परम आसीत् अतुलो रूप-विस्मयः ॥	५—उसके रूप को देखकर राजा उस सयत के प्रति आकृष्ट हुआ और उसे अत्यन्त उत्कृष्ट और अतुलनीय विस्मय हुआ ।

१. ० गत (अ), ० वइ (बृ० पा०) ।

६—अहो! वण्णो अहो! रूवं
अहो! अज्जस्स सोमया।
अहो! खन्ती अहो! मुत्ती
अहो! भोगे असंगया॥

अहो! वर्णो अहो! रूपम्
अहो! आर्यस्य सोमता।
अहो! क्षान्तिरहो! मुक्तिः
अहो! भोगेऽसङ्गता॥

६—आश्चर्य! कैसा वर्ण और कैसा रूप है। आश्चर्य! आर्य की कैसी सौम्यता है। आश्चर्य! कैसी क्षमा और निर्लोभता है। आश्चर्य! भोगों में कैसी अनासक्ति है।

७—तस्स पाए उ वन्दित्ता
काऊण य पयाहिणं।
नाइदूरमणासन्ने[1]
पंजली पडिपुच्छई॥

तस्य पादौ तु वन्दित्वा,
कृत्वा च प्रदक्षिणाम्।
नातिदूरमनासन्नः
प्राञ्जलिः प्रतिपृच्छति॥

७—उसके चरणों में नमस्कार और प्रदक्षिणा कर न अतिदूर न अतिनिकट रह राजा ने हाथ जोड़कर पूछा।

८—तरुणो सि अज्जो! पव्वइओ
भोगकालम्मि संजया!।
उवट्ठिओ[2] सि सामण्णे
एयमट्ठं सुणेमि ता॥

तरुणोऽस्यार्य! प्रव्रजितः
भोग-काले संयत!।
उपस्थितोऽसि श्रामण्ये
एतमर्थं श्रृणोमि तावत्॥

८—"आर्य! अभी तुम तरुण हो। संयत! तुम भोग-काल में प्रव्रजित हुए हो, श्रामण्य के लिए उपस्थित हुए हो, इसका क्या प्रयोजन है? मैं सुनना चाहता हूँ।"

९—अणाहो मि महाराय!
नाहो मज्झ न विज्जई।
अणुकम्पगं सुहिं वावि
'कंचि नाभिसमेमऽहं'[3]॥

अनाथोऽस्मि महाराज!
नाथो मम न विद्यते।
अनुकम्पकं सुहृदं वापि
कंचिन्नाभिसमेम्यहम्॥

९—"महाराज! मैं अनाथ हूँ, मेरा कोई नाथ नहीं है। मुझ पर अनुकम्पा करने वाला या मित्र कोई नहीं पा रहा हूँ।"

१०—तओ सो पहसिओ राया
सेणिओ मगहाहिवो।
एवं ते इड्ढिमन्तस्स
कहं नाहो न विज्जई?॥

ततः स प्रहसितो राजा
श्रेणिको मगधाधिपः।
एवं ते ऋद्धिमतः
कथं नाथो न विद्यते?॥

१०—यह सुनकर मगधाधिपति राजा श्रेणिक जोर से हँसा और उसने कहा—"तुम ऐसे सहज सौभाग्यशाली हो फिर कोई तुम्हारा नाथ कैसे नहीं होगा?

१. निसण्णो नाइदूरमि (आ)।
२. उवहितो (बृ० पा०)।
३. कचीनाहि तुमे मह (बृ०, छ०); कची नाभिसमेमऽह (बृ० पा०)।

११—होमि नाहो भयन्ताण !
भोगे भुजाहि सजया ! ।
मित्तनाईपरिवुडो
माणुस्स खु सुदुल्लह ॥

भवामि नाथो भदन्तानां !
भोगान् भुङ्क्ष्व संयत ! ।
मित्र-ज्ञाति-परिवृत
मानुष्यं खलु दुर्लभम् ॥

११—"हे भदन्त ! मैं तुम्हारा नाथ होता हूँ। सयत ! मित्र और ज्ञातियों मे परिवृत होकर विपयों का भोग करो । यह मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है ।"

१२—अप्पणा वि अणाहो सि
सेणिया ! मगहाहिवा ! ।
अप्पणा अणाहो सन्तो
कह[1] नाहो भविस्ससि ? ॥

आत्मनाप्यनाथोऽसि
श्रेणिक ! मगधाधिप ! ।
आत्मनाऽनाथ सन्
कथ नाथो भविष्यसि ? ॥

१२—"हे मगध के अधिपति श्रेणिक ! तुम स्वय अनाथ हो । स्वय अनाथ होते हुए भी तुम दूसरों के नाथ कैसे होओगे ?"

१३—एव वुत्तो नरिन्दो सो
सुसभन्तो सुविम्हिओ ।
वयण अस्सुयपुव्व
साहुणा विम्हयन्निओ[2] ॥

एवमुक्तो नरेन्द्र' स
सुसम्भ्रान्त सुविस्मितः ।
वचनमश्रुतपूर्वं
साधुना विस्मयान्वितः ॥

१३—श्रेणिक पहले ही विस्मयान्वित बना हुआ था और साधु के द्वारा—तू अनाथ है—ऐसा अश्रुतपूर्व-वचन कहे जाने पर वह अत्यन्त व्याकुल और अत्यन्त आश्चर्यमग्न हो गया ।

१४—अस्सा हत्थी मणुस्सा मे
पुर अन्तेउर च मे ।
भुजामि माणुसे भोगे[3]
आणाइस्सरिय च मे ॥

अश्वा हस्तिनो मनुष्या मे
पुरमन्तःपुरं च मे ।
भुनज्मि मानुषान् भोगान्
आज्ञैश्वर्यं च मे ॥

१४—"मेरे पास हाथी और घोडे है, नगर और अन्त पुर हैं, मैं मनुष्य सम्बन्वी भोगों को भोग रहा हूँ, आज्ञा और ऐश्वर्य मेरे पास हैं ।

१५—एरिसे सम्पयग्गम्मि[4]
सव्वकामसमप्पिए ।
कह अणाहो भवइ ?
'मा हु भन्ते ! मुस वए'[5] ॥

ईदृशे सम्पदग्रे
समर्पित-सर्वकामे ।
कथमनाथो भवामि ?
मा खलु भदन्त ! मृषावादीः ॥

१५—"जिसने मुझे सब काम-भोग समर्पित किए हैं वैसी उत्कृष्ट सम्पदा होते हुए मैं अनाथ कैसे हूँ ? भदत ! असत्य मत वोलो ।"

१६—न तुम जाणे अणाहस्स
अत्थ 'पोत्थ व'[6] पत्थिवा ! ।
जहा अणाहो भवई
सणाहो वा नराहिवा ? ॥

न त्व जानीषेऽनाथस्य
अर्थं प्रोत्या वा पार्थिव ! ।
यथाऽनाथो भवति
सनाथो नराधिप ? ॥

१६—"हे पार्थिव ! तू अनाथ शब्द का अर्थ और उसकी उत्पत्ति—मैंने तुझे अनाथ क्यों कहा—इसे नहीं जानता, इसलिए जैसे अनाथ या सनाथ होता है, वैसे नहीं जानता ।

---

१ कस्स (आ) ।
२ विम्हियन्निओ (अ, उ, ऋ०) ।
३ लोए (अ) ।
४. सपयायम्मि (बृ० पा०) ।
५. भंते ! माहु मुस वए (बृ० पा०) ।
६ उत्थ व (बृ०); पोत्थ च (अ), पोत्थं व (बृ० पा०) ।

१७—सुणेह मे महाराय !
अव्वक्खित्तेण[1] चेयसा ।
जहा अणाहो भवई
जहा मे य पवत्तियं ॥

श्रृणु मे महाराज !
अव्याक्षिप्तेन चेतसा ।
यथाऽनाथो भवति
यथा मया च प्रवर्त्तितम् ॥

१७—"महाराज ! तू अव्याकुल चित्त से सुन—जैसे कोई पुरुष अनाथ होता है और जिस रूप में मैंने उसका प्रयोग किया है ।

१८—कोसम्बी नाम नयरी
पुराणपुरभेयणी[2] ।
तत्थ आसी पिया मज्झ
पभूयधणसचओ ॥

कौशाम्बी नाम नगरी
पुराणपुर-भेदिनी ।
तत्रासीन् पिता मम
प्रभूत-धन-सचयः ॥

१८—"प्राचीन नगरों मे असाधारण सुन्दर कौशाम्बी नाम की नगरी है। वहाँ मेरे पिता रहते हैं । उनके पास प्रचुर धन का सचय है ।

१९—पढमे वए महाराय !
अउला मे अच्छिवेयणा ।
अहोत्था विउलो[3] दाहो
'सव्वगेसु य'[4] पत्थिवा ! ॥

प्रथमे वयसि महाराजः !
अतुला मेऽक्षि-वेदना ।
अभूद् विपुलो दाह.
सर्वाङ्गेषु च पार्थिव ! ॥

१९—"महाराज ! प्रथम-वय (यौवन) मे मेरी आँखो में असाधारण वेदना उत्पन्न हुई । पार्थिव ! मेरा समूचा शरीर पीडा देने वाली जलन से जल उठा ।

२०—सत्थ जहा परमतिक्ख
सरीरविवरन्तरे[5] ।
पवेसेज्ज[6] अरी कुद्धो
एवं मे अच्छिवेयणा ॥

शस्त्र यथा परम-तीक्ष्णं
शरीर-विवरान्तरे ।
प्रवेशयेदरि क्रुद्धः
एव मेऽक्षि-वेदना ॥

२०—"जैसे कुपित बना हुआ शत्रु शरीर के छेदों में अत्यन्त तीखे शस्त्रो को घुसेडता, है, उसी प्रकार मेरी आँखों में वेदना हो रही थी ।

२१—तियं मे अन्तरिच्छ च
उत्तमग च पीडई ।
इन्दासणिसमा घोरा
वेयणा परमदारुणा ॥

त्रिकं मे अन्तरेच्छ च
उत्तमाग च पीडयति ।
इन्द्राशनि-समा घोरा
वेदना परम-दारुणा ॥

२१—"मेरे कटि, हृदय और मस्तक में परम दारुण वेदना हो रही थी, जैसे इन्द्र का वज्र लगने से घोर वेदना होती है ।

१ अविक्खित्तेण (ऋ०) ।
२. नगराण पुडभेयण (बृ० पा०) ।
३ तिउलो (बृ०), विउलो (बृ० पा०) ।
४ सव्वगत्तेछु (बृ०), सव्वगेछु य (बृ० पा०) ।
५ सरीर बीय अतरे (बृ० पा०) ।
६. आविलिज्ज (उ, बृ० पा०, ऋ०) ।

२२—उवट्ठिया मे आयरिया
विज्जामन्ततिगिच्छगा[1] ।
'अबीया सत्थकुसला'[2]
मन्तमूलविसारया ॥

उपस्थिता मे आचार्या
विद्या-मन्त्र-चिकित्सकाः ।
अद्वितीयाः शास्त्र-कुशलाः
मंत्र-मूल-विशारदाः ॥

२२—"विद्या और मन्त्र के द्वारा चिकित्सा करने वाले मन्त्र और औषधियों के विशारद अद्वितीय शास्त्र-कुशल प्राणाचार्य मेरी चिकित्सा करने के लिए उपस्थित हुए ।

२३—ते मे तिगिच्छं कुव्वन्ति
चाउप्पायं जहाहियं ।
न य दुक्खा विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

ते मे चिकित्सां कुर्वन्ति
चतुष्पादां यथा हितम् ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति
एषा ममाऽनाथता ॥

२३—"उन्होंने जैसे मेरा हित हो वैसे चतुष्पाद-चिकित्सा (वैद्य, रोगी, औषध और परिचारक) की, किन्तु वे मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२४—पिया मे सव्वसारं पि
दिज्जाहि मम कारणा ।
न य दुक्खा[3] विमोएइ[4]
एसा मज्झ अणाहया ॥

पिता मे सर्वसारमपि
दद्यान्मम कारणात् ।
न च दुःखाद् विमोचयति
एषा ममाऽनाथता ॥

२४—"मेरे पिता ने मेरे लिए उन प्राणाचार्यों को बहुमूल्य वस्तुएँ दीं, किन्तु वे (पिता) मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

२५—माया य[5] मे महाराय !
पुत्तसोगदुहट्टिया[6] ।
न य दुक्खा[7] विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया ॥

माता च मे महाराज !
पुत्र-शोक-दुःखार्ता ।
न च दुःखाद् विमोचयति
एषा ममाऽनाथता ॥

२५—"महाराज ! मेरी माता पुत्र-शोक के दुःख से पीड़ित होती हुई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

२६—भायरो[8] मे महाराय !
सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा[9] विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

भ्रातरो मे महाराज !
स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति
एषा ममाऽनाथता ॥

२६—"महाराज ! मेरे बड़े-छोटे सगे भाई भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सके—यह मेरी अनाथता है ।

---

१. ० विगिच्छगा (ऋ०) ।
२. नाना सत्थत्थ कुसला (वृ० पा०), अधीया……(अ) ।
३. दुक्खाओ (ऋ०), दुक्खाउ (उ) ।
४ विमोयति (वृ०) । एवं सर्वत्र ।
५ वि (उ) ।
६ ० दुहट्टिया (वृ० पा०) ।
७ दुक्खाओ (ऋ० , दुक्खाउ (उ) ।
८ भाया (उ) ।
९ दुक्खाओ (ऋ०), दुक्खाउ (उ) ।

२७—भइणीओ मे महाराय !
सगा जेट्ठकणिट्ठगा ।
न य दुक्खा[1] विमोयन्ति
एसा मज्झ अणाहया ॥

भगिन्यो मे महाराज !
स्वका ज्येष्ठ-कनिष्ठकाः ।
न च दुःखाद् विमोचयन्ति
एषा ममाऽनाथता ॥

२७—"महाराज ! मेरी बड़ी-छोटी सगी बहनें भी मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

२८—भारिया मे महाराय !
'अणुरत्ता अणुव्वया'[2] ।
असुपुण्णेहिं नयणेहिं
उरं मे परिसिंचई ॥

भार्या मे महाराज !
अनुरक्ताऽनुव्रता ।
अश्रु-पूर्णाभ्यां नयनाभ्याम्
उरो मे परिषिंचति ॥

२८—"महाराज ! मुझमें अनुरक्त और पतिव्रता मेरी पत्नी आँसू भरे नयनों से मेरी छाती को भिगाती रही ।

२९—अन्नं पाणं च ण्हाणं च
गन्धमल्लविलेवणं ।
'मए नायमणायं वा'[3]
सा बाला नोवभुंजई ॥

अन्नं पानं च स्नानं च
गन्ध-माल्य-विलेपनम् ।
मया ज्ञातमज्ञातं वा
सा बाला नोपभुङ्क्ते ॥

२९—"वह बाला मेरे प्रत्यक्ष या परोक्ष में अन्न, पान, स्नान, गन्ध, माल्य और विलेपन का भोग नहीं कर रही थी ।

३०—खणं पि मे महाराय !
पासाओ वि[4] न फिट्टई ।
न य दुक्खा विमोएइ
एसा मज्झ अणाहया ॥

क्षणमपि मे महाराज !
पार्श्वतोपि न भ्रश्यति ।
न च दुःखाद् विमोचयति
एषा ममाऽनाथता ॥

३०—"महाराज ! वह क्षण भर के लिए भी मुझसे दूर नहीं हो रही थी, किन्तु वह मुझे दुःख से मुक्त नहीं कर सकी—यह मेरी अनाथता है ।

३१—तओ हं एवमाहंसु
दुक्खमा हु पुणो पुणो ।
वेयणा अणुभविउं जे
संसारम्मि अणन्तए ॥

ततोऽहमेवमवोचम्
दुःक्षमा खलु पुनः पुनः ।
वेदनाऽनुभवितुं 'जे'
संसारेऽनन्तके ॥

३१—"तब मैंने इस प्रकार कहा—इस अनन्त संसार में बार-बार दुस्सह्य वेदना का अनुभव करना होता है ।

३२—सइं[5] च जइ मुच्चेज्जा
वेयणा विउला इओ ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वए[6] अणगारियं ॥

सकृच्च यदि मुच्ये
वेदनया विपुलया इतः ।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भः
प्रव्रजेयमनगारिताम् ॥

३२—"इस विपुल वेदना से यदि मैं एक बार ही मुक्त हो जाऊँ तो क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगारवृत्ति को स्वीकार कर लूँ ।

---

१ दुक्खाओ (ऋ०), दुक्खाउ (उ) ।
२ अणुरत्तमणुव्वया (उ, ऋ०), अणुत्तरमणुव्वया (बृ० पा०) ।
३ तारिसं रोगमावण्णे (बृ० पा०) ।
४ य (अ, आ, उ) ।
५ सयं (उ, वृ०), सइयं (अ) ।
६. पव्वइए (उ) ।

३३—एव च चिन्तइत्ताण
पसुत्तो मि नराहिवा ।
परियट्टन्तीए राईए
वेयणा मे खय गया ॥

एव च चिन्तयित्वा
प्रसुप्तोऽस्मि नराधिप !
परिवर्तमानायां रात्रौ
वेदना मे क्षयं गता ॥

३३—"हे नराधिप ! ऐसा चिन्तन कर मैं सो गया । बीतती हुई रात्रि के साथ-साथ मेरी वेदना भी क्षीण हो गई ।

३४—तओ कल्ले पभायम्मि
आपुच्छित्ताण बन्धवे ।
खन्तो दन्तो निरारम्भो
पव्वइओऽणगारियं ॥

तत कल्य प्रभाते
आपृच्छ्य बान्धवान् ।
क्षान्तो दान्तो निरारम्भ.
प्रव्रजितोऽनगारिताम् ॥

३४—"उसके पश्चात् प्रभातकाल में मैं स्वस्थ हो गया । मैं अपने बन्धु-जनों को पूछ, क्षान्त, दान्त और निरारम्भ होकर अनगार-वृत्ति में आ गया ।

३५—ततो ह नाहो जाओ
अप्पणो य परस्स य ।
सव्वेसिं चेव भूयाण
तसाण थावराण य ॥

ततोऽह नाथो जातः
आत्मनश्च परस्य च ।
सर्वेषा चैव भूताना
त्रसाना स्थावराणा च ॥

३५—"तब मैं अपना और दूसरो का सभी—त्रस और स्थावर जीवों का नाथ हो गया ।

३६—अप्पा नई वेयरणी
अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू
अप्पा मे नन्दण वण ॥

आत्मा नदी वैतरणी
आत्मा मे कूट-शाल्मली ।
आत्मा काम-दुघा धेनुः
आत्मा मे नन्दन वनम् ॥

३६—"मेरी आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही काम-दुघा-धेनु है और आत्मा ही नन्दन-वन है ।

३७—अप्पा कत्ता विकत्ता य
दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्त च
दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ ॥

आत्मा कर्त्ता विकर्त्ता च
दुःखाना च सुखाना च ।
आत्मा मित्रममित्र च
दुष्प्रस्थितः सुप्रस्थितः ॥

३७—"आत्मा ही दुःख-सुख की करने वाली और उनका क्षय करने वाली है । सत्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु है ।

३८—इमा हु अन्ना वि अणाहया निवा !
तमेगचित्तो निहुओ सुणेहि ।
नियण्ठधम्म लहियाण वी जहा
सीयन्ति एगे बहुकायरा नरा ॥

इय खलु अन्याप्यनाथता नृप !
तामेकचित्तो निभृतः शृणु ।
निर्ग्रन्थ-धर्मं लब्ध्वाऽपि यथा
सीदन्त्येके बहुकातरा नराः ॥

३८—"हे राजन् ! यह एक दूसरी अनाथता ही है । एकाग्र-चित्त, स्थिर-शान्त होकर तुम उसे मुझसे सुनो । जैसे कई एक व्यक्ति बहुत कायर होते हैं । वे निर्ग्रन्थ-धर्म को पाकर भी कष्टानुभव करते हैं—निर्ग्रन्थाचार का पालन करने में शिथिल हो जाते हैं ।

३९—जो पव्वइत्ताण महव्वयाइ
सम्मं नो फासयई[1] पमाया।
अनिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे
न मूलओ छिन्दइ बन्धण से॥

य प्रव्रज्य महाव्रतानि
सम्यक् च नो स्पृशति प्रमादात्।
अनिग्रहात्मा च रसेषु गृद्धः
न मूलतः छिनत्ति बन्धन सः॥

३९—"जो महाव्रतो को स्वीकार कर भलीभाँति उनका पालन नही करता, अपनी आत्मा का निग्रह नही करता, रसों में मूर्च्छित होता है, वह बन्धन का मूलोच्छेद नही कर पाता।

४०—आउत्तया जस्स न अत्थि काइ
इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेवदुगु छणाए
न वीरजाय[2] अणुजाइ मग्ग॥

आयुक्तता यस्य नास्ति कापि
ईर्यायां भाषाया तथैषणायाम्।
आदान-निक्षेप-जुगुप्सनायां
न वीरयातमनुयाति मार्गम्॥

४०—"ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उच्चार-प्रस्रवण की परिस्थापना में जो सावधानी नही वर्तता, वह उस मार्ग का अनुगमन नही कर सकता जिस पर वीर-पुरुष चले हैं।

४१—चिर पि से मुण्डरुई भवित्ता
अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे।
चिर पि अप्पाण किलेसइत्ता
न पारए होइ हु सपराए॥

चिरमपि स मुण्ड-रुचिर्भूत्वा
अस्थिर-व्रतस्तपो-नियमेभ्यो भ्रष्टः।
चिरमप्यात्मानं क्लेशयित्वा
न पारगो भवति खलु संपरायस्य॥

४१—"जो व्रतो में स्थिर नहीं है, तप और नियमो से भ्रष्ट है, वह चिरकाल से मुण्डन में रुचि रखकर भी और चिरकाल तक आत्मा को कष्ट देकर भी ससार का पार नहीं पा सकता।

४२—'पोल्ले व'[3] मुट्ठी जह से असारे
अयन्तिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे
अमहग्घए होइ य जाणएसु॥

'पोल्ला' एव मुष्टिर्यथा सोऽसारः,
अयन्त्रितः कूट-कार्षापणो वा।
राढा-मणिर्वैडूर्य-प्रकाशः
अमहार्घको भवति च ज्ञेषु॥

४२—"जो पोली मुट्ठी की भाँति असार है, खोटे सिक्के की भाँति नियन्त्रण-रहित है, काचमणि होते हुए भी वैडूर्य जैसे चमकता है, वह जानकार व्यक्तियों की दृष्टि में मूल्य-हीन हो जाता है।

४३—कुसीललिंग इह धारइत्ता
इसिज्झय जीविय वूहइत्ता।
असजए संजयलप्पमाणे[4]
विणिघायमागच्छइ से चिर पि॥

कुशील-लिंगमिह धारयित्वा
ऋषि-ध्वज जीविकां बृंहयित्वा।
असयतः संयतं लपन्
विनिघातमागच्छति स चिरमपि॥

४३—"जो कुशील-वेश और ऋषि-ध्वज (रजोहरण आदि मुनि-चिह्नो) को धारण कर उनके द्वारा जीविका चलाता है, असयत होते हुए भी अपने आपको सयत कहता है, वह चिरकाल तक विनाश को प्राप्त होता है।

---

१ फासइ (उ, ऋ०)।
२. धीरजाय (छ०)।
३ पोल्लार (बृ० पा०)।
४ ०लाभमाणे (बृ० पा०)।

४४—'विसं तु पीय'[1] जह कालकूड
हणाइ सत्थ जह कुग्गहीयं ।
'एसे व'[2] धम्मो विसओववन्नो
हणाइ वेयाल इवाविवन्नो[3] ॥

विष तु पीत यथा कालकूट
हन्ति शस्त्र यथा कुगृहीतम् ।
एष एवं धर्मो विषयोपपन्नः
हन्ति वेताल इवाविपन्नः ॥

४४—"पिया हुआ काल-कूट विष, अविधि से पकडा हुआ शस्त्र और नियन्त्रण में नहीं लाया हुआ वेताल जैसे विनाशकारी होता है, वैसे ही यह विषयों से युक्त धर्म भी विनाशकारी होता है।

४५—जे लक्खण सुविण पउजमाणे
निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी
न गच्छई सरण तम्मि काले ॥

यो लक्षणं स्वप्न प्रयुञ्जानः
निमित्त-कुतूहल-सम्प्रगाढः ।
कुहेट-विद्याश्रवद्वार-जीवी
न गच्छति शरणं तस्मिन् काले ॥

४५—"जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र का प्रयोग करता है, निमित्त शास्त्र और कौतुक कार्य में अत्यन्त आसक्त है, मिथ्या आश्चर्य उत्पन्न करने वाले विद्यात्मक आश्रव द्वार से जीविका चलाता है, वह कर्म का फल भुगतने के समय किसी की शरण को प्राप्त नहीं होता।

४६—तमंतमेणेव उ से असीले
सया दुही विप्परियासुवेइ[4] ।
संधावई नरगतिरिक्खजोणिं
मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे ॥

तमस्तमसैव तु स अशीलः
सदा दुःखी विपर्यासमुपैति ।
सन्धावति नरक-तिर्यग्योनीः
मौनं विराध्याऽसाधु-रूपः ॥

४६—"वह शील-रहित साधु अपने तीव्र अज्ञान से सतत दुःखी होकर विपरीत दृष्टि-वाला हो जाता है। वह असाधु प्रकृति वाला मुनि धर्म की विराधना कर नरक और तिर्यग्-योनि में आता-जाता रहता है।

४७—उद्देसियं कीयगडं नियागं
न मुंचई किंचि अणेसणिज्जं ।
अग्गी विवा सव्वभक्खी भवित्ता
इओ चुओ गच्छइ कट्टु पावं ॥

औद्देशिकं क्रीत-कृतं नित्याग्रं
न मुञ्चति किञ्चिदनेषणीयम् ।
अग्निरिव सर्वभक्षी भूत्वा
इतश्च्युतो (दुर्गतिं) गच्छति कृत्वा पापम् ॥

४७—"जो औद्देशिक, क्रीतकृत, नित्याग्र और कुछ भी अनेषणीय को नहीं छोड़ता, वह अग्नि की तरह सर्व-भक्षी होकर, पाप-कर्म का अर्जन करता है और यहाँ से मरकर दुर्गति में जाता है।

४८—न तं अरी कंठछेत्ता करेइ
जं से करे अप्पणिया दुरप्पा[5] ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

न तमरिः कण्ठच्छेत्ता करोति
यं तस्य करोत्यात्मीया दुरात्मता ।
स ज्ञास्यति मृत्यु-मुखं तु प्राप्तः
पश्चादनुतापेन दया-विहीनः ॥

४८—"अपनी दुष्प्रवृत्ति जो अनर्थ उत्पन्न करती है वह अनर्थ गला काटने वाला शत्रु भी नहीं करता। वह दुष्प्रवृत्ति करने वाला दया-विहीन मनुष्य मृत्यु के मुख में पहुँचने के समय पश्चात्ताप के साथ इस तथ्य को जान पाएगा।

१. विस पिवित्ता (अ, आ), विस पिबन्ती (बृ०)।
२. एसो वि (अ), एसो व (उ)।
३. इवाविवधणो (बृ० पा०)।
४. °समेइ (अ)।
५. दुरप्पया (बृ०)।

४९—निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स
जे उत्तमट्ठ विवज्जासमेई।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए
दुहओ वि से झिज्जइ तत्थ लोए॥

निरर्थिका नाग्न्य-रुचिस्तु तस्य
य उत्तमार्थे विपर्यासमेति।
अयमपि तस्य नास्ति परोऽपिलोक
द्विधातोपि स क्षीयते तत्र लोके॥

४९—"जो अन्तिम समय की आराधना में भी विपरीत बुद्धि रखता है—दुष्प्रवृत्ति को सत् प्रवृत्ति मानता है उसकी सयम-रुचि भी निरर्थक है। उसके लिए यह लोक भी नही है, परलोक भी नही है। वह दोनों लोको से भ्रष्ट होकर दोनो लोको के प्रयोजन की पूर्ति न कर सकने के कारण चिन्ता से छीज जाता है।

५०—एमेवऽहाछन्दकुसीलरूवे
मग्ग विराहेत्तु जिणुत्तमाण।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा
निरट्ठसोया परियावमेइ॥

एवमेव यथाच्छन्दकुशीलरूपः
मार्गं विराध्य जिनोत्तमानाम्।
कुररी इव भोग-रसानुगृद्धा
निरर्थ-शोका परितापमेति॥

५०—"इसी प्रकार यथाछन्द (स्वच्छन्द भाव से विहार करने वाले) और कुशील साधु जिनोत्तम भगवान् के मार्ग की विराधना कर परिताप को प्राप्त होते है, जैसे—भोग-रस में आसक्त होकर अर्थ-हीन चिन्ता करने वाली गीध पक्षिणी।

५१—सोच्चाण मेहावि सुभासिय इम
अणुसासण नाणगुणोववेय।
मग्ग कुसीलाण जहाय सव्व
महानियण्ठाण वए पहेण॥

श्रुत्वा मेधावी सुभाषितमिद
अनुशासन ज्ञान-गुणोपेतम्।
मार्गं कुशीलानां हित्वा सर्वं
महानिर्ग्रन्थाना व्रजेत् पथा॥

५१—"मेधावी पुरुष इस सुभाषित, ज्ञान-गुण से युक्त अनुशासन को सुनकर कुशील व्यक्तियो के पूर्ण मार्ग को छोडकर महा-निर्ग्रन्थ के मार्ग से चले।

५२—चरित्तमायारगुणन्निए[1] तओ
अणुत्तर सजम पालियाण।
निरासवे सखवियाण कम्म
उवेइ ठाण विउलुत्तम धुव॥

चरित्राचारगुणान्वितस्ततः
अनुत्तरं सयम पालयित्वा।
निरास्रवः सक्षपय्य कर्म
उपैति स्थान विपुलोत्तमं ध्रुवम्॥

५२—"फिर चरित्र के आचरण और ज्ञान आदि गुणो से सम्पन्न निर्ग्रन्थ अनुत्तर सयम का पालन कर, कर्मों का क्षय कर निरास्रव होता है और वह विपुलोत्तम शाश्वत-मोक्ष में चला जाता है।"

५३—एवुग्गदन्ते वि महातवोधणे
महामुणी महापइन्ने महायसे।
महानियण्ठिज्जमिण महासुय
से काहए महया वित्थरेण॥

एवमुग्रदान्तोपि महातपोधन·
महामुनिर्महाप्रतिज्ञो महायशा।
महानिर्ग्रन्थीयमिदं महाश्रुत
सोऽचीकथत् महता विस्तरेण॥

५३—इस प्रकार उग्र-दान्त, महा-तपोधन, महा-प्रतिज्ञ, महान् यशस्वी उस महामुनि ने इस महाश्रुत, महानिर्ग्रन्थीय अध्ययन को महान् विस्तार के साथ कहा।

५४—तुट्ठो य सेणिओ राया
इणमुदाहु कयजली।
अणाहत्त जहाभूय
सुट्ठु मे उवदसिय॥

तुष्टश्च श्रेणिको राजा
इदमुदाह कृताञ्जलिः।
अनाथत्वं यथाभूत
सुष्ठु मे उपदर्शितम्॥

५४—श्रेणिक राजा तुष्ट हुआ और दोनों हाथ जोडकर इस प्रकार बोला—"भगवन्! तुमने अनाथ का यथार्थ स्वरूप मुझे समझाया है।

१ ०गुणत्तिए (अ)।

५५—तुज्झ सुलद्धं खु मणुस्सजम्मं
लाभा सुलद्धा य तुमे महेसी ।
तुब्भे सणाहा य सबन्धवा य
जं भे ठिया मग्गे जिणुत्तमाणं ॥

तव सुलब्धं खलु मनुष्य-जन्म
लाभाः सुलब्धाश्च त्वया महर्षे ! ।
यूयं सनाथाश्च सबान्धवाश्च
यद्भवन्तः स्थिता मार्गे
जिनोत्तमानाम् ॥

५५—"हे महर्षि ! तुम्हारा मनुष्य-जन्म सुलब्ध है—सफल है। तुम्हें जो उपलब्धियाँ हुई है वे भी सफल हैं। तुम सनाथ हो, सबान्धव हो, क्योंकि तुम जिनोत्तम (तीर्थंकर) के मार्ग में अवस्थित हो।

५६—तं सि नाहो अणाहाणं
सव्वभूयाण संजया ! ।
खामेमि ते महाभाग !
इच्छामि अणुसासिउं ॥

त्वमसि नाथोऽनाथानां
सर्वभूतानां संयत ! ।
क्षमयामि त्वां महाभाग !
इच्छाम्यनुशासयितुम् ॥

५६—"तुम अनाथों के नाथ हो, तुम सब जीवों के नाथ हो। हे महाभाग ! मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ और तुमसे मैं अनुशासित होना चाहता हूँ।

५७—पुच्छिऊण मए तुब्भं
झाणविग्घो उ[1] जो कओ ।
निमन्तिओ[2] य भोगेहिं
तं सव्वं मरिसेहि मे ॥

पृष्ट्वा मया तव
ध्यान-विघ्नस्तु यः कृतः ।
निमन्त्रितश्च भोगैः
तत् सर्वं मर्षय मे ॥

५७—"मैंने तुमसे प्रश्न कर जो ध्यान में विघ्न किया और भोगों के लिए निमन्त्रण दिया उन सबको तुम सहन करो—क्षमा करो।"

५८—एवं थुणित्ताण स रायसीहो
अणगारसीहं परमाइ भत्तिए ।
'सओरोहो य सपरियणो य'[3]
धम्माणुरत्तो विमलेण चेयसा ॥

एवं स्तुत्वा स राज-सिंहः
अनागार-सिंहं परमया भक्त्या ।
सावरोधश्च सपरिजनश्च
धर्मानुरक्तो विमलेन चेतसा ॥

५८—इस प्रकार राजसिंह—श्रेणिक अनगार-सिंह की परम भक्ति से स्तुति कर अपने विमल चित्त से रनिवास, परिजन और बन्धु-जन सहित धर्म में अनुरक्त हो गया।

५९—ऊससियरोमकूवो
काऊण य पयाहिणं ।
अभिवन्दिऊण सिरसा
अइयाओ[4] नराहिवो ॥

उच्छ्वसित-रोमकूपः
कृत्वा च प्रदक्षिणाम् ।
अभिवन्द्य शिरसा
अतियातो नराधिपः ॥

५९—राजा के रोम कूप उच्छ्वसित हो रहे थे। वह मुनि की प्रदक्षिणा कर, सिर झुका, वन्दना कर चला गया।

६०—इयरो वि गुणसमिद्धो
तिगुत्तिगुत्तो तिदण्डविरओ य ।
विहग इव विप्पमुक्को
विहरइ वसुहं विगयमोहो ॥
—त्ति बेमि ॥

इतरोऽपि गुण-समृद्धः
त्रिगुप्ति-गुप्तस्त्रिदण्ड-विरतश्च ।
विहग इव विप्रमुक्तः
विहरति वसुधां विगत-मोहः ॥

—इति ब्रवीमि ।

६०—"वह गुण से समृद्ध, त्रिगुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों से विरत और निर्मोह मुनि भी विहग की भाँति स्वतन्त्रभाव से भूतल पर विहार करने लगे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१. अ (ऋ०)।
२. निमंतिया (अ, आ, इ, उ)।
३. सओरोहो सपरियणो सबंधवो (अ, आ, इ)।
४. आइयो (उ)।

एगविसइमं अज्झयणं :
समुद्दपालीयं

एकविंश अध्ययन :
समुद्रपालीय

आमुख

इस अध्ययन का प्रतिपादन 'समुद्दपाल'—'समुद्रपाल' के माध्यम से हुआ है, इसलिए इसका नाम 'समुद्दपालीय'—'समुद्रपालीय' रखा गया है।

'चम्पा' नाम की नगरी थी। वहाँ पालित नाम का सार्थवाह रहता था। वह श्रमणोपासक था। निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे उसे श्रद्धा थी। दूर-दूर तक उसका व्यापार फैला हुआ था। एक बार वह सामुद्रिक यात्रा के लिए 'यान-पात्र' पर आरूढ हो घर से निकला। वह अपने साथ गणिम—सुपारी आदि तथा धरिम—स्वर्ण आदि ले चला। जाते-जाते समुद्र के तट पर 'पिहुण्ड' नगर मे रुका। अपना माल बेंचने के लिए वह वहाँ कई दिनों तक रहा। नगर-वासियों से उसका परिचय बढ़ा और एक सेठ ने उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।

कुछ समय वहाँ रह कर वह स्वदेश को चला। उसकी नवोढा गर्भवती हुई। समुद्र-यात्रा के बीच उसने एक सुन्दर और लक्षणोपेत पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम 'समुद्रपाल' रखा गया। वैभव से उसका लालन-पालन हुआ। वह ७२ कलाओं मे प्रवीण हुआ। जब वह युवा बना तब ६४ कलाओं में पारगत 'रूपिणी' नामक कन्या के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। वह उसके साथ देव-तुल्य भोगों का उपभोग करता हुआ आनन्द से रहने लगा। एक बार वह प्रासाद के गवाक्ष मे बैठा हुआ नगर की शोभा देख रहा था। उसने देखा कि राजपुरुष एक व्यक्ति को वध-भूमि की ओर लिए जा रहे है। वह व्यक्ति लाल-वस्त्र पहने हुए था। उसके गले मे लाल कनेर की मालाएँ थीं। उसे यह समझते देर न लगी कि इसका वध किया जाएगा। यह सब देख कुमार का मन संवेग से भर गया। 'अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का फल बुरा'—इस चिन्तन से उसका मार्ग स्पष्ट हो गया। माता-पिता की आज्ञा ले वह दीक्षित हुआ। साधना की और कर्मों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुआ।

आत्मानुशासन के उपायों के साथ-साथ इस अध्ययन में समुद्र-यात्रा का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उस काल में भारत के व्यापारी दूर-दूर तक व्यापार के लिए जाते थे। सामुद्रिक व्यापार उन्नत अवस्था में था। व्यापारियों के निजी यान-पात्र होते थे और वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल लेकर आते-जाते थे। उस समय अनेक वस्तुओं का भारत से निर्यात होता था। उनमे सुपारी, स्वर्ण आदि-आदि मुख्य थे। यह विशेष उल्लेखनीय है कि उस काल में भारत के पास प्रचुर सोना था। वह उसका दूसरे देशों को निर्यात करता था।

इस अध्ययन में 'ववहार' (श्लोक ३)—'व्यवहार' और 'वज्झमण्डणसोभाग' (श्लोक ८)—'वध्य-मण्डन-शोभाक'—ये दो शब्द ध्यान देने योग्य है। आगम-काल मे 'व्यवहार' शब्द क्रय-विक्रय का द्योतक था। आयात और निर्यात इसी के अन्तर्गत थे।[1]

'वध्य-मण्डन-शोभाक'—यह शब्द उस समय के दण्ड-विधान की ओर संकेत करता है। उस समय चोरी करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाता था। जिसे वध की सजा दी जाती, उसे कनेर के लाल फूलों की माला पहनाई जाती। उसको लाल कपड़े पहनाए जाते। शरीर पर लाल चन्दन का लेप किया जाता। सारे नगर मे उसके कुकृत्यों की जानकारी दी जाती और उसे नगर के राज-मार्ग से वध-भूमि की ओर ले जाया जाता था।[2]

१—सूत्रकृतांग, १।९।१५।

२—वही, १।६ बृहद् वृत्ति, पत्र १५०।

इस अध्ययन में तात्कालिक राज्य-व्यवस्था का उल्लेख भी हुआ है। ग्रन्थकार कहते हैं—"मुनि उचित काल में एक स्थान से दूसरे स्थान में जाए।" यह कथन साभिप्राय हुआ है। उस समय भारत अनेक इकाइयों मे बटा हुआ था। छोटे-छोटे राष्ट्र होते थे। आपसी कलह सीमा पार कर चुका था। इसीलिए मुनि को गमनागमन मे पूर्ण सावधान रहने के लिए कहा है (श्लोक १४)। मौलिक दृष्टि से इस अध्ययन में 'चम्पा' (श्लोक १) और 'पिहुण्ड' (श्लोक ३) नगरों का उल्लेख हुआ है। चौबीस श्लोकों का यह छोटा-सा अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

एगविंसइमं अज्झयणं : एकविंश अध्ययन

समुद्दपालीयं : समुद्रपालीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चम्पाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए । महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो ॥	चम्पाया पालितो नाम श्रावक आसीद् वाणिजः । महावीरस्य भगवत शिष्यः स तु महात्मन ॥	१—चम्पा नगरी में पालित नामक एक वणिक्-श्रावक हुआ। वह महात्मा भगवान् महावीर का शिष्य था।
२—निग्गन्थे पावयणे सावए से विकोविए । पोएण ववहरन्ते पिहुण्ड नगरमागए ॥	नैर्ग्रन्थे प्रवचने श्रावकः स विकोविदः । पोतेन व्यवहरन् पिहुण्ड नगरमागतः ॥	२—वह श्रावक निर्ग्रन्थ-प्रवचन में कोविद् था। वह पोत से व्यापार करता हुआ पिहुण्ड नगर में आया।
३—पिहुण्डे ववहरन्तस्स वाणिओ देइ धूयरं । त ससत्त पइगिज्झ सदेसमह पत्थिओ ॥	पिहुण्डे व्यवहरते वाणिजो ददाति दुहितरम् । तां ससत्वा प्रतिगृह्य स्वदेशमथ प्रस्थितः ॥	३—पिहुण्ड नगर में व्यापार करते समय उसे किसी वणिक् ने पुत्री दी। कुछ समय ठहरने के पश्चात् वह गर्भवती को लेकर स्वदेश को विदा हुआ।
४—अह पालियस्स घरणी समुद्दमि पसवई । अह 'दारए' तहिं'[2] जाए समुद्दपालि त्ति नामए ॥	अथ पालितस्य गृहिणी समुद्रे प्रसूते । अथ दारक-स्तस्मिञ्-जात. समुद्रपाल इति नामकः ॥	४—पालित की स्त्री ने समुद्र में पुत्र का प्रसव किया। वह समुद्र में उत्पन्न हुआ, इसलिए उसका नाम समुद्रपाल रखा।
५—खेमेण आगए चम्पं सावए वाणिए घरं । संवड्ढई घरे तस्स दारए से सुहोइए ॥	क्षेमेणागतश्चम्पा श्रावको वाणिजो गृहम् । संवर्धते गृहे तस्य दारकः स सुखोचितः ॥	५—वह वणिक्-श्रावक सकुशल चम्पा नगरी में अपने घर आया। वह सुखोचित पुत्र अपने घर में बढने लगा।

१ बालए (उ)।
२ बालए तम्मि (बृ०)।

६—बावत्तरिं कलाओ य
सिक्खए[1] नीइकोविए ।
जोव्वणेण य सपन्ने[2]
सुरूवे पियदंसणे ॥

द्वासप्तति कलाश्च
शिक्षते नीति-कोविदः ।
यौवनेन च सम्पन्नः
सुरूपः प्रिय-दर्शनः ॥

६—उसने बहत्तर कलाएँ सीखी और वह नीति-कोविद बना। वह पूर्ण यौवन में सुरूप और प्रिय लगने लगा।

७—तस्स रूववइ भज्ज
पिया आणेइ रूविणि ।
पासाए कीलए रम्मे
देवो दोगुन्दओ जहा ॥

तस्य रूपवतीं भार्या
पिताऽऽनयति रूपिणीम् ।
प्रासादे क्रीडति रम्ये
देवो दोगुन्दको यथा ॥

७—उसका पिता उसके लिए रूपिणी नामक सुन्दर स्त्री लाया। वह दोगुन्दक देव की भाँति उसके साथ सुरम्य प्रासाद में क्रीड़ा करने लगा।

८—अह अन्नया कयाई
पासायालोयणे ठिओ ।
वज्झमण्डणसोभाग
वज्झ पासइ वज्झग ॥

अथान्यदा कदाचित्
प्रासादालोकने स्थितः ।
वध्यमण्डनशोभाकं
वध्यं पश्यति बाह्यगम् ॥

८—वह कभी एक बार प्रासाद के झरोखे में बैठा हुआ था। उसने वध्य-जनोचित मण्डनो से शोभित वध्य को नगर से बाहर ले जाते हुए देखा।

९—त पासिऊण सविग्गो[3]
समुद्दपालो इणमब्बवी ।
अहोऽसुभाण कम्माणं
निज्जाण पावगं इमं ॥

तं दृष्ट्वा संविग्न
समुद्रपाल इदमब्रवीत् ।
अहो अशुभाना कर्मणां
निर्याणं पापकमिदम् ॥

९—उसे देख वैराग्य मे भीगा हुआ समुद्रपाल यो बोला—"अहो ! यह अशुभ कर्मों का दु खद अवसान है।"

१०—सबुद्धो सो तहिं भगव
'पर सवेगमागओ'[4] ।
आपुच्छऽम्मापियरो
पव्वए[5] अणगारियं ॥

संबुद्ध. स तत्र भगवान्
परं सवेगमागतः ।
आपृच्छ्याऽम्बापितरौ
प्राव्राजीदनगारिताम् ॥

१०—वह भगवान् परम वैराग्य को प्राप्त हुआ और सबुद्ध बन गया। उसने माता-पिता को पूछकर साधुत्व स्वीकार किया।

---

१. सिक्खिए (उ, ऋ०, वृ०), सिक्खए (वृ० पा०)।
२ अप्फुण्णे (वृ०), सम्पन्ने (वृ० पा०)।
३ सवेग (उ, ऋ०, वृ०)।
४ परमसवेगमागओ (उ)।
५. पव्वइए (उ)।

११—'जहित्तु संगं च'[1] महाकिलेस
महन्तमोह कसिण भयावह[2] ।
परियायधम्म चऽभिरोयएज्जा
वयाणि सीलाणि परीसहे य ॥

हित्वा सङ्गञ्च महाक्लेशं
महामोह कृष्ण भयानकम् ।
पर्याय-धर्मंचाभिरोचयेत्
व्रतानि शीलानि परीषहाँश्च ॥

११—मुनि महान् क्लेश और महान् मोह को उत्पन्न करने वाले कृष्ण व भयावह सग (आसक्ति) को छोडकर पर्याय-धर्म (प्रव्रज्या), व्रत और शील तथा परीषहों में अभिरुचि ले ।

१२—अहिंस सच्च च अतेणग च
तत्तो य 'बम्भ अपरिग्गह च'[3] ।
पडिवज्जिया पच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्मं जिणदेसिय विऊ ॥

अहिंसा सत्य चास्तैन्यक च
ततश्चब्रह्मापरिग्रह च ।
प्रतिपद्य पचमहाव्रतानि
चरेद् धर्मं जिन-देशित विद्वान् ॥

१२—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच महाव्रतों को स्वीकार कर विद्वान् मुनि वीतराग-उपदिष्ट धर्म का आचरण करे ।

१३—सव्वेहिं भूएहिं दयाणुकुम्पी[4]
खन्तिक्खमे सजयबम्भयारी ।
सावज्जजोगं परिवज्जयन्तो
चरिज्ज भिक्खू सुसमाहिइन्दिए ॥

सर्वेषु भूतेषु दयानुकम्पी
क्षान्ति-क्षम. सयतो ब्रह्मचारी ।
सावद्य-योग परिवर्जयन्
चरेद् भिक्षुः सुसमाहितेन्द्रियः ॥

१३—सुसमाहित-इन्द्रिय वाला भिक्षु सब जीवो के प्रति दयानुकम्पी रहे । क्षान्ति-क्षम (क्षमा-भाव से कुवचनो को सहने वाला), सयत और ब्रह्मचारी हो । वह सावद्य योग का वर्जन करता हुआ विचरण करे ।

१४—कालेण काल विहरेज्ज रट्ठे[5]
बलाबल जाणिय अप्पणो य[6] ।
सीहो व सद्देण न सतसेज्जा
वयजोग सुच्चा न असब्भमाहु ॥

कालेन काल विहरेत् राष्ट्रे
बलाबल ज्ञात्वाऽऽत्मनश्च ।
सिंह इव शब्देन न सत्रस्येत्
वचोयोग श्रुत्वानासभ्यमाह ॥

१४—मुनि अपने बलाबल को तौलकर कालोचित कार्य करता हुआ राष्ट्र में विहरण करे । वह सिंह की भाँति भयावह शब्दों से सत्रस्त न हो । वह कुवचन सुन असभ्य वचन न बोले ।

१५—उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा
पियमप्पिय सव्व तितिक्खएज्जा ।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयएज्जा
न यावि पूय गरह च सजए ॥

उपेक्षमाणस्तु परिव्रजेत्
प्रियमप्रिय सर्वं तितिक्षेत ।
न सर्वं सर्वत्राभिरोचयेन्
न चापि पूजां गर्हां च संयतः ॥

१५—सयमी मुनि कुवचनो की उपेक्षा करता हुआ परिव्रजन करे । प्रिय और अप्रिय सब कुछ सहे । सर्वत्र सब (जो कुछ देखे उसी) की अभिलाषा न करे तथा पूजा और गर्हा की भी अभिलाषा न करे ।

---

१. जहित्तु सग्गथ (बृ०) ऽजहित्तुऽ सग्गथ (चू०); जहित्तु सग थ (छ०), जहित्तु सग च, जहाय संग च (बृ० पा०)।
२. भयाणग (बृ०, चू०)।
३. अब्बभ परिग्गह च (बृ० पा०)।
४ दयाणुकपो (बृ० पा०)।
५ रिट्ठे (ऋ०)।
६ उ (अ)।

१६—अणेगछन्दाइह[1] माणवेहिं
जे भावओ सपगरेइ[2] भिक्खू ।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति[3] भीमा
दिव्वा मणुस्सा अदुवा तिरिच्छा॥

अनेकच्छन्दः इह मानवेषु
यान् भावतः सम्प्रकरोति भिक्षु' ।
भयभैरवास्तत्रोद्यन्ति भीमाः
दिव्या मानुष्याः अथवा तैरश्चाः॥

१६—पसार में मनुष्यो में जो अनेक अभिप्राय होते हैं वस्तु-वृत्या वे भिक्षु में भी होते है। किन्तु भिक्षु उन पर अनुशासन करे और साधुपन में देव, मनुष्य अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी भय पैदा करने वाले भीषण-भीषणतम उपसर्ग उत्पन्न हो, उन्हें सहन करे।

१७—परीसहा दुव्विसहा अणेगे
सीयन्ति जत्था बहुकायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज भिक्खू
सगामसीसे इव नागराया ॥

परीषहा दुर्विषहा अनेके
सीदन्ति यत्र बहुकातरा नराः ।
स तत्र प्राप्तो न व्यथेत् भिक्षुः
सङ्ग्राम-शीर्ष इव नागराजः ॥

१७—जहाँ अनेक दुस्सह परीषह प्राप्त होते हैं, वहाँ बहुत सारे कायर लोग खिन्न हो जाते है। किन्तु भिक्षु उन्हें प्राप्त होकर व्यथित न बने—जैसे सग्राम-शीर्ष (मोर्चे) पर नाग-राज व्यथित नही होता।

१८—सीओसिणा दसमसा य फासा
आयका विविहा फुसन्ति देह ।
अकुक्कुओ[4] तत्थऽहियासएज्जा
रयाइ[5] खेवेज्ज पुरेकडाइ ॥

शीतोष्णं दंशमशकाश्च स्पर्शाः
आतङ्का विविधाः स्पृशन्ति देहम् ।
अकुकूजस्तत्राधिसहेत
रजांसि क्षपयेत् पुराकृतानि ॥

१८—शीत, ऊष्ण, डाँस, मच्छर, तृण-स्पर्श और विविध प्रकार के आतङ्क जब देह का स्पर्श करें तव मुनि शान्त भाव से उन्हें सहन करे, पूर्वकृत रजो (कर्मों) को क्षीण करे।

१९—पहाय रागं च तहेव दोसं
मोह च भिक्खू सयय वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो
परीसहे आयगुत्ते सहेज्जा ॥

प्रहाय रागं च तथैव दोष
मोह च भिक्षुः सतत विचक्षणः ।
मेरुरिव वातेनाऽकम्पमानः
परीषहान् आत्म-गुप्तः सहेत ॥

१९—विचक्षण भिक्षु राग, द्वेष और मोह का सतत त्याग कर, वायु से मेरु की भाँति अकम्पमान होकर तथा आत्म-गुप्त वनकर परीपहों को सहन करे।

२०—अणुन्नए नावणए महेसी
न यावि पूय गरहं च सजए।
स उज्जुभाव पडिवज्ज संजए
निव्वाणमग्ग विरए उवेइ ॥

अनुन्नतो नावनतो महर्षिः
न चापि पूजा गर्हां च सजेत्।
स ऋजुभाव प्रतिपद्य सयतः
निर्वाण-मार्गं विरत उपैति ॥

२०—पूजा में उन्नत और गर्हा में अवनत न होने वाला महैषी मुनि उन (पूजा और गर्हा) में लिप्त न हो। अलिप्त रहने वाला वह विरत सयमी आर्जव को स्वीकार कर निर्वाण-मार्ग को प्राप्त होता है।

१ ०छदामिह (वृ०)।
२. सोपगरेइ (वृ०)।
३. उवेन्ति (वृ० पा०)।
४. अकक्करे (वृ० पा०, चू०)।
५. रज्जाइ (उ)।

२१—अरइरइसहे पहीणसथवे
विरए आयहिए पहाणव ।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई
छिन्नसोए अममे अकिंचणे ॥

अरति-रतिसहः प्रहीण-सस्तवः
विरतः आत्म-हितः प्रधानवान् ।
परमार्थ-पदेषु तिष्ठति
छिन्न-शोकोऽममोऽकिंचनः ॥

२१—जो अरति और रति को सहने वाला, परिचय को क्षीण करने वाला, अकर्त्तव्य से विरत रहने वाला, आत्म-हित करने वाला तथा प्रधानवान् (सयमवान्) होता है, वह छिन्न-शोक (अशोक), अभय और अकिंचन होकर परमार्थ-पदो में स्थित होता है ।

२२—विवित्तलयणाइ भएज्ज ताई[1]
निरोवलेवाइ असथडाइ ।
इसीहि चिण्णाइ महायसेहिं
काएण फासेज्ज परीसहाइ ॥

विविक्त-लयनानि भजेत त्रायी
निरुपलेपान्यसस्तृतानि ।
ऋषिभिश्चीर्णानि महायशोभिः
कायेन स्पृशेत् परीषहान् ॥

२२—त्रायी मुनि महायशस्वी ऋषियो द्वारा आचीर्ण, अलिप्त और असस्तृत (वीज आदि से रहित) विविक्त लयनो (एकान्त स्थानों) का सेवन करे तथा काया से परीषहो को सहन करे ।

२३—सन्नाणनाणोवगए[2] महेसी
अणुत्तर चरिउ धम्मसचय ।
अणुत्तरेनाणधरे[3] जससी
ओभासई सूरिए वन्तलिक्खे[4] ॥

सज्ज्ञानज्ञानोपगतो महर्षिः
अनुत्तर चरित्वा धर्म-सचयम् ।
अनुत्तर-ज्ञानधरः यशस्वी
अवभासते सूर्य इवान्तरिक्षे ॥

२३—सद्ज्ञान से ज्ञान-प्राप्त करन वाला महेषी मुनि अनुत्तर धर्म-सचय का आचरण कर अनुत्तर ज्ञानधारी और यशस्वी होकर अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति दीप्तिमान् होता है ।

२४—दुविह खवेऊण य पुण्णपाव
निरगणे[5] सव्वओ विप्पमुक्के ।
तरित्ता समुद्द व महाभवोघ
समुद्दपाले 'अपुणागम गए'[6] ॥
—त्ति बेमि ॥

द्विविध क्षपयित्वा च पुण्य-पाप
निरङ्गण. सर्वतो विप्रमुक्तः ।
तरित्वा समुद्रमिव महाभवौघ
समुद्रपालोऽपुनरागमा गतः ॥
—इति ब्रवीमि ।

२४—समुद्रपाल सयम में निश्चल और सर्वत' मुक्त होकर, पुण्य और पाप दोनों को क्षीण कर तथा विशाल ससार-प्रवाह को समुद्र की भाँति तरकर अपुनरागम-गति (मोक्ष) में गया है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१. ताया (ऋ०) ।
२ सन्नाईण° (ऋ०), सन्नाण° (वृ० पा०), सनाण° (वृ०) ।
३. गुणुत्तरे° (वृ० पा०) ।
४. पंतलिक्ख (अ) ।
५ निरंजणे (चू०), निरगणे (वृ० पा०) ।
६. °गइ गउ (अ, चू०, ऋ०, छ०) ।

बाइसमं अज्झयणं :
रहनेमिज्जं

द्वाविंश अध्ययन :
रहनेमीय

आमुख

इस अध्ययन में अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय के पुत्र रथनेमि का वृत्तान्त है, इसलिए इसका नाम 'रहनेमिज्जंति'—'रथनेमीय' है।

सोरियपुर नाम का नगर था। वहाँ वृष्णि-कुल के वसुदेव राज्य करते थे। उनके दो रानियाँ थीं—रोहिणी और देवकी। रोहिणी के एक पुत्र था। उसका नाम 'बलराम' था और देवकी के पुत्र का नाम 'केशव' था।

उसी नगर मे अन्धक-कुल के नेता समुद्रविजय राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम शिवा था। उनके चार पुत्र थे—अरिष्टनेमि, रथनेमि, सत्यनेमि और दृढनेमि। अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थङ्कर हुए और रथनेमि तथा सत्यनेमि प्रत्येक बुद्ध हुए।[1]

उस समय सोरियपुर में द्वैध-राज्य था। अन्धक और वृष्णि—ये दो राजनैतिक दल वहाँ का शासन चलाते थे। वसुदेव वृष्णियों के नेता थे और समुद्रविजय अन्धकों के। इस प्रकार की राज्य-प्रणाली को 'विरुद्ध-राज्य' कहा जाता था।

कार्तिक कृष्णा द्वादशी को अरिष्टनेमि का जीव शिवा रानी के गर्भ में आया। माता ने १४ स्वप्न देखे। श्रावण शुक्ला ५ को रानी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया। स्वप्न में रिष्टरत्नमय नेमि देखे जाने के कारण पुत्र का नाम अरिष्टनेमि रखा। वे आठ वर्ष के हुए। कृष्ण ने कंस का वध कर डाला। महाराज जरासंध यादवों पर कुपित हो गया। मरने के भय से सभी यादव पश्चिमी समुद्र तट पर चले गए। वहाँ द्वारवती नगरी मे सुख से रहने लगे। कुछ समय के बाद बलराम और कृष्ण ने जरासंध को मार डाला और वे राजा बन गए। अरिष्टनेमि युवा बने। वे इन्द्रिय-विषयों से पराङ्गमुख रहने लगे। एक बार समुद्रविजय ने केशव से कहा—"ऐसा कोई उपक्रम किया जाए जिससे कि अरिष्टनेमि विषयों में प्रवृत्त हो सके।" केशव ने रुक्मणी, सत्यभामा आदि को इस ओर प्रयत्न करने के लिए कहा। अनेक प्रयत्न किए गए। अनेक प्रलोभनों से उन्हें विचलित करने का प्रयास किया गया। पर वे अपने लक्ष्य पर स्थिर रहे। एक बार केशव ने कहा—"कुमार! ऋषभ आदि अनेक तीर्थङ्कर भी गृहस्थाश्रम के भोगों को भोग कर, पश्चिम-वय मे दीक्षित हुए थे। उन्होंने भी मोक्ष प्राप्त कर लिया। यह परमार्थ है।" अरिष्टनेमि ने नियति की प्रबलता जान केशव की बात स्वीकार कर ली। केशव ने समुद्रविजय को सारी बात कही। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और योग्य कन्या की गवेषणा करने लगे। भोज-कुल के राजन्य उग्रसेन की पुत्री राजीमती को अरिष्टनेमि के योग्य समझ विवाह की बातचीत की। उग्रसेन ने इसे अनुग्रह मान स्वीकार कर लिया। दोनों कुलों में

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४४३-४४५

सोरियपुरंमि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति।
तस्सासि अग्गमहिसी, सिवत्ति देवी अणुज्जगी॥
तेसिं पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमी तहेव रहनेमी।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी॥
जो सो अरिट्ठनेमी, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा।
रहनेमि सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धा उ॥

वर्द्धापन हुआ। विवाह से पूर्व समस्त कार्य सम्पन्न हुए। विवाह का दिन आया। राजीमती अलकृत हुई। कुमार भी अलकृत हो मत्त हाथी पर आरूढ हुए। सभी दशार्ह एकत्रित हुए। बाजे बजने लगे। मगल दीप जलाए गए। वर-यात्रा प्रारम्भ हुई। हजारों लोगों ने उसे देखा। वह विवाह-मण्डप के पास आई। राजीमती ने दूर से अपने भावी पति को देखा। वह अत्यन्त प्रसन्न हुई।

उसी समय अरिष्टनेमि के कानों में करुण शब्द पड़े। उन्होंने सारथी से पूछा—"यह शब्द क्या है?" सारथी ने कहा—"देव! यह करुण शब्द पशुओ का है। वे आपके विवाह मे सम्मिलित होने वाले व्यक्तियो के लिए भोज्य बनेंगे। मरण-भय से वे आक्रन्दन कर रहे है।" अरिष्टनेमि ने कहा—"यह कैसा आनन्द! जहाँ हजारों मूक और दीन पशुओं का वध किया जाता है। ऐसे विवाह से क्या जो ससार के परिभ्रमण का हेतु बनता है।" हाथी को अपने निवास की ओर मोड़ दिया। अरिष्टनेमि को मुड़ते देख राजीमती मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पडी। स्वजनो ने ठण्डा जल छिड़का, पखा झला। मूर्च्छा दूर हुई। चैतन्य प्राप्त कर वह विलाप करने लगी। अरिष्टनेमि ने अपने माता-पिता के पास जा प्रव्रज्या के लिए आज्ञा माँगी। तीन सौ वर्ष तक अगारवास मे रह श्रावण शुक्ला ५ को सहस्रवन उद्यान मे बेले की तपस्या मे दीक्षित हो गए।

अब रथनेमि राजीमती के पास आने-जाने लगे। उन्होंने कहा—"देवी! विषाद मत कर। अरिष्टनेमि वीतराग है। वे विषयानुबन्ध नही करते। तू मुझे स्वीकार कर। मै जीवन भर तुम्हारी आज्ञा मानूँगा।" भगवती राजीमती का मन काम-भोगो से निर्विण्ण हो चुका था। उसे रथनेमि की प्रार्थना अयुक्त लगी। एक बार उसने मधु-घृत सयुक्त पेय पीया और जब रथनेमि आए तब मदन फल खा उल्टी की और रथनेमि से कहा—"इस पेय को पीएँ।" उसने कहा—"वमन किए गए को कैसे पीऊँ?" राजीमती ने कहा—"क्या तुम यह जानते हो?" रथनेमि ने कहा—"इस बात को बालक भी जानता है।" राजीमती ने कहा—"यदि यह बात है तो मै भी अरिष्टनेमि द्वारा वान्त हूँ। मुझे ग्रहण करना क्यों चाहते हो? धिक्कार है तुम्हें जो वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करते हो। इससे तो तुम्हारा मरना श्रेयस्कर है।" इसके बाद राजीमती ने धर्म कहा। रथनेमि जागृत हुए और आसक्ति से उपरत हुए। राजीमती दीक्षाभिमुख हो अनेक प्रकार के तप और उपधानों को करने लगी।

भगवान् अरिष्टनेमि केवली हुए। देवों ने केवली-महोत्सव किया। रथनेमि प्रव्रजित हुए। राजीमती भी अनेक राज-कन्याओं के साथ प्रव्रजित हुई। एक बार भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर समवसृत थे। साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ वन्दना करने गई। अचानक ही वर्षा प्रारम्भ हो गई। साथ वाली सभी साध्वियाँ इधर-उधर गुफाओं मे चली गई।[1] उसी गुफा में मुनि रथनेमि पहले से ही बैठे हुए थे। राजीमती को यह ज्ञात नहीं था। गुफा मे अन्धकार व्याप्त था। उसने अपने कपडे सुखने के लिए फैलाए। नग्नावस्था मे उसे देख रथनेमि का मन विचलित हो गया। अचानक ही राजीमती ने रथनेमि को देख लिया और शीघ्र ही अपनी बाहों से अपने आपको ढकती हुई बैठ गई। रथनेमि ने कहा—"मै तुझ मे अत्यन्त अनुरक्त हूँ। तेरे बिना मैं शरीर धारण नही कर सकता। तू मुझे स्वीकार कर। अवस्था आने पर हम दोनों सयम-मार्ग को स्वीकार कर लेंगे।" राजीमती ने विषयों के दारुण-विपाक, जीवन की अस्थिरता और व्रत-भग के फल का निरूपण किया। उसे धर्म कहा। वह सबुद्ध हुआ। राजीमती का अभिनन्दन कर वह अपने माण्डलिक साधुओं मे चला गया। राजीमती भी आर्यिका के पास चली गई। सयम को विशुद्ध पालते हुए दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

इस अध्ययन के ४२, ४३, ४४, ४६ और ४६—ये पाँच श्लोक दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन मे ज्यों-के-त्यों आए है।

इस अध्ययन मे आए हुए भोज, अन्धक और वृष्णि— ये तीन शब्द प्राचीन कुलों के द्योतक है।

१—उस गुफा को आज भी राजीमती गुफा कहा जाता है।—विविध तीर्थ कल्प, पृ० ६

बाइसमं अज्झयणं : द्वाविंश अध्ययन

रहनेमिज्जं : रथनेमीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सोरियपुरमि नयरे आसि राया महिड्ढिए। वसुदेवे त्ति नामेण रायलक्खणसजुए ॥	सोरियपुरे नगरे आसीद्राजा महर्द्धिकः। वसुदेव इति नाम्ना राज-लक्षण-सयुत. ॥	१—सोरियपुर नगर में राज-लक्षणो से युक्त वसुदेव नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।
२—तस्स भज्जा दुवे आसी रोहिणी देवई तहा। तासिं दोण्ह पि दो पुत्ता इट्ठा रामकेसवा ॥	तस्य भार्ये द्वे आस्ता रोहिणी देवकी तथा। तयोर्द्वयोरपि द्वौ पुत्रौ इष्टौ राम-केशवौ ॥	२—उसके रोहिणी और देवकी नामक दो भार्याएँ थी। उन दोनों के राम और केशव—ये दो प्रिय पुत्र थे।
३—सोरियपुरमि नयरे आसी राया महिड्ढिए। समुद्दविजए नामं रायलक्खणसंजुए ॥	सोरियपुरे नगरे आसीद्राजा महर्द्धिकः। समुद्रविजयो नाम राज-लक्षण-सयुतः ॥	३—सोरियपुर नगर में राज-लक्षणों से युक्त समुद्रविजय नामक महान् ऋद्धिमान् राजा था।
४—तस्स भज्जा सिवा नाम तीसे पुत्तो महायसो। भगव अरिट्ठनेमि त्ति लोगनाहे दमीसरे ॥	तस्य भार्या शिवानाम्ना तस्याः पुत्रो महायशाः। भगवानरिष्टनेमिरिति लोक-नाथो दमीश्वरः ॥	४—उसके शिवा नामक भार्या थी। उसके भगवान् अरिष्टनेमि नामक पुत्र हुआ। वह लोकनाथ एव जितेन्द्रियों में प्रधान था।
५—सोऽरिट्ठनेमिनामो उ लक्खणस्सरसजुओ[1] । अट्ठसहस्सलक्खणधरो गोयमो कालगच्छवी ॥	सोऽरिष्टनेमिनामा तु स्वर-लक्षण-सयुतः। अष्ट-सहस्र-लक्षण-धरः गौतमः कालकच्छविः ॥	५—वह अरिष्टनेमि स्वर-लक्षणों से युक्त, एक हजार आठ शुभ-लक्षणों का धारक, गौतम गोत्री और श्याम वर्ण वाला था।

१. वंजणस्सर° (अ, बृ०पा०)।

६—वज्जरिसहसंघयणो
समचउरंसो झसोयरो ।
तस्स राईमइं कन्नं
भज्जं जायइ केसवो ॥

वज्रऋषभ-संहननः
समचतुरस्रो झषोदरः ।
तस्य राजीमतीं कन्या
भार्यां याचते केशवः ॥

६—वह वज्रऋषभ सहनन और सम-चतुरस्र सस्थान वाला था। उसका उदर मछली के उदर जैसा था। केशव ने उसके लिए राजीमती कन्या की माँग की।

७—अह सा रायवरकन्ना
सुसीला चारुपेहिणी ।
सव्वलक्खणसंपुन्ना[1]
विज्जुसोयामणिप्पभा ॥

अथ सा राजवर-कन्या
सुशीलाचारुप्रेक्षिणी ।
सर्वलक्षण-सम्पूर्णा
विद्युत्सौदामनी-प्रभा ॥

७—वह राजकन्या सुशील, चारु-प्रेक्षिणी (मनोहर-चितवन वाली), स्त्री-जनोचित सर्व-लक्षणों से परिपूर्ण और चमकती हुई बिजली जैसी प्रभा वाली थी।

८—अहाह जणओ तीसे
वासुदेवं महिड्ढियं ।
इहागच्छऊ कुमारो
जा से कन्न दलाम हं ॥

अथाह जनकस्तस्याः
वासुदेवं महर्द्धिकम् ।
इहागच्छतु कुमार
येन तस्मै कन्यां ददाम्यहम् ॥

८—उसके पिता उग्रसेन ने महान् ऋद्धिमान् वासुदेव से कहा—"कुमार यहाँ आए तो मैं उसे अपनी कन्या दे सकता हूँ।"

९—सव्वोसहीहि ण्हविओ
कयकोउयमंगलो ।
दिव्वजुयलपरिहिओ
आभरणेहि विभूसिओ[2] ॥

सर्वोषधिभिः स्नापितः
कृत-कौतुक-मंगलः ।
परिहित-दिव्य-युगलः
आभरणै-र्विभूषितः ॥

९—अरिष्टनेमि को सर्व औषधियों के जल से नहलाया गया, कौतुक और मगल किए गए, दिव्य वस्त्र-युगल पहनाया गया और आभरणों से विभूषित किया गया।

१०—मत्त च गन्धहत्थिं[3]
वासुदेवस्स जेट्ठगं ।
आरूढो सोहए अहियं
सिरे चूडामणी जहा ॥

मत्त च गन्धहस्तिन
वासुदेवस्य ज्येष्ठकम् ।
आरूढः शोभतेऽधिकं
शिरसि चूडामणिर्यथा ॥

१०—वासुदेव के मतवाले ज्येष्ठ गन्ध-हस्ति पर आरूढ अरिष्टनेमि सिर पर चूडामणि की भाँति बहुत सुशोभित हुआ।

---

१ °सपन्ना (उ०, ऋ०) ।
२. विभूसई (ऋ०) ।
३. °हत्थि च (अ, आ, इ, उ) ।

११—'अह ऊसिएण'[1] छत्तेण
चामराहि य सोहिए।
दसारचक्केण य सो
सव्वओ परिवारिओ॥

अथोच्छ्रितेन छत्रेण
चामराभ्यां च शोभितः।
दशार्ह चक्रेण च स
सर्वतः परिवारितः॥

११—अरिष्टनेमि ऊँचे छत्र-चामरों से सुशोभित और दशार-चक्र से सर्वत परि-वृत था।

१२—चउरंगिणीए सेनाए
रइयाए जहक्कम।
तुरियाण सन्निनाएण
दिव्वेण गगण फुसे॥

चतुरङ्गिण्या सेनया
रचितया यथाक्रमम्।
तूर्याणा सन्निनादेन
दिव्येन गगन-स्पृशा॥

१२—यथाक्रम सजाई हुई चतुरंगिनी सेना और वाद्यो के गगन-स्पर्शी दिव्यनाद —

१३—एयारिसीए इड्ढीए
जुईए उत्तिमाए य।
नियगाओ भवणाओ
निज्जाओ वण्हिपुगवो॥

एतादृश्या ऋद्ध्या
द्युत्या उत्तमया च।
निजकात् भवनात्
निर्यातो वृष्णि पुङ्गवः॥

१३—ऐसी उत्तम ऋद्धि और उत्तम-द्युति के साथ वह वृष्णि-पुङ्गव अपने भवन से चला।

१४—अह सो तत्थ निज्जन्तो
दिस्स पाणे भयद्दुए।
वाडेहिं पजरेहिं च
सन्निरुद्धे[2] सुदुक्खिए॥

अथ स तत्र निर्यन्
दृष्ट्वा प्राणान् भय-द्रुतान्।
वाटैः पञ्जरैश्च
सन्निरुद्धान् सुदुःखितान्॥

१४—उसने वहाँ जाते हुए भय से सत्रस्त, वाडों और पिंजरों में निरुद्ध, सुदुखित प्राणियों को देखा।

१५—जीवियन्तं तु सपत्ते
मसट्ठा भक्खियव्वए।
पासेत्ता से महापन्ने
सारहिं इणमब्बवी॥

जीवितान्त तु सम्प्राप्तान्
मासार्थं भक्षयितव्यान्।
दृष्ट्वा स महाप्राज्ञ
सारथिमिदमब्रवीत्॥

१५—वे मरणासन्न दशा को प्राप्त थे और मासाहार के लिए खाए जाने वाले थे। उन्हें देख कर महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सारथि से इस प्रकार कहा—

१६—कस्स अट्ठा 'इमे पाणा'[3]
एए सव्वे सुहेसिणो।
वाडेहिं पजरेहिं च
सन्निरुद्धा य अच्छहिं?॥

कस्यार्थादिमे प्राणा
एते सर्वे सुखैषिणः।
वाटैः पञ्जरैश्च
सन्निरुद्धाश्च आसते?॥

१६—"सुख की चाह रखने वाले ये सव प्राणी किसलिए इन वाडों और पिंजरो में रोके हुए हैं?"

---

१. से ओसिएण (बृ० पा०)।
२. बद्धरुद्धे (बृ० पा०)।
३. बहुपाणे (बृ० पा०)।

F. 73

१७—अह सारही तओ भणइ एए भद्दा उ पाणिणो । तुज्झ विवाहकज्जंमि भोयावेउ बहुं जणं ॥	अथ सारथिस्ततो भणति एते भद्रास्तु प्राणिनः । तव विवाह-कार्ये भोजयितुं बहुं जनम् ॥	१७—सारथि ने कहा—"ये भद्र प्राणी तुम्हारे विवाह-कार्य में बहुत जनों को खिलाने के लिए यहाँ रोके हुए हैं ।"
१८—सोऊण तस्स[1] वयण बहुपाणिविणासणं[2] । चिन्तेइ से महापन्ने साणुक्कोसे जिएहि उ ॥	श्रुत्वा तस्य वचन बहुप्राणि-विनाशनम् । चिन्तयति स महाप्राज्ञः सानुक्रोशो जीवेषु तु ॥	१८—सारथि का बहुत जीवो के वध का प्रतिपादक वचन सुन कर जीवों के प्रति सकरुण उस महाप्राज्ञ अरिष्टनेमि ने सोचा—
१९—जइ मज्झ कारणा एए 'हम्मिहिंति बहू'[3] जिया । न मे एयं तु निस्सेस परलोगे भविस्सई ॥	यदि मम कारणादेते हनिष्यन्ते बहवो जीवा. । न मे एतत्तु निःश्रेयसं परलोके भविष्यति ॥	१९—"यदि मेरे निमित्त से इन बहुत से जीवों का वध होने वाला है तो यह परलोक में मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं होगा ।"
२०—सो कुण्डलाण जुयलं सुत्तग च महायसो । आभरणाणि य सव्वाणि[4] सारहिस्स पणामए ॥	स कुण्डलयोर्युगलं सूत्रकं च महायशाः । आभरणानि च सर्वाणि सारथये अर्पयति ॥	२०—उस महायशस्वी अरिष्टनेमि ने दो कुंडल, करधनी और सारे आभूषण उतार कर सारथि को दे दिए ।
२१—मणपरिणामे य कए देवा य जहोइय समोइण्णा[5] । सव्वड्ढीए सपरिसा निक्खमणं तस्स काउं जे ॥	मनः-परिणामश्च कृतः देवाश्च यथोचितं समवतीर्णाः । सर्वर्द्ध्या सपरिषदः निष्क्रमणं तस्य कर्तुं 'जे' ॥	२१—अरिष्टनेमि के मन में जैसे ही निष्क्रमण (दीक्षा) की भावना हुई, वैसे ही उसका निष्क्रमण-महोत्सव करने के लिए औचित्य के अनुसार देवता आए । उनका समस्त वैभव और उनकी परिषदें उनके साथ थीं ।

---

१. तस्स सो (उ, ऋ०) ।

२. बहुपाण⁰ (बृ०) ।

३. हम्मति सुबहू (उ, ऋ०, बृ०), हम्मिहिति सुबहू (बृ० पा०) ।

४. सेसाणि (उ, ऋ०) ।

५ समोवडिया (बृ० पा०) ।

२२—देवमणुस्सपरिवुडो
सीयारयण[1] तओ समारूढो।
निक्खमिय वारगाओ
रेवययमि ट्ठिओ भगवं॥

देव-मनुष्य-परिवृतः
शिबिका-रत्नं ततः समारूढः।
निष्क्रम्य द्वारकातः
रैवतके स्थितो भगवान्॥

२२—देव और मनुष्यों से परिवृत भगवान् अरिष्टनेमि शिविका-रत्न में आरूढ हुआ। द्वारका से चल कर वह रैवतक (गिरनार) पर्वत पर स्थित हुआ।

२३—उज्जाणं सपत्तो
ओइण्णो उत्तिमाओ सीयाओ[2]।
साहस्सीए परिवुडो
अह निक्खमई उ चित्ताहिं॥

उद्यान सम्प्राप्तः
अवतीर्णः उत्तमायाः शिबिकातः।
साहस्र्या परिवृतः
अथ निष्क्रामति तु चित्रायाम्॥

२३—अरिष्टनेमि सहस्राम्रवण उद्यान में पहुँच कर उत्तम शिविका से नीचे उतरा। भगवान् ने एक हजार मनुष्यों के साथ चित्रा नक्षत्र में निष्क्रमण किया।

२४—अह से सुगन्धगन्धिए[3]
तुरिय मउयकुचिए[4]।
सयमेव लुंचई केसे
पचमुट्ठीहिं[5] समाहिओ॥

अथ स सुगन्धि-गन्धिकान्
त्वरित मृदुक-कुंचितान्।
स्वयमेव लुंचति केशान्
पंच-मुष्टिभिः समाहित॥

२४—समाहित अरिष्टनेमि ने सुगन्ध से सुवासित सुकुमार और घुँघराले बालों का पचमुष्टि से अपने आप तुरन्त लोच किया।

२५—वासुदेवो य ण भणइ
लुत्तकेस जिइन्दिय।
इच्छियमणोरहे तुरियं
पावेसू[6] त दमीसरा!॥

वासुदेवश्चेमं भणति
लुप्त-केशं जितेन्द्रियम्।
इच्छित-मनोरथं त्वरितं
प्राप्नुहि त्वं दमीश्वर!॥

२५—वासुदेव ने लुप्त-केश और जितेन्द्रिय भगवान् से कहा—दमीश्वर! तुम अपने इच्छित-मनोरथ को शीघ्र प्राप्त करो।

२६—नाणेण दंसणेण च
चरित्तेण तहेव[7] य।
खन्तीए मुत्तीए[8]
वड्ढमाणो भवाहि य॥

ज्ञानेन दर्शनेन च
चारित्रेण तथैव च।
क्षान्त्या मुक्त्या
वर्धमानो भव च॥

२६—तुम ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षान्ति और मुक्ति से बढो।

---

१. सीइया° (ऋ°)।
२ सीइया (ऋ°)
३. सुगंधि° (ऋ°, वृ°)।
४. मओए° (अ)।
५. पचअट्ठाहि (वृ°)।
६ पावसु (वृ°)।
७ तवेण (सु°)।
८. मुत्तीए चेव (उ)।

२७—एवं ते रामकेसवा
दसारा य बहू जणा।
अरिट्ठणेमिं वन्दित्ता
अइगया बारगापुरिं ॥

एवं तौ रामकेशवौ
दशार्हाश्च बहवा जनाः।
अरिष्टनेमिं वन्दित्वा
अतिगता द्वारका-पुरीम् ॥

२७—इस प्रकार राम, केशव, दसार तथा दूसरे बहुत से लोग अरिष्टनेमि को वन्दना कर द्वारका पुरी में लौट आए।

२८—सोऊण रायकन्ना
पव्वज्ज सा जिणस्स उ।
नीहासा य निराणन्दा
सोगेण उ समुत्थया[1] ॥

श्रुत्वा राजकन्या
प्रव्रज्यां सा जिनस्य तु।
निर्हासा च निरानन्दा
शोकेन तु समवसृता ॥

२८—अरिष्टनेमि के प्रव्रज्या की बात को सुन कर राजकन्या राजीमती अपनी हँसी, खुशी और आनन्द को खो बैठी। वह शोक से स्तब्ध हो गई।

२९—राईमई विचिन्तेइ
धिरत्थु मम जीविय।
जा हं तेण परिच्चत्ता
'सेय पव्वइउं'[2] मम ॥

राजीमती विचिन्तयति
धिगस्तु मम जीवितम्।
याऽहं तेन परित्यक्ता
श्रेयः प्रव्रजितु मम ॥

२९—राजीमती ने सोचा—मेरे जीवन को धिक्कार है। जो मैं अरिष्टनेमि के द्वारा परित्यक्त हूँ। अब मेरे लिए प्रव्रजित होना ही श्रेय है।

३०—अह सा भमरसन्निभे[3]
कुचफणगपसाहिए[4]।
सयमेव लुंचई केसे
धिइमन्ता ववस्सिया[5] ॥

अथ सा भ्रमर-सन्निभान्
कूर्च-फणक-प्रसाधितान्।
स्वयमेव लुंचति केशान्
धृतिमती व्यवसिता ॥

३०—धीर एव कृत-निश्चय राजीमती ने कूर्च व कघी से सवारे हुए भौंरे जैसे काले केशों का अपने आप लुंचन किया।

३१—वासुदेवो य ण भणइ
लुत्तकेसं जिइन्दिय।
ससारसागरं घोरं
तर कन्ने! लहुं लहुं ॥

वासुदेवश्चेमा भणति
लुप्त-केशां जितेन्द्रियाम्।
संसार-सागरं घोरं
तर कन्ये! लघु लघु ॥

३१—वासुदेव ने लुप्त-केशा और जितेन्द्रिय राजीमती से कहा—"हे कन्ये! तू घोर ससार-सागर का अतिशीघ्रता से पार प्राप्त कर।"

१ समुत्थिया (अ); समुच्छया (आ)।
२ सेउ पव्वइउ (बृ०), सेओ पव्वइओ (इ); सेउ पव्वइय (अ)।
३. °सकासे (अ)।
४ °फलग° (अ)।
५ वि तवस्सिया (अ)।

३२—सा पव्वइया सन्ती
पव्वावेसी[1] तहिं बहुं।
सयण परियण चेव
सीलवन्ता बहुस्सुया॥

सा प्रव्रजिता सती
प्रावीव्रजत् तत्र बहु।
स्वजन परिजन चैव
शीलवती बहुश्रुता॥

३२—शीलवती एवं बहुश्रुत राजीमती ने प्रव्रजित हो कर द्वारका में बहुत स्वजन और परिजन को प्रव्रजित किया।

३३—गिरिं रेवययं[2] जन्ती
वासेणुल्ला उ अन्तरा।
वासन्ते अन्धयारंमि
अन्तो लयणस्स सा ठिया॥

गिरिं रैवतकं यान्ती
वर्षेणार्द्रा त्वन्तरा।
वर्षत्यन्धकारे
अन्तर्लयनस्य सा स्थिता॥

३३—वह रैवतक पर्वत पर जा रही थी। बीच में वर्षा से भीग गई। वर्षा हो रही थी, अन्धेरा छाया हुआ था, उस समय वह लयन (गुफा) में ठहर गई।

३४—चीवराइं विसारन्ती
जहा जाय त्ति पासिया।
रहनेमी भग्गचित्तो
पच्छा दिट्ठो य तीइ वि॥

चीवराणि विसारयन्ती
यथाजातेति दृष्टा।
रथनेमिर्भग्नचित्तः
पश्चाद् दृष्टश्च तयाऽपि॥

३४—चीवरों को सुखाने के लिए फैलाती हुई राजीमती को रथनेमि ने यथा-जात (नग्न) रूप में देखा। वह भग्न-चित्त हो गया। बाद में राजीमती ने भी उसे देख लिया।

३५—भीया य सा तहिं दट्ठु
एगन्ते संजयं तयं।
बाहाहिं काउं संगोफं
वेवमाणी निसीयई॥

भीता च सा तत्र दृष्ट्वा
एकान्ते संयतं तकम्।
बाहुभ्यां कृत्वा संगोपं
वेपमाना निषीदति॥

३५—एकान्त में उस संयति को देख वह डरी और दोनों भुजाओं के गुम्फन से वक्ष को ढांक कर कांपती हुई बैठ गई।

३६—अह सो वि रायपुत्तो
समुद्दविजयंगओ।
भीयं पवेवियं दट्ठु
इमं वक्कं उदाहरे॥

अथ सोऽपि राज-पुत्रः
समुद्रविजयाऽङ्गजः।
भीतां प्रवेपितां दृष्ट्वा
इदं वाक्यमुदाहरन्॥

३६—उस समय समुद्रविजय के अंगज राज-पुत्र रथनेमि ने राजीमती को भीत और प्रकम्पित देख कर यह वचन कहा—

३७—रहनेमी अहं भद्दे!
सुरूवे! चारुभासिणि!।
ममं[3] भयाहि सुयणू!
न ते पीला भविस्सई॥

रथनेमिरहं भद्रे!
सुरूपे! चारुभाषिणि!।
मां भजस्व सुतनु!
न ते पीडा भविष्यति॥

३७—"भद्रे! मैं रथनेमि हूँ। सुरूपे! चारुभाषिणि! तू मुझे स्वीकार कर। सुतनु! तुझे कोई पीड़ा नहीं होगी।

१ पव्वावेती (अ)।
२ रवेइय (अ)।
३. मम (बृ० पा०)।

३८—एहि ता भुंजिमो भोए
माणुस्सं खु सुदुल्लहं ।
'भुत्तभोगा तओ'[1] पच्छा
जिणमग्गं चरिस्सिमो ॥

एहि तावत् भुञ्ज्महे भोगान्
मानुष्यं खलु सुदुर्लभम् ।
भुक्त-भोगास्ततः पश्चाद्
जिन-मार्गं चरिष्यामः ॥

३८—"आ, हम भोग भोगें । निश्चित ही मनुष्य-जीवन बहुत दुर्लभ है । भुक्त-भोगी हो, फिर हम जिन-मार्ग पर चलेंगे ।"

३९—दट्ठूण रहनेमिं तं
भग्गुज्जोयपराइयं ।
राईमई असम्भन्ता
अप्पाणं संवरे तहिं ॥

दृष्ट्वा रथनेमिं तं
भग्नोद्योग-पराजितम् ।
राजीमत्यसम्भ्रान्ता
आत्मानं समवारीत् तत्र ॥

३९—रथनेमि को संयम में उत्साहहीन और भोगों से पराजित देख कर राजीमती सम्भ्रान्त नहीं हुई । उसने वहीं अपने शरीर को वस्त्रों से ढँक लिया ।

४०—अह सा रायवरकन्ना
सुट्ठिया नियमव्वए ।
जाई कुलं च सीलं च
रक्खमाणी तयं वए ॥

अथ सा राजवर-कन्या
सुस्थिता नियम-व्रते ।
जातिं कुलं च शीलं च
रक्षन्ती तकमवदत् ॥

४०—नियम और व्रत में सुस्थित राजवर-कन्या राजीमती ने जाति, कुल और शील की रक्षा करते हुए रथनेमि से कहा—

४१—जइ सि रूवेण वेसमणो
ललिएण नलकूबरो ।
तहा वि ते न इच्छामि
जइ सि सक्खं पुरन्दरो ॥

यद्यसि रूपेण वैश्रमणः
ललितेन नलकूबरः ।
तथापि त्वां नेच्छामि
यद्यसि साक्षात् पुरन्दर ॥

४१—"यदि तू रूप से वैश्रमण है, लालित्य से नलकूबर है और तो क्या, यदि तू साक्षात् इन्द्र है तो भी मैं तुझे नहीं चाहती ।

[पक्खंदे जलियं जोइं
धूमकेउं दुरासयं ।
नेच्छन्ति वंतयं भोत्तुं
कुले जाया अगंधणे ॥][2]

(प्रस्कन्दन्ति ज्वलितं ज्योतिषं
धूमकेतुं दुरासदम् ।
नेच्छन्ति वान्तकं भोक्तुं
कुले जाता अगन्धने ॥)

"(अगंधन कुल में उत्पन्न सर्प ज्वलित, विकराल, धूमशिख-अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं परन्तु (जीने के लिए) वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते ।)

४२—धिरत्थु ते जसोकामी !
जो तं जीवियकारणा ।
वन्तं इच्छसि आवेउं
सेयं ते मरणं भवे ॥

धिगस्तु त्वां यशस्कामिन् !
यस्त्वं जीवित-कारणात् ।
वान्तमिच्छस्यापातुं
श्रेयस्ते मरणं भवेत् ॥

४२—"हे यशःकामिन् ! धिक्कार है तुझे । जो तू भोगी-जीवन के लिये वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है । इससे तो तेरा मरना श्रेय है ।

---

१ भुत्तभोगी तओ (उ, ऋ०); भुत्तभोगा पुणो (बृ०) ।
२. × (अ इ, ऋ०, स, छ०, चू०, बृ०) ।

४३—अह च भोयरायस्स
त च सि अन्धगवण्हिणो।
मा कुले गन्धणा होमो
सजम निहुओ चर॥

अहं च भोज-राजस्य
त्व चाऽसि अन्धक-वृष्णेः।
मा कुले गन्धनौ भूव
सयम निभृतश्चर॥

४३—"मैं भोज-राज की पुत्री हूँ और तू अन्वक-वृष्णि का पुत्र। हम कुल में गन्धन सर्प की तरह न हो। तू निभृत हो—स्थिर मन हो—सयम का पालन कर।

४४—जइ त काहिसि भाव
जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो
अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥

यदि त्व करिष्यसि भाव
या या द्रक्ष्यसि नारीः।
वाताविद्धः इव हटः
अस्थितात्मा भविष्यसि॥

४४—"यदि तू स्त्रियों को देख उनके प्रति इस प्रकार राग-भाव करेगा तो वायु से आहत हट की तरह अस्थितात्मा हो जाएगा।

४५—गोवालो भण्डवालो[1] वा
जहा तद्दव्वऽणिस्सरो।
एव अणिस्सरो त पि
सामण्णस्स भविस्ससि॥

गोपालो भाण्डपालो वा
यथा तद्द्रव्यानीश्वरः।
एवमनीश्वरस्त्वमपि
श्रामण्यस्य भविष्यसि॥

४५—"जैसे गोपाल और भाण्डपाल गायों और किरानें के स्वामी नही होते, इसी प्रकार तू भी श्रामण्य का स्वामी नहीं होगा।

[कोह माण निगिण्हित्ता
माय लोभ च सव्वसो।
इन्दियाइ वसे काउ
अप्पाण उवसहरे॥][2]

(क्रोध मान निगृह्य
माया लोभ च सर्वशः।
इन्द्रियाणि वशीकृत्य
आत्मानमुपसहरेः॥)

"(तू क्रोध और मान का निग्रह कर। माया और लोभ पर सब प्रकार से विजय पा। इन्द्रियों को अपने अधीन बना। अपने शरीर का उपसहार कर—उसे अनाचार से निवृत्त कर।)"

४६—तीसे सो वयण सोच्चा
संजयाए सुभासिय।
अकुसेण जहा नागो
धम्मे सपडिवाइओ॥

तस्याः स वचन श्रुत्वा
सयतायाः सुभाषितम्।
अकुशेन यथा नागो
धर्मे सम्प्रतिपादितः॥

४६—सयमिनी के इन सुभाषित वचनों को सुन कर, रथनेमि धर्म में वैसे ही स्थिर हो गया, जैसे अकुश से हाथी होता है।

४७—मणगुत्तो वयगुत्तो
कायगुत्तो जिइन्दिओ।
सामण्ण निच्चल फासे
जावज्जीव दढव्वओ॥

मनो-गुप्तो वचो-गुप्तः
काय-गुप्तो जितेन्द्रियः।
श्रामण्यं निश्चलमस्प्राक्षीत्
यावज्जीव दृढ-व्रतः॥

४७—वह मन, वचन, और काया से गुप्त, जितेन्द्रिय तथा दृढव्रती हो गया। उसने फिर आजीवन निश्चल भाव से श्रामण्य का पालन किया।

---

१ दंडपालो (वृ० पा०)।
२. × (अ उ, ऋ०, स, इ०, चू०, वृ०)।

४८—उग्ग तव चरित्ताण
जाया दोण्णि वि केवली ।
सव्व कम्म खवित्ताणं
सिद्धिं पत्ता अणुत्तर ॥

उग्रं तपश्चरित्वा
जातौ द्वावपि केवलिनौ ।
सर्वं कर्म क्षपयित्वा
सिद्धिं प्राप्तावनुत्तराम् ॥

४८—उग्र-तप का आचरण कर तथा सब कर्मों को खपा, वे दोनो (राजीमती और रथनेमि) अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए ।

४९—एव करेन्ति सबुद्धा
पण्डिया पवियक्खणा ।
विणियट्टन्ति भोगेसु
जहा सो पुरिसोत्तमो ॥
—त्ति बेमि ।

एव कुर्वन्ति सम्बुद्धाः
पण्डिताः प्रविचक्षणाः ।
विनिवर्तन्ते भोगेभ्यः
यथा स पुरुषोत्तमः ॥

इति ब्रवीमि ।

४६—सम्बुद्ध, पण्डित और प्रविचक्षण पुरुष ऐसा ही करते है—वे भोगों से वैसे ही दूर हो जाते है, जैसे कि पुरुषोत्तम रथनेमि हुआ ।

ऐसा मैं कहता हूँ ।

तेविसइमं अज्झयणं :
केसिगोयमिज्जं

त्रयोविंश अध्ययन :
केशि-गौतमीय

आमुख

इस अध्ययन में पार्श्वापत्यीय कुमार-श्रमण केशी और भगवान् महावीर के प्रमुख्य शिष्य गौतम का संवाद है। इसलिए इसका नाम 'केसिगोयमिज्ज'—'केशी-गौतमीय' है।[1]

भगवान् पार्श्वनाथ जैन-परम्परा के तेईसवें तीर्थंकर थे और उनका शासन-काल भगवान् महावीर से ढाई शताब्दी पूर्व का था।[2] भगवान् महावीर के शासन-काल में अनेक पार्श्वापत्यीय श्रमण तथा श्रावक रहते थे। पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों तथा श्रावकों का भगवान् महावीर के शिष्यों से आलाप-सलाप और मिलन हुआ। उसका उल्लेख आगमों तथा व्याख्या-ग्रन्थों मे मिलता है। भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वनाथ की परम्परा को मानने वाले श्रमणोपासक थे।[3]

भगवती सूत्र में 'कालास्यवैशिक पुत्र' पार्श्वापत्यीय श्रमण का उल्लेख है। वे अनेक निर्ग्रन्थ स्थविरों से मिलते है। उनसे तात्त्विक चर्चा कर समाधान पाते हैं और अपनी पूर्व परम्परा का विसर्जन कर भगवान् महावीर की परम्परा को स्वीकार कर लेते हैं।[4]

एक बार भगवान् महावीर राजगृह में समवसृत थे। वहाँ भगवान् पार्श्व की परम्परा के कई स्थविर आए और भगवान् से तात्त्विक चर्चा की। उनका मूल प्रश्न यह था—"इस परिमित लोक में अनन्त रात-दिन या परिमित रात-दिन की बात कैसे सगत हो सकती है?" भगवान् महावीर उन्हें समाधान देते हैं और वे सभी स्थविर चातुर्याम-धर्म से पचयाम-धर्म में दीक्षित हो जाते हैं।[5]

भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम में थे। पार्श्वापत्योय श्रमण गागेय भगवान् के पास आया। उसने जीवों की उत्पत्ति और च्युति के बारे में प्रश्न किए। उसे पूरा समाधान मिला। उसने भगवान् की सर्वज्ञता पर विश्वास किया और उनका शिष्य बन गया।[6]

उदक पेढाल पार्श्वनाथ की परम्परा में दीक्षित हुआ था। एक बार जब गणधर गौतम नालन्दा में स्थित थे तब वह उनके पास गया। चर्चा की और समाधान पा उनका शिष्य हो गया।[7]

भगवान् महावीर कालाय सन्निवेश से विहार कर पत्रालय ग्राम से होते हुए कुमार सन्निवेश में आए

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा, ४५१
गोअम-केसाओ अ, सवाय-समुट्ठिय तु जम्हेय।
तो केसि-गोयमिज्ज, अज्झयण होइ नायव्व॥

२—आवश्यक निर्युक्ति, मलियगिरिवृत्ति, पत्र २४१
पासजिणाओ य होइ वीरजिणो।
अड्ढाइज्जसएहि गएहि चरिमो समुप्पन्नो॥

३—आचारांग २, चूलिका ३, सूत्र ४०१
समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

४—भगवती, १।९
५—वही, ५।९
६—वही, ९।३२
७—सूत्रकृतांग, २।७

और चम्पक रमणीय उद्यान मे ठहरे। उसी सन्निवेश मे पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र अपने शिष्य परिवार के साथ कूपनक नामक कुभकार की शाला मे ठहरे हुए थे। वे जिनकल्प-प्रतिमा की साधना कर रहे थे। वे अपने शिष्य को गण का भार दे स्वय 'सत्त्व-भावना' मे अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे।

गोशाला भगवान् के साथ था। उसने गाँव में घूमते-घूमते पार्श्वापत्यीय स्थविर मुनिचन्द्र को देखा। उनके पास जा पूछा—तुम कौन हो?

उन्होने कहा—हम श्रमण निर्ग्रन्थ है।

गोशाला ने कहा—अहो तुम कैसे श्रमण निर्ग्रन्थ? निर्ग्रन्थ होते हुए भी तुम अपने पास इतने ग्रन्थ—परिग्रह क्यों रखते हो?

इतना कह उसने भगवान् की बात उनसे कही और पूछा—क्या तुम्हारे संघ मे भी ऐसा कोई महात्मा है?

मुनिचन्द्र ने कहा—जैसे तुम हो वैसे ही तुम्हारे आचार्य होंगे।

इस पर गोशाला कुपित हो गया। उसने क्रोधाग्नि से जलते हुए कहा—यदि मेरे धर्माचार्य के तप का प्रभाव है तो तुम्हारा यह प्रतिश्रय—आश्रय जल कर भस्म हो जाए।

मुनिचन्द्र ने कहा—तुम्हारे कहने मात्र से हम नहीं जलेंगे।

गोशाला भगवान् के पास आया और बोला—भगवन्! आज मैंने सारम्भ, सपरिग्रही साधुओ को देखा है।

भगवान् ने कहा—वे पार्श्वनाथ की परम्परा के साधु हैं।

रात का समय हुआ। कुभकार कूपनक विकाल वेला में बाहर से अपने घर पहुँचा। उसने एक ओर एक व्यक्ति को ध्यानस्थ खड़े देखा और यह सोच कर कि 'यह चोर है', उसके गले को पकड़ा। स्थविर मुनिचन्द्र का गला घुटने लगा। असह्य-वेदना हो रही थी पर वे अकम्प रहे। ध्यान की लीनता बढी। वे केवली हुए और समस्त कर्मों को क्षीण कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।[1]

एक बार भगवान् महावीर चोराग सन्निवेश में गए। गोशाला साथ था। वहाँ के अधिकारियों ने इन्हें गुप्तचर समझ पकड़ लिया। गोशाले को एक रस्सी से बाँध कर कुएँ में लटका दिया। वहाँ उत्पल की दो बहनें—सोमा और जयन्ति रहती थीं। वे दोनों दीक्षित होने में असमर्थ थीं, अत: पार्श्वापत्यीय परिव्राजिकाओं के रूप में रहती थीं। उन्होंने लोगों को महावीर के विषय में यथार्थ जानकारी दी। अधिकारियों ने महावीर तथा गोशाला को बन्धन-मुक्त कर दिया।[2]

एक बार भगवान् 'सम्बाक' ग्राम में गए। वहाँ पार्श्वापत्यीय स्थविर नन्दिसेण अपने बहुश्रुत मुनियों के बहुत बड़े परिवार के साथ आए हुए थे। आचार्य नन्दीसेण जिनकल्प-प्रतिमा में स्थित थे। गोशाले ने उन्हें देखा और उनका तिरस्कार किया। गाँव के अधिकारियों ने भी आचार्य को 'चर' समझ पकड़ भालों से आहत किया। असह्य वेदना को समभाव से सहते हुए उन्हें केवलज्ञान हुआ। वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गए।[3]

एक बार भगवान् 'कूविय' सन्निवेश में गए। गोशाला साथ था। वहाँ के अधिकारियों ने दोनों को 'गुप्तचर' समझ कर पकड़ लिया। वहाँ पार्श्वापत्यीय परम्परा की दो परिव्राजिकाओं—विजया और प्रगल्भा ने आकर उन्हें छुड़ाया।[4]

१—आवश्यक निर्युक्ति, वृत्ति पत्र, २७८

२—वही, सर्वा पत्र, २७८, २७९

३-४—वही पत्र २८२

इस प्रकार पार्श्वनाथ की परम्परा के साधुओं की जानकारी देने वाले अनेक प्रसग उपलब्ध होते है। मूल आगम-साहित्य में अनेक स्थलों पर भगवान् महावीर के मुख से पार्श्व के लिए 'पुरुषादानीय' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह आदर सूचक शब्द है।

कुमार-श्रमण केशी भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के चौथे पट्टधर थे। प्रथम पट्टधर आचार्य शुभदत्त हुए। उनके उत्तराधिकारी आचार्य हरिदत्तसूरि थे। जिन्होंने वेदान्त-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य 'लोहिय' से शास्त्रार्थ कर उनको ५०० शिष्यों सहित दीक्षित किया। इन नव दीक्षित मुनियों ने सौराष्ट्र, तैलग आदि प्रान्तों में विहार कर जैन-शासन की प्रभावना की। तीसरे पट्टधर आचार्य समुद्रसूरि थे। इनके काल मे विदेशी नामक एक प्रचारक आचार्य ने उज्जैन नगरी में महाराजा जयसेन, उनकी रानी अनगसुन्दरी और उनके राजकुमार 'केशी' को दीक्षित किया।[1] आगे चल कर मुनि केशी ने नास्तिक राजा परदेशी को समझाया और उसे जैन-धर्म मे स्थापित किया।[2]

एक बार कुमार-श्रमण केशी ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए 'श्रावस्ती' मे आए और 'तिन्दुक' उद्यान मे ठहरे। भगवान् महावीर के शिष्य गणधर गौतम भी सयोगवश उसी नगर में आए और 'कोष्ठक' उद्यान में ठहरे। नगर मे आते-जाते दोनों परम्पराओं के शिष्य एक दूसरे से मिले। दोनों के मन जिज्ञासा से भर गए। आपस में ऊहापोह करते हुए वे अपने-अपने आचार्य के पास आए। उनसे पारस्परिक भेदों की चर्चा की।

कुमार-श्रमण केशी और गणधर गौतम विशिष्ट ज्ञानी थे। वे सब कुछ जानते थे। परन्तु अपने शिष्यों के समाधान के लिए वे कुछ व्यावहारिक प्रयत्न करना चाहते थे। कुमार-श्रमण केशी पार्श्व की परम्परा के आचार्य होने के कारण गौतम से ज्येष्ठ थे, इसलिए गौतम अपने शिष्यों को साथ ले 'तिन्दुक' उद्यान मे गए। आचार्य केशी ने आसन आदि दे उनका सत्कार किया। कई अन्य मतावलम्बी सन्यासी तथा उनके उपासक भी आए। आचार्य केशी तथा गणधर गौतम मे सवाद हुआ। प्रश्नोत्तर चले। उनमे चातुर्याम और पचयाम धर्म तथा सचेलकत्व और अचेलकत्व के प्रश्न मुख्य थे।

आचार्य केशी ने गौतम से पूछा—"भते! भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम धर्म की प्ररूपणा की और भगवान् महावीर ने पचयाम धर्म की। दोनों का लक्ष्य एक है। फिर यह भेद क्यों? क्या यह पार्थक्य सदेह उत्पन्न नहीं करता?" (श्लो० २३, २४)

गौतम ने कहा—"भते! प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमण ऋजु-जड़, अन्तिम तीर्थङ्कर के वक्र-जड़ और मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्करों के श्रमण ऋजु-प्राज्ञ होते है। प्रथम तीर्थङ्कर के श्रमणों के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण करना कठिन है, चरम तीर्थंकर के श्रमणों के लिए आचार का पालन करना कठिन है और मध्यवर्ती तीर्थंकरों के मुनि उसे यथावत् ग्रहण करते है तथा सरलता से उसका पालन भी करते हैं। इन्हीं कारणों से धर्म के ये दो भेद हुए है।" (श्लो० २५, २६, २७)

आचार्य केशी ने पुन पूछा—"भते! एक ही प्रयोजन के लिए अभिनिष्क्रमण करने वाले इन दोनो परम्पराओं के मुनियों के वेश में यह विविधता क्यों है? एक सवस्त्र है और दूसरे अवस्त्र।" (श्लो० २९, ३०)

गौतम ने कहा—"भते! मोक्ष के निश्चित साधन तो ज्ञान, दर्शन और चारित्र हैं। वेश तो बाह्य उपकरण है। लोगों को यह प्रतीत हो कि ये साधु है, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की है। सयम जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ'—ऐसा ध्यान आते रहना—वेश धारण के ये प्रयोजन है।" (श्लो० ३२, ३३)

१—समरसिंह, पृष्ठ ७५, ७६
२—नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध १३६

केशिनामा तद्-विनेय, य प्रदेशीनरेश्वरम्।
प्रबोध्य नास्तिकाद् धर्माद्, जैनधर्मेऽध्यरोपयत्॥

इन दो विषयों से यह आकलन किया जा सकता है कि किस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने सघ मे परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्वर्द्धन किया था। चार महाव्रतो की परम्परा को बदल पाँच महाव्रतों की स्थापना की। सचेल परम्परा के स्थान पर अचेल परम्परा को मान्यता दी। सामाजिक-चारित्र के साथ-साथ छेदोपस्थापनीय-चारित्र की प्ररूपणा की तथा समिति-गुप्ति का पृथक् निरूपण कर उनका महत्त्व बढाया।[1]

भगवान् महावीर ने सचेल और अचेल—दोनों परम्पराओं के साधको को मान्यता दी और उनकी साधना के लिए निश्चित पथ निर्दिष्ट किया। दोनो परम्पराएँ एक ही छत्र-छाया में पनपी, फूली-फली और उनमें कभी सघट्टन नही हुआ। भगवान् प्रारम्भ मे सचेल थे। एक देवदूष्य धारण किए हुए थे। तदनन्तर वे अचले बने और जीवन भर अचेल रहे। किन्तु उन्होंने सचेल और अचेल किसी एक को एकागी मान्यता नही दी। दोनों के अस्तित्व को स्वीकार कर उन्होंने सघ को विस्तार दिया।

इस अध्ययन में आत्म-विजय और मनोनुशासन के उपायों का अच्छा निरूपण है।

१—मूलाचार, ७।३६-३८ :

वावीस तित्थयरा, सामाइयसजम उवदिसति।
छेदुवठावणिय पुण, भयव उसहो य वीरो य॥
आचक्खिदु विभजिदु, विण्णादु चावि सुहदर होदि।
एदेण कारणेण दु, महव्वदा पंच पण्णत्ता॥
आदीए दुव्विसोधणे, णिहणे तह सुट्ठु दुरणुपाले य।
पुरिमा य पच्छिमा वि हु, कप्पाकप्प ण जाणन्ति॥

तेविसइमं अज्झयण : त्रयोविंश अध्ययन

केसिगोयमिज्जं : केशि-गौतमीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जिणे पासे त्ति नामेण 'अरहा लोगपूइओ। सवुद्धप्पा य सव्वन्नू धम्मतित्थयरे जिणे'[1] ॥	जिनः पार्श्व इति नाम्ना। अर्हन् लोक-पूजितः। सवुद्धात्मा च सर्वज्ञ. धर्म-तीर्थकरो जिन. ॥	१—पार्श्व नाम के जिन हुए। वे अर्हन्, लोक-पूजित, सवुद्धात्मा, सर्वज्ञ, धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक और वीतराग थे।
२—तस्स लोगपईवस्स आसि सीसे महायसे। केसीकुमारसमणे विज्जाचरणपारगे ॥	तस्य लोक-प्रदीपस्य आसीच्छिष्यो महायशाः। केशिः कुमार-श्रमणः विद्या-चरण-पारगः ॥	२—लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् पार्श्व के केशी नामक शिष्य हुए। वे महान् यशस्वी, विद्या और आचार के पारगामी, कुमार-श्रमण थे।
३—ओहिनाणसुए बुद्धे सीससघसमाउले। गामाणुगाम रीयन्ते सावत्थि नगरिमागए ॥	अवधिज्ञान-श्रुताभ्यां बुद्धः शिष्य-सघ-समाकुलः। ग्रामानुग्राम रीयमाणः श्रावस्तीं नगरीमागतः ॥	३—वे अवधि-ज्ञान और श्रुत-सम्पदा से तत्त्वों को जानते थे। वे शिष्य-सघ से परिवृत हो कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए श्रावस्ती में आए।
४—तिन्दुय नाम उज्जाणं तम्मी नगरमण्डले। फासुए सिज्जसथारे तत्थ वासमुवागए ॥	तिन्दुकं नामोद्यान तस्मिन् नगर-मण्डले। प्रासुके शय्या-सस्तारे तत्र वासमुपागत ॥	४—उस नगर के पार्श्व में 'तिंदुक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या (मकान) और सस्तार (आसन) लेकर वे ठहर गए।
५—अह तेणेव कालेण धम्मतित्थयरे जिणे। भगव वद्धमाणो त्ति सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥	अथ तस्मिन्नेव काले धर्म-तीर्थकरो जिन। भगवान् वर्धमान इति सर्वलोके विश्रुत ॥	५—उस समय भगवान् वर्धमान विहार कर रहे थे। वे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तक, जिन और समूचे लोक में विश्रुत थे।

१ . ... अरिहा लोगविस्सुए।
सव्वन्नू सव्वदस्सी य धम्मतित्थस्स देसए ॥ (बृ० पा०)।

६—तस्स लोगपईवस्स
आसि सीसे महायसे[1] ।
भगव गोयमे नामं
विज्जाचरणपारगे ॥

तस्य लोक-प्रदीपस्य
आसीच्छिष्यो महायशाः ।
भगवान् गौतमो नाम
विद्या-चरण-पारगः ॥

६—लोक को प्रकाशित करने वाले उन भगवान् वर्धमान के गौतम नाम के शिष्य थे। वे महान् यशस्वी, भगवान् तथा विद्या और आचार के पारगामी थे।

७—बारसंगविऊ बुद्धे
सीससंघसमाउले ।
गामाणुगामं रीयन्ते
से वि सावत्थिमागए ॥

द्वादशांगविद् बुद्धः
शिष्य-संघ-समाकुलः ।
ग्रामानुग्रामं रीयमाणः
सोऽपि श्रावस्तीमागतः ॥

७—वे बारह अंगों को जानने वाले और बुद्ध थे। शिष्य-संघ से परिवृत हो कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वे भी श्रावस्ती में आ गए।

८—कोट्ठगं नाम उज्जाणं
तम्मी नयरमण्डले ।
फासुए सिज्जसंथारे
तत्थ वासमुवागए ॥

कोष्ठकं नामोद्यानं
तस्मिन्नगर-मण्डले ।
प्रासुके शय्या-संस्तारे
तत्र वासमुपागतः ॥

८—उस नगर के पार्श्व-भाग में 'कोष्ठक' उद्यान था। वहाँ जीव-जन्तु रहित शय्या और संस्तार लेकर वे ठहर गए।

९—केसीकुमारसमणे
गोयमे य महायसे ।
उभओ वि तत्थ विहरिंसु
अल्लीणा[2] सुसमाहिया ॥

केशिः कुमार-श्रमणः
गौतमश्च महायशाः ।
उभावपि तत्र व्यहार्ष्टाम्
आलीनौ सुसमाहितौ ॥

९—कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनो वहाँ विहार कर रहे थे। वे आत्म-लीन और मन की समाधि से सम्पन्न थे।

१०—उभओ सीससंघाणं
संजयाणं तवस्सिणं ।
तत्थ चिन्ता समुप्पन्ना
गुणवन्ताण ताइणं ॥

उभयोः शिष्य-सङ्घानां
संयतानां तपस्विनाम् ।
तत्र चिन्ता समुत्पन्ना
गुणवतां त्रायिणाम् ॥

१०—उन दोनो के शिष्य-समूहों को वहाँ एक तर्क उत्पन्न हुआ, जो संयत, तपस्वी, गुणवान् और त्रायी थे।

११—केरिसो वा इमो धम्मो ?
इमो धम्मो व केरिसो ? ।
आयारधम्मपणिही
इमा वा सा व केरिसी ? ॥

कीदृशो वाऽयं धर्मः ?
अयं धर्मो वा कीदृशः ? ।
आचार-धर्म-प्रणिधिः
अयं वा स वा कीदृशः ? ॥

११—यह हमारा धर्म कैसा है ? और यह धर्म कैसा है ? आचार-धर्म की व्यवस्था यह हमारी कैसी है ? और वह उनकी कैसी है ?

---

१. महिड्ढिए (अ)।
२. अलीणा (बृ० पा०)।

१२—चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी ॥

चातुर्यामश्च यो धर्म
योऽय पच-शिक्षित ।
देशितो वर्धमानेन
पार्श्वेण च महामुनिना ॥

१२—जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है। और यह जो पच-शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है।

१३—अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाण
विसेसे किं नु कारण ? ॥

अचेलकश्च यो धर्मः
योऽय सान्तरोत्तर ।
एककार्य-प्रपन्नयो.
विशेषे किन्नु कारणम् ? ॥

१३—महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महामुनि पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है, वह सान्तर (वर्ण आदि मे विशिष्ट) तथा उत्तर (मूल्यवान् वस्त्र वाली) है। जबकि हम एक ही उद्देश्य से चले है तो फिर इस भेद का क्या कारण है ?

१४—अह ते तत्थ सीसाण
विन्नाय पवितक्किय।
समागमे कयमई
उभओ केसिगोयमा ॥

अथ तौ तत्र शिष्याणा
विज्ञाय प्रवितर्कितम् ।
समागमे कृतमती
उभौ केशि-गौतमौ ॥

१४—उन दोनों—केशी और गौतम ने अपने-अपने शिष्यों की वितर्कणा को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया।

१५—गोयमे पडिरूवन्नू
सीससघसमाउले ।
जेट्ठ कुलमवेक्खन्तो
तिन्दुय वणमागओ ॥

गौतम प्रतिरूपज्ञ.
शिष्य-सङ्घ-समाकुल· ।
ज्येष्ठ कुलमपेक्षमाणः
तिन्दुक वनमागत· ॥

१५—गौतम ने विनय की मर्यादा का औचित्य देखा। केशी का कुल ज्येष्ठ था, इसलिए वे शिष्य-सघ को साथ लेकर तिंदुक वन में चले आए।

१६—केसीकुमारसमणे
गोयम दिस्समागय।
पडिरूव पडिवत्तिं
सम्म सपडिवज्जई ॥

केशिः कुमार-श्रमणः
गौतम दृष्ट्वागतम् ।
प्रतिरूपा प्रतिपत्तिम्
सम्यक् सप्रतिपद्यते ॥

१६—कुमार श्रमण केशी ने गौतम को आए देख कर सम्यक् प्रकार से उनका उपयुक्त आदर किया।

१७—पलाल फासुय तत्थ
पचम कुसतणाणि य।
गोयमस्स निसेज्जाए
खिप्प सपणामए ॥

पलालं प्रासुक तत्र
पचम कुश-तृणानि च ।
गौतमस्य निषद्यायै
क्षिप्र समर्पयति ॥

१७—उन्होंने तुरन्त ही गौतम को बैठने के लिए प्रासुक पयाल (चार प्रकार के अनाजों के डठल) और पाँचवी कुश नाम की घास दी।

१८—केसीकुमारसमणे
गोयमे य महायसे ।
उभओ निसण्णा सोहन्ति
चन्दसूरसमप्पभा ॥

केशिः कुमार-श्रमणः
गौतमश्च महायशाः ।
उभौ निषण्णौ शोभेते
चन्द्र-सूर्य-समप्रभौ ॥

१८—चन्द्र और सूर्य के समान शोभा वाले कुमार-श्रमण केशी और महान् यशस्वी गौतम—दोनों बैठे हुए शोभित हो रहे थे ।

१९—समागया बहू तत्थ
पासण्डा 'कोउगा मिगा'[1] ।
गिहत्थाण अणेगाओ
साहस्सीओ समागया ॥

समागता बहवस्तत्र
पाषण्डाः कौतुकामृगाः ।
गृहस्थानामनेकानि
सहस्राणि समागतानि ॥

१९—वहाँ कौतूहल को ढूँढने वाले दूसरे-दूसरे सम्प्रदायों के अनेक साधु आए और हजारों-हजारों गृहस्थ आए ।

२०—देवदाणवगन्धव्वा
जक्खरक्खसकिन्नरा ।
अदिस्साण च भूयाण
आसी तत्थ समागमो ॥

देव-दानव-गन्धर्वाः
यक्ष-राक्षस-किन्नराः ।
अदृश्यानां च भूतानाम्
आसीत् तत्र समागमः ॥

२०—देवता, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और अदृश्य भूतों का वहाँ मेला-सा हो गया ।

२१—पुच्छामि ते महाभाग !
केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

पृच्छामि त्वां महाभाग !
केशिः गौतममब्रवीत् ।
तत केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

२१—हे महाभाग ! मैं तुम्हें पूछता हूँ—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—

२२—पुच्छ भन्ते ! जहिच्छं ते
केसिं गोयममब्बवी ।
तओ केसी अणुन्नाए
गोयमं इणमब्बवी ॥

पृच्छ भदन्त ! यथेच्छं ते
केशिं गौतमोऽब्रवीत् ।
ततः केशिरनुज्ञातः
गौतममिदमब्रवीत् ॥

२२—भंते ! जैसी इच्छा हो वैसे पूछो । केशी ने प्रश्न करने की अनुज्ञा पाकर गौतम से इस प्रकार कहा—

२३—चाउज्जामो य जो धम्मो
जो इमो पंचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महामुणी ॥

चातुर्यामश्च यो धर्मः
योऽयं पंच-शिक्षितः ।
देशितो वर्धमानेन
पार्श्वेण च महामुनिना ॥

२३—जो चातुर्याम-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि पार्श्व ने किया है और यह जो पंच-शिक्षात्मक-धर्म है, उसका प्रतिपादन महामुनि वर्धमान ने किया है ।

---

१ कोउगासिया (बृ०); कोउगा मिगा (बृ० पा०) ।

२४—एगकज्जपवन्नाण
विसेसे किं नु कारण ?।
धम्मे दुविहे मेहावि !
कह[1] विप्पच्चओ न ते ?॥

एककार्य-प्रपन्नयोः
विशेषे किन्तु कारणम् ?।
धर्मे द्विविधे मेधाविन् !
कथं विप्रत्ययो न ते ?॥

२४—एक ही उद्देश्य के लिए हम चले हैं तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? मेधाविन् ! धर्म के इन दो प्रकारों में तुम्हें सन्देह कैसे नहीं होता ?

२५—तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी।
पन्ना समिक्खए धम्मं
तत्तं तत्तविणिच्छयं[2]॥

ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत्।
प्रज्ञा समीक्षते धर्म—
तत्त्वं तत्त्व-विनिश्चयम्॥

२५—केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—धर्म के परम अर्थ की, जिसमें तत्त्वों का विनिश्चय होता है, समीक्षा प्रज्ञा से होती है।

२६—पुरिमा उज्जुजडा[3] उ
वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा 'उज्जुपन्ना य'[4]
तेण धम्मे दुहा कए॥

पूर्वे ऋजु-जडास्तु
वक्र-जडाश्च पश्चिमाः।
मध्यमा ऋजु-प्राज्ञाश्च
तेन धर्मो द्विधा-कृतः॥

२६—पहले तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड होते हैं। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र और जड होते है। वीच के तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते है, इसलिए धर्म के दो प्रकार किए है।

२७—पुरिमाणं दुव्विसोज्झो उ
चरिमाणं दुरणुपालओ।
कप्पो मज्झिमगाणं तु
सुविसोज्झो सुपालओ॥

पूर्वेषां दुर्विशोध्यस्तु
चरमाणां दुरनुपालकः।
कल्पो मध्यमकानां तु
सुविशोध्यः सुपालकः॥

२७—पूर्ववर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार को यथावत् ग्रहण कर लेना कठिन है। चरमवर्ती साधुओं के लिए मुनि के आचार का पालन कठिन है। मध्यवर्ती साधु उसे यथावत् ग्रहण कर लेते हैं और उसका पालन भी वे सरलता से करते हैं।

२८—साहु गोयम ! 'पन्ना ते'[5]
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा !॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मे
तं मा कथय गौतम !॥

२८—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे वतलाओ।

---

१ कहिं (अ)।
२ ° विणिच्छिय (उ, ऋ०)।
३ उज्जुकडा (अ)।
४. उज्जुपन्नाओ (उ, ऋ०)।
५. पन्नाए (वृ० पा०)।

२९—अचेलगो य जो धम्मो
जो इमो सन्तरुत्तरो।
देसिओ वद्धमाणेण
पासेण य महाजसा[1] ॥

अचेलकश्च यो धर्मः
योऽयं सान्तरोत्तरः।
देशितो वर्धमानेन
पार्श्वेण च महायशसा ॥

२९—महामुनि वर्धमान ने जो आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह अचेलक है और महान् यशस्वी पार्श्व ने जो यह आचार-धर्म की व्यवस्था की है वह सान्तर (वर्ण आदि से विशिष्ट) तथा उत्तर (मूल्यवान् वस्त्र वाली) है।

३०—एगकज्जपवन्नाणं
विसेसे किं नु कारण ?।
लिंगे दुविहे मेहावि !
कह विप्पच्चओ न ते ? ॥

एककार्य-प्रपन्नयोः
विशेषे किन्नु कारणम् ?।
लिङ्गे द्विविधे मेधाविन् !
कथं विप्रत्ययो न ते ? ॥

३०—एक ही उद्देश्य के लिए हम चले है तो फिर इस भेद का क्या कारण है ? मेधाविन् ! वेष के इन प्रकारों में तुम्हें संदेह कैसे नहीं होता ?

३१—केसिमेवं बुवाणं तु
गोयमो इणमब्बवी।
विन्नाणेण समागम्म
धम्मसाहणमिच्छियं ॥

केशिमेवं ब्रुवाणं तु
गौतम इदमब्रवीत्।
विज्ञानेन समागम्य
धर्म-साधनमिच्छितम् ॥

३१—केशी के कहते-कहते ही गौतम ने इस प्रकार कहा—विज्ञान से यथोचित जान कर ही धर्म के साधनों—उपकरणों की अनुमति दी गई है।

३२—पच्चयत्थं च लोगस्स
नाणाविहविगप्पणं।
जत्तत्थं गहणत्थं च
लोगे लिंगप्पओयणं ॥

प्रत्ययार्थं च लोकस्य
नानाविध-विकल्पनम्।
यात्रार्थं ग्रहणार्थं च
लोके लिङ्गप्रयोजनम् ॥

३२—लोगों को यह प्रतीति हो कि ये साधु है, इसलिए नाना प्रकार के उपकरणों की परिकल्पना की गई है। जीवन-यात्रा को निभाना और 'मैं साधु हूँ', ऐसा ध्यान आते रहना—वेष-धारण के इस लोक में ये प्रयोजन है।

३३—अह भवे पइन्ना उ
मोक्खसब्भूयसाहणे[2]।
नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं चेव निच्छए ॥

अथ भवेत्प्रतिज्ञा तु
मोक्ष-सद्भूत-साधने।
ज्ञानं च दर्शनं चैव
चारित्रं चैव निश्चये ॥

३३—यदि मोक्ष की वास्तविक साधना की प्रतिज्ञा हो तो निश्चय-दृष्टि में उसके साधन, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही है।

३४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

३४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

---

१ महामुणी (बृ०), महाजसा (बृ० पा०)।
२ मुक्ख सब्भूय° (उ, ऋ०), मोक्खे सब्भूय° (अ)।

३५—अणेगाण सहस्साण
मज्झे चिट्ठसि गोयमा ।
ते य ते अहिगच्छन्ति
कह ते निज्जिया तुमे ? ॥

अनेकेषां सहस्राणां
मध्ये तिष्ठसि गौतम ! ।
ते च त्वामभिगच्छन्ति
कथं ते निर्जितास्त्वया ? ॥

३५—गौतम ! तुम हजारों-हजारों शत्रुओं के बीच खडे हो । वे तुम्हें जीतने को तुम्हारे सामने आ रहे हैं । तुमने उन्हें कैसे पराजित किया ?

३६—एगे जिए जिया पंच
पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताण
सव्वसत्तू जिणामहं ॥

एकस्मिन् जिते जिताः पंच
पंचसु जितेषु जिता दश ।
दशधा तु जित्वा
सर्वशत्रून् जयाम्यहम् ॥

३६—एक को जीत लेने पर पाँच जीते गए । पाँच को जीत लेने पर दस जीते गए । दसों को जीत कर मैं सब शत्रुओं को जीत लेता हूँ ।

३७—सत्तू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
तओ केसिं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

शत्रवश्च इति के उक्ताः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

३७—शत्रु कौन कहलाता है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

३८—एगप्पा अजिए सत्तू
कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणित्तु[1] जहानायं
विहरामि अहं मुणी ! ॥

एक आत्माऽजितः शत्रुः
कषाया इन्द्रियाणि च ।
तान् जित्वा यथान्यायं
विहराम्यहं मुने ! ॥

३८—एक न जीती हुई आत्मा शत्रु है । कषाय और इन्द्रियाँ शत्रु हैं । मुने ! मैं उन्हें जीत कर नीति के अनुसार विहार कर रहा हूँ ।

३९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

३९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

४०—दीसन्ति बहवे लोए
पासबद्धा सरीरिणो ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
कहं तं विहरसी ? मुणी ! ॥

दृश्यन्ते बहवो लोके
पाश-बद्धाः शरीरिणः ।
मुक्त-पाशो लघुभूतः
कथं त्वं विहरसि ? मुने ! ॥

४०—इस संसार में बहुत जीव पाश से बन्धे हुए दीख रहे हैं । मुने ! तुम पाश से मुक्त और पवन की तरह प्रतिबंध-रहित हो कर कैसे विहार कर रहे हो ?

---

१. अहित्तु (अ) ।

४१—ते पासे सव्वसो छित्ता
निहन्तूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ
विहरामि अहं मुणी ! ॥

तान् पाशान् सर्वशश्छित्वा
निहत्योपायतः ।
मुक्त-पाशो लघुभूतः
विहराम्यहं मुने ! ॥

४१—मुने ! उन पाशों को सर्वथा काट कर, उपायों से विनष्ट कर मैं पाश-मुक्त और प्रतिबन्ध-रहित हो कर विहार करता हूँ ।

४२—पासा य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

पाशाश्चेति के उक्ताः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
केशिमेवं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

४२—पाश किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४३—रागद्दोसादओ तिव्वा
नेहपासा भयंकरा ।
ते छिन्दित्तु जहानायं
विहरामि जहक्कमं ॥

राग-द्वेषादयस्तीव्राः
स्नेह-पाशा भयङ्कराः ।
तान् छित्त्वा यथान्यायं
विहरामि यथाक्रमम् ॥

४३—प्रगाढ राग-द्वेष और स्नेह भयंकर पाश हैं । मैं उन्हें काट कर मुनि-धर्म की नीति और आचार के साथ विहार करता हूँ ।

४४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

४४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

४५—अन्तोहियय संभूया
लया चिट्ठइ गोयमा ! ।
फलेइ विसभक्खीणि[1]
सा उ उद्धरिया कहं ? ॥

अन्तर्हृदय-संभूता
लता तिष्ठति गौतम ! ।
फलति विष-भक्ष्याणि
सा तूद्धृता कथम् ? ॥

४५—गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न जो लता है जिसके विष-तुल्य फल लगते हैं, उसे तुमने कैसे उखाड़ा ?

४६—तं लयं सव्वसो छित्ता
उद्धरित्ता समूलियं ।
विहरामि जहानायं
मुक्को मि विसभक्खणं ॥

तां लतां सर्वशश्छित्त्वा
उद्धृत्य समूलिकाम् ।
विहरामि यथान्यायं
मुक्तोऽस्मि विष-भक्षणात् ॥

४६—उस लता को सर्वथा काट कर, जड़ से उखाड़ कर मैं मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूँ, इसलिए मैं विष-फल के खाने से मुक्त हूँ ।

---

१. विसभक्खीण (बृ०) ।

४७—लया य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

लता च इति का उक्ता ?
केशि गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

४७—लता किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

४८—भवतण्हा लया वुत्ता
भीमा भीमफलोदया ।
तमुद्धरित्तु[1] जहानायं
विहरामि महामुणी ! ॥

भव-तृष्णा लता उक्ता
भीमा भीमफलोदया ।
तामुद्धृत्य यथान्याय
विहरामि महामुने ! ॥

४८—भव-तृष्णा को लता कहा गया है। वह भयकर है और उसमें भयकर फलों का परिपाक होता है। महामुने ! मैं उसे उखाड कर मुनि-धर्म की नीति के अनुसार विहार करता हूँ।

४९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
त मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मा कथय गौतम ! ॥

४९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा सशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

५०—सपज्जलिया घोरा
अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! ।
'जे डहन्ति सरीरत्था'[2]
कह विज्झाविया तुमे ? ॥

संप्रज्वलिता घोराः
अग्नयस्तिष्ठन्ति गौतम ! ।
ये दहन्ति शरीरस्थाः
कथ विध्यापितास्त्वया ? ॥

५०—गौतम ! घोर-अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं, जो शरीर में रहती हुई मनुष्य को जला रही हैं। उन्हें तुमने कैसे बुझाया ?

५१—महामेहप्पसूयाओ
गिज्झ वारि जलुत्तम ।
'सिंचामि सयय देह'[3]
सित्ता नो व डहन्ति मे ॥

महामेघ-प्रसूतात्
गृहीत्वा वारि जलोत्तमम् ।
सिंचामि सततं देह
सिक्ता नो एव दहन्ति माम् ॥

५१—महामेघ से उत्पन्न निर्झर से सब जलों में उत्तम जल लेकर मैं उन्हें सींचता रहता हूँ। वे सींची हुई अग्नियाँ मुझे नहीं जलाती।

---

१. तमुच्छित्तु (उ, ऋ०), तमुद्धरित्ता (आ)।
२. जा डहेति सरीरत्था (बृ० पा०)।
३. सिंचामि सयय ते ओ (ते उ) (उ, ऋ०, बृ०); सिंचामि सयय देहा, सिंचामि सययं तं तु (बृ० पा०)।

५२—अग्गी य इइ के वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव बुवतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

अग्नयश्चेति के उक्ताः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

५२—अग्नि किन्हें कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

५३—कसाया अग्गिणो वुत्ता
सुयसीलतवो जलं ।
सुयधाराभिहया सन्ता
भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥

कषाया अग्नय उक्ताः
श्रुत-शील-तपो जलम् ।
श्रुतधाराभिहताः सन्तः
भिन्ना 'हु' न दहन्ति माम् ॥

५३—कषायों को अग्नि कहा गया है । श्रुत, शील और तप यह जल है । श्रुत की धारा से आहत किए जाने पर निस्तेज बनी हुई वे मुझे नही जलाती ।

५४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो । !
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

५४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा संशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

५५—अयं साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई ।
जंसि गोयम ! आरूढो
कह तेण न हीरसि ? ॥

अयं साहसिको भीमः
दुष्टाश्व परिधावति ।
यस्मिन् गौतम ! आरूढः
कथं तेन न ह्रियसे ? ॥

५५—यह साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड रहा है । गौतम ! तुम उस पर चढे हुए हो । वह तुम्हें उन्मार्ग में कैसे नहीं ले जाता ?

५६—पधावन्तं निगिण्हामि
सुयरस्सीसमाहियं ।
न मे गच्छइ उम्मग्गं
मग्गं च पडिवज्जई ॥

प्रधावन्तं निगृह्णामि
श्रुतरश्मि-समाहितम् ।
न मे गच्छत्युन्मार्गं
मार्गं च प्रतिपद्यते ॥

५६—मैंने इसे श्रुत की लगाम से बाँध लिया है । यह जब उन्मार्ग की ओर दौडता है तब मैं इस पर रोक लगा देता हूँ । इसलिए मेरा अश्व उन्मार्ग को नही जाता, मार्ग में ही चलता है ।

५७—अस्से य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं[1] बुवतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

अश्वश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

५७—अश्व किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

---

१. तओ केसिं (ब) ।

५८—मणो साहसिओ भीमो
दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं निगिण्हामि
धम्मसिक्खाए कन्थगं ॥

मनः साहसिको भीमः
दुष्टाश्वः परिधावति।
तत् सम्यक् निगृह्णामि
धर्म-शिक्षया कन्थकम् ॥

५८—यह जो साहसिक, भयंकर, दुष्ट-अश्व दौड़ रहा है, वह मन है। उसे मैं भली-भाँति अपने अधीन रखता हूँ। धर्म-शिक्षा के द्वारा वह उत्तम-जाति का अश्व हो गया है।

५९—साहु गोयम! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा! ॥

साधुः गौतम! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम्।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम! ॥

५९—गौतम! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरे इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

६०—कुप्पहा बहवो लोए
जेहिं नासन्ति जंतवो।
अद्धाणे कह वट्टन्ते
तं न नस्ससि? गोयमा! ॥

कुपथा बहवो लोके
यैर्नश्यन्ति जन्तवः।
अध्वनि कथं वर्तमानः
त्वं न नश्यसि? गौतम! ॥

६०—लोक में कुमार्ग बहुत हैं। जिन पर चलने वाले लोग भटक जाते हैं। गौतम! मार्ग में चलते हुए तुम कैसे नहीं भटकते?

६१—जे य मग्गेण गच्छन्ति
'जे य उम्मग्गपट्ठिया'[1]।
ते सव्वे विइया मज्झं
तो न नस्सामहं[2] मुणी! ॥

ये च मार्गेण गच्छन्ति
ये चोन्मार्ग-प्रस्थिताः।
ते सर्वे विदिता मया
ततो न नश्याम्यहं मुने! ॥

६१—जो मार्ग से चलते हैं और जो उन्मार्ग से चलते हैं, वे सब मुझे ज्ञात हैं। मुने! इसीलिए मैं नहीं भटक रहा हूँ।

६२—मग्गे य इइ के वुत्ते?
केसी गोयममब्बवी।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

मार्गश्चेति क उक्तः?
केशि गौतममब्रवीत्।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

६२—मार्ग किसे कहा गया है?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६३—कुप्पवयणपासण्डी
सव्वे उम्मग्गपट्ठिया।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं
एस मग्गे हि[3] उत्तमे ॥

कुप्रवचन-पाषण्डिनः
सर्वे उन्मार्ग-प्रस्थिताः।
सन्मार्गस्तु जिनाख्यातः
एष मार्गो हि उत्तमः ॥

६३—जो कुप्रवचन के व्रती हैं, वे सब उन्मार्ग की ओर चले जा रहे हैं। जो राग-द्वेष को जीतने वाले जिन ने कहा है, वह सन्मार्ग है, क्योंकि यह सबसे उत्तम मार्ग है।

---

१ जे उम्मग्ग पइट्ठिया (अ)।
२. नस्सामिह (अ)।
३. हे (अ)।

६४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झं
त मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

६४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा सशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

६५—महाउदगवेगेण
वुज्झमाणाण पाणिण ।
सरण गई पइट्ठा य
दीव 'क मन्नसी ?'[1] मुणी ! ॥

महोदकवेगेन
उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
शरणं गतिं प्रतिष्ठां च
द्वीपं कं मन्यसे ? मुने ! ॥

६५—मुने ! महान् जल-प्रवाह के वेग से बहते हुए जीवों के लिए तुम शरण, गति, प्रतिष्ठा और द्वीप किसे मानते हो ?

६६—अत्थि एगो महादीवो
वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स
गई तत्थ न विज्जई ॥

अस्त्येको महाद्वीपः
वारिमध्ये महालयः ।
महोदक-वेगस्य
गतिस्तत्र न विद्यते ॥

६६—जल के मध्य में एक लम्बा-चौडा महाद्वीप है । वहाँ महान् जल-प्रवाह की गति नही है ।

६७—दीवे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव बुवतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

द्वीपश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

६७—द्वीप किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

६८—जरामरणवेगेण
वुज्झमाणाण पाणिण ।
धम्मो दीवो 'पइट्ठा य'[2]
गई सरणमुत्तम ॥

जरा-मरण-वेगेन
उह्यमानानां प्राणिनाम् ।
धर्मो द्वीपः प्रतिष्ठा च
गतिः शरणमुत्तमम् ॥

६८—जरा और मृत्यु के वेग से बहते हुए प्राणियों के लिए धर्म द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।

६९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झं
त मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

६९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा सशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

---

१ कम्मुणसी ? (अ) ।
२. पत्तिट्ठा ण (अ) ।

७०—अण्णवंसि महोहसि
नावा विपरिधावई ।
जसि गोयममारूढो
कह पार गमिस्ससि ? ॥

अर्णवे महौघे
नौर्विपरिधावति ।
यस्यां गौतम ! आरूढः
कथ पारं गमिष्यसि ? ॥

७०—महा-प्रवाह वाले समुद्र में नौका तीव्र गति से चली जा रही है । गौतम ! तुम उसमें आरूढ हो । उस पार कैसे पहुँच पाओगे ?

७१—जा उ अस्साविणी[1] नावा
न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा
सा उ पारस्स गामिणी ॥

या त्वाश्राविणी नौ
न सा पारस्य गामिनी ।
या निराश्राविणी नौ
सा तु पारस्य गामिनी ॥

७१—जो छेद वाली नौका होती है, वह उस पार नहीं जा पाती । किन्तु जो नौका छेद वाली नहीं होती, वह उस पार चली जाती है ।

७२—नावा य इइ का वुत्ता ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव बुवतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

नौश्चेति कोक्ता ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
तत' केशि ब्रुवन्त तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

७२—नौका किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा । केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७३—सरीरमाहु नाव त्ति
जीवो वुच्चइ नाविओ ।
ससारो अण्णवो वुत्तो
ज तरन्ति महेसिणो ॥

शरीरमाहुर्नौरिति
जीव उच्यते नाविकः ।
ससारोऽर्णव उक्त
य तरन्ति महर्षयः ॥

७३—शरीर को नौका, जीव को नाविक और ससार को समुद्र कहा गया है । महान् मोक्ष की एषणा करने वाले इसे तैर जाते है ।

७४—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
अन्नो वि ससओ मज्झ
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधु. गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
अन्योऽपि सशयो मम
तं मां कथय गौतम् ॥

७४—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा । तुमने मेरे इस सशय को दूर किया है । मुझे एक दूसरा सशय भी है । गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ ।

७५—अन्धयारे तमे घोरे
चिट्ठन्ति पाणिणो बहू ।
को करिस्सइ उज्जोय
सव्वलोगमि पाणिण ? ॥

अन्धकारे तमसि घोरे
तिष्ठन्ति प्राणिनो बहव ।
कः करिष्यत्युद्योतं
सर्वलोके प्राणिनाम् ? ॥

७५—लोगों को अन्ध बनाने वाले तिमिर में बहुत लोग रह रहे हैं । इस समूचे लोक में उन प्राणियों के लिए प्रकाश कौन करेगा ?

---

१. सस्साविणी (बृ० पा०) ।

७६—उग्गओ विमलो भाणू
सव्वलोगप्पभकरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोगंमि पाणिणं ॥

उद्गतो विमलो भानुः
सर्वलोक-प्रभाकरः ।
स करिष्यत्युद्योतं
सर्वलोके प्राणिनाम् ॥

७६—समूचे लोक में प्रकाश करने वाला एक विमल भानु उगा है। वह समूचे लोक में प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा।

७७—भाणू य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेवं बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

भानुश्चेति क उक्तः ?
केशिः गौतममब्रवीत् ।
ततः केशिं ब्रुवन्तं तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

७७—भानु किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

७८—उग्गओ खीणसंसारो
सव्वन्नू जिणभक्खरो ।
सो करिस्सइ उज्जोयं
सव्वलोयंमि पाणिणं ॥

उद्गतः क्षीण-संसारः
सर्वज्ञो जिन-भास्करः ।
स करिष्यत्युद्योतं
सर्वलोके प्राणिनाम् ॥

७८—जिसका संसार क्षीण हो चुका है, जो सर्वज्ञ है वह अर्हत्-रूपी भास्कर समूचे लोक के प्राणियो के लिए प्रकाश करेगा।

७९—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे संसओ इमो ।
अन्नो वि संसओ मज्झं
तं मे कहसु गोयमा ! ॥

साधुः गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे संशयोऽयम् ।
अन्योऽपि संशयो मम
तं मां कथय गौतम ! ॥

७९—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। तुमने मेरा इस संशय को दूर किया है। मुझे एक दूसरा संशय भी है। गौतम ! उसके विषय में भी तुम मुझे बतलाओ।

८०—सारीरमाणसे दुक्खे
बज्झमाणाण[1] पाणिणं ।
खेमं सिवमणाबाहं
ठाणं किं मन्नसी ? मुणी ! ॥

शारीरमानसैर्दुःखैः
बाध्यमानानां प्राणिनाम् ।
क्षेमं शिवमनाबाधं
स्थानं किं मन्यसे ? मुने ! ॥

८०—शारीरिक और मानसिक दुःखो से पीडित होते हुए प्राणियों के लिए क्षेम, शिव और अनाबाध स्थान किसे मानते हो ? मुने !

८१—अत्थि एगं धुवं ठाणं
लोगग्गंमि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू
वाहिणो वेयणा तहा ॥

अस्त्येकं ध्रुवं स्थानं
लोकाग्रे दुरारोहं ।
यत्र नास्ति जरा मृत्युः
व्याधयो वेदनास्तथा ॥

८१—लोक के शिखर में एक [illegible]सा शाश्वत स्थान है, जहाँ पहुँच पाना बहुत कठिन है और जहाँ नही है—जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदना।

---

१ पच्चमाणाण (बृ० पा०) ।

८२—ठाणे य इइ के वुत्ते ?
केसी गोयममब्बवी ।
केसिमेव बुवंतं तु
गोयमो इणमब्बवी ॥

स्थानं चेति किमुक्त ?
केशि गौतममब्रवीत् ।
तत केशिं ब्रुवन्त तु
गौतम इदमब्रवीत् ॥

८२—स्थान किसे कहा गया है ?—केशी ने गौतम से कहा। केशी के कहते-कहते ही गौतम इस प्रकार बोले—

८३—निव्वाण ति अवाह ति
सिद्धी लोगग्गमेव य ।
खेम सिव अणावाहं
ज चरन्ति महेसिणो ॥

निर्वाणमित्यबाधमिति
सिद्धिर्लोकाग्रमेव च ।
क्षेम शिवमनाबाध
यच्चरन्ति महैषिण ॥

८३—जो निर्वाण है, जो अबाध, सिद्धि, लोकाग्र, क्षेम, शिव और अनाबाध है, जिसे महान् की एषणा करने वाले प्राप्त करते है—

८४—त ठाण सासयवास
लोगग्गमि दुरारुह ।
ज सपत्ता न सोयन्ति
भवोहन्तकरा मुणी ॥

तत् स्थान शाश्वत वास
लोकाग्रे दुरारोहम् ।
यत्सम्प्राप्ता न शोचन्ति
भवौघान्तकरा: मुनय. ॥

८४—भव-प्रवाह का अन्त करने वाले मुनि जिसे प्राप्त कर शोक से मुक्त हो जाते है, जो लोक के शिखर में शाश्वत-रूप से अवस्थित है, जहाँ पहुँच पाना कठिन है, उसे मैं स्थान कहता हूँ।

८५—साहु गोयम ! पन्ना ते
छिन्नो मे ससओ इमो ।
नमो ते ससयाईय
सव्वसुत्तमहोयही ! ॥

साधु: गौतम ! प्रज्ञा ते
छिन्नो मे सशयोऽयम् ।
नमस्तुभ्य सशयातीत !
सर्वसूत्र-महोदधे ! ॥

८५—गौतम ! उत्तम है तुम्हारी प्रज्ञा। हे सशयातीत ! हे सर्वसूत्र-महोदधि ! मैं तुम्हे नमस्कार करता हूँ।

८६—एव तु ससए छिन्ने
केसी घोरपरक्कमे ॥
'अभिवन्दित्ता सिरसा
गोयम तु महायस'[1] ॥

एव तु सशये छिन्ने
केशिः घोर-पराक्रम ।
अभिवन्द्य शिरसा
गौतम तु महायशसम् ॥

८६—इस प्रकार सशय दूर होने पर घोर-पराक्रम वाले केशी महान् यशस्वी गौतम का शिर से अभिवन्दन कर—

८७—'पचमहव्वयधम्म
पडिवज्जइ भावओ ।
पुरिमस्स पच्छिममी[2]
मग्गे तत्थ सुहावहे ॥'[3]

पचमहाव्रत-धर्म
प्रतिपद्यते भावतः ।
पूर्वस्य पश्चिमे
मार्गे तत्र सुखावहे ॥

८७—पूर्व मार्ग से सुखावह पश्चिम मार्ग मे प्रविष्ट हुए।

१ वदित्तु पजलिउडो गोतम तु महामुणी (चू०)।
२. पच्छिमस्सी (अ)।
३. पच महव्वय जुत्त भावतो पडिवज्जिया ।
धम्म पुरिमस्स पच्छिममि मग्गे सुहावहे ॥ (चू०)।

८८—केसीगोयमओ निच्चं
तम्मि आसि समागमे।
सुयसीलसमुक्करिसो
महत्थऽत्थविणिच्छओ ॥

केशि-गौतमयोर्नित्य
तस्मिन्नासीत् समागमे।
श्रुत-शील-समुत्कर्ष.
महार्थार्थविनिश्चयः ॥

८८—उस वन में होने वाला केशी और गौतम का सतत मिलन श्रुत और शील का उत्कर्ष करने वाला और महान् प्रयोजन वाले अर्थों का विनिश्चय करने वाला था।

८९—तोसिया परिसा सव्वा
'सम्मग्ग 'समुवट्ठिया'[२]।
'सथुया ते पसीयन्तु'[३]
भयव केसिगोयमे ॥
—त्ति बेमि।

तोषिता परिषत् सर्वा
सन्मार्गं समुपस्थिताः।
सस्तुतौ तौ प्रसीदताम्
भगवन्तौ केशि-गौतमौ ॥
—इति ब्रवीमि।

८९—जिनकी गति-विधि से परिषद् को सन्तोष हुआ और वह सन्मार्ग पर उपस्थित हुई, वे परिषद् द्वारा प्रशसित भगवान केशी और गोतम प्रसन्न हो।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१ पज्जुवट्ठिया (वृ० पा०)।
२ सम्मत्ते पज्जुवत्यिया (चू०)।
३. सजुता ते पदीसतु (चू०)।

चउवीसइमं अज्झयणं :
पवयण-माया

चतुर्विंश अध्ययन :
प्रवचन-माता

आमुख

जार्ल सरपेन्टियर के अनुसार सभी आदर्शों में इस अध्ययन का नाम 'समिईयो' है ।[1] समवायाग में भी इसका यही नाम है ।[2] निर्युक्तिकार ने इसका नाम 'प्रवचन-मात' या 'प्रवचन-माता' माना है ।[3]

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप और उत्सर्ग—इन पाँच समितियों तथा मनो-गुप्ति, वाग्-गुप्ति और काय-गुप्ति—इन तीनों गुप्तियों का सयुक्त नाम 'प्रवचन-माता' या 'प्रवचन-मात' है । (श्लो० १)

रत्नत्रयी (सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चारित्र) को भी प्रवचन कहा जाता है । उसकी रक्षा के लिए पाँच समितियाँ और तीन गुप्तियाँ माता-स्थानीय है । अथवा प्रवचन (मुनि) के समस्त चारित्र के उत्पादन, रक्षण और विशोधन के ये आठों अनन्य साधन है अत' उन्हें 'प्रवचन-माता' कहा गया है ।[4]

इनमे प्रवचन (गणिपिटक—द्वादशाङ्ग) समा जाता है । इसलिए उन्हें 'प्रवचन-मात' भी कहा जाता है ।(श्लो०३)

मन, वाणी और शरीर के गोपन, उत्सर्ग या विसर्जन को गुप्ति और सम्यग् गति, भाषा, आहार की एषणा, उपकरणों का ग्रहण-निक्षेप और मल-मूत्र आदि के उत्सर्ग को समिति कहा जाता है । गुप्ति निवर्तन है और समिति सम्यक् प्रवर्तन । प्रथम श्लोक मे इनका पृथक् विभाग है किन्तु तीसरे श्लोक मे इन आठों को समिति भी कहा गया है ।

समिति का अर्थ है सम्यक्-प्रवर्तन । सम्यक् और असम्यक् का मापदण्ड अहिंसा है । जो प्रवृत्ति अहिंसा से सबलित है वह समिति है । समितियाँ पाँच है—

१—ईर्या समिति—गमनागमन सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

२—भाषा समिति—भाषा सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

३—एषणा समिति—जीवन-निर्वाह के आवश्यक उपकरणों—आहार, वस्त्र आदि के ग्रहण और उपभोग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

४—आदान समिति—दैनिक व्यवहार मे आने वाले पदार्थों के व्यवहरण सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

५—उत्सर्ग समिति—उत्सर्ग सम्बन्धी अहिंसा का विवेक ।

१—उत्तराध्ययन सूत्र, दी, पृष्ठ ३६५ ।

२—समवायाग, समवाय ३६

३—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४५८

जाणगसरीरभविए तव्वइरित्ते अ भायणे दव्व।
भावमि अ समिईओ माय खलु पवयण जत्थ ॥

(ख) वही, गा० ४५९

अट्ठसुवि समिईसु अ दुवालसग समोअरइ जम्हा ।
तम्हा पवयणमाया अज्झयण होइ नायव्व ॥

४—मूलाराधना, आश्वास ६, श्लोक ११८५, मूलाराधना दर्पण, पृष्ठ ११७२

प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातर इव पुत्राणां मातर इव सम्यग्दर्शनादीनां अपायनिवारणपरायणास्तिस्रो गुप्तय, पंचसमितयश्च । अथवा प्रवचनस्य मुनेश्चारित्रमात्रस्योत्पादनरक्षण-विशोधनविधानात् तास्तथा व्यपदिश्यन्ते ।

इन पाँच समितियों का पालन करने वाला मुनि जीवाकुल ससार मे रहता हुआ भी पापों से लिप्त नहीं होता ।[1]

जिस प्रकार दृढ कवचधारी योद्धा बाणों की वर्षा होने पर भी नही बींधा जा सकता, उसी प्रकार समितियों का सम्यक् पालन करने वाला मुनि साधु-जीवन के विविध कार्यों मे प्रवर्तमान होता हुआ भी पापों से लिप्त नही होता ।[2]

गुप्ति का अर्थ है निवर्तन । वे तीन प्रकार की हैं—

१—मनोगुप्ति—असत् चिन्तन से निवर्तन ।

२—वचनगुप्ति—असत् वाणी से निवर्तन ।

३—कायगुप्ति—असत् प्रवृत्ति से निवर्तन ।

जिस प्रकार क्षेत्र की रक्षा के लिए बाड, नगर की रक्षा के लिए खाई या प्राकार होता है, उसी प्रकार श्रामण्य की सुरक्षा के लिए, पाप के निरोध के लिए गुप्ति है ।[3]

महाव्रतों की सुरक्षा के तीन साधन है—

१—रात्रि-भोजन की निवृत्ति ।

२—आठ प्रवचन-माताओं में जागरूकता ।

३—भावना (सस्कारापादन—एक ही प्रवृत्ति का पुन:-पुन: अभ्यास) ।

इस प्रकार महाव्रतों की परिपालना समिति-गुप्ति-सापेक्ष है । इनके होने पर महाव्रत सुरक्षित रहते हैं और न होने पर असुरक्षित ।[4]

यह अध्ययन साधु आचार का प्रथम और अनिवार्य अग है । कहा गया है कि चौदह पूर्व पढ लेने पर भी जो मुनि प्रवचन-माताओं मे निपुण नही है, उसका ज्ञान अज्ञान है । जो व्यक्ति कुछ नही जानता और प्रवचन-माताओं मे निपुण है, सचेत है, वह व्यक्ति स्व-पर के लिए त्राण है ।

मुनि कैसे खाए ?, कैसे बोले ?, कैसे चले ?, वस्तुओं का व्यवहरण कैसे करे ? उत्सर्ग कैसे करे ?—इनका स्पष्ट विवेचन इस अध्ययन मे दिया गया है ।

मुनि जब चले तब गमन की क्रिया में उपयुक्त हो जाए, एक तान हो जाए । प्रत्येक चरण पर उसे यह भान रहे कि—"मै चल रहा हूँ ।" वह चलने की स्मृति को क्षण मात्र के लिए भी न भूले । युग-मात्र भूमि को देख कर चले । चलते समय अन्यान्य विषयो का वर्जन करे । (श्लो० ६,७,८)

१—मूलाराधना, ६।१२००

एदाहि सदा जुत्तो, समिदीहि जगम्मि विहरमाणे हु ।
हिंसादिहि न लिप्पइ, जीवणिकायाउले साहू ॥

२—वही, ६।१२०२ :

सरवासे वि पडते, जह दढकवचो ण विज्झदि सरेहि ।
तह समिदीहि ण लिप्पई, साधू काएसु इरियंतो ॥

३—वही, ६।११८९ :

छेत्तस्स वदी णयरस्स, खाइया अहव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो, ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥

४—मूलाराधना, ६।११८५ :

तेसिं चेव वदाण, रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठप्पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ॥

विजयोदया वृत्ति, पृष्ठ ११७२ : सत्यां रात्रि भोजन-निवृत्तौ प्रवचनमातृकासु भावनासु वा सतीषु हिंसादिव्यावृत्तत्व भवति । न तास्वसतीषु इति ॥

मुनि झूठ न बोले। झूठ के आठ कारण हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, मौखर्य और विकथा। मुनि इनका वर्जन करे। यह भाषा समिति का विवेक है।

मुनि शुद्ध एषणा करे। गवेषणा, ग्रहणैषणा और भोगैषणा के दोषों का वर्जन करे। (श्लो० ११,१२)

मुनि को प्रत्येक वस्तु याचित मिलती है। उसका पूर्ण उपयोग करना उसका कर्त्तव्य है। प्रत्येक पदार्थ का व्यवहरण उपयोग-सहित होना चाहिए। वस्तु को लेने या रखने में अहिंसा की दृष्टि होनी चाहिए। (श्लो० १३,१४)

मुनि के उत्सर्ग करने की विधि भी बहुत विवेक-पूर्ण होनी चाहिए। ज्यों-त्यों, जहाँ-कहीं वह उत्सर्ग नहीं कर सकता। जहाँ लोगों का आवागमन न हो, जहाँ चूहों आदि के बिल न हों, जो त्रस या स्थावर प्राणियों से युक्त न हो—ऐसे स्थान पर मुनि को उत्सर्ग करना चाहिए। यह विधि अहिंसा की पोषक तो है ही किन्तु सभ्यजन-सम्मत भी है। (श्लो० १५,१६,१७,१८)

मानसिक तथा वाचिक संक्लेशों से पूर्णत निवृत्त होना मनोगुप्ति तथा वचनगुप्ति है।

मनोयोग चार प्रकार का है—

१—सत्य मनोयोग।

२—असत्य मनोयोग।

३—मिश्र मनोयोग।

४—व्यवहार मनोयोग।

वचनयोग चार प्रकार का है—

१—सत्य वचनयोग।

२—असत्य वचनयोग।

३—मिश्र वचनयोग।

४—व्यवहार वचनयोग।

काययोग—

स्थान, निषीदन, शयन, उल्लघन, गमन और इन्द्रियों के व्यापार मे असत् अश का वर्जन करना—काय-गुप्ति है।

सम्पूर्ण दृष्टि से देखा जाए तो यह अध्ययन समूचे साधु-जीवन का उपष्टम्भ है। इसके माध्यम से ही श्रामण्य का शुद्ध परिपालन सभव है। जिस मुनि की प्रवचन-माताओं के पालन में विशुद्धता है उसका समूचा आचार विशुद्ध है। जो इसमे स्खलित होता है वह समूचे आचार मे स्खलित होता है।

चउविसइमं अज्झयण : चतुर्विंश अध्ययन

पवयण-माया : प्रवचन-माता

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
—अट्ठ पवयणमायाओ समिई गुत्ती तहेव य । पंचेव य समिईओ तओ गुत्तीओ आहिया ॥	अष्टौप्रवचन-मातर' समितयो गुप्तयस्तथैव च । पञ्चेव च समितय तिस्रो गुप्तय आख्याताः ॥	१—आठ प्रवचन माताऐं है—समिति और गुप्ति । समितियाँ पाँच और गुप्तियाँ तीन ।
२—इरियाभासेसणादाणे उच्चारे समिई इय । मणगुत्ती वयगुत्ती कायगुत्ती य[1] अट्ठमा ॥	ईर्याभाषैषणादाने उच्चारे समितिरिति । मनोगुप्तिर्वचोगुप्तिः कायगुप्तिश्चाष्टमी ॥	२—ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदान-समिति, उच्चार-समिति, मनो-गुप्ति, वचन-गुप्ति और आठवी काय-गुप्ति है ।
३—एयाओ अट्ठ समिईओ समासेण वियाहिया । दुवालसग जिणक्खाय माय जत्थ उ पवयण ॥	एता अष्टौ समितयः समासेन व्याख्याता । द्वादशाङ्ग जिनाख्यात मात यत्र तु प्रवचनम् ॥	३—ये आठ समितियाँ सक्षेप में कही गई है । इनमें जिन-भाषित द्वादशाङ्ग-रूप प्रवचन समाया हुआ है ।
४—आलम्बणेण कालेण मग्गेण जयणाइ य । चउकारणपरिसुद्ध सजए इरिय रिए ॥	आलम्बनेन कालेन मार्गेण यतनया च । चतुष्कारण-परिशुद्धां सयत ईर्यां रीयेत ॥	४—सयमी मुनि आलम्बन, काल, मार्ग और यतना—इन चार कारणों से परिशुद्ध ईर्या (गति) से चले ।
५—तत्थ आलवण नाण दसण चरण तहा । काले य दिवसे वुत्ते मग्गे उप्पहवज्जिए[2] ॥	तत्रालम्बन ज्ञानं दर्शन चरणं तथा । कालश्च दिवस उक्तः मार्ग उत्पथ-वर्जित ॥	५—उनमें ईर्या का आलम्बन, ज्ञान, दर्शन और चारित्र है । उसका काल दिवस है और उत्पथ का वर्जन करना उसका मार्ग है ।

१ उ (अ) ।
२. दुप्पह वज्जिए (अ) ।

६—दव्वओ खेत्तओ चेव
कालओ भावओ तहा।
जयणा[1] चउव्विहा वुत्ता
त मे कित्तयओ सुण॥

द्रव्यत. क्षेत्रतश्चैव
कालतो भावतस्तथा।
यतना चतुर्विधा उक्ता
तां मे कीर्तयतः शृणु॥

६—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से यतना चार प्रकार की कही गई है। वह मैं कह रहा हूँ, सुनो।

७—दव्वओ चक्खुसा पेहे
जुगमित्त च खेत्तओ।
कालओ जाव रीएज्जा
उवउत्ते य भावओ॥

द्रव्यतश्चक्षुषा प्रेक्षेत
युग-मात्र च क्षेत्रतः।
कालतो यावद्रीयेत
उपयुक्तश्च भावतः॥

७—द्रव्य से—आँखो से देखे। क्षेत्र से—युग-मात्र (गाडी के जुए जितनी) भूमि को देखे। काल से—जब तक चले तब तक देखे। भाव से—उपयुक्त (गमन में दत्तचित्त) रहे।

८—इन्दियत्थे विवज्जित्ता
सज्झाय चेव पचहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे
उवउत्ते इरिय[2] रिए॥

इन्द्रियार्थान् विवर्ज्य
स्वाध्याय चैव पचधा।
तन्मूर्त्तिः तत्पुरस्कारः
उपयुक्त ईर्यां रीयेत॥

८—इन्द्रियों के विषयों और पाँच प्रकार के स्वाध्याय का वर्जन कर, ईर्या में तन्मय हो, उसे प्रमुख बना उपयोग पूर्वक चले।

९—'कोहे माणे य मायाए
लोभे य उवउत्तया[3]।
हासे भए मोहरिए
विगहासु तहेव च॥'[4]

क्रोधे माने च मायायां
लोभे चोपयुक्तता।
हासे भये मौखर्ये
विकथासु तथैव च॥

९—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, भय, वाचालता और विकथा के प्रति सावधान रहे—इनका प्रयोग न करे।

१०—एयाइ अट्ठ ठाणाइ
परिवज्जित्तु सजए।
असावज्ज मिय काले
भासं भासेज्ज पन्नव॥

एतान्यष्टौ स्थानानि
परिवर्ज्य सयत।
असावद्या मितां काले
भाषां भाषेत प्रज्ञावान्॥

१०—प्रज्ञावान् मुनि इन आठ स्थानो का वर्जन कर यथा-समय निरवद्य और परिमित वचन बोले।

११—'गवेसणाए गहणे य
परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहिसेज्जाए
एए तिन्नि विसोहए॥'[5]

गवेषणाया ग्रहणे च
परिभोगैषणा च या।
आहारोपधिशय्याया
एतास्तिस्रो विशोधयेत्॥

११—आहार, उपधि और शय्या के विषय में गवेषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा इन तीनो का विशोधन करे।

---

१ जायणा (ऋ०)।
२ रिय (ऋ०)।
३ उवउत्तओ (अ)।
४ कोहे य माणे य माया य लोभे य तहेव य।
हास भय मोहरीए विकहा य तहेव य॥ (वृ० पा०)।
५ गवेसणाए गहणेण परिभोगेसणाणि य।
आहारसुवहि सेज्ज एए तिन्नि विसोहिय॥ (वृ० पा०)।

१२—उग्गमुप्पायणं पढमे
बीए सोहेज्ज एसण।
परिभोयमि चउक्कं
विसोहेज्ज जयं जई॥

उद्गमोत्पादनं प्रथमायां
द्वितीयायां शोधयेदेषणाम्।
परिभोगे चतुष्कं
विशोधयेद् यतं यतिः॥

१२—यतनाशील यति प्रथम एषणा (गवेषणा-एषणा) में उद्गम और उत्पादन—दोनों का शोधन करे। दूसरी एषणा (ग्रहण-एषणा) में एषणा (ग्रहण) सम्बन्धी दोषों का शोधन करे और परिभोगैषणा में दोष-चतुष्क (संयोजना, अप्रमाण, अंगार-धूम और कारण) का शोधन करे।

१३—ओहोवहोवग्गहियं
भण्डगं दुविहं मुणी।
गिण्हन्तो निक्खिवन्तो य
पउंजेज्ज इमं विहिं॥

ओघोपध्यौपग्रहिकं
भाण्डकं द्विविधं मुनिः।
गृह्णन्निक्षिपंश्च
प्रयुञ्जीतेमं विधिम्॥

१३—मुनि ओघ-उपधि (सामान्य उपकरण) और औपग्रहिक-उपधि (विशेष उपकरण)—दोनों प्रकार के उपकरणों को लेने और रखने में इस विधि का प्रयोग करे—

१४—चक्खुसा पडिलेहित्ता
पमज्जेज्ज जयं जई।
आइए निक्खिवेज्जा वा
दुहओ वि समिए सया॥

चक्षुषा प्रतिलिख्य
प्रमार्जयेद् यतं यतिः।
आददीत निक्षिपेद् वा
द्विधातोऽपि समितः सदा॥

१४—सदा सम्यक्-प्रवृत्त और यतनाशील यति दोनों प्रकार के उपकरणों का चक्षु से प्रतिलेखन कर तथा रजोहरण आदि से प्रमार्जन कर उन्हें ले और रखे।

१५—उच्चारं पासवणं
खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहिं देहं
अन्नं वावि तहाविहं॥

उच्चारं प्रस्रवणं
क्ष्वेलं सिङ्घाणं जल्लकम्।
आहारमुपधिं देहं
अन्यद्वापि तथाविधम्॥

१५—उच्चार, प्रस्रवण, श्लेष्म, नाक का मैल, मैल, आहार, उपधि, शरीर या उसी प्रकार की दूसरी कोई उत्सर्ग करने योग्य वस्तु का उपयुक्त स्थण्डिल में उत्सर्ग करे।

१६—अणावायमसंलोए
अणावाए चेव होइ संलोए।
आवायमसंलोए
आवाए चेव संलोए॥

अनापातमसंलोकम्
अनापातं चैव भवति संलोकम्।
आपातमसंलोकम्
आपातं चैव संलोकम्॥

१६—स्थण्डिल चार प्रकार के होते हैं—
१—अनापात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, वे दूर से भी न दीखते हों।
२—अनापात-संलोक—जहाँ लोगों का आवागमन न हो, किन्तु वे दूर से दीखते हों।
३—आपात-असंलोक—जहाँ लोगों का आवागमन हो, किन्तु वे दूर से न दीखते हों।
४—आपात-संलोक—जहाँ लोगों का आवागमन भी हो, और वे दूर से दीखते भी हों।

१७—अणावायमसलोए
परस्सऽणुवघाइए ।
समे अज्झुसिरे यावि
अचिरकालकयमि य ॥

आनापातेऽसंलोके
परस्यानुपघातिके ।
समेऽशुषिरे चापि
अचिरकालकृते च ॥

१७—जो स्थण्डिल, अनापात-असलोक, पर के लिए अनुपघातकारी, सम, अशुषिर (पोल या दरार रहित) कुछ समय पहले ही निर्जीव बना हुआ—

१८—वित्थिण्णे दूरमोगाढे
नासन्ने बिलवज्जिए ।
तसपाणबीयरहिए
उच्चाराईणि वोसिरे ॥

विस्तीर्णे दूरमवगाढ़े
नासन्ने बिलवर्जिते ।
त्रसप्राणबीजरहिते
उच्चारादीनि व्युत्सृजेत् ॥

१८—कम से कम एक हाथ विस्तृत तथा नीचे से चार अगुल की निर्जीव परत वाला, गाँव आदि से दूर, बिल रहित और त्रस प्राणी तथा बीजो से रहित हो—उसमें उच्चार आदि का उत्सर्ग करे ।

१९—एयाओ पच समिईओ
समासेण वियाहिया ।
एत्तो य तओ गुत्तीओ
वोच्छामि अणुपुव्वसो ॥

एताः पचसमितयः
समासेन व्याख्याताः ।
इतश्च तिस्रो गुप्तीः
वक्ष्याम्यनुपूर्व्वशः ॥

१९—ये पाँच समितियाँ सक्षेप में कहीं गई है । यहाँ से क्रमशः तीन गुप्तियाँ कहूँगा ।

२०—सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
मणगुत्ती चउव्विहा ॥

सत्या तथैव मृषा च
सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्यसत्यामृषा
मनोगुप्तिश्चतुर्विधा ॥

२०—सत्या, मृषा, सत्यामृषा और चौथी असत्यामृषा—इस प्रकार मनो-गुप्ति के चार प्रकार है ।

२१—संरम्भसमारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
मण पवत्तमाण तु
नियत्तेज्ज जय जई ॥

संरम्भ-समारम्भे
आरम्भे च तथैव च ।
मन. प्रवर्तमानं तु
निवर्त्तयेद्यत यतिः ॥

२१—यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान मन का निवर्तन करे ।

२२—सच्चा तहेव मोसा य
सच्चामोसा तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा
वइगुत्ती चउव्विहा ॥

सत्या तथैव मृषा च
सत्यामृषा तथैव च ।
चतुर्थ्य सत्यामृषा
वचो-गुप्तिश्चतुर्विधा ॥

२२—सत्या, मृषा, सत्या-मृषा और असत्या-मृषा—इस प्रकार वचन-गुप्ति के चार प्रकार हैं ।

२३—सरम्भसमारम्भे
आरम्भे य तहेव य ।
वय पवत्तमाण तु
नियत्तेज्ज जयं जई ॥

संरम्भ-समारम्भे
आरम्भे च तथैव च ।
वचः प्रवर्तमान तु
निवर्तयेद्यत यति. ॥

२३—यतनाशील यति सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान वचन का निवर्तन करे ।

२४—ठाणे निसीयणे चेव
तहेव य तुयट्टणे ।
उल्लघणपल्लघणे
इन्दियाण य जुजणे ॥

स्थानेनिषदने चैव
तथैव च त्वग्-वर्तने ।
उल्लङ्घन-प्रलङ्घने
इन्द्रियाणा च योजने ॥

२४—ठहरने, बैठने, लेटने, उल्लघन-प्रलघन करने और इन्द्रियों के व्यापार में—

२५—सरम्भसमारम्भे
आरम्भम्मि तहेव य ।
काय पवत्तमाण तु
नियत्तेज्ज जय जई ॥

सरम्भ-समारम्भे
आरम्भे तथव च ।
काय प्रवर्तमान तु
निवर्तयेद्यत यति ॥

२५—सरम्भ, समारम्भ और आरम्भ में प्रवर्तमान काया का निवर्तन करे।

२६—एयाओ पच समिईओ
चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता
असुभत्थेसु सव्वसो ॥

एता पच समितयः
चरणस्य च प्रवर्तने ।
गुप्तयो निवर्तने उक्ताः
अशुभार्थेभ्यः सवभ्यः ॥

२६—ये पाँच समितियाँ चारित्र की प्रवृत्ति के लिए है और तीन गुप्तियाँ सब अशुभ विषयों से निवृत्ति करने के लिए है।

२७—एया पवयणमाया
जे सम्म आयरे मुणी ।
से खिप्प सव्वससारा
विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥
—त्ति बेमि ।

एता प्रवचन-मातृ
यः सम्यगाचरेन्मुनिः ।
स क्षिप्र सर्वससारात्
विप्रमुच्यते पण्डितः ॥
—इति ब्रवीमि ।

२७—जो पण्डित मुनि इन प्रवचन-माताओं का सम्यक् आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व संसार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

पंचविंसइमं अज्झयणं :

जन्नइज्जं

पंचविंश अध्ययन :

यज्ञीय

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'जन्नइज्ज'--'यज्ञीय' है। इसका मुख्य विवक्षित विषय यज्ञ है।[1] यज्ञ शब्द का अर्थ देव-पूजा है। जीव-वध आदि बाह्य अनुष्ठान के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ को जैन-परम्परा मे द्रव्य (अवास्तविक)-यज्ञ कहा है। वास्तविक यज्ञ भाव-यज्ञ होता है। उसका अर्थ है— तप और सयम मे यतना— अनुष्ठान करना।[2]

प्रसगवश इस अध्ययन मे (१६ वें श्लोक से ३२ वें श्लोक तक) ब्राह्मण के मुख्य गुणों का उल्लेख हुआ है।

वाराणसी नगरी मे जयघोष और विजयघोष नाम के दो ब्राह्मण रहते थे। वे काश्यप-गोत्रीय थे। वे पूजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह इन छह कर्मों मे रत और चार वेदों के अध्येता थे। वे दोनो युगल रूप मे जन्मे हुए थे। एक बार जयघोष स्नान करने नदी पर गया हुआ था। उसने देखा कि एक सर्प मेढक को निगल रहा है। इतने में एक कुरर पक्षी वहाँ आया और सर्प को पकड़ कर खाने लगा। मरणकाल आसन्न होने पर भी सर्प मडूक को खाने मे रत था और इधर कम्पायमान सर्प को खाने मे कुरर आसक्त था। इस दृश्य को देख जयघोष उद्विग्न हो उठा। एक दूसरे के उपघात को देख कर उसका मन वैराग्य से भर गया। वह प्रतिबुद्ध हो गया। गगा को पार कर श्रमणों के पास पहुँचा। अपने उद्वेग का समाधान पा श्रमण हो गया।

एक बार मुनि जयघोष एक-रात्रि की प्रतिमा को स्वीकार कर ग्रामानुग्राम विहार करते हुए वाराणसी आए। बहिर्भाग मे एक उद्यान मे ठहरे। आज उनके एक महीने की तपस्या का पारणा था। वे भिक्षा लेने नगर मे गए। उसी दिन ब्राह्मण विजयघोष ने यज्ञ प्रारम्भ किया था। दूर-दूर से ब्राह्मण बुलाए गए थे। उनके लिए विविध भोजन-सामग्री तैयार की गई थी। मुनि जयघोष भिक्षा लेने यज्ञ-वाट में पहुँचे। भिक्षा की याचना की। प्रमुख याजक विजयघोष ने कहा—"मुने। मै तुम्हे भिक्षा नही दूँगा। तुम कही अन्यत्र चले जाओ। जो ब्राह्मण वेदों को जानते है, जो यज्ञ आदि करते है, जो शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष— वेद के इन छह अगों के पारगामी है तथा जो अपनी और दूसरों की आत्मा का उद्धार करने मे समर्थ है—उन्ही को यह प्रणीत अन्न दिया जाएगा, तुम जैसे व्यक्तियों को नही। (श्लो० ६,७,८)

मुनि जयघोष ने यह बात सुनी। प्रतिषिद्ध किए जाने पर रुष्ट नही हुए। सम-भाव का आचरण करते हुए स्थिर-चित्त हो, भोजन पाने के लिए नही किन्तु याजकों को सही ज्ञान कराने के लिए कई तथ्य प्रकट किए। ब्राह्मणों के लक्षण बताए। मुनि के वचन सुन विजयघोष ब्राह्मण सम्बुद्ध हुआ और उनके पास दीक्षित हो गया। सम्यक् आराधना कर दोनों सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए।

१—उत्तराध्ययन, निर्युक्ति गाथा ४६२

जयघोसा अणगारा विजयघोसस्स जन्नकिच्चमि।
तत्तो समुट्टियमिग अज्झयण जन्नइज्जन्ति॥

२—वही, गाथा ४६१

तवसजमेसु जयणा भावे जन्नो मुणेयव्वो॥

मुनि को भोजन के लिए, पान के लिए, वस्त्र के लिए, वसती के लिए आदि-आदि कारणों से धर्मोपदेश नही देना चाहिए, किन्तु केवल आत्मोद्धार के लिए ही उपदेश देना चाहिए। इसी तथ्य को स्पष्टता से व्यक्त करते हुए जयघोष मुनि ब्राह्मण विजयघोष से कहते है—

"मुनि न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी अन्य जीवन-निर्वाह के साधन के लिए, लेकिन मुक्ति के लिए धर्मोपदेश देते है। मुझे भिक्षा से कोई प्रयोजन नही। तुम निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार करो। (श्लो० १०,३८)

"भोग आसक्ति है और अभोग अनासक्ति। आसक्ति संसार है और अनासक्ति मोक्ष। मिट्टी के दो गोले है—एक गीला और दूसरा सूखा। जो गीला होता है वह भित्ति पर चिपक जाता है और जो सूखा होता है वह नही चिपकता। इसी प्रकार जो व्यक्ति आसक्ति से भरा है, कर्म-पुद्गल उसके चिपकते है और जो अनासक्त है, कर्म उसके नही चिपकते। (श्लो० ३८ से ४१)

"बाह्य-चिह्न, वेष आदि आन्तरिक पवित्रता के द्योतक नही है। बाह्य-लिंग सम्प्रदायानुगत अस्तित्व के द्योतक मात्र है। मुण्डित होने मात्र से कोई श्रमण नही होता। ॐकार का जाप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्य मे रहने मात्र से कोई मुनि नहीं होता, दर्भ-वल्कल आदि धारण करने मात्र से कोई तापस नही होता। (श्लो० २६)

"समभाव से समण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तपस्या से तापस होता है। (श्लो० ३१)

"जातिवाद अतात्त्विक है। अपने-अपने कार्य से व्यक्ति ब्राह्मण आदि होता है। जाति कार्य के आधार पर विभाजित है, जन्म के आधार पर नही। मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय, कर्म से वैश्य और कर्म से शूद्र।" (श्लो० ३१)

वेद, यज्ञ, धर्म और नक्षत्र का मुख क्या है ? अपनी तथा दूसरों की आत्मा का सुधार करने मे कौन समर्थ है ?—इन प्रश्नों का समाधान मुनि जयघोष ने विस्तार से दिया है। (श्लो० १६ से ३३)

पंचविंसइमं अज्झयणं : पंचविंश अध्ययन

जन्नइज्जं : यज्ञीयम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—माहणकुलसंभूओ आसि विप्पो महायसो । जायाई जमजन्नमि जयघोसे त्ति नामओ ॥	माहन-कुल-सम्भूतः आसीद् विप्रो महायशाः । यायाजी यम-यज्ञे जयघोष इति नामतः ॥	१—ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक महान् यशस्वी विप्र था। वह जीव-संहारक यज्ञ में लगा रहता था। उसका नाम था जयघोष।
२—इन्दियग्गामनिग्गाही मग्गगामी महामुणी । गामाणुगाम रीयन्ते पत्ते वाणारसिं पुरिं ॥	इन्द्रिय-ग्राम-निग्राही मार्ग-गामी महामुनिः । ग्रामानुग्राम रीयमाणः प्राप्तो वाराणसीं पुरीम् ॥	२—वह इन्द्रिय-समूह का निग्रह करने वाला मार्ग-गामी महामुनि हो गया। एक गाँव से दूसरे गाँव जाता हुआ वह वाराणसी पुरी पहुँच गया।
३—वाणारसीए[1] बहिया उज्जाणंमि मणोरमे । फासुए सेज्जसंथारे तत्थ वासमुवागए ॥	वाराणस्या बहिः उद्याने मनोरमे । प्रासुके शय्या-संस्तारे तत्र वासमुपागतः ॥	३—वाराणसी के बाहर मनोरम उद्यान में प्रासुक शय्या और बिछौना लेकर वहाँ रहा।
४—अह तेणेव कालेणं पुरीए तत्थ माहणे । विजयघोसे त्ति नामेण जन्नं जयइ वेयवी ॥	अथ तस्मिन्नेव काले पुर्यां तत्र माहनः । विजयघोष इति नाम्ना यज्ञं यजति वेद-वित् ॥	४—उसी समय उस पुरी में वेदों को जानने वाला विजयघोष नाम का ब्राह्मण यज्ञ करता था।
५—अह से तत्थ अणगारे मासक्खमणपारणे विजयघोसस्स जन्नमि भिक्खमट्ठा[2] उवट्ठिए ॥	अथ स तत्रानगारः मास-क्षपण-पारणे । विजयघोषस्य यज्ञे भिक्षार्थमुपस्थितः ॥	५—वह जयघोष मुनि एक मास की तपस्या का पारणा करने के लिए विजयघोष के यज्ञ में भिक्षा लेने को उपस्थित हुआ।

१. वाणारसीय (अ, वृ०)।
२ भिक्खस्स अट्ठा (वृ० पा०)।

६—समुवट्ठियं तहिं सन्तं
जायगो पडिसेहए ।
न हु दाहामि ते भिक्ख
भिक्खू जायाहि अन्नओ ॥

समुपस्थितं तत्र सन्त
याजकः प्रतिषेधयति ।
न खलु दास्यामि तुभ्य भिक्षां
भिक्षो ! याचस्वान्यतः ॥

६—यज्ञ-कर्त्ता ने वहाँ उपस्थित हुए मुनि को निषेध की भाषा में कहा—"भिक्षो ! तुझे भिक्षा नही दूंगा और कही याचना करो ।

७—जे य वेयविऊ विप्पा
जन्नट्ठा य 'जे दिया'[1] ।
जोइसंगविऊ जे य
जे य धम्माण पारगा ।

ये च वेद-विदो विप्राः
यज्ञार्थाश्च ये द्विजाः ।
ज्योतिषाङ्गविदो ये च
ये च धर्माणा पारगाः ॥

८—जे समत्था समुद्धत्तु
पर अप्पाणमेव य ।
तेसिं अन्नमिण देय
भो भिक्खू सव्वकामियं ॥

ये समर्थाः समुद्धर्तु
परमात्मानमेव च ।
तेभ्योऽन्नमिदं देय
भो भिक्षो ! सर्व-कामितम् ॥

७-८—"हे भिक्षो ! यह सबके द्वारा अभिलषित भोजन उन्ही को देना है जो वेदों को जानने वाले विप्र हैं, यज्ञ के लिए जो द्विज है, जो ज्योतिष आदि वेद के छहो अगो को जानने वाले है, जो धर्म-शास्त्रो के पारगामी हैं, जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है ।"

९—सो 'एव तत्थ'[2] पडिसिद्धो
जायगेण महामुणी ।
न वि रुट्ठो न वि तुट्ठो
उत्तमट्ठगवेसओ ॥

स एव तत्र प्रतिषिद्धः
याजकेन महामुनिः ।
नापि रुष्टो नापि तुष्टः
उत्तमार्थ-गवेषकः ॥

९—वह उत्तम अर्थ की गवेषणा करने वाला महामुनि वहाँ यज्ञ-कर्त्ता के द्वारा प्रतिषेध किए जाने पर न रुष्ट ही हुआ और न तुष्ट ही ।

१०—नऽन्नट्ठं पाणहेउं वा
न वि निव्वाहणाय वा ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए
इमं वयणमब्बवी ॥

नान्नार्थं पान-हेतुं वा
नापि निर्वाहणाय वा ।
तेषां विमोक्षणार्थम्
इदं वचनमब्रवीत् ॥

१०—न अन्न के लिए, न जल के लिए और न किसी जीवन-निर्वाह के साधन के लिए, किन्तु उनकी विमुक्ति के लिए मुनि ने इस प्रकार कहा—

११—नवि जाणसि वेयमुह
नवि जन्नाण जं मुह ।
नक्खत्ताण मुह ज च
ज च धम्माण वा मुहं ॥

नापि जानासि वेद-मुख
नापि यज्ञाना यन्मुखम् ।
नक्षत्राणा मुख यच्च
यच्च धर्माणा वा मुखम् ॥

११—"तू वेद के मुख को नही जानता । यज्ञ का जो मुख है, उसे भी नही जानता । नक्षत्र का जो मुख है और धर्म का जो मुख है, उसे भी नही जानता ।

---

१ जिइ दिया (आ)।
२. तत्थ एव (वृ०)।

१२—जे समत्था समुद्धत्तुं
पर अप्पाणमेव य ।
न ते तुम वियाणासि
अह जाणासि तो भण ॥

ये समर्थाः समुद्धर्तुं
परमात्मानमेव च ।
न तान् त्व विजानासि
अथ जानासि तदा भण ॥

१२—"जो अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है, उन्हें तू नही जानता । यदि जानता है तो वता ।"

१३—तस्सऽक्खेवपमोक्ख च
अचयन्तो तहिं दिओ ।
सपरिसो पजली होउ
पुच्छई त महामुणि ॥

तस्याक्षेपप्रमोक्ष च
अशक्नुवन् तत्र द्विजः ।
स-परिषत् प्राजलिर्भूत्वा
पृच्छति त महामुनिम् ॥

१३—मुनि के प्रश्न का उत्तर देने में अपने को असमर्थ पाते हुए द्विज ने परिषद् सहित हाथ जोड कर उस महामुनि से पूछा—

१४—वेयाण च मुह वूहि
वूहि जन्नाण ज मुह ।
नक्खत्ताण मुह वूहि
वूहि धम्माण वा मुह ॥

वेदाना च मुख ब्रूहि
ब्रूहि यज्ञानां यन्मुखम् ।
नक्षत्राणा मुख ब्रूहि
ब्रूहि धर्माणा वा मुखम् ॥

१४—"तुम कहो वेदो का मुख क्या है ? यज्ञ का जो मुख है वह तुम्ही वतलाओ । तुम कहो नक्षत्रो का मुख क्या है ? धर्मों का मुख क्या है ? तुम्ही वतलाओ ।

१५—जे समत्था समुद्धत्तु
पर अप्पाणमेव य ।
एय मे ससय सव्व
साहू कहय[1] पुच्छिओ ॥

ये समर्था. समुद्धर्तुं
परमात्मानमेव च ।
एत मे सशय सर्व
साधो ! कथय पृष्टः ॥

१५—"जो अपना और पराया उद्धार करने मे समर्थ हैं (उनके विषय में तुम्ही कहो) । हे साधु ! यह मुझे सारा सशय है, तुम मेरे प्रश्नो का समाधान दो ।"

१६—अग्गिहोत्तमुहा वेया
जन्नट्ठी वेयसा मुह ।
नक्खत्ताण मुह चन्दो
धम्माण कासवो मुह ॥

अग्निहोत्र-मुखा वेदा.
यज्ञार्थी वेदसा मुखम् ।
नक्षत्राणा मुख चन्द्रः
धर्माणा काश्यपो मुखम् ॥

१६—"वेदों का मुख अग्निहोत्र है, यज्ञो का मुख यज्ञार्थी है, नक्षत्रो का मुख चन्द्रमा है और धर्मो का मुख काश्यप– ऋषभदेव है ।

१७—'जहा चन्द गहाईया
चिट्ठन्ती पजलीउडा ।
वन्दमाणा नमसन्ता
उत्तम मणहारिणो ॥'[2]

यथा चन्द्र ग्रहादिका'
तिष्ठन्ति प्राजलि-पुटा ।
वन्दमाना नमस्यन्तः
उत्तम मनोहारिण. ॥

१७—"जिस प्रकार चन्द्रमा के सम्मुख ग्रह आदि हाथ जोडे हुए, वन्दना-नमस्कार करते हुए और विनीत भाव से मन का हरण करते हुए रहते है उसी प्रकार भगवान् ऋषभ के सम्मुख सब लोग रहते थे ।

१ कहइ (अ) ।
२. जहा चन्दे गहाईये चिट्ठन्ती पजलीउडा ।
णमसमाणा वंदती उद्धत्तमणहारिणो [उद्धत्तु मणगारिणो] ॥ (बृ० पा०) ।

१८—अजाणगा जन्नवाई
विज्जामाहणसपया ।
गूढा[1] सज्झायतवसा
भासच्छन्ना इवऽग्गिणो ॥

अजायकाः यज्ञ-वादिन.
विद्या-माहन-सम्पदाम् ।
गूढाः स्वाध्याय-तपसा
भस्म-च्छन्ना इवाग्नयः ॥

१८—"जो यज्ञ-वादी है वे ब्राह्मण की सम्पदा—विद्या से अनभिज्ञ है । वे बाहर में स्वाध्याय और तपस्या से उसी प्रकार ढँके हुए है जिस प्रकार अग्नि राख से ढँकी हुई होती है ।

१९—जो लोए बम्भणो वुत्तो
अग्गी वा महिओ जहा ।
सया कुसलसदिट्ठ
तं वय बूम माहण ॥

यो लोके ब्राह्मण उक्तः
अग्निर्वा महितो यथा ।
सदा कुशल-संदिष्ट
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥

१९—"जिसे कुशल पुरुषो ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि की भाँति सदा लोक में पूजित है, उसे हम कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं ।

२०—जो न सज्जइ आगन्तुं
पव्वयन्तो न सोयई[2] ।
रमए अज्जवयणमि
त वय बूम माहण ॥

यो न स्वजत्यागन्तुं
प्रव्रजन्न शोचति ।
रमते आर्य-वचने
तं वय ब्रूमो माहनम् ॥

२०—"जो आने पर आसक्त नही होता, जाने के समय शोक नही करता, जो आर्य-वचन में रमण करता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है ।

२१—जायरूव जहामट्ठ[3]
निद्धन्तमलपावग ।
रागद्दोसभयाईय
त वय बूम माहण ॥

जातरूप यथामृष्ट
निर्ध्मात्-मल-पापकम् ।
राग-दोष-भयातीत
तं वय ब्रूमो माहनम् ॥

२१—"अग्नि में तपा कर शुद्ध किए हुए और घिसे हुए सोने की तरह जो विशुद्ध है तथा राग-द्वेष और भय से रहित है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।

[तवस्सिय किसं दन्त
अवचियमससोणिय ।
सुव्वय पत्तनिव्वाण
त वय बूम माहण ॥][4]

[तपस्विनं कृश दान्तं
अपचित-मांस-शोणितम् ।
सुव्रतं प्राप्त-निर्वाण
त वयं ब्रूमो माहनम् ॥]

'[जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसके मांस और शोणित का अपचय हो चुका है, जो सुव्रत है, जो शान्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं ।]

---

१. मूढा (वृ०), गूढा (वृ० पा०) ।
२. सुव्वइ (उ) ।
३. महामट्ठ (चू०), जहामट्ठ (वृ० पा०) ।
४. यह श्लोक बृहद् वृत्ति में व्याख्यात नहीं है ।

२२—तसपाणे वियाणेत्ता
संगहेण 'य थावरे'[1]।
जो न हिंसइ तिविहेण[2]
त वय बूम माहण ॥

त्रस-प्राणिनो विज्ञाय
सग्रहेण च स्थावरान्।
यो न हिनस्ति त्रिविधेन
त वय ब्रूमो माहनम् ॥

२२—"जो त्रस और स्थावर जीवों को भलीभाँति जान कर मन, वाणी और शरीर से उनकी हिंसा नहीं करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२३—कोहा वा जइ वा हासा
लोहा वा जइ वा भया।
मुस न वयई जो उ
त वय बूम माहणं ॥

क्रोधाद् वा यदि वा हासात्
लोभाद्वा यदि वा भयात्।
मृषा न वदति यस्तु
त वय ब्रूमो माहनम् ॥

२३—"जो क्रोध, हास्य, लोभ या भय के कारण असत्य नहीं बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२४—चित्तमन्तमचित्त वा
अप्प वा जइ वा बहुं।
न गेण्हइ अदत्तं जो
तं वय बूम माहण ॥

चित्तवदचित्तं वा
अल्पं वा यदि वा बहुम्।
न गृह्णात्यदत्तं यः
तं वयं ब्रूमो माहनम् ॥

२४—"जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोडा या अधिक कितना ही क्यों न हो, उसके अधिकारी के दिए बिना नही लेता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२५—दिव्वमाणुसतेरिच्छं
जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं
तं वय बूम माहण ॥

दिव्य-मानुष-तैरश्चं
यो न सेवते मैथुनम्।
मनसा काय-वाक्येन
तं वय ब्रूमो माहनम् ॥

२५—"जो देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और काय से सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२६—जहा पोम जले जाय
नोवलिप्पइ वारिणा।
एव अलित्तो[3] कामेहिं
त वय बूम माहण ॥

यथा पद्म जले जात
नोपलिप्यते वारिणा।
एवमलिप्त कामैः
तं वय ब्रूमो माहनम् ॥

२६—"जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, इसी प्रकार काम-भोग के वातावरण में उत्पन्न हुआ जो मनुष्य उससे लिप्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

२७—अलोलुय मुहाजीवी[4]
अणगार अकिंचण।
असंसत्त गिहत्थेसु
त वय बूम माहण ॥

अलोलुप मुधा-जीविन
अनगारमकिंचनम्।
असंसक्त गृहस्थेषु
त वय ब्रूमो माहनम् ॥

२७—"जो लोलुप नही है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह-त्यागी है, जो अकिंचन है, जो गृहस्थों में अनासक्त है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

---

१. सथावरे (बृ० पा०)।
२. एय तु (बृ०); विविहेण (बृ० पा०)।
३. अलित्त (अ, इ, छ०)।
४. मुहाजीवि (बृ० पा०)।

[जहित्ता पुव्वसंजोग
नाइसंगे[1] य बन्धवे।
जो न सज्जइ एएहिं[2]
त वयं बूम माहण ॥][3]

[त्यक्त्वा पूर्व-सयोग
ज्ञाति-संगाँश्च बान्धवान्।
यो न स्वजति एतेषु
तं वय ब्रूमो माहनम् ॥]

[जो पूर्व-सयोगो, ज्ञाति-जनो की आसक्ति और बान्धवो को छोड कर उनमें आसक्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।]

२८—पसुबन्धा[4] सव्ववेया[5]
जट्ठं च पावकम्मुणा।
न तं तायन्ति दुस्सीलं
कम्माणि बलवन्ति ह ॥

पशु-बन्धाः सर्व-वेदाः
इष्टं च पाप-कर्मणा।
न तं त्रायन्ते दुःशीलं
कर्माणि बलवन्ति इह ॥

२८—"जिनके शिक्षा-पद पशुओ को बलि के लिए यज्ञस्तूपों में बाधे जाने के हेतु बनते हैं, वे सब वेद और पशु-बलि आदि पाप-कर्म के द्वारा किए जाने वाले यज्ञ दुराचार-सम्पन्न उस यज्ञ-कर्त्ता को त्राण नही देते, क्योंकि कर्म बलवान् होते हैं।

२९—न वि मुण्डिएण समणो
न ओंकारेण बम्भणो।
न मुणी रण्णवासेण
कुसचीरेण न तावसो ॥

नाऽपि मुण्डितेन श्रमणः
न ओंकारेण ब्राह्मणः।
न मुनिररण्य-वासेन
कुश-चीवरेण न तापसः ॥

२९—"केवल सिर मूड लेने से कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' का जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण नहीं होता, केवल अरण्य में रहने से कोई मुनि नही होता और कुश का चीवर पहनने मात्र से कोई तापस नही होता।

३०—समयाए समणो होइ
बम्भचेरेण बम्भणो।
नाणेण य मुणी होइ
तवेण होइ तावसो ॥

समतया श्रमणो भवति
ब्रह्मचर्येण ब्राह्मण।
ज्ञानने च मुनिर्भवति
तपसा भवति तापसः ॥

३०—"समभाव की साधना करने से श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य के पालन से ब्राह्मण होता है, ज्ञान की आराधना—मनन करने से मुनि होता है, तप का आचरण करने से तापस होता है।

३१—कम्मुणा बम्भणो होइ
कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ
सुद्दो हवइ[6] कम्मुणा ॥

कर्मणा ब्राह्मणो भवति
कर्मणा भवति क्षत्रियः।
वैश्यो कर्मणा भवति
शूद्रो भवति कर्मणा ॥

३१—"मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

---

१. नाइ सजोगे (ऋ०)।
२. भोगेसु (ऋ०), एएसु (उ)।
३. यह श्लोक बृहद् वृत्ति में पाठान्तर रूप में स्वीकृत है।
४. पसुवद्धा (बृ० पा०)।
५. सव्व वेया य (अ)।
६. होइय (अ); होइ उ (बृ०)

३२—एए 'पाउकरे बुद्धे'[1]
जेहिं होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविनिम्मुक्कं
तं वयं बूम माहणं॥

एतान्प्रादुरकार्षीद् बुद्धः
यैर्भवति स्नातकः।
सर्व-कर्म-विनिर्मुक्तं
तं वयं ब्रूमो माहनम्॥

३२—"इन तत्वों को अर्हत् ने प्रकट किया है। इनके द्वारा जो मनुष्य स्नातक होता है, जो सब कर्मों से मुक्त होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

३३—एवं गुणसमाउत्ता
जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था उ उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य॥

एवं गुण-समायुक्ताः
ये भवन्ति द्विजोत्तमाः।
ते समर्थास्तूद्धर्तुम्
परमात्मानमेव च॥

३३—"इस प्रकार जो गुण-सम्पन्न द्विजोत्तम होते हैं, वे ही अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ है।"

३४—एवं तु संसए छिन्ने
विजयघोसे य माहणे[2]।
'समुदाय तयं[3] तं तु'[4]
जयघोसं महामुणिं॥

एवं तु संशये छिन्ने
विजयघोषश्च माहनः।
समुदाय तकां तं तु
जयघोषं महामुनिम्॥

३४—"इस प्रकार संशय दूर होने पर विजयघोष ब्राह्मण ने जयघोष की वाणी को भली-भाँति समझा और—

३५—तुट्ठे य विजयघोसे
इणमुदाहु कयंजली।
माहणत्तं जहाभूयं
सुट्ठु मे उवदंसियं॥

तुष्टश्च विजयघोषः
इदमुदाह कृतांजलिः।
माहनत्वं यथाभूतं
सुष्ठु मे उपदर्शितम्॥

३५—"महामुनि जयघोष से सन्तुष्ट हो, हाथ-जोड कर इस प्रकार कहा—"तुमने मुझे यथार्थ ब्राह्मणत्व का बहुत ही अच्छा अर्थ समझाया है।

३६—तुब्भे जइया जन्नाणं
तुब्भे वेयविऊ विऊ।
जोइसंगविऊ तुब्भे
तुब्भे धम्माण पारगा॥

यूयं यष्टारो यज्ञानां
यूयं वेद-विदो विदः।
ज्योतिषाङ्ग-विदो यूयं
यूयं धर्माणां पारगाः॥

३६—"तुम यज्ञों के यज्ञकर्ता हो, तुम वेदों को जानने वाले विद्वान् हो, तुम वेद के ज्योतिष आदि छहों अंगों को जानते हो, तुम धर्मों के पारगामी हो।

३७—तुब्भे समत्था उद्धत्तुं
परं अप्पाणमेव य।
तमणुग्गहं करेहऽम्हं[5]
भिक्खेणं[6] भिक्खुउत्तमा॥

यूयं समर्थाः उद्धर्तुं
परमात्मानमेव च।
तदनुग्रहं कुरुतास्माकं
भैक्ष्येण भिक्षूत्तमाः॥

३७—"तुम अपना और पराया उद्धार करने में समर्थ हो, इसलिए हे भिक्षु-श्रेष्ठ! तुम हम पर भिक्षा लेने का अनुग्रह करो।"

---

१ पाउकराधम्मा (बृ० पा०)।
२ बभणे (बृ०), माहणे (बृ० पा०)।
३. तओ (अ, छ०, ऋ०)।
४ सजाणतो तओ त तु (बृ०पा०), समादाय तय स च (उ)।
५ करे अम्म (अ, इ)।
६ भिक्खूण (बृ०)।

३८—न कज्ज मज्झ भिक्खेण
खिप्प निक्खमसू दिया ।
मा भमिहिसि भयावट्टे[1]
घोरे[2] ससारसागरे ॥

न कार्यं मम भैक्ष्येण
क्षिप्रं निष्क्राम द्विज ! ।
मा भ्रमीः भयावर्त्ते
घोरे ससार-सागरे ॥

३८—"मुझे भिक्षा मे कोई प्रयोजन नहीं है। हे द्विज ! तू तुरन्त ही निष्क्रमण कर मुनि-जीवन को स्वीकार कर। जिससे भय के आवर्तों से आकीर्ण इस घोर ससार-सागर में मुझे चक्कर लगाना न पडे।

३९—उवलेवो होइ भोगेसु
अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ ससारे
अभोगी विप्पमुच्चई ॥

उपलेपो भवति भोगेषु
अभोगी नोपलिप्यते ।
भोगी भ्रमति संसारे
अभोगी विप्रमुच्यते ॥

३९—"भोगो में उपलेप होता है। अभोगी लिप्त नही होता। भोगी ससार मे भ्रमण करता है। अभोगी उससे मुक्त हो जाता है।

४०—उल्लो सुक्को य दो छूढा
गोलया मट्टियामया ।
दो वि आवडिया कुड्डे
जो उल्लो सोतत्थ[3] लग्गई ॥

आर्द्रः शुष्कश्च द्वौ क्षिप्तौ
गोलकौ मृत्तिकामयौ ।
द्वावप्यापतितौ कुड्ये
य आर्द्रः स तत्र लगति ॥

४०—"मिट्टी के दो गोले—एक गीला और एक सूखा-फेंके गए। दोनो भीत पर गिरे। जो गीला था वह वहाँ चिपक गया।

४१—एव लग्गन्ति दुम्मेहा
जे नरा कामलालसा ।
विरत्ता उ न लग्गन्ति
जहा सुक्को उ गोलओ ॥

एव लगन्ति दुर्मेधस
ये नराः काम-लालसा ।
विरक्तास्तु न लगन्ति
यथा शुष्कस्तु गोलकः ॥

४१—"इसी प्रकार जो मनुष्य दुर्बुद्धि और काम-भोगो में आसक्त होते है, वे विषयों से चिपट जाते है। जो विरक्त होते हैं, वे उनसे नही चिपटते, जैसे सूखा गोला।"

४२—एव से विजयघोसे
जयघोसस्स अन्तिए ।
अणगारस्स निक्खन्तो
धम्म 'सोच्चा अणुत्तर'[4] ॥

एव स विजयघोष
जयघोषस्यान्तिके ।
अनगारस्य निष्क्रान्तः
धर्मं श्रुत्वाऽनुत्तरम् ॥

४२—"इस प्रकार वह विजयघोष जयघोष अनगार के समीप अनुत्तर धर्म सुन कर प्रव्रजित हो गया।

४३—खवित्ता पुव्वकम्माइ
सजमेण तवेण य ।
जयघोसविजयघोसा
सिद्धि पत्ता अणुत्तर ॥
—त्ति बेमि ।

क्षपयित्वा पूर्व-कर्माणि
संयमेन तपसा च ।
जयघोष-विजयघोषौ
सिद्धि प्राप्तावनुत्तराम् ॥
—इति ब्रवीमि ।

४३—"जयघोष और विजयघोष ने सयम और तप के द्वारा पूर्व सचित कर्मों को क्षीण कर अनुत्तर सिद्धि प्राप्त की।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ भवावत्ते (वृ० पा०)।
२ दीहे (वृ० पा०)।
३ सोऽत्य (वृ०, ऋ०)।
४ सोच्चाण केवलं (वृ० पा०)।

छब्बीसइमं अज्झयणं :
सामायारी

षड्विंश अध्ययन :
सामाचारी

आमुख

इस अध्ययन मे 'इच्छा' आदि का समाचरण वर्णित है इसलिए इस अध्ययन का नाम 'सामाचारी'—'मामाचारी' है।

'णाणस्स सार आयारो'—ज्ञान का सार है आचार। आचार जीवन-मुक्ति का साधन है। जैन मनीषियों ने जिस प्रकार तत्त्वों की सूक्ष्मतम छानबीन की है उसी प्रकार आचार का सूक्ष्मतम निरूपण भी किया है। आचार दो प्रकार का होता है—व्रतात्मक-आचार और व्यवहारात्मक-आचार। व्रतात्मक-आचार अहिंसा है। वह शाश्वत धर्म है। व्यवहारात्मक-आचार है परस्परानुग्रह। वह अनेक विध होता है। वह अशाश्वत है।

जो मुनि सघीय-जीवन यापन करते है उनके लिए व्यवहारात्मक-आचार भी उतना ही उपयोगी है जितना कि व्रतात्मक-आचार। जिस सघ या समूह मे व्यवहारात्मक-आचार की उन्नत विधि है और उसकी सम्यक् परिपालना होती है, वह सघ दीर्घायु होता है। उसकी एकता अखण्ड होती है।

जैन आचार-शास्त्र मे दोनों आचारों का विशद् निरूपण प्राप्त है। प्रस्तुत अध्ययन में व्यवहारात्मक-आचार के दस प्रकारों का स्फुट निदर्शन है। ये दस प्रकार सम्यक्-आचार के आधार हैं इसलिए इन्हें समाचार, सामाचार या सामाचारी कहा है।

सामाचारी के दो प्रकार है—

१—ओघ सामाचारी।

२—पद-विभाग सामाचारी।

प्रस्तुत अध्ययन मे ओघ सामाचारी का निरूपण है। टीकाकार ने अध्ययन के अन्त मे यह जानकारी प्रस्तुत की है कि ओघ सामाचारी का अन्तर्भाव धर्मकथानुयोग मे होता है और पद-विभाग सामाचारी का चरण-करणानुयोग मे। उत्तराध्ययन धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत है।[1] ओघ सामाचारी के दस प्रकार है। (श्लो० ३, ४)

१—आवश्यकी
२—नैषेधिकी
३—आपृच्छा
४—प्रतिपृच्छा
५—छन्दना
६—इच्छाकार
७—मिच्छाकार
८—तथाकार
९—अभ्युत्थान
१०—उपसपदा

स्थानाङ्ग (१०।७४९) तथा भगवती (२५।७) मे दस सामाचारी का उल्लेख है। इनमे क्रम-भेद के अतिरिक्त एक नाम-भेद भी है—'अभ्युत्थान' के बदले 'निमत्रणा' है। निर्युक्ति (गाथा ४८२) में भी 'निमत्रणा' ही दिया है। मूलाचार (गाथा १२५) मे स्थानाङ्ग में प्रतिपादित क्रम से ओघ सामाचारी का प्रतिपादन हुआ है।

१—बृहद् वृत्ति, पत्र ५४७
अनन्तरोक्ता सामाचारी दशविधा ओघरूपा च पदविभागात्मिका चेह नोक्ता धर्मकथाऽनुयोगत्वादस्य छेदसूत्रान्तर्गतत्वाच्च तस्या —।

दिगम्बर-साहित्य मे सामाचारी के स्थान पर समाचार, सामाचार शब्द का प्रयोग हुआ है और इसके चार अर्थ किए हैं—

१—समता का आचार।
२—सम्यग् आचार।
३—सम (तुल्य) आचार।
४—समान (परिमाण सहित) आचार।[1]

क्वचित् चक्रवाल-सामाचारी का भी उल्लेख मिलता है। वर्द्धमान देशना (पत्र १०२) मे शिक्षा के दो प्रकार बताए है—आसेवना शिक्षा और ग्रहण शिक्षा।

आसेवना शिक्षा के अन्तर्गत दस-विध चक्रवाल सामाचारी का उल्लेख हुआ है।[2]

१—प्रतिलेखना	६—भोजन
२—प्रमार्जना	७—पात्रक धावन
३—भिक्षा	८—विचारण (बहिर्भूमि-गमन)
४—चर्या	९—स्थण्डिल
५—आलोचना	१०—आवश्यिकी

उपर्युक्त दस सामाचारियों में आवश्यकी विभाग में सारी औधिक सामाचारियों का ग्रहण हुआ है।

सामाचारी का अर्थ है—मुनि का आचार-व्यवहार या इति-कर्तव्यता। इस व्यापक परिभाषा से मुनि-जीवन की दिन-रात की समस्त प्रवृत्तियाँ 'सामाचारी' शब्द से व्यवहृत हो सकती है। दस-विध औधिक सामाचारी के साथ-साथ प्रस्तुत अध्ययन मे अन्यान्य कर्त्तव्यों का निर्देश भी हुआ है।

शिष्य के लिए आवश्यक है कि वह जो भी कार्य करे गुरु से आज्ञा प्राप्त कर करे। (श्लो० ८,९,१०) दिन-चर्या की व्यवस्था के लिए दिन के चार भागो और उनमे करणीय कार्यों का उल्लेख श्लो० ११ और १२ मे है। श्लो० १३ से १६ तक दैवसिक काल-ज्ञान—दिन के चार प्रहरों को जानने की विधि है। श्लो० १७ और १८ मे रात्रि-चर्या के चार भागों और उनमे करणीय कार्यों का उल्लेख है। श्लो० १९ और २० मे रात्रिक काल-ज्ञान—रात के चार प्रहरों को जानने की विधि और प्रथम और चतुर्थ प्रहर मे स्वाध्याय करने का निर्देश है। श्लो० २१ में उपधि-प्रतिलेखना और स्वाध्याय का विधान है। ८ वें श्लोक में भी यह विषय-प्रतिपादित है। यहाँ थोड़े परिवर्तन के साथ पुनरुक्त है। श्लो० २२ मे पात्र-प्रतिलेखना तथा २३ में उसका क्रम है। श्लो० २४ से २८ तक वस्त्र-प्रतिलेखना की विधि है। श्लो० २९ और ३० मे प्रतिलेखना-प्रमाद के दोष का निरूपण है। श्लो० ३१ से ३५ तक मे दिन के तीसरे प्रहर के कर्त्तव्य-भिक्षाचरी, आहार तथा दूसरे गाँव मे भिक्षार्थ जाने आदि का विधान है। श्लो० ३६ एव ३७ तथा ३८ के प्रथम दो चरणों तक चतुर्थ प्रहर के कर्त्तव्य—वस्त्र-पात्र-प्रतिलेखन, स्वाध्याय, शय्या और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना का विधान है। श्लो० ३८ के अन्तिम दो चरणों से ४२ के तीन चरणों तक दैवसिक प्रतिक्रमण का विधान है। चतुर्थ चरण मे रात्रिक काल-प्रतिलेखना का विधान है। श्लो० ४३ वाँ १८ वें का पुनरुक्त है तथा ४४ वाँ २० वें का पुनरुक्त है। श्लो० ४५ से ५१ तक रात्रिक प्रतिक्रमण का विधान है। ५२ वें श्लोक मे उपसहार है। २० वें श्लोक तक एक प्रकार से ओघ सामाचारी (दिन और रात की चर्या) का प्रतिपादन हो चुकता है। श्लोक २१ से ५१ तक प्रतिपादित विषय का ही विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसलिए यत्र क्वचित् पुनरुक्तियाँ भी है।

१—मूलाचार, गाथा १२३
समदा सामाचारो, सम्माचारो समो व आचारो।
सव्वेसि सम्माणं, सामाचारो हु आचारो॥

२—प्रवचन सारोद्धार, गाथा ७६०,७६१ में 'इच्छा, मिच्छा' आदि को चक्रवाल-सामाचारी के अन्तर्गत माना है और गाथा ७६८ में प्रतिलेखना, प्रमार्जना आदि को प्रकारान्तर से दस-विध सामाचारी माना है।

मुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे मे भिक्षाचर्या और चौथे में पुन स्वाध्याय। (श्लो० १२)

मुनि रात्रि के प्रथम प्रहर मे स्वाध्याय करे, दूसरे मे ध्यान, तीसरे मे निद्रा-मोक्ष (शयन) और चौथे मे पुन. स्वाध्याय। (श्लो० १८)

यह मुनि के औत्सर्गिक कर्त्तव्यों का निर्देश है। इसमे कई अपवाद भी है।

दैनिक-कृत्यों का विस्तार से वर्णन २१ वें से ३८ वें श्लोक तक हुआ है और रात्रिक-कृत्यों का ३९ वें से ५१ वें श्लोक तक।

यह सारा वर्णन सामाचारी के अन्तर्गत आता है। सामाचारी सघीय जीवन जीने की कला है। इससे पारस्परिक एकता की भावना पनपती है और इससे सघ दृढ बनता है। दस-विध सामाचारी की सम्यक् परिपालना से व्यक्ति में निम्न विशेष गुण उत्पन्न होते है—

१—आवश्यिकी और नैषेधिकी से निष्प्रयोजन गमनागमन पर नियन्त्रण रखने की आदत पनपती हैं।

२—मिच्छाकार से पापों के प्रति सजगता के भाव पनपते हैं।

३—आपृच्छा और प्रतिपृच्छा से श्रमशील तथा दूसरों के लिए उपयोगी बनने के भाव बनते है।

४—छन्दना से अतिथि-सत्कार की प्रवृति बढती है।

५—इच्छाकार से दूसरों के अनुग्रह को सहर्ष स्वीकार करने तथा अपने अनुग्रह में परिवर्तन करने की कला आती है।

परस्परानुग्रह सघीय-जीवन का अनिवार्य तत्त्व है। परन्तु व्यक्ति उस अनुग्रह को अधिकार मान बैठता है, वहाँ स्थिति जटिल बन जाती है। दूसरों के अनुग्रह की हार्दिक स्वीकृति स्वय मे विनय पैदा करती है।

६—उपसम्पदा से परस्पर-ग्रहण की अभिलाषा पनपती है।

७—अभ्युत्थान (गुरु-पूजा) से गुरुता की ओर अभिमुखता होती है।

८—तथाकार से आग्रह की आदत छूट जाती है, विचार करने के लिए प्रवृत्ति सदा उन्मुक्त रहती है।

छव्वीसइमं अज्झयण : षड्विंश अध्ययन

सामायारी : सामाचारी

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सामायारिं पवक्खामि सव्वदुक्खविमोक्खणिं । जं चरित्ताण निग्गन्था तिण्णा संसारसागरं ॥	सामाचारीं प्रवक्ष्यामि सर्व-दुःख-विमोक्षणीम् । यां चरित्वा निर्ग्रन्थाः तीर्णाः संसार-सागरम् ॥	१—मैं सब दुःखों से मुक्त करने वाली उस सामाचारी का निरूपण करूँगा, जिसका आचरण कर निर्ग्रन्थ संसार-सागर को तिर गए।
२—पढमा आवस्सिया नाम बिइया य[1] निसीहिया । आपुच्छणा य तइया चउत्थी पडिपुच्छणा ॥	प्रथमा आवश्यकी नाम्नी द्वितीया च नैषेधिकी । आप्रच्छना च तृतीया चतुर्थी प्रतिप्रच्छना ॥	२—पहली आवश्यकी, दूसरी नैषेधिकी, तीसरी आपृच्छना, चौथी प्रति-प्रच्छना—
३—पंचमा छन्दणा नाम इच्छाकारो य छट्ठओ । सत्तमो मिच्छकारो य[2] तहक्कारो य अट्ठमो ॥	पंचमी छन्दना नाम्नी इच्छाकारश्च षष्ठः । सप्तमः मिथ्याकारश्च तथाकारश्च अष्टमः ॥	३—पाँचवी छन्दना, छठी इच्छाकार, सातवी मिथ्याकार, आठवी तथाकार—
४—अब्भुट्ठाणं नवमं दसमा उवसंपदा । एसा दसंगा साहूणं सामायारी पवेइया ॥	अभ्युत्थानं नवमं दशमी उपसम्पद् । एषा दशांगा साधूनां सामाचारी प्रवेदिता ॥	४—नौवीं अभ्युत्थान, दशवीं उपसंपदा—भगवान् ने इस दश अंग वाली साधुओं की सामाचारी का निरूपण किया है।

---

१. होइ (उ)।
२. उ (आ, इ)।

५—गमणे आवस्सियं कुज्जा
ठाणे कुज्जा निसीहियं।
आपुच्छणा सयकरणे
परकरणे पडिपुच्छणा॥

गमने आवश्यकी कुर्यात्
स्थाने कुर्यान्निषीधिकाम्।
आप्रच्छना स्वयं करणे
पर-करणे प्रतिप्रच्छना॥

५—(१) स्थान से बाहर जाते समय आवश्यकी करे—आवश्यकी का उच्चारण करे।
(२) स्थान में प्रवेश करते समय नैषेधिकी करे—नैषेधिकी का उच्चारण करे।
(३) अपना कार्य करने से पूर्व आपृच्छा करे—गुरु से अनुमति ले।
(४) एक कार्य से दूसरा कार्य करते समय प्रतिपृच्छा करे—गुरु से पुनः अनुमति ले।

६—छन्दणा दव्वजाएणं
इच्छाकारो य सारणे।
मिच्छाकारो य निन्दाए
तहक्कारो य[1] पडिस्सुए॥

छन्दना द्रव्यजातेन
इच्छाकारश्च सारणे।
मिथ्याकारश्च निन्दायां
तथाकारश्च प्रतिश्रुते॥

६—(५) पूर्व-गृहीत द्रव्यों से छंदना करे—गुरु आदि को निमन्त्रित करे।
(६) सारणा (औचित्य से कार्य करने और कराने) में इच्छाकार का प्रयोग करे—आपकी इच्छा हो तो मैं आपका अमुक कार्य करूँ। आपकी इच्छा हो तो कृपया मेरा अमुक कार्य करें।
(७) अनाचरित की निन्दा के लिए मिथ्याकार का प्रयोग करे।
(८) प्रतिश्रवण (गुरु द्वारा प्राप्त उपदेश की स्वीकृति) के लिए तथाकार (यह ऐसे ही है) का प्रयोग करे।

७—अब्भुट्ठाणं गुरुपूया
अच्छणे उवसंपदा।
'एव दुपंचसंजुत्ता'[2]
सामायारी पवेइया॥

अभ्युत्थानं गुरु-पूजायां
आसने उपसम्पद्।
एवं द्विपच-संयुक्ता
सामाचारी प्रवेदिता॥

७—(९) गुरु-पूजा (आचार्य, ग्लान, बाल आदि साधुओं) के लिए अभ्युत्थान करे—आहार आदि लाए।
(१०) दूसरे गण के आचार्य आदि के पास रहने के लिए उपसम्पदा ले—मर्यादित काल तक उनका शिष्यत्व स्वीकार करे—इस प्रकार दश-विध सामाचारी का निरूपण किया गया है।

८—पुव्विल्लमि चउब्भाए
आइच्चमि समुट्ठिए।
भण्डयं पडिलेहित्ता
वन्दित्ता य तओ गुरुं॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे
आदित्ये समुत्थिते।
भाण्डकं प्रतिलिख्य
वन्दित्वा च ततो गुरुम्॥

८—सूर्य के उदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर गुरु को वन्दना कर—

१. × (उ)।
२. एसा दसंगा साहूण (बृ० पा०)।

९—पुच्छेज्जा पंजलिउडो किं कायव्वं मए इह ? । इच्छं निओइउं भन्ते ! वेयावच्चे व सज्झाए ॥	पृच्छेत् प्रांजलिपुटः किं कर्त्तव्यं मया इह ? । इच्छामि नियोजयितुं भवन्त ! वैयावृत्त्ये वा स्वाध्याये ॥	९—हाथ जोड कर पूछे—अब मुझे क्या करना चाहिए ? भन्ते ! मैं चाहता हूँ कि आप मुझे वैयावृत्त्य या स्वाध्याय में से किसी एक कार्य में नियुक्त करें ।
१०—वेयावच्चे निउत्तेण कायव्वं अगिलायओ । सज्झाए वा निउत्तेणं सव्वदुक्खविमोक्खणे ॥	वैयावृत्त्ये नियुक्तेन कर्त्तव्यमग्लायकेन । स्वाध्याये वा नियुक्तेन सर्व-दुःख-विमोक्षणे ॥	१०—वैयावृत्त्य में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से वैयावृत्त्य करे अथवा सर्व दुःखों से मुक्त करने वाले स्वाध्याय में नियुक्त किए जाने पर अग्लान भाव से स्वाध्याय करे ।
११—दिवसस्स चउरो भागे कुज्जा भिक्खू वियक्खणो । तओ उत्तरगुणे कुज्जा दिणभागेसु चउसु वि ॥	दिवसस्य चतुरो भागान् कुर्याद् भिक्षुर्विचक्षणः । तत उत्तर-गुणान् कुर्यात् दिन-भागेषु चतुर्ष्वपि ॥	११—विचक्षण भिक्षु दिन के चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों (स्वाध्याय आदि) की आराधना करे।
१२—पढमं पोरिसिं सज्झायं बीयं झाणं झियायई । तइयाए भिक्खायरियं पुणो चउत्थीए सज्झायं ॥	प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं द्वितीयां ध्यानं ध्यायति । तृतीयायां भिक्षाचर्यां पुनश्चतुर्थ्यां स्वाध्यायम् ॥	१२—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय और दूसरे में ध्यान करे । तीसरे में भिक्षाचरी और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे ।
१३—आसाढे मासे दुपया पोसे मासे चउप्पया । चित्तासोएसु मासेसु तिपया हवइ पोरिसी ॥	आषाढे मासे द्विपदा पौषे मासे चतुष्पदा । चैत्राश्विनयोर्मासयोः त्रिपदा भवति पौरुषी ॥	१३—आषाढ मास में दो पाद प्रमाण, पौष मास में चार पाद प्रमाण, चैत्र तथा आश्विन मास में तीन पाद प्रमाण पौरुषी होती है ।
१४—अंगुलं सत्तरत्तेणं पक्खेण य दुअंगुलं । वड्ढए हायए वावी मासेणं चउरंगुलं ॥	अंगुलं सप्त-रात्रेण पक्षेण च द्व्यंगुलम् । वर्धते हीयते वापि मासेन चतुरंगुलम् ॥	१४—सात दिन रात में एक अंगुल, पक्ष में दो अंगुल और एक मास में चार अंगुल वृद्धि और हानि होती है । श्रावण मास से पौष मास तक वृद्धि और माघ से आषाढ तक हानि होती है ।

१५—आसाढबहुलपक्खे
भद्दवए कत्तिए य पोसे य।
फग्गुणवइसाहेसु य
नायव्वा[1] ओमरत्ताओ ॥

आषाढ़-बहुलपक्षे
भाद्रपदे कार्तिके च पौषे च।
फाल्गुन-वैशाखयोश्च
ज्ञातव्या अवम-रात्रयः ॥

१५—आषाढ, भाद्रपद, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और वैशाख—इनके कृष्ण-पक्ष में एक-एक अहोरात्र (तिथि) का क्षय होता है।

१६—जेट्ठामूले आसाढसावणे
छहिं अंगुलेहिं पडिलेहा।
अट्ठहिं बीयतियमी
तइए दस अट्ठहिं चउत्थे ॥

ज्येष्ठा-मूले आषाढ़-श्रावणे
षड्भिरंगुलैः प्रतिलेखा।
अष्टाभिर्द्वितीयत्रिके
तृतीये दशभिरष्टभिश्चतुर्थे ॥

१६—ज्येष्ठ, आषाढ, श्रावण इस प्रथम-त्रिक में छह, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक इस द्वितीय-त्रिक में आठ, मृगशिर, पौष, माघ इस तृतीय-त्रिक में दश और फाल्गुन, चैत्र, वैसाख इस चतुर्थ-त्रिक में आठ आंगुल की वृद्धि करने से प्रतिलेखना का समय होता है।

१७—रत्तिं पि चउरो भागे
भिक्खू कुज्जा वियक्खणो।
तओ उत्तरगुणे कुज्जा
राइभाएसु चउसु वि ॥

रात्रिमपि चतुरो भागान्
भिक्षुः कुर्याद् विचक्षणः।
तत उत्तर-गुणान् कुर्यात्
रात्रि-भागेषु चतुर्ष्वपि ॥

१७—विचक्षण भिक्षु रात्रि के भी चार भाग करे। उन चारों भागों में उत्तर-गुणों की आराधना करे।

१८—पढमं पोरिसिं सज्झायं
बीयं झाणं झियायई।
तइयाए निद्दमोक्खं तु
चउत्थी भुज्जो[2] वि सज्झायं ॥

प्रथमां पौरुषीं स्वाध्यायं
द्वितीयां ध्यानं ध्यायति।
तृतीयायां निद्रा-मोक्षं तु
चतुर्थ्यां भूयोपि स्वाध्यायम् ॥

१८—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद और चौथे में पुनः स्वाध्याय करे।

१९—जं नेइ जया रत्तिं
नक्खत्तं तंमि नहचउब्भाए।
संपत्ते विरमेज्जा
सज्झाय पओसकालम्मि ॥

यन्नयति यदा रात्रिं
नक्षत्रं तस्मिन् नभश्चतुर्भागे।
सम्प्राप्ते विरमेत
स्वाध्यायात् प्रदोष-काले ॥

१९—जो नक्षत्र जिस रात्रि की पूर्ति करता हो, वह (नक्षत्र) जब आकाश के चतुर्थ भाग में आए (प्रथम प्रहर समाप्त हो) तब प्रदोष-काल (रात्रि के 'प्रारम्भ') में प्रारब्ध स्वाध्याय से विरत हो जाए।

२०—तम्मेव य नक्खत्ते
गयणचउब्भागसावसेसंमि।
वेरत्तियं पि कालं
पडिलेहित्ता मुणी कुज्जा ॥

तस्मिन्नेव च नक्षत्रे
गगन-चतुर्भाग-सावशेषे।
वैरात्रिकमपि कालं
प्रतिलिख्य मुनिः कुर्यात् ॥

२०—वही नक्षत्र जब आकाश के चतुर्थ भाग में शेष रहे तब वैरात्रिक काल (रात का चतुर्थ प्रहर) आया हुआ जान फिर स्वाध्याय में प्रवृत्त हो जाए।

---

१. योद्धव्वा (आ)।
२. पुणो (अ)।

२१—पुव्विल्लंमि चउब्भाए
पडिलेहित्ताण भण्डय ।
गुरु वन्दित्तु सज्भाय
कुज्जा दुक्खविमोक्खण ॥

पूर्वस्मिन् चतुर्भागे
प्रतिलिख्य भाण्डकम् ।
गुरु वन्दित्वा स्वाध्यायं
कुर्याद् दुःख-विमोक्षणम् ॥

२१—दिन के प्रथम प्रहर के प्रथम चतुर्थ भाग में भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन कर, गुरु को वन्दना कर, दुख से मुक्त करने वाला स्वाध्याय करे ।

२२—पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
अपडिक्कमित्ता कालस्स
भायण पडिलेहए ॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
अप्रतिक्रम्य कालस्य
भाजन प्रतिलिखेत् ॥

२२—पौन पौरुषी बीत जाने पर गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण—कायोत्सर्ग किए बिना ही भाजन की प्रतिलेखना करे ।

२३—मुहपोत्तिय[1] पडिलेहित्ता
पडिलेहिज्ज गोच्छग ।
गोच्छगलइयगुलिओ
वत्थाइ पडिलेहए ॥

मुख-पोतिकां प्रतिलिख्य
प्रतिलिखेत् गोच्छकम् ।
अगुलिलात-गोच्छकः
वस्त्राणि प्रतिलिखेत् ॥

२३—मुख-वस्त्रिका की प्रतिलेखना कर गोच्छग की प्रतिलेखना करे । गोच्छग को अंगुलियों से पकड कर भाजन को ढाकने के पटलों की प्रतिलेखना करे ।

२४—उड्ढ थिर अतुरिय
पुव्व ता वत्थमेव पडिलेहे ।
तो विइयं पप्फोडे
तइय च पुणो पमज्जेज्जा ॥

ऊर्ध्वं स्थिरमत्वरित
पूर्वं तावद् वस्त्रमेव प्रतिलिखेत् ।
ततो द्वितीय प्रस्फोटयेत्
तृतीय च पुनः प्रमृज्यात् ॥

२४—सबसे पहले ऊकडू-आसन बैठ, वस्त्र को ऊँचा रखे, स्थिर रखे और शीघ्रता किए बिना उसकी प्रतिलेखना करे—चक्षु से देखे । दूसरे में वस्त्र को झटकाए और तीसरे में वस्त्र की प्रमार्जना करे ।

२५—अणच्चाविय अवलिय
अणाणुबन्धि अमोसलिं[2] चेव ।
छप्पुरिमा नव खोडा
[3]पाणीपाणविसोहण[4] ॥

अनर्तितमवलितं
अननुबन्ध्यऽमौशली चैव ।
षट्-पूर्वा नव-खोडा
पाणि-प्राणि-विशोधनम् ॥

२५—प्रतिलेखना करते समय (१) वस्त्र या शरीर को न नचाए, (२) न मोडे, (३) वस्त्र के दृष्टि से अलक्षित विभाग न करे, (४) वस्त्र का भीत आदि से स्पर्श न करे, (५) वस्त्र के छह पूर्व और नौ खोटक करे और (६) जो कोई प्राणी हो उसका हाथ पर नौ बार विशोधन (प्रमार्जन) करे ।

---

१ मुहपत्ति (आ, इ, उ, ऋ०) ।
२ अमोसल (अ), आमोसलि (वृ०) ।
३ पाणीपाणि० (वृ०) ।
४ ०पमज्जण (आ, वृ०पा०), ०पमज्जणया (ओघनिर्युक्ति, ४२५) ।

२६—आरभडा सम्मद्दा
वज्जेयव्वा य मोसली तइया ।
पप्फोडणा चउत्थी
विक्खित्ता वेइया छट्ठा ॥

आरभटा सम्मर्दा
वर्जयितव्या च मौशली तृतीया ।
प्रस्फोटना चतुर्थी
विक्षिप्ता वेदिका षष्ठी ॥

२६—मुनि प्रतिलेखना के छह दोषों का वर्जन करे—(१) आरभटा - विधि से विपरीत प्रतिलेखन करना अथवा एक वस्त्र का पूरा प्रतिलेखन किए बिना आकुलता से दूसरे वस्त्र को ग्रहण करना ।

(२) सम्मर्दा—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को इस प्रकार पकडना कि उसके बीच में सलवटें पड जाय अथवा प्रतिलेखनीय उपधि पर बैठ कर प्रतिलेखना करना ।

(३) मोसली—प्रतिलेखन करते समय वस्त्र को ऊपर, नीचे, तिरछे किसी वस्त्र या पदार्थ से संघट्टित करना ।

(४) प्रस्फोटना—प्रतिलेखन करते समय रज-लिप्त वस्त्र को गृहस्थ की तरह वेग से झटकाना ।

(५) विक्षिप्ता—प्रतिलेखित वस्त्रों को अप्रतिलेखित वस्त्रो पर रखना अथवा वस्त्र के अञ्चल को इतना ऊँचा उठाना कि उसकी प्रतिलेखना न हो सके ।

(६) वेदिका—प्रतिलेखना करते समय घुटनों के ऊपर, नीचे या पार्श्व में हाथ रखना अथवा घुटनो को भुजाओं के बीच रखना ।

२७—पसिढिलपलम्बलोला
एगामोसा अणेगरूवधुणा[1] ।
कुणइ पमाणि पमायं
संकिए गणणोवगं कुज्जा ॥

प्रशिथिल-प्रलम्ब-लोलाः
एकामर्शानिकरूपधूनना ।
करोति प्रमाणे प्रमादं
शङ्किते गणनोपगं कुर्यात् ॥

२७—(१) प्रशिथिल—वस्त्र को ढीला पकडना ।

(२) प्रलम्ब—वस्त्र को विषमता से पकडने के कारण कोनो का लटकना ।

(३) लोल—प्रतिलेख्यमान वस्त्र का हाथ या भूमि से संघर्षण करना ।

(४) एकामर्शा—वस्त्र को बीच में से पकड कर उसके दोनो पार्श्वों का एक बार में ही स्पर्श करना—एक दृष्टि में ही समूचे वस्त्र को देख लेना ।

(५) अनेक रूप धूनना—प्रतिलेखना करते समय वस्त्र को अनेक बार (तीन बार से अधिक) झटकाना अथवा अनेक वस्त्रो को एक साथ झटकाना ।

(६) प्रमाण-प्रमाद—प्रस्फोटन और प्रमार्जन का जो प्रमाण (नौ-नौ बार करना) बतलाया है, उसमें प्रमाद करना ।

(७) गणनोपगणना - प्रस्फोटन और प्रमार्जन के निर्दिष्ट प्रमाण में शङ्का होने पर उसकी गिनती करना ।

---

१. अणेगरूवधुया (वृ० पा०)।

२८—अणूणाइरित्तपडिलेहा
अविवच्चासा तहेव य।
पढमं पयं पसत्थं
सेसाणि उ अप्पसत्थाइं॥

अनूनाऽतिरिक्ता प्रतिलेखा
अविव्यत्यासा तथैव च।
प्रथमं पदं प्रशस्तं
शेषाणि त्वप्रशस्तानि॥

२८—वस्त्र के प्रस्फोटन और प्रमार्जन के प्रमाण में अन्यून अनतिरिक्त (न कम और न अधिक) और अविपरीत प्रतिलेखना करनी चाहिए। इन तीन विशेषणों के आधार पर प्रतिलेखना के आठ विकल्प बनते हैं। इनमें प्रथम विकल्प (अन्यून अनतिरिक्त और अविपरीत) प्रशस्त है और शेष अप्रशस्त।

२९—पडिलेहणं कुणन्तो
मिहोकहं कुणइ जणवयकहं वा।
देइ व पच्चक्खाणं
वाएइ सयं पडिच्छइ वा॥

प्रतिलेखनां कुर्वन्
मिथः-कथां करोति जनपद-कथां वा।
ददाति वा प्रत्याख्यानं
वाचयति स्वयं प्रतीच्छति वा॥

२९—जो प्रतिलेखना करते समय काम-कथा करता है अथवा जन-पद की कथा करता है अथवा प्रत्याख्यान कराता है, दूसरों को पढाता है अथवा स्वयं पढता है—

३०—पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणापमत्तो
छण्हं पि विराहओ होइ॥

पृथिव्यप्काययो
तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसाणाम्।
प्रतिलेखना-प्रमत्तः
षण्णामपि विराधको भवति॥

३०—वह प्रतिलेखना में प्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का विराधक होता है।

[पुढवीआउक्काए
तेऊवाऊवणस्सइतसाणं।
पडिलेहणआउत्तो
छण्हं आराहओ होइ॥][1]

[पृथिव्यप्काययोः
तेजो-वायु-वनस्पति-त्रसाणाम्।
प्रतिलेखना-आयुक्त
षण्णामाराधको भवति॥]

[प्रतिलेखना में अप्रमत्त मुनि पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—इन छहों कायों का आराधक होता है।]

३१—तइयाए पोरिसीए
भत्तं पाणं गवेसए।
छण्हं अन्नयरागम्मि
कारणंमि समुट्ठिए॥

तृतीयायां पौरुष्यां
भक्तं पानं गवेषयेत्।
षण्णामन्यतरस्मिन्
कारणे समुत्थिते॥

३१—छह कारणों में से किसी एक के उपस्थित होने पर तीसरे प्रहर में भक्त और पान की गवेषणा करे।

३२—वेयणवेयावच्चे
इरियट्ठाए य संजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए
छट्ठं पुण धम्मचिन्ताए॥

वेदना-वैयावृत्याय
ईर्यार्थाय च संयमार्थाय।
तथा प्राण-प्रत्ययाय
षष्ठं पुनः धर्म-चिन्तायै॥

३२—वेदना (क्षुधा) शान्ति के लिए, वैयावृत्त्य के लिए, ईर्या समिति के शोधन के लिए, संयम के लिए तथा प्राण-प्रत्यय (जीवित रहने) के लिए और धर्म-चिन्तन के लिए भक्त-पान की गवेषणा करे।

---
१ यह गाथा केवल (अ) प्रति में ही है।

३३—निग्गन्थो धिइमन्तो
निग्गन्थी वि न करेज्ज छहिं चेव।
ठाणेहिं उ इमेहिं
अणइक्कमणा य से होइ॥

निर्ग्रन्थोधृतिमान्
निर्ग्रन्थ्यपि न कुर्याद्‌ षड्भिश्चैव।
स्थानै स्त्वेभिः
अनतिक्रमण च तस्य भवति॥

३३—धृतिमान् साधु और साध्वी इन छह कारणो से भक्त-पान की गवेषणा न करे, जिससे उनके सयम का अतिक्रमण न हो।

३४—आयके उवसग्गे[1]
तितिक्खया बम्भचेरगुत्तीसु।
पाणिदया तवहेउं
सरीरवोच्छेयणट्ठाए॥

आतङ्क उपसग
तितिक्षया ब्रह्मचर्य-गुप्तिषु।
प्राणि-दया तपोहेतोः
शरीर-व्यवच्छेदार्थाय॥

३४—रोग होने पर, उपसर्ग आने पर, ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा) के लिए, प्राणियो की दया के लिए, तप के लिए और शरीर-विच्छेद के लिए मुनि भक्त-पान की गवेषणा न करे।

३५—अवसेस भण्डगं गिज्झा
चक्खुसा पडिलेहए।
परमद्धजोयणाओ
विहार विहरए मुणी॥

अवशेषं भाण्डकं गृहीत्वा
चक्षुषा प्रतिलिखेत्।
परमर्धयोजनात्
विहारं विहरेन्मुनिः॥

३५—सब (भिक्षोपयोगी) भाण्डोपकरणो को ग्रहण कर चक्षु से उनकी प्रतिलेखना करे और दूसरे गाँव में भिक्षा के लिए जाना आवश्यक हो तो अधिक से अधिक अर्ध-योजन प्रदेश तक जाए।

३६—चउत्थीए पोरिसीए
निक्खिवित्ताण भायण।
सज्झाय तओ कुज्जा
सव्वभावविभावण[2]॥

चतुर्थ्यां पौरुष्यां
निक्षिप्य भाजनम्।
स्वाध्याय ततः कुर्यात्
सर्व-भाव-विभावनम्॥

३६—चौथे प्रहर में भाजनो को प्रतिलेखन पूर्वक बाध कर रख दे, फिर सर्व भावों को प्रकाशित करने वाला स्वाध्याय करे।

३७—पोरिसीए चउब्भाए
वन्दित्ताण तओ गुरुं।
पडिक्कमित्ता कालस्स
सेज्ज तु पडिलेहए॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे
वन्दित्वा ततो गुरुम्।
प्रतिक्रम्य कालस्य
शय्या तु प्रतिलिखेत्॥

३७—चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में पौन पौरुषी बीत जाने पर स्वाध्याय के पश्चात् गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (स्वाध्याय-काल से निवृत्त होकर) शय्या की प्रतिलेखना करे।

३८—पासवणुच्चारभूमिं च
पडिलेहिज्ज जय जई।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खणं॥

प्रस्रवणोच्चार-भूमिं च
प्रतिलिखेद्‌ यतं यतिः।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व-दुःख-विमोक्षणम्॥

३८—यतनाशील यति फिर प्रस्रवण और उच्चार-भूमि की प्रतिलेखना करे। तदनन्तर सर्व-दुखो से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

---

१ उसग्गे (उ)।
२. सव्वदुक्खविमोक्खण (बृ० पा०)।

३९—देसिय च अईयार
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणे[1] दसणे चेव
चरित्तम्मि तहेव य ॥

दैवसिक चातिचार
चिन्तयेदनुपूर्वशः ।
ज्ञाने दर्शने चैव
चरित्रे तथैव च ॥

३९—ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्बन्धी दैवसिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे ।

४०—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
देसिय तु अईयार
आलोएज्ज जहक्कम ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
दैवसिक त्वतिचार
आलोचयेत् यथाक्रमम् ॥

४०—कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे। फिर अनुक्रम से दैवसिक अतिचार की आलोचना करे ।

४१—पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खण ॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥

४१—प्रतिक्रमण से नि शल्य होकर गुरु को वन्दना करे । फिर सर्व दु खों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे ।

४२—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
'थुइमगल च काऊण'[2]
काल सपडिलेहए ॥

पारित-कायोत्सर्ग
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
स्तुति-मगल च कृत्वा
काल सप्रतिलिखेत् ॥

४२—कायोत्सर्ग को समाप्त कर गुरु को वन्दना करे। फिर स्तुति-मगल करके काल की प्रतिलेखना करे ।

४३—'पढम पोरिसिं सज्झाय
वीय झाण झियायई ।
तइयाए निद्दमोक्ख तु
सज्झाय तु चउत्थिए ॥'[3]

प्रथमा पौरुषीं स्वाध्याय
द्वितीया ध्यान ध्यायति ।
तृतीयाया निद्रा-मोक्ष तु
स्वाध्याय तु चतुर्थ्याम् ॥

४३—प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नीद और चौथे में पुन स्वाध्याय करे ।

४४—'पोरिसीए चउत्थीए
काल तु पडिलेहिया ।
सज्झाय तओ कुज्जा
अबोहेन्तो असजए ॥'[4]

पौरुष्या चतुर्थ्या
काल तु प्रतिलिख्य ।
स्वाध्याय ततः कुर्यात्
अबोधयन्नसयतान् ॥

४४—चौथे प्रहर में काल की प्रतिलेखना कर असयत व्यक्तियों को न जगाता हुआ स्वाध्याय करे ।

---

१. नाणे य (आ), नाणमि (उ) ।
२. सिद्धाण सथव किच्चा (वृ० पा०) ।
३. पढमा पोरसि सज्झाय वीए झाण झियायति ।
तितियाए निद्दमोक्ख च चउभाए चउत्थए ॥ (वृ० पा०) ।
४. काल तु पडिलेहित्ता अबोहितो असजए ।
कुज्जा मुणी य सज्झाय सव्वदुक्खविमोक्खण ॥ (वृ० पा०) ।

४५—पोरिसीए चउब्भाए
'वन्दिऊण तओ गुरु'[1]।
पडिक्कमित्तु कालस्स
काल तु पडिलेहए ॥

पौरुष्याश्चतुर्भागे
वन्दित्वा ततो गुरुम्
प्रतिक्रम्य कालस्य
काल तु प्रतिलिखेत ॥

४५—चौथे प्रहर के चतुर्थ भाग में गुरु को वन्दना कर, काल का प्रतिक्रमण कर (स्वाध्याय काल से निवृत्त होकर) काल की प्रतिलेखना करे।

४६—आगए कायवोस्सग्गे
सव्वदुक्खविमोक्खणे ।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खण ॥

आगते काय-व्युत्सर्गे
सर्व-दु ख-विमोक्षणे ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व दुःख-विमोक्षणम् ॥

४६—सर्व दुःखों से मुक्त करने वाला काय-व्युत्सर्ग (कायोत्सर्ग) का समय आने पर सर्व दु खों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

४७—राइय च अईयार
चिन्तिज्ज अणुपुव्वसो ।
नाणमि दसणमी
चरित्तमि तवमि य ॥

रात्रिकं चातिचारं
चिन्तयेदनुपूर्वश ।
ज्ञाने दर्शने
चरित्रे तपसि च ॥

४७—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप सम्बन्धी रात्रिक अतिचार का अनुक्रम से चिन्तन करे।

४८—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
राइय तु अईयार
आलोएज्ज जहक्कम ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
रात्रिकं त्वतिचारं
आलोचयेद् यथाक्रमम् ॥

४८—कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वदना करे। फिर अनुक्रम से रात्रिक अतिचार की आलोचना करे।

४९—पडिक्कमित्तु निस्सल्लो
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
काउस्सग्ग तओ कुज्जा
सव्वदुक्खविमोक्खण ॥

प्रतिक्रम्य निःशल्यः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
कायोत्सर्गं ततः कुर्यात्
सर्व-दुःख-विमोक्षणम् ॥

४९—प्रतिक्रमण से नि शल्य होकर गुरु को वदना करे, फिर सर्व दु खों से मुक्त करने वाला कायोत्सर्ग करे।

५०—किं तवं पडिवज्जामि
एव तत्थ विचिन्तए ।
काउस्सग्गं तु पारित्ता
वन्दई य तओ गुरु ॥

किं तपः प्रतिपद्ये
एवं तत्र विचिन्तयेत् ।
कायोत्सर्गं तु पारयित्वा
वन्दते च ततो गुरुम् ॥

५०—मैं कौन-सा तप ग्रहण करूँ—कायोत्सर्ग में ऐसा चिन्तन करे। कायोत्सर्ग को समाप्त कर, गुरु को वन्दना करे।

---

१ सेसे वदित्तु ते गुरु (वृ० पा०)।

५१—पारियकाउस्सग्गो
वन्दित्ताण तओ गुरु ।
तव संपडिवज्जेत्ता[1]
करेज्ज सिद्धाण संथवं ॥

पारित-कायोत्सर्गः
वन्दित्वा ततो गुरुम् ।
तपः सम्प्रतिपद्य
कुर्यात् सिद्धानां संस्तवम् ॥

५१—कायोत्सर्ग पारित होने पर मुनि गुरु को वन्दना करे। फिर तप को स्वीकार कर सिद्धों का संस्तव (स्तुति) करे।

५२—एसा सामायारी
समासेण वियाहिया ।
जं चरित्ता बहू जीवा
तिण्णा संसारसागरं ॥
—त्ति बेमि ।

एषा सामाचारी
समासेन व्याख्याता ।
यां चरित्वा बहवो जीवाः
तीर्णाः संसार-सागरम् ॥
—इति ब्रवीमि ।

५२—यह सामाचारी मैंने संक्षेप में कही है। इसका आचरण कर बहुत से जीव संसार-सागर को तर गए।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

१. व पडिवज्जित्ता (अ)।

सत्तावीसइमं अज्झयणं :
खलुंकिज्जं

सप्तविंश अध्ययन :
खलुंकीय

आमुख

इस अध्ययन मे खलुक (दुष्ट बैल) की उद्दण्डता के माध्यम से अविनीत की उद्दण्डता का चित्रण किया गया है, इसलिए इसका नाम 'खलुकिज्जं'—'खलुकीय' है।

इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन में विनीत और अविनीत के स्वरूप की व्याख्या की गई है। विनीत को पग-पग पर सम्पत्ति मिलती है और अविनीत को विपत्ति। अनुशासन विनय का एक अंग है। भगवान् महावीर के शासन मे अनुशासन की शिक्षा-दीक्षा का बहुत महत्त्व रहा है। आत्मानुशासन अध्यात्म का पहला सोपान है। जो आत्म-शासित है वही मोक्ष-मार्ग के योग्य है। जो शिष्य अनुशासन की अवहेलना करता है, उसका न इहलोक सधता है और न परलोक।

आन्तरिक अनुशासन में प्रवीण व्यक्ति ही बाह्य अनुशासन को क्रियान्वित कर सकता है। जिसकी आन्तरिक वृत्तियाँ अनुशासित है उसके लिए बाह्य अनुशासन, चाहे फिर वह कितना ही कठोर क्यों न हो, सरल हो जाता है।

यह अध्ययन प्रथम अध्ययन का ही पूरक अंश है। इसमें अविनीत शिष्य के अविनय का यथार्थ चित्रण किया गया है और उसकी 'खलुक' (दुष्ट बैल) से तुलना की गई है—

"दुष्ट बैल शकट और स्वामी का नाश कर देता है, यत्किंचित् देख कर सन्त्रस्त हो जाता है, जुए और चाबुक को तोड़ डालता है और विपथगामी हो जाता है।"[1]

"अविनीत शिष्य खलुक जैसा होता है। वह दंश-मशक की तरह कष्ट देने वाला, जलौक की तरह गुरु के दोष ग्रहण करने वाला, वृश्चिक की तरह वचन-कण्टकों से बींधने वाला, असहिष्णु, आलसी और गुरु के कथन को न मानने वाला होता है।"[2]

"वह गुरु का प्रत्यनीक, चारित्र में दोष लगाने वाला, असमाधि उत्पन्न करने वाला और कलह करने वाला होता है।"[3]

"वह पिशुन, दूसरों को तपाने वाला, रहस्य का उद्घाटन करने वाला, दूसरों का तिरस्कार करने वाला, श्रमण-धर्म से खिन्न होने वाला और मायावी होता है।"[4]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ४८६ :
भवदाली उत्तसओ जोत्तजुगभज तुत्तभजो अ।
उप्पहविप्पहगामी एय खलुका भवे गोणा॥

२—वही, गाथा ४९२
दसमसगस्समाणा जलुयकविच्छुयसमा य जे हुंति।
ते किर होंति खलुका तिक्खम्मिउचढमद्दविआ॥

३—वही, गाथा ४९३
जे किर गुरुपडिणीआ सबला असमाहिकारगा पावा।
अहिगरणकारगऽप्पा जिणवयणे ते किर खलुका॥

४—वही, गाथा ४९४
पिसुणा परोवतावी भिन्नरहस्सा परं परिभवंति।
निव्विअणिज्जा य सढा जिणवयणे ते किर खलुका॥

स्थविर गणधर गार्ग्य मृदु, समाधि-सम्पन्न और आचारवान् गणी थे। जब उन्होंने देखा कि उनके सारे शिष्य अविनीत, उद्दण्ड और उच्छृखल हो गए, तब आत्म-भाव से प्रेरित हो, शिष्य-समुदाय को छोड़, वे अकेले हो गए। आत्म-निष्ठ मुनि के लिए यही कर्त्तव्य है। जो शिष्य-सम्पदा समाधि में सहायक होती है वही गुरु के लिए आदेय है, अनुशासनीय है और जो समाधि में बाधक बनती है वह त्याज्य है, अवाछनीय है।

सामुदायिकता साधना की समृद्धि के लिए है। वह लक्ष्य की पूर्ति के लिए सहायक हो तो उसे अगीकार किया जाता है और यदि वह बाधक बनने लगे तो साधक स्वय अपने को उससे मुक्त कर लेता है। यह तथ्य सदा से मान्य रहा है। यह अध्ययन उसी परम्परा की ओर सकेत करता है।

सत्तावीसइमं अज्झयणं : सप्तविंश अध्ययन

खलुंकिज्जं : खलुंकीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—थेरे गणहरे गग्गे मुणी आसि विसारए। आइण्णे गणिभावम्मि समाहिं पडिसंधए॥	स्थविरो गणधरो गार्ग्यः मुनिरासीद् विशारदः। आकीर्णो गणि-भावे समाधिं प्रतिसंधत्ते॥	१—एक गर्ग नामक मुनि हुआ। वह स्थविर, गणधर और शास्त्र विशारद था। वह गुणों से आकीर्ण, गणी पद पर स्थित होकर समाधि का प्रतिसंधान करता था।
२—वहणे वहमाणस्स[1] कन्तारं अइवत्तई। जोए वहमाणस्स संसारो अइवत्तई॥	वहने वहमानस्य कान्तारमतिवर्तते। योगे वहमानस्य संसारोऽतिवर्तते॥	२—वाहन को वहन करते हुए बैल के अरण्य स्वयं उल्लंघित हो जाता है। वैसे ही योग को वहन करते हुए मुनि के संसार स्वयं उल्लंघित हो जाता है।
३—खलुंके जो उ जोएइ विहम्माणो किलिस्सई[2]। असमाहिं च वेएइ तोत्तओ य से भज्जई॥	खलुंकान् यस्तु योजयति विघ्नन् क्लिश्यति। असमाधिं च वेदयति तोत्रकं च तस्य भज्यते॥	३—जो अयोग्य बैलों को जोतता है, वह उनको आहत करता हुआ क्लेश पाता है। उसे असमाधि का संवेदन होता है और उसका चाबुक टूट जाता है।
४—एगं डसइ पुच्छंमि एगं विन्धइऽभिक्खणं। एगो भंजइ समिलं एगो उप्पहपट्ठिओ॥	एकं दशति पुच्छे एकं विध्यत्यभीक्ष्णम्। एको भनक्ति समिलं एक उत्पथ-प्रस्थितः॥	४—वह क्रुद्ध हुआ वाहक किसी एक की पूँछ को काट देता है और किसी एक को बार-बार बींधता है। तब कोई अयोग्य बैल जुए की कील को तोड देता है और कोई उत्पथ में प्रस्थान कर जाता है।
५—एगो पडइ पासेणं निवेसइ निवज्जई। उक्कुद्दइ उप्फिडई सढे बालगवी वए॥	एकः पतति पार्श्वेन निविशति निपद्यते। उत्कूर्दते उत्प्लवते शठ बालगवीं व्रजेत्॥	५—कोई एक पार्श्व से गिर पडता है, कोई बैठ जाता है तो कोई लेट जाता है। कोई कूदता है, कोई उछलता है तो कोई शठ तरुण गाय की ओर भाग जाता है।

१ वाहयमाणस्स (अ, इ०), वहणमाणस्स (ऋ०)।

२ किलाम्मई (वृ०), किलिस्सई (वृ० पा०)।

६—माई मुद्धेण पडइ
कुद्धे गच्छइ पडिप्पह ।
'मयलक्खेण चिट्ठई'[1]
वेगेण य पहावई ॥

मायी मूर्ध्ना पतति
क्रुद्धो गच्छति प्रतिपथम् ।
मृत-लक्षेण तिष्ठति
वेगेन च प्रधावति ॥

६—कोई धूर्त्त बैल शिर को निढाल बना कर लुट जाता है तो कोई क्रुद्ध होकर पीछे की ओर चलता है । कोई मृतक-सा बन कर गिर जाता है तो कोई वेग से दौड़ता है ।

७—छिन्नाले छिन्दइ सेल्लि
दुद्दन्तो भजए जुग ।
से वि य सुस्सुयाइत्ता[2]
उज्जाहित्ता[3] पलायए ॥

'छिन्नाले' छिनत्ति 'सेल्लिं'
दुर्दान्तो भनक्ति युगम् ।
सोपि च सूत्कृत्य
उद्घाय पलायते ॥

७—छिनाल वृषभ रास को छिन्न-भिन्न कर देता है, दुर्दान्त होकर जुए को तोड देता है और सो-सो कर वाहन को छोड कर भाग जाता है ।

८—खलुका जारिसा जोज्जा
दुस्सीसा वि हु तारिसा ।
जोइया धम्मजाणम्मि
भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥

खलुंका यादृशा योज्याः
दुःशिष्याः अपि खलुतादृशाः ।
योजिता धर्म-याने
भज्यन्ते धृति-दुर्बलाः ॥

८—जुते हुए अयोग्य बैल जैसे वाहन को भग्न कर देते है, वैसे ही दुर्बल धृति वाले शिष्यों को धर्म-यान में जोत दिया जाता है तो वे उसे भग्न कर डालते हैं ।

९—इड्ढीगारविए एगे
एगेऽत्थ रसगारवे ।
सायागारविए एगे
एगे सुचिरकोहणे ॥

ऋद्धि-गौरविक एकः
एकोत्र रस-गौरव. ।
सात-गौरविक एक.
एकः सुचिर-क्रोधनः ॥

९—कोई शिष्य ऋद्धि का गौरव करता है तो कोई रस का गौरव करता है, कोई साता का गौरव करता है तो कोई चिरकाल तक क्रोध रखने वाला होता है ।

१०—भिक्खालसिए एगे
एगे ओमाणभीरुए थद्धे ।
एग च[4] अणुसासम्मी
हेऊहिं कारणेहि य ॥

भिक्षालस्यिक एक.
एकोऽवमान-भीरुक स्तब्धः ।
एकं च अनुशास्ति
हेतुभि कारणैश्च ॥

१०—कोई भिक्षाचरी में आलस्य करता है तो कोई अपमान-भीरु और अहकारी होता है । किसी को गुरु हेतुओं व कारणों द्वारा अनुशासित करते हैं—

१ पलय (यल) ते ण चिट्ठिया (बृ० पा०)।
२ सुस्सुयत्ता (अ)।
३. उज्जुहित्ता (आ, घृ०, सु०)।
४ × (अ)।

११—सो वि अन्तरभासिल्लो
दोसमेव पकुव्वई[1]।
आयरियाणं तं वयणं
पडिकूलेइ अभिक्खणं ॥

सोऽप्यन्तर-भाषावान्
दोषमेव प्रकरोति।
आचार्याणां तद् वचनं
प्रतिकूलयत्यभीक्ष्णम् ॥

११—तब वह बीच में ही बोल उठता है, मन में द्वेष ही प्रकट करता है तथा बार-बार आचार्य के वचनों के प्रतिकूल आचरण करता है।

१२—न सा ममं वियाणाइ
न वि[2] सा मज्झ दाहिई।
निग्गया होहिई मन्ने
साहू अन्नोऽत्थ वच्चउ ॥

न सा मां विजानाति
नापि सा मह्यं दास्यति।
निर्गता भविष्यति मन्ये
साधुरन्योऽत्र व्रजतु ॥

१२—(गुरु प्रयोजनवश किसी श्राविका से कोई वस्तु लाने को कहे, तब वह कहता है,) वह मुझे नहीं जानती, वह मुझे नहीं देगी, मैं जानता हूँ, वह घर से बाहर गई होगी। इस कार्य के लिए मैं ही क्यों, कोई दूसरा साधु चला जाए।

१३—पेसिया[3] पलिउंचन्ति
ते परियन्ति समन्तओ।
रायवेट्ठिं[4] व मन्नन्ता
करेन्ति भिउडिं मुहे ॥

प्रेषिताः परिकुंचन्ति
ते परियन्ति समन्ततः।
राज-वेष्टिमिव मन्यमानाः
कुर्वन्ति भृकुटिं मुखे ॥

१३—किसी कार्य के लिए उन्हें भेजा जाता है और वह कार्य किए बिना ही लौट आते हैं। पूछने पर कहते हैं—उस कार्य के लिए आपने हमसे कब कहा था? वे चारों ओर घूमते हैं, किन्तु गुरु के पास कभी नहीं बैठते। कभी गुरु का कहा कोई काम करते हैं तो उसे राजा की बेगार की भाँति मानते हुए मुँह पर भृकुटी तान लेते हैं—मुँह को मचोट लेते हैं।

१४—वाइया संगहिया चेव
'भत्तपाणे य'[5] पोसिया।
जायपक्खा जहा हंसा
पक्कमन्ति दिसोदिसिं ॥

वाचिताः संगृहीताश्चैव
भक्त-पानेन च पोषिताः।
जात-पक्षा यथा हंसाः
प्रक्रामन्ति दिशो दिशम् ॥

१४—(आचार्य सोचते हैं) मैंने उन्हें पढ़ाया, संगृहीत (दीक्षित) किया, भक्त-पान से पोषित किया, किन्तु कुछ योग्य बनने पर ये वैसे ही बन गए हैं, जैसे पंख आने पर हंस विभिन्न दिशाओं में प्रक्रमण कर जाते हैं—दूर-दूर उड़ जाते हैं।

१५—अह सारही विचिन्तेइ[6]
खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं
अप्पा मे अवसीयई ॥

अथ सारथिर्विचिन्तयति
खलुंकैः समागतः।
किं मम दुष्ट-शिष्यैः
आत्मा मेऽवसीदति ॥

१५—कुशिष्यों द्वारा खिन्न होकर सारथि (आचार्य) सोचते हैं—इन दुष्ट शिष्यों से मुझे क्या? इनके संसर्ग से मेरी आत्मा अवसन्न—व्याकुल होती है।

---

१. पभासए (बृ० पा०)।
२. य (उ)।
३. पोसिया (बृ० पा०)।
४. रायाविट्ठ (अ)।
५. भत्तपाणेण (अ, आ, इ)।
६. हि चिंतेइ (अ)।

१६—जारिसा[1] मम सीसाउ
तारिसा[2] गलिगद्दहा ।
गलिगद्दहे चइत्ताण[3]
दढ परिगिण्हइ[4] तवं ॥

यादृशा मम शिष्यास्तु
तादृशा गलि-गर्दभाः ।
गलि-गर्दभान् त्यक्त्वा
दृढं परिगृह्णामि तपः ॥

१६—जैसे मेरे शिष्य है वैसे ही गली-गदर्भ होते है। इन गली-गर्दभो को छोड कर गर्गाचार्य ने दृढता के साथ तप मार्ग को अगीकार किया ।

१७—मिउ मद्दवसपन्ने
गम्भीरे सुसमाहिए ।
विहरइ महिं महप्पा
सीलभूएण अप्पणा ॥
—त्ति बेमि ।

मृदुर्मार्दव-सम्पन्नो
गम्भीरः सुसमाहितः ।
विहरति मही महात्मा
शीलभूतेनात्मना ॥
—इति ब्रवीमि ।

१७—वह मृदु और मार्दव से सम्पन्न गम्भीर और सुसमाहित महात्मा शील-सम्पन्न होकर पृथ्वी पर विचरने लगा ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

---

१. तारिसा (अ)।
२. जारिसा (अ)।
३. जहित्ताण (आ)।
४ पगिण्हामि (बृ०); परिगिण्हई (बृ० पा०)।

अट्ठावीसइमं अज्झयणं :
मोक्खमग्गगई

अष्टाविंश अध्ययन :
मोक्ष-मार्ग-गति

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'मोक्खमग्गगई'—'मोक्ष-मार्ग-गति' है। मोक्ष प्राप्य है और मार्ग है उसकी प्राप्ति का उपाय। गति व्यक्ति का अपना पुरुषार्थ है। प्राप्य हो और प्राप्ति का उपाय न मिले तो वह प्राप्त नही होता। इसी प्रकार प्राप्य भी हो और प्राप्ति का उपाय भी हो किन्तु उसकी ओर गति नहीं होती तो वह प्राप्त नहीं होता। मार्ग और गति—ये दोनों प्राप्त हों तभी प्राप्य प्राप्त हो सकता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इन चारों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए इनके समवाय को मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जैन-दर्शन ज्ञान-योग, भक्ति-योग (श्रद्धा) और कर्म-योग (चारित्र और तप) इन तीनों को सयुक्त रूप मे मोक्ष का मार्ग मानता है, किसी एक को नहीं। (श्लो० २) इस चतुरग मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव ही मोक्ष को प्राप्त करते है।

चौथे से चौदहवें श्लोक तक ज्ञान-योग का निरूपण है—ज्ञान और ज्ञेय का प्रतिपादन है।

पन्द्रहवें से इकतीसवें श्लोक तक श्रद्धा-योग का निरूपण है।

बत्तीसवें से चौंतीसवें श्लोक तक कर्म-योग का निरूपण है।

पैंतीसवें श्लोक मे इन योगों के परिणाम बतलाए गए है।

मोक्ष-प्राप्ति का पहला साधन ज्ञान है। ज्ञान पाँच है—मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यव और केवल। ज्ञान के विषय है—द्रव्य, गुण और पर्याय। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य हैं। गुण और पर्याय अनन्त है।

मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा साधन दर्शन है। उसका विषय है तथ्य की उपलब्धि। वे नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। दर्शन को दस रुचियों में विभक्त किया गया है। यह विभाग स्थानांग (१०।७५१) और प्रज्ञापना (प्रथम पद) मे भी मिलता है। वह विभाग यह है—

१—निसर्गरुचि,
२—उपदेशरुचि,
३—आज्ञारुचि,
४—सूत्ररुचि,
५—बीजरुचि,
६—अभिगमरुचि,
७—विस्ताररुचि,
८—क्रियारुचि,
९—सक्षेपरुचि और
१०—धर्मरुचि।

मोक्ष-प्राप्ति का तीसरा साधन चारित्र—आचार है। वे पाँच हैं

१—सामायिक चारित्र,
२—छेदोपस्थापनीय चारित्र,
३—परिहार-विशुद्धि चारित्र,
४—सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र और
५—यथाख्यात चारित्र।

मोक्ष-प्राप्ति का चौथा साधन तप है। वह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। प्रत्येक के छह-छह विभाग हैं।

दर्शन के बिना ज्ञान नही होता और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं आता। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता। (श्लो० ३०)

ज्ञान से तत्त्व जाने जाते हैं।

दर्शन से उन पर श्रद्धा होती है।

चारित्र से आस्रव का निरोध होता है।

तप से शोधन होता है। (श्लोक ३५)

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में इन चार मार्गों का निरूपण है। जब आत्म-शोधन पूर्ण होता है तब जीव सिद्ध-गति को प्राप्त हो जाता है।

सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्गाध्ययन' है। उसमे भी मोक्ष के मार्गों का निरूपण है।

अट्ठावीसइमं अज्झयण : अष्टविंश अध्ययन

मोक्खमग्गगई : मोक्ष-मार्ग-गति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—मोक्खमग्गगइ तच्च सुणेह जिणभासियं । चउकारणसजुत्त नाणदसणलक्खण ॥	मोक्ष-मार्ग-गति तथ्या श्रृणुत जिन-भाषिताम् । चतुष्कारण-सयुक्ता ज्ञान-दर्शन-लक्षणाम् ॥	१—चार कारणो से सयुक्त, ज्ञान-दर्शन, लक्षण वाली जिन-भाषित मोक्ष-मार्ग की गति को सुनो ।
२—नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा । एस[1] मग्गो त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदसिहिं[2] ॥	ज्ञान च दर्शन चैव चरित्रं च तपस्तथा । एष मार्ग इति प्रज्ञप्तः जिनैर्वर-दर्शिभिः ॥	२—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—यह मोक्ष-मार्ग है, ऐसा वरदर्शी अर्हतो ने प्ररूपित किया ।
३—नाण च दसण चेव चरित्त च तवो तहा । एयमग्गमणुप्पत्ता[3] जीवा गच्छन्ति सोग्गइ ॥	ज्ञान च दर्शन चैव चरित्र च तपस्तथा । एन मार्ग मनुप्राप्ता जीवा गच्छन्ति सुगतिम् ॥	३—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते है ।
४—तत्थ पचविह नाण सुय आभिनिबोहियं । ओहीनाण तइय मणनाण च केवल ॥	तत्र पचविध ज्ञान श्रुतमाभिनिबोधिकम् । अवधिज्ञान तृतीय मनोज्ञान च केवलम् ॥	४—उनमें ज्ञान पाँच प्रकार का है—श्रुत ज्ञान, आभिनिबोधिक ज्ञान, अवधि ज्ञान, मन ज्ञान और केवल ज्ञान ।
५—एय पचविह नाण दव्वाण य गुणाण य । पज्जवाण च सव्वेसिं नाण नाणीहि देसियं ॥	एतत् पचविध ज्ञान द्रव्याना च गुणाना च । पर्यवाणा च सवषा ज्ञान ज्ञानिभिर्देशितम् ॥	५—यह पाँच प्रकार का ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण और पर्यायों का अवबोधक है—ऐसा ज्ञानियो ने वतलाया है ।

---

१ एय (अ) ।
२ सव्वदसिहिं (अ) ।
३ एव° (अ) ।

F 94

६—गुणाणमासओ दव्वं
एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु
उभओ[1] अस्सिया भवे ॥

गुणानामाश्रयो द्रव्यं
एक द्रव्याश्रिता गुणाः ।
लक्षणं पर्यवाणां तु
उभयोराश्रिता भवेयुः ॥

६—जो गुणों का आश्रय होता है, वह द्रव्य है। जो किसी एक द्रव्य के आश्रित रहते है, वे गुण होते है। द्रव्य और गुण दोनों के आश्रित रहना पर्याय का लक्षण है—जो द्रव्य और गुण दोनो के आश्रित रहते हैं, वे पर्याय होते हैं।

७—धम्मो अहम्मो आगासं
कालो पुग्गलजन्तवो ।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो
जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

धर्मोऽधर्म आकाशं
कालः पुद्गल-जन्तवः ।
एष लोक इति प्रज्ञप्तः
जिनैर्वर-दर्शिभिः ॥

७—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—ये छह द्रव्य है। यह षट्-द्रव्यात्मक जो है वही लोक है—ऐसा वरदर्शी अर्हतों ने प्ररूपित किया है।

८—धम्मो अहम्मो आगासं
दव्वं इक्किक्कमाहियं ।
अणन्ताणि य दव्वाणि
कालो पुग्गलजन्तवो ॥

धर्मोऽधर्म आकाशं
द्रव्यमेकैकमाख्यातम् ।
अनन्तानि च द्रव्याणि
कालः पुद्गल-जन्तवः ॥

८—धर्म, अधर्म, आकाश—ये तीन द्रव्य एक-एक है। काल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त-अनन्त है।

९—गइलक्खणो उ[2] धम्मो
अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं
नहं ओगाहलक्खणं ॥

गति-लक्षणस्तु धर्मः
अधर्मः स्थान-लक्षणः ।
भाजनं सर्व-द्रव्याणां
नभोऽवगाह-लक्षणम् ॥

९—धर्म का लक्षण है गति, अधर्म का लक्षण है स्थिति और आकाश सर्व द्रव्यों का भाजन है। उसका लक्षण है अवकाश।

१०—वत्तणालक्खणो कालो
जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणं च
सुहेण य दुहेण य ॥

वर्तना-लक्षणः कालः
जीव उपयोग-लक्षणः ।
ज्ञानेन दर्शनेन च
सुखेन च दुःखेन च ॥

१०—वर्तना काल का लक्षण है। जीव का लक्षण है उपयोग। वह ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःख से जाना जाता है।

११—नाणं च दंसणं चेव
चरित्तं च तवो तहा ।
वीरियं उवओगो य
एयं जीवस्स लक्खणं ॥

ज्ञानं च दर्शनं चैव
चरित्रं च तपस्तथा ।
वीर्यमुपयोगश्च
एतज्जीवस्य लक्षणम् ॥

११—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये जीव के लक्षण है।

१. दुहओ (अ)।
२. य (अ)।

१२—सद्दन्धयारउज्जोओ
पहा 'छायातवे इ वा'[1]।
वण्णरसगन्धफासा
पुग्गलाण तु लक्खण ॥

शब्दान्धकार उद्योतः
प्रभाच्छायाऽऽतप इति वा।
वर्ण-रस-गन्ध-स्पर्शाः
पुद्गलाना तु लक्षणम् ॥

१२—शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा, छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श—ये पुद्गल के लक्षण हैं।

१३—एगत्त च पुहत्त[2] च
संखा सठाणमेव य।
सजोगा य विभागा य
पज्जवाण तु लक्खण ॥

एकत्व च पृथक्त्व च
सख्या सस्थानमेव च।
सयोगाश्च विभागाश्च
पर्यवाणा तु लक्षणम् ॥

१३—एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सयोग और विभाग—ये पर्यायों के लक्षण हैं।

१४—जीवाजीवा य बन्धो य
पुण्ण पावासवो तहा।
सवरो निज्जरा मोक्खो
सन्तेए तहिया नव ॥

जीवाऽजीवाश्च बन्धश्च
पुण्य पापाश्रवौ तथा।
सम्वरो निर्जरा मोक्षः
सन्त्येते तथ्या नव ॥

१४—जीव, अजीव, बन्ध, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा और मोक्ष—ये नौ तथ्य (तत्त्व) हैं।

१५—तहियाण तु भावाण
'सब्भावे उवएसण।
भावेण सद्दहन्तस्स
सम्मत्त त वियाहिय'[3] ॥

तथ्याना तु भावाना
सद्भावे उपदेशनम्।
भावेन श्रद्दधतः
सम्यक्त्व तद्व्याख्यातम् ॥

१५—इन तथ्य भावों के सद्भाव (वास्तविक अस्तित्व) के निरूपण में जो अन्त करण से श्रद्धा करता है, उसे सम्यक्त्व होता है। उस अन्त करण की श्रद्धा को ही भगवान् ने सम्यक्त्व कहा है।

१६—निसग्गुवएसरुई
आणारुई सुत्तबीयरुइमेव।
अभिगमवित्थाररुई
किरियासखेवधम्मरुई ॥

निसर्गोपदेश-रुचिः
आज्ञा-रुचिः सूत्र-बीज-रुचिरेव।
अभिगम-विस्तार-रुचि
क्रिया-सक्षेप-धर्म-रुचिः ॥

१६—वह दस प्रकार का है—निसर्ग-रुचि, उपदेश-रुचि, आज्ञा-रुचि, सूत्र-रुचि, बीज-रुचि, अभिगम-रुचि, विस्तार-रुचि, क्रिया-रुचि, सक्षेप-रुचि और धर्म-रुचि।

१७—भूयत्थेणाहिगया
जीवाजीवा य पुण्णपाव च।
सहसम्मुइयासवसवरो य[4]
रोएइ उ निसग्गो ॥

भूतार्थेनाधिगताः
जीवाऽजीवाश्च पुण्य पाप च।
स्व-सम्मत्याऽऽश्रव-सवरौ च
रोचते तु निसर्ग ॥

१७—जो परोपदेश के बिना केवल अपनी आत्मा से उपजे हुए भूतार्थ (यथार्थ ज्ञान) से जीव, अजीव, पुण्य, पाप को जानता है और जो आश्रव और सवर पर श्रद्धा करता है, वह निसर्ग-रुचि है।

---

१. °तवे इ या (अ, ऋ०), °तवुत्ति वा (बृ०)।
२ दुहत्त (उ)।
३. सब्भावो (वेणो) वएसणे।
भावेण उ सद्दहणा सम्मत्त होति आहिय ॥ (बृ० पा०)।
४. व (अ)।

१८—जो जिणदिट्ठे भावे
चउव्विहे सद्दहाइ सयमेव।
एमेव[1] नऽन्नह त्ति य
निसग्गरुइ त्ति नायव्वो॥

यो जिन-दृष्टान् भावान्
चतुर्विधान् श्रद्दधाति स्वयमेव।
एवमेव नान्यथेति च
निसर्ग-रुचिरिति ज्ञातव्यः॥

१८—जो जिनेन्द्र द्वारा दृष्ट तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से विशेषित पदार्थों पर स्वयं ही—"यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं है'—ऐसी श्रद्धा रखता है, उसे निसर्ग-रुचि वाला जानना चाहिए।

१९—एए चेव उ[2] भावे
उवइट्ठे जो परेण सद्दहई।
छउमत्थेण जिणेण व[3]
उवएसरुइ त्ति नायव्वो॥

एतान् चैव तु भावान्
उपदिष्टान् यः परेण श्रद्दधाति।
छद्मस्थेन जिनेन वा
उपदेश-रुचिरिति ज्ञातव्यः॥

१९—जो दूसरो—छद्मस्थ या जिन—के द्वारा उपदेश प्राप्त कर, इन भावो पर श्रद्धा करता है, उसे उपदेश-रुचि वाला जानना चाहिए।

२०—रागो दोसो मोहो
अन्नाणं जस्स अवगयं होइ।
आणाए रोयंतो
सो खलु आणारुई नाम॥

रागो दोषो मोहः
अज्ञान यस्यापगत भवति।
आज्ञया रोचमान
स खल्वाज्ञा-रुचिर्नाम॥

२०—जो व्यक्ति राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के दूर हो जाने पर वीतराग की आज्ञा में रुचि रखता है, वह आज्ञा-रुचि है।

२१—जो सुत्तमहिज्जन्तो
सुएण ओगाहई उ सम्मत्त।
अंगेण बाहिरेण व[4]
सो सुत्तरुइ त्ति नायव्वो॥

यः सूत्रमधीयानः
श्रुतेनावगाहते तु सम्यक्त्वम्।
अङ्गेन बाह्येन वा
स सूत्र-रुचिरिति ज्ञातव्यः॥

२१—जो अग-प्रविष्ट या अग-बाह्य सूत्रों को पढता हुआ सम्यक्त्व पाता है, वह सूत्र-रुचि है।

२२—एगेण अणेगाइ
पयाइ जो पसरई उ सम्मत्त।
उदए व्व तेल्लबिन्दू
सो बीयरुइ त्ति नायव्वो॥

एकेनानेकानि
पदानि यत् प्रसरति तु सम्यक्त्वम्।
उदके इव तैल-बिन्दुः
स बीज-रुचिरिति ज्ञातव्यः॥

२२—पानी में डाले हुए तेल की बूंद की तरह जो सम्यक्त्व (रुचि) एक पद (तत्त्व) से अनेक पदो में फैलता है, उसे बीज-रुचि जानना चाहिए।

---

१. एमेय (अ, ब, बृ०)।
२ हु (ऋ०)।
३ य (ऋ०)।
४ य (ऋ०)।

२३—सो होइ अभिगमरुई
सुयनाण जेण अत्थओ दिट्ठं।
'एक्कारस अंगाइं'[1]
पइण्णगं[2] दिट्ठिवाओ य॥

स भवति अभिगम-रुचि
श्रुतज्ञान येन अर्थतो दृष्टम्।
एकादशाङ्गानि
प्रकीर्णकानि दृष्टि-वादश्च॥

२३—जिसे ग्यारह अंग, प्रकीर्णक और दृष्टिवाद आदि श्रुत-ज्ञान अर्थ सहित प्राप्त है, वह अभिगम-रुचि है।

२४—दव्वाण सव्वभावा
सव्वपमाणेहि जस्स उवलद्धा।
सव्वाहि नयविहीहि य
वित्थाररुइ त्ति नायव्वो॥

द्रव्याणा सर्वभावा,
सर्वप्रमाणैर्यस्योपलब्धाः।
सर्वैर्नय-विविभिश्च
विस्तार-रुचिरिति ज्ञातव्यः॥

२४—जिसे द्रव्यो के सब भाव, सभी प्रमाणों और सभी नय-विधियो मे उपलब्ध है, वह विस्तार-रुचि है।

२५—दंसणनाणचरित्ते
तवविणए सच्चसमिइगुत्तीसु[3]।
जो किरियाभावरुई
सो खलु किरियारुई नाम॥

दर्शन-ज्ञान-चरित्रे
तपो-विनये सत्य-समिति गुप्तिषु।
यः क्रिया-भाव-रुचि
स खलु क्रिया-रुचिर्नाम॥

२५—दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, विनय, सत्य, समिति, गुप्ति आदि क्रियाओं में जिसकी वास्तविक रुचि है, वह क्रिया-रुचि है।

२६—अणभिग्गहियकुदिट्ठी
संखेवरुइ त्ति होइ नायव्वो।
अविसारओ पवयणे
अणभिग्गहिओ य सेसेसु॥

अनभिगृहीत-कुदृष्टिः
संक्षेप-रुचिरिति भवति ज्ञातव्यः।
अविशारद प्रवचने
अनभिगृहीतश्च शेषेषु॥

२६—जो जिन-प्रवचन में विशारद नहीं है और अन्यान्य प्रवचनों का अभिज्ञ भी नहीं है, किन्तु जिसे कुदृष्टि का आग्रह न होने के कारण स्वल्प ज्ञान मात्र से जो तत्त्व-श्रद्धा प्राप्त होती है, उसे संक्षेप-रुचि जानना चाहिए।

२७—जो अत्थिकायधम्मं
सुयधम्मं खलु चरित्तधम्मं च।
सद्दहइ जिणाभिहियं
सो धम्मरुइ त्ति नायव्वो॥

योऽस्तिकाय-धर्मं
श्रुत-धर्मं खलु चरित्र-धर्मं च।
श्रद्दधाति जिनाभिहित
स धर्म-रुचिरिति ज्ञातव्यः॥

२७—जो जिन-प्ररूपित अस्तिकाय-धर्म, श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म में श्रद्धा रखता है, उसे धर्म-रुचि जानना चाहिए।

२८—परमत्थसंथवो वा
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वा वि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा
य सम्मत्तसद्दहणा॥

परमार्थ-संस्तवो वा
सुदृष्ट-परमार्थ-सेवन वापि।
व्यापन्न-कुदर्शन-वर्जन
च सम्यक्त्व-श्रद्धानम्॥

२८—परमार्थ का परिचय, जिन्होंने परमार्थ को देखा है उनकी सेवा, व्यापन्न-दर्शनी (सम्यक्त्व से भ्रष्ट) और कुदर्शनी व्यक्तियों का वर्जन, यह सम्यक्त्व का श्रद्धान है।

१. इक्कारसमंगाइं (उ, ऋ०)।
२. पइण्णियं (अ)।
३ सव्व॰ (अ)।

२९—नत्थि चरित्त सम्मत्तविहूण
दमणे उ भइयव्व ।
सम्मत्तचरित्ताइ
जुगव पुव्व व[1] सम्मत्त ॥

नास्ति चरित्रं सम्यक्त्व-विहीन
दर्शने तु भक्तव्यम् ।
सम्यक्त्व-चरित्रे
युगपत् पूर्वं वा सम्यक्त्वम् ॥

२९—सम्यक्त्व-विहीन चारित्र नहीं होता। दर्शन (सम्यक्त्व) में चारित्र की भजना (विकल्प) है। सम्यक्त्व और चारित्र युगपत् (एक साथ) उत्पन्न होते है और जहाँ वे युगपत् उत्पन्न नही होते, वहाँ पहले सम्यक्त्व होता है।

३०—नादसणिस्स नाण
नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो
नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण ॥

नाऽदर्शनिनो ज्ञान
ज्ञानेन विना न भवन्ति चरणगुणाः
अगुणिनो नास्ति मोक्षः
नास्ति अमोक्षस्य निर्वाणम् ॥

३०—अदर्शनी (असम्यक्त्वी) के ज्ञान (सम्यग् ज्ञान) नही होता, ज्ञान के विना चारित्र-गुण नही होते। अगुणी व्यक्ति की मुक्ति नही होती। अमुक्त का निर्वाण नही होता।

३१—निस्सकिय निक्कखिय
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य ।
उववूह थिरीकरणे
वच्छल्ल पभावणे अट्ठ ॥

निःशङ्कित-निष्काङ्क्षितं
निर्विचिकित्स अमूढ-दृष्टिश्च ।
उपबृंहा-स्थिरीकरणं
वात्सल्य-प्रभावनमष्ट ॥

३१—नि शका, निष्काक्षा, निर्विचिकित्सा, अमूढ-दृष्टि, उपवृहण (सम्यक् दर्शन की पुष्टि), स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—ये आठ सम्यक्त्व के अग है।

३२—सामाइयत्थ[2] पढमं
छेओवट्ठावण भवे बीय ।
परिहारविसुद्धीय
सुहुम तह सपराय च ॥

सामायिकमत्र प्रथमं
छेदोपस्थापनं भवेद् द्वितीयम् ।
परिहार-विशुद्धिक
सूक्ष्मं तथा सम्पराय च ॥

३२—चारित्र पाँच प्रकार के होते हैं—पहला—सामायिक, दूसरा—छेदोपस्थापनीय, तीसरा—परिहार-विशुद्धि, चौथा—सूक्ष्म-सम्पराय और।

३३—अकसाय अहक्खाय
छउमत्थस्स जिणस्स वा ।
एय चयरित्तकर
चारित्तं होइ आहिय ॥

अकषायं यथाख्यात
छद्मस्थस्य जिनस्य वा ।
एतत् चय-रिक्तकरं
चारित्रं भवत्याख्यातम् ॥

३३—पाँचवाँ-यथाख्यात-चारित्र कषाय रहित होता है। वह छद्मस्थ और केवली दोनों के होता है। ये सभी चारित्र कर्म-सचयको रिक्त करते है, इसीलिए इन्हें चारित्र कहा जाता है।

३४—तवो य दुविहो वुत्तो
वाहिरब्भन्तरो तहा ।
वाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भन्तरो तवो ॥

तपश्च द्विविधमुक्त
वाह्यमाभ्यन्तरं तथा ।
वाह्य षड्विध मुक्तं
एवमाभ्यन्तरं तप ॥

३४—तप दो प्रकार का कहा है—वाह्य और आभ्यन्तर। वाह्य-तप छह प्रकार का कहा है। इसी प्रकार आभ्यन्तर-तप भी छह प्रकार का है।

---

१ च (अ उ, ऋ०)।
२ सामाइय च (उ, ऋ०)।

३५—नाणेण जाणई भावे
दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ[1]
तवेण परिसज्झई॥

ज्ञानेन जानाति भावान्
दर्शनेन च श्रद्धत्ते।
चरित्रेण निगृह्णाति
तपसा परिशुध्यति॥

३५—जीव ज्ञान से पदार्थों को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से निग्रह करता है और तप से शुद्ध होता है।

३६—खवेत्ता पुव्वकम्माइं
संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा
पक्कमन्ति महेसिणो॥
—त्ति बेमि।

क्षपयित्वा पूर्व-कर्माणि
संयमेन तपसा च।
सर्व-दुःख-प्रहाणार्थाः
प्रक्रामन्ति महर्षयः॥
—इति ब्रवीमि।

३६—सर्व दुःखों से मुक्ति पाने का लक्ष्य रखने वाले महर्षि संयम और तप के द्वारा पूर्व-कर्मों का क्षय कर सिद्धि को प्राप्त होते हैं।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ न गिण्हति (चू० पा०)।

एगूणतीसइमं अज्झयणं :

सम्मत्तपरक्कमे

एकोनत्रिंश अध्ययन :

सम्यक्त्व-पराक्रम

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'सम्मत्तपरक्कमे'—'सम्यक्त्व-पराक्रम' है। इससे सम्यक्त्व में पराक्रम करने की दिशा मिलती है, इसलिए यह 'सम्यक्त्व-पराक्रम' गुण-निष्पन्न नाम है। निर्युक्तिकार के अनुसार 'सम्यक्त्व-पराक्रम' आदि पद मे है, इसलिए इसका नाम 'सम्यक्त्व-पराक्रम' हुआ है।[1] उनके अभिमत मे इसका गुण-निष्पन्न नाम 'अप्रमाद-श्रुत' है।[2] कुछ आचार्य इसे 'वीतराग-श्रुत' भी कहते हैं।[3]

प्रस्तुत अध्ययन मे ७१ प्रश्न और उत्तर है। उनमें साधना-पद्धति का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। साधना के सूत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

१—सवेग (१)[4]

२—निर्वेद (२)

३—धर्म-श्रद्धा (३)

४—शुश्रूषा—सेवा (४), वैयावृत्त्य (४३)

५—आलोचना (५)

६—निन्दा (६)

७—गर्हा (७)

८—आवश्यक-कर्म—

सामायिक (८), चतुर्विंशतिस्तव (९), वन्दना (१०), प्रतिक्रमण (११), कायोत्सर्ग (१२), प्रत्याख्यान (१३), स्तव-स्तुति (१४)

९—प्रायश्चित्त (१६)

१०—क्षमा-याचना (१७)

११—स्वाध्याय (१८)—

वाचना (१९), प्रतिप्रश्न (२०), परिवर्तना (२१), अनुप्रेक्षा (२२), धर्म-कथा (२४), श्रुताराधना (२५), काल-प्रतिलेखन (१५)

१२—मानसिक अनुशासन—

एकाग्र-मन-सन्निवेश (२५), मनो-गुप्ति (५३), मन-समाधारणता (५६), भाव-सत्यता (५०)

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५०३—

आयाणपएणेय, सम्मतपरक्कमति अज्झयण।

२—वही, गाथा ५०६—

सम्मत्तमप्पमाओ, इहमज्झयणम्मि वण्णिओ जेण।

तम्हेय अज्झयण, णायव्व अप्पमाय सुअं॥

३—वही, गाथा ५०३

···एगे पुण वीयरागसुय।

४—कोष्ठकों के अन्दर के अङ्क सूत्र सख्या के सूचक हैं।

१३—वाचिक अनुशासन—

वचो-गुप्ति (५४), वचन-समाधारणता (५७)

१४—कायिक अनुशासन—

करण-सत्यता (५१), काय-गुप्ति (५५), काय-समाधारणता (५८)

१५—योग-सत्य (५२)

१६—कषाय-विजय—

क्रोध-विजय (६७), मान-विजय (६८), माया-विजय (६९), लोभ-विजय (७०), क्षान्ति (७६), मुक्ति (४७), आर्जव (४८), मार्दव (४९), वीतरागता (४५), राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन-विजय (७१)

१७—सम्पन्नता—

सर्वगुण-सम्पन्नता (४४), ज्ञान-सम्पन्नता (५९), दर्शन-सम्पन्नता (६०), चारित्र-सम्पन्नता (६१)

१८—इन्द्रिय-निग्रह—

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह (६२), चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह (६३), घ्राणेन्द्रिय-निग्रह (६४), रसनेन्द्रिय-निग्रह (६५), स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह (६६)।

१९ - प्रत्याख्यान—

सम्भोग-प्रत्याख्यान (३३), उपधि-प्रत्याख्यान (३४), आहार-प्रत्याख्यान (३५), कषाय-प्रत्याख्यान (३६), योग-प्रत्याख्यान (३७), शरीर-प्रत्याख्यान (३८), सहाय-प्रत्याख्यान (३९), भक्त-प्रत्याख्यान (४०), सद्भाव-प्रत्याख्यान (४१)

२०—सयम (२६)

२१—तप (२७)

२२—विशुद्धि (२८)

२३—सुखासक्ति का त्याग (२९)

२४—अप्रतिबद्धता (३०)

२५—विविक्तशयनाशन (३१)

२६—विनिवर्तना (३२)

२७—प्रतिरूपता (४२)

जिस प्रकार पातञ्जल योग-दर्शन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, ईश्वर-प्रणिधान, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और सयम के परिणाम बतलाए गए हैं,[1] उसी प्रकार यहाँ सवेग आदि के परिणाम बतलाए गए हैं।

सवेग के परिणाम—

(१) अनुत्तर धर्म-श्रद्धा की प्राप्ति।

(२) अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से तीव्र सवेग की प्राप्ति।

(३) तीव्रतम (अनन्तानुबन्धी) क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय।

(४) मिथ्यात्व-कर्म का अपुनर्बन्ध।

(५) मिथ्यात्व-विशुद्धि।

(६) उसी जन्म में या तीसरे जन्म मे मुक्ति। (सू० १)

१—पातञ्जल योग-दर्शन २।३५-४२, ४५, ४७-४९, ५२, ५५, ३।५, १६-५५।

निर्वेद के परिणाम—

(१) काम-भोगों के प्रति अनासक्त-भाव।

(२) इन्द्रियों के विषयों मे विरक्ति।

(३) आरम्भ-परित्याग।

(४) संसार-मार्ग का विच्छेद और मोक्ष-मार्ग का स्वीकरण। (सू० २)

धर्म-श्रद्धा के परिणाम—

(१) सुख-सुविधा के प्रति विरक्ति।

(२) अनगार-धर्म का स्वीकरण।

(३) छेदन-भेदन आदि शारीरिक और सयोग-वियोग आदि मानसिक दु खों का उच्छेद।

(४) निर्बाध-सुख की प्राप्ति। (सू० ३)

गुरु और साधर्मिकों की सेवा के परिणाम—

(१) विनय-प्रतिपत्ति—आवश्यक कर्त्तव्यों का पालन।

(२) अनाशातनशीलता—गुरुजनों की अवज्ञा आदि से दूर रहने की मनोवृत्ति।

(३) दुर्गति का निरोध।

(४) गुण-ग्राहिता, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान की मनोवृत्ति का विकास।

(५) सुगति की ओर प्रयाण।

(६) विनय-हेतुक ज्ञान आदि की प्राप्ति।

(७) दूसरों को सेवा-धर्म में प्रवृत्त करना। (सू० ४)

आलोचना के परिणाम—

(१) आन्तरिक शल्यों की चिकित्सा।

(२) सरल मनोभाव की विशेष उपलब्धि।

(३) तीव्रतर विकारो से दूर रहने की क्षमता और पूर्व-सचित विकार के सस्कारों का विलय। (सू० ५)

आत्म-निन्दा के परिणाम—

(१) पश्चात्ताप-पूर्ण मनोभाव।

(२) अभूत-पूर्व विशुद्धि की परिणाम-धारा का प्रादुर्भाव।

(३) मोह का विलय। (सू० ६)

आत्म-गर्हा के परिणाम—

(१) अपने लिए अवज्ञा-पूर्ण वातावरण का निर्माण।

(२) अप्रशस्त आचरण से निवृत्ति।

(३) ज्ञान आदि के आवरण का विलय। (सू० ७)

सामायिक का परिणाम—

(१) विषमता-पूर्ण मनोभाव (सावद्य प्रवृत्ति) की विरति। (सू० ८)

चतुर्विंशति-स्तव का परिणाम—

(१) दर्शन को विशुद्धि। (सू० ९)

वन्दना के परिणाम—

(१) नीच गोत्र-कर्म का क्षय और उच्च गोत्र-कर्म का अर्जन।

(२) सौभाग्य—लोक-प्रियता।

(३) अनुल्लघनीय आज्ञा की प्राप्ति।

(४) अनुकूल परिस्थिति। (सू० १०)

प्रतिक्रमण के परिणाम—

(१) व्रत मे होने वाले छेदों का निरोध।

(२) चारित्र के धब्बों का परिमार्जन।

(३) आठ प्रवचन-माताओं के प्रति जागरूकता।

(४) अपृथक्त्व—सयमलीनता।

(५) मानसिक निर्मलता। (सू० ११)

कायोत्सर्ग के परिणाम—

(१) अतिचार का विशोधन।

(२) हृदय की स्वस्थता और भार-हीनता।

(३) प्रशस्त-ध्यान की उपलब्धि। (सू० १२)

प्रत्याख्यान का परिणाम—

(१) आश्रव-निरोध। (सू० १३)

स्तव-स्तुति-मगल के परिणाम—

(१) बोधि-लाभ।

(२) अन्त-क्रिया—मुक्ति।

(३) स्वर्ग-गमन। (सू० १४)

काल-प्रतिलेखना का परिणाम—

(१) ज्ञानावरण कर्म का विलय। (सू० १५)

प्रायश्चित्तकरण के परिणाम—

(१) पाप-कर्म का विशोधन।

(२) दोष-विशुद्धि।

(३) मार्ग और मार्ग-फल—ज्ञान की प्राप्ति।

(४) आचार और आचार-फल—आत्म-स्वतन्त्रता की आराधना। (सू० १६)

क्षमा-याचना के परिणाम—

(१) आह्लाद-पूर्ण मनोभाव।

(२) सबके प्रति मैत्रीभाव।

(३) मन की निर्मलता।

(४) अभय। (सू० १७)

स्वाध्याय का परिणाम—

(१) ज्ञानावरण कर्म का विलय। (सू० १८)

वाचना—अध्यापन के परिणाम—

(१) निर्जरा—संस्कार-क्षय।

(२) श्रुत की अनाशातना—ज्ञान का विनय।

(३) तीर्थ-धर्म का अवलम्बन—धर्म-परम्परा की अविच्छिन्नता।

(४) चरम साध्य की उपलब्धि। (सू० १९)

प्रतिप्रश्न के परिणाम—

(१) सूत्र, अर्थ और तदुभय की विशुद्धि—संशय, विपर्यय आदि का निराकरण।

(२) काङ्क्षा—मोहनीय कर्म का विच्छेद। (सू० २०)

परावर्तना के परिणाम—

(१) स्मृत की पुष्टि और विस्मृत की याद।

(२) व्यंजन-लब्धि—पदानुसारिणी बुद्धि का विकास। (सू० २१)

अनुप्रेक्षा के परिणाम—

(१) दृढ कर्म का शिथिलीकरण, दीर्घकालीन कर्म-स्थिति का संक्षेपीकरण और तीव्र अनुभाव का मन्दीकरण।

(२) असातवेदनीय कर्म का अनुपचय।

(३) संसार से शीघ्र मुक्ति। (सू० २२)

धर्म-कथा के परिणाम—

(१) निर्जरा।

(२) प्रवचन—धर्म-शासन की प्रभावना।

(३) कुशल-कर्मों का अर्जन। (सू० २३)

श्रुताराधना के परिणाम—

(१) अज्ञान का क्षय।

(२) क्लेश-हानि। (सू० २४)

मन को एकाग्र करने का परिणाम—

(१) चित्त-निरोध। (सू० २५)

संयम का परिणाम—

(१) अनाश्रव—आश्रव-निरोध। (सूत्र २६)

तप का परिणाम—

(१) व्यवदान—कर्म-निर्जरा। (सू० २७)

व्यवदान के परिणाम—

(१) अक्रिया—प्रवृत्ति-निरोध।

(२) सर्व दुःख-मुक्ति। (सू० २८)

सुख-स्पृहा त्यागने के परिणाम—

(१) अनुत्सुक मनोभाव।

(२) अनुकम्पा-पूर्ण मनोभाव।

(३) प्रशान्तता।

(४) शोक-रहित मनोभाव ।

(५) चारित्र को विकृत करने वाले मोह का विलय । (सू० २६)

अप्रतिबद्धता—मानसिक अनासक्ति के परिणाम—

(१) नि.सगता—निर्लेपता ।

(२) चित्त की एकाग्रता ।

(३) प्रतिपल अनासक्ति । (सू० ३०)

विविक्त शयनासन के परिणाम—

(१) चारित्र की सुरक्षा ।

(२) विविक्त-आहार—विकृति-रहित भोजन ।

(३) निस्पृहता ।

(४) एकान्त रमण ।

(५) कर्म-ग्रन्थि का मोक्ष । (सू० ३१)

विनिवर्तना—विषयो से मन को सहृत करने के परिणाम—

(१) पापाचरण के प्रति अनुत्साह ।

(२) अशुभ सस्कारों के विलय का प्रयत्न ।

(३) ससार की पार-प्राप्ति । (सू० ३२)

सभोग (मडली-भोजन) प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) परावलम्बन से मुक्ति ।

(२) प्रवृत्तियों का मोक्ष की ओर केन्द्रीकरण ।

(३) अपने लाभ में सन्तुष्टि और परलाभ की ओर निस्पृहता ।

(४) दूसरी सुख-शय्या की प्राप्ति । (सू० ३३)

उपधि-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) प्रतिलेखना आदि के द्वारा होने वाली स्वाध्याय की क्षति से बचाव ।

(२) वस्त्र की अभिलाषा से मुक्ति ।

(३) उपधि के बिना होने वाले सक्लेश का अभाव । (सू० ३४)

आहार-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) जीने के मोह से मुक्ति ।

(२) आहार के बिना होने वाले संक्लेश का अभाव । (सू० ३५)

कषाय-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) वीतरागता ।

(२) सुख-दुःख में सम रहने की स्थिति की उपलब्धि । (सू० ३६)

योग-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) स्थिरता ।

(२) नवीन कर्म का अग्रहण और पूर्वार्जित कर्म का विलय । (सू० ३७)

शरीर-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) आत्मा का पूर्णोदय।

(२) लोकाग्र-स्थिति।

(३) परम सुख की प्राप्ति। (सू० ३८)

सहाय-प्रत्याख्यान के परिणाम—

(१) अकेलेपन की प्राप्ति।

(२) कलह आदि से मुक्ति।

(३) सयम, सवर और समाधि की विशिष्ट उपलब्धि। (सू० ३६)

भक्त-प्रत्याख्यान—अनशन का परिणाम—

(१) जन्म-परम्परा का अल्पीकरण। (सू० ४०)

सद्भावना-प्रत्याख्यान—पूर्ण सवर के परिणाम—

(१) अनिवृत्ति—मन-वचन और काया की प्रवृत्ति का सर्वथा और सर्वदा अभाव।

(२) अघाति-कर्म का विलय।

(३) सर्व दु ख-मुक्ति। (सू० ४१)

प्रतिरूपता—अचेलकता के परिणाम—

(१) लाघव।

(२) अप्रमाद।

(३) प्रकट लिंग होना।

(४) प्रशस्त लिंग होना।

(५) विशुद्ध सम्यक्त्व।

(६) सत्त्व और समिति को प्राप्त करना।

(७) सर्वत्र विश्वसनीय होना।

(८) अप्रतिलेखना।

(९) जितेन्द्रियता।

(१०) विपुल तप सहित होना—परीषह-सहिष्णु होना। (सू० ४२)

वैयावृत्त्य का परिणाम—

(१) धर्म-शासन के सर्वोच्च पद तीर्थकरत्व की प्राप्ति। (सू० ४३)

सर्व-गुण सम्पन्नता के परिणाम—

(१) अपुनरावृत्ति—मोक्ष की प्राप्ति।

(२) शारीरिक और मानसिक दु खों से पूर्ण मुक्ति। (सू० ४४)

वीतरागता के परिणाम—

(१) स्नेह और तृष्णा के बन्धन का विच्छेद।

(२) प्रिय शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों मे विरक्ति। (सू० ४५)

क्षान्ति—सहिष्णुता का परिणाम—

(१) परीषह-विजय। (सू० ४६)

मुक्ति के परिणाम—

(१) आकिंचन्य।

(२) अर्थ-लुब्ध व्यक्तियों के द्वारा अस्पृहणीयता। (सू० ४७)

ऋजुता के परिणाम—

(१) काया की सरलता।

(२) भावों की सरलता।

(३) भाषा की सरलता।

(४) अविसवादन—अवंचना-वृत्ति। (सू० ४८)

मृदुता के परिणाम—

(१) अनुद्धत मनोभाव।

(२) आठ मद-स्थानों पर विजय। (सू० ४६)

भाव-सत्य के परिणाम—

(१) भाव-विशुद्धि।

(२) अर्हद्-धर्म की आराधना।

(३) परलोक धर्म की आराधना। (सू० ५०)

करण-सत्य के परिणाम—

(१) कार्यजा शक्ति की प्राप्ति।

(२) कथनी और करनी का सामजस्य। (सू० ५१)

योग-सत्य का परिणाम—

(१) मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति की विशुद्धि। (सू० ५२)

मनो-गुप्ति के परिणाम—

(१) एकाग्रता।

(२) सयम की आराधना (सू० ५३)

वचन-गुप्ति के परिणाम—

(१) विकार-शून्यता या विचार-शून्यता।

(२) अध्यात्म-योग और ध्यान की प्राप्ति। (सू० ५४)

काय-गुप्ति के परिणाम—

(१) सवर।

(२) पापाश्रव का निरोध। (सू० ५५)

मन-समाधारणा के परिणाम—

(१) एकाग्रता।

(२) ज्ञान की विशिष्ट क्षमता।

(३) सम्यक्त्व की विशुद्धि और मिथ्यात्व का क्षय। (सू० ५६)

वचन-समाधारणा के परिणाम—

(१) वाचिक सम्यग्-दर्शन की विशुद्धि।

(२) सुलभ-बोधिता की प्राप्ति और दुर्लभ-बोधिता का क्षय। (सू० ५७)

काय-समाधारणा के परिणाम—

(१) चारित्र-विशुद्धि।

(२) वीतराग-चारित्र की प्राप्ति।

(३) भवोपग्राही कर्मों का क्षय।

(४) सर्व-दु खों से मुक्ति। (सू० ५८)

ज्ञान-सम्पन्नता के परिणाम—

(१) पदार्थ-बोध।

(२) पारगामिता।

(३) विशिष्ट विनय आदि की प्राप्ति।

(४) प्रामाणिकता। (सू० ५९)

दर्शन-सम्पन्नता के परिणाम—

(१) भव-मिथ्यात्व का छेदन।

(२) सतत प्रकाश।

(३) ज्ञान और दर्शन की उत्तरोत्तर विशुद्धि। (सू० ६०)

चारित्र-सम्पन्नता के परिणाम—

(१) अप्रकम्प-दशा को प्राप्ति।

(२) भवोपग्राही कर्मों का विलय।

(३) मुक्ति। (सू० ६१)

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय शब्दों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) शब्द-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व सचित कर्म का क्षय। (सू० ६२)

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय रूपों मे राग और द्वेष का निग्रह।

(२) रूप-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व सचित कर्म का क्षय। (सू० ६३)

घ्राणेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय गन्धों में राग और द्वेष का निग्रह।

(२) गन्ध-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व सचित कर्म का क्षय। (सू० ६४)

रसनेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय रसों मे राग और द्वेष का निग्रह।

(२) रस-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व सचित कर्म का क्षय। (सू० ६५)

स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह के परिणाम—

(१) प्रिय और अप्रिय स्पर्शों मे राग और द्वेष का निग्रह।

(२) स्पर्श-हेतुक नए कर्म का अग्रहण और पूर्व सचित कर्म का क्षय। (सू० ६६)।

क्रोध-विजय के परिणाम—

(१) क्षमा।

(२) क्रोध-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व सचित क्रोध-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६७)

मान-विजय के परिणाम—

(१) मार्दव।

(२) मान-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित मान-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६८)

माया-विजय के परिणाम—

(१) आर्जव।

(२) माया-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित माया-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ६६)

लोभ-विजय के परिणाम—

(१) सन्तोष।

(२) लोभ-वेदनीय कर्म का अग्रहण और पूर्व संचित लोभ-वेदनीय कर्म का विलय। (सू० ७०)

प्रेम, द्वेष, और मिथ्या-दर्शन विजय के परिणाम—

(१) ज्ञान, दर्शन और चारित्र-आराधना की तत्परता।

(२) मुक्ति। (सू० ७१)

एगूणतीसइमं अज्झयणं : एकोनत्रिंश अध्ययन

सम्मत्तपरक्कमे : सम्यक्त्व-पराक्रम

मूल

सू०१—सुय मे आउस ! तेण भगवया एवमक्खाय—इह खलु सम्मत्त-परक्कमे 'नाम अज्झयणे'[1] समणेण भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइए ज सम्म सद्दहित्ता पत्तियाइत्ता रोयइत्ता फासइत्ता पालइत्ता[2] तीरइत्ता किट्टइत्ता सोहइत्ता आराहइत्ता आणाए अणुपालइत्ता वहवे जीवा सिज्झन्ति वुज्झन्ति मुच्चन्ति परिनिव्वायन्ति सव्वदुक्खाणमन्त करेन्ति। तस्स ण अयमट्ठे एवमाहिज्जइ त जहा—

सवेगे १
निव्वेए २
धम्मसद्धा ३
गुरुसाहम्मियसुस्सूसणया ४
आलोयणया ५
निन्दणया ६
गरहणया ७
सामाइए ८
चउव्वीसत्थए ९
वन्दणए[3] १०

संस्कृत छाया

सू०१—श्रुत मया आयुष्मन्! तेन भगवतैवमाख्यातम्। इह खलु सम्यक्त्व-पराक्रम नामाध्ययन श्रमणन भगवता महावीरेण काश्यपेन प्रवेदितम्। यत्सम्यक् श्रद्धाय, प्रतीत्य, रोचयित्वा, स्पृष्ट्वा, पालयित्वा, तीरयित्वा, कीर्तयित्वा, शोधयित्वा, आराध्य, आज्ञया अनुपाल्य, वहवो जीवाः सिध्यन्ति, वुध्यन्ते, मुच्यन्ते, परिनिर्वान्ति, सर्वदुःखानामन्त कुर्वन्ति। तस्य अयमर्थः एवमाख्यायते, तद् यथा—

सवेग· १
निर्वेद· २
धर्म-श्रद्धा ३
गुरु-सार्धमिक-शुश्रूषणम् ४
आलोचनम् ५
निन्दनम् ६
गर्हणम् ७
सामायिकम् ८
चतुर्विंशति-स्तवः ९
वन्दनम् १०

हिन्दी अनुवाद

सू०१—आयुष्मन् ! मैंने सुना है भगवान् ने इस प्रकार कहा है—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन में कश्यप-गोत्री श्रमण भगवान् महावीर ने सम्यक्त्व-पराक्रम नाम का अध्ययन कहा है, जिस पर भलीभाँति श्रद्धा कर, प्रतीति कर, रुचि रख कर, जिसके विषय का स्पर्श कर, स्मृति में रख कर, समग्र रूप से हस्तगत कर, गुरु को पठित पाठ का निवेदन कर, गुरु के समीप उच्चारण की शुद्धि कर, सही अर्थ का वोध प्राप्त कर और अर्हत् की आज्ञा के अनुसार अनुपालन कर वहुत जीव सिद्ध होते है, वुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण (शान्त) होते है और सव दुःखों का अन्त करते है। सम्यक्त्व-पराक्रम का अर्थ इस प्रकार कहा गया है। जैसे—

संवेग १
निर्वेद २
धर्म-श्रद्धा ३
गुरु और सार्धमिक की शुश्रूषा ४
आलोचना ५
निन्दा ६
गर्हा ७
सामायिक ८
चतुर्विंशति-स्तव ९
वदन १०

---

१ णाम मज्झयणे (अ, ऋ०), नामज्झयणे (स, उ)।
२ पालइत्ता, पूरइत्ता (अ)।
३. वदणे (अ)।

पडिक्कमणे ११	प्रतिक्रमणम् ११	प्रतिक्रमण ११
काउस्सग्गे १२	कायोत्सर्गः १२	कायोत्सर्ग १२
पच्चक्खाणे १३	प्रत्याख्यानम् १३	प्रत्याख्यान १३
थवथुइमगले[1] १४	स्तव-स्तुति-मङ्गलम् १४	स्तव-स्तुति-मगल १४
कालपडिलेहणया १५	काल-प्रतिलेखनम् १५	काल-प्रतिलेखन १५
पायच्छित्तकरणे १६	प्रायश्चित्तकरणम् १६	प्रायश्चित्तकरण १६
खमावणया १७	क्षमापनम् १७	क्षामणा १७
सज्झाए १८	स्वाध्याय. १८	स्वाध्याय १८
वायणया[2] १९	वाचनम् १९	वाचना १९
पडिपुच्छणया २०	प्रतिप्रच्छनम् २०	प्रतिप्रच्छना २०
परियट्टणया २१	परिवर्तनम् २१	परावर्त्तना २१
अणुप्पेहा २२	अनुप्रेक्षा २२	अनुप्रेक्षा २२
धम्मकहा २३	धर्म-कथा २३	धर्म-कथा २३
सुयस्स आराहणया २४	श्रुतस्य आराधना २४	श्रुताराधना २४
एगग्गमणसनिवेसणया २५	एकाग्रमन -सन्निवेशनम् २५	एकाग्र-मन की स्थापना २५
सजमे २६	संयम २६	सयम २६
तवे २७	तपः २७	तप २७
वोदाणे २८	व्यवदानम् २८	व्यवदान २८
सुहसाए २९	सुख-शातम् २९	सुख की स्पृहा का त्याग २९
अप्पडिवद्धया ३०	अप्रतिबद्धता ३०	अप्रतिबद्धता ३०
विवित्तसयणासणसेवणया ३१	विविक्त-शयनासन-सेवनम् ३१	विविक्त-शयनासन-सेवन ३१
विणियट्टणया ३२	विनिवर्तनम् ३२	विनिवर्त्तना ३२
सभोगपच्चक्खाणे ३३	सम्भोग-प्रत्याख्यानम् ३३	सम्भोग-प्रत्याख्यान ३३
उवहिपच्चक्खाणे ३४	उपधि-प्रत्याख्यानम् ३४	उपधि-प्रत्याख्यान ३४
आहारपच्चक्खाणे ३५	आहार-प्रत्याख्यानम् ३५	आहार-प्रत्याख्यान ३५
कसायपच्चक्खाणे ३६	कषाय-प्रत्याख्यानम् ३६	कषाय-प्रत्याख्यान ३६
जोगपच्चक्खाणे ३७	योग-प्रत्याख्यानम् ३७	योग-प्रत्याख्यान ३७
सरीरपच्चक्खाणे ३८	शरीर-प्रत्याख्यानम् ३८	शरीर-प्रत्याख्यान ३८
सहायपच्चक्खाणे ३९	सहाय-प्रत्याख्यानम् ३९	सहाय-प्रत्याख्यान ३९

१. थय थुइ मगले (अ, ऋ०), थण थुई मगले (उ)।
२. वायणाए (ऋ०); वायणा (उ)।

भत्तपच्चक्खाणे ४०	भक्त-प्रत्याख्यानम् ४०	भक्त-प्रत्याख्यान ४०
सब्भावपच्चक्खाणे ४१	सद्भाव-प्रत्याख्यानम् ४१	सद्भाव-प्रत्याख्यान ४१
पडिरूवया[1] ४२	प्रतिरूपता ४२	प्रतिरूपता ४२
वेयावच्चे ४३	वैयावृत्त्यम् ४३	वैयावृत्त्य ४३
सव्वगुणसपण्णया[2] ४४	सर्वगुण-सम्पन्नता ४४	सर्वगुण-सम्पन्नता ४४
वीयरागया ४५	वीतरागता ४५	वीतरागता ४५
खन्ती ४६	क्षान्तिः ४६	क्षाँति ४६
मुत्ती ४७	मुक्ति. ४७	मुक्ति ४७
अज्जवे[3] ४८	आर्जवम् ४८	आर्जव ४८
मद्दवे[4] ४९	मार्दवम् ४९	मार्दव ४९
भावसच्चे ५०	भाव-सत्यम् ५०	भाव-सत्य ५०
करणसच्चे ५१	करण-सत्यम् ५१	करण-सत्य ५१
जोगसच्चे ५२	योग-सत्यम् ५२	योग-सत्य ५२
मणगुत्तया ५३	मनो-गुप्तता ५३	मनो-गुप्तता ५३
वयगुत्तया ५४	वचा-गुप्तता ५४	वाक्-गुप्तता ५४
कायगुत्तया ५५	काय-गुप्तता ५५	काय-गुप्तता ५५
मणसमाधारणया ५६	मनः-समाधारणम् ५६	मनःसमाधारणा ५६
वयसमाधारणया ५७	वाक्-समाधारणम् ५७	वाक्-समाधारणा ५७
कायसमाधारणया ५८	काय-समाधारणम् ५८	काय-समाधारणा ५८
नाणसपन्नया ५९	ज्ञान-सम्पन्नता ५९	ज्ञान-सम्पन्नता ५९
दसणसपन्नया ६०	दर्शन-सम्पन्नता ६०	दर्शन-सम्पन्नता ६०
चरित्तसपन्नया ६१	चरित्र-सम्पन्नता ६१	चारित्र-सम्पन्नता ३१
सोइन्दियनिग्गहे ६२	श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहः ६२	श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह ६२
चक्खिन्दियनिग्गहे ६३	चक्षुरिन्द्रिय-निग्रहः ६३	चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह ६३
घाणिन्दियनिग्गहे ६४	घ्राणेन्द्रिय-निग्रहः ६४	घ्राणेन्द्रिय-निग्रह ६४
जिब्भिन्दियनिग्गहे ६५	जिह्वेन्द्रिय-निग्रहः ६५	जिह्वेन्द्रिय-निग्रह ६५
फासिन्दियनिग्गहे ६६	स्पर्शेन्द्रिय-निग्रह ६६	स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह ६६
कोहविजए ६७	क्रोध-विजय ६७	क्रोध-विजय ६७

१ पडिरूवणया (ऋ०)।
२. °सपुण्णया (अ, आ, इ, वृ०)।
३. मद्दवे (अ, उ०, वृ०)।
४ अज्जवे (अ, उ०, वृ०)।

माणविजए ६८
मायाविजए ६९
लोहविजए ७०
पेज्जदोसमिच्छादसणविजए ७१
सेलेसी ७२
अकम्मया ७३

मान-विजयः ६८
माया-विजयः ६९
लोभ-विजयः ७०
प्रेयो-दोष-मिथ्यादर्शन-विजयः ७१
शैलेशी ७२
अकर्मता ७३

मान-विजय ६८
माया-विजय ६९
लोभ-विजय ७०
प्रेयो-द्वेष-मिथ्या-दर्शन विजय ७१
शैलेशी ७२
अकर्मता ७३

सवेगेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सवेगेण अणुत्तर धम्मसद्ध जणयइ। अणुत्तराए धम्मसद्धाए सवेग हव्वमागच्छइ। अणन्ताणुबन्धि-कोहमाणमायालोभे खवेइ। कम्म[1] न बन्धइ। तप्पच्चइय च ण मिच्छत्त-विसोहिं काऊण दसणाराहए भवइ। दसणविसोहीए य ण विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ। सोहीए य ण विसुद्धाए तच्च पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ ॥

संवेगेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

सवेगेनानुत्तरां धर्म-श्रद्धां जनयति अनुत्तरया धर्म-श्रद्धया सवेगं शीघ्रमागच्छति। अनन्तानुबन्धि-क्रोध-मान-माया-लोभान् क्षपयति। नव कर्म न बध्नाति। तत् प्रत्ययिकां च मिथ्यात्व-विशोधिं कृत्वा दर्शना-राधको भवति। दर्शन-विशोध्या च विशुद्धया स्त्येककः तेनैव भव-ग्रहणेन सिध्यति। विशोध्या च विशुद्धः तृतीयं पुनर्भव-ग्रहणम् नातिक्रामति ॥

भन्ते ! सवेग (मोक्ष की अभिलाषा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सवेग से वह अनुत्तर धर्म-श्रद्धा को प्राप्त होता है। अनुत्तर धर्म-श्रद्धा से शीघ्र ही और अधिक सवेग को प्राप्त करता है। अनन्तानु-बन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ का क्षय करता है। नये कर्मों का सग्रह नही करता। कषाय के क्षीण होने से प्रकट होने वाली मिथ्यात्व-विशुद्धि कर दर्शन (सम्यक् श्रद्धान) की आराधना करता है। दर्शन-विशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कई उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नही करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं।

सू० २—निव्वेएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएण दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेय हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ सव्वविसएसु विरज्जमाणे आरम्भपरिच्चाय[2] करेइ। आरम्भपरिच्चाय करेमाणे ससारमग्ग वोच्छिन्दइ सिद्धिमग्गे पडिवन्ने य भवइ ॥

सू०२—निर्वेदेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

निर्वेदेन दिव्य-मानुष-तैरश्चकेषु काम-भोगेषु निर्वेदं शीघ्रमागच्छति। सर्वविषयेषु विरज्यति। सर्वविषयेषु विरज्यमानः परित्यागं करोति। आरम्भ-परित्यागं कुर्वाणः संसार-मार्गं व्युच्छिनत्ति सिद्धि-मार्गं प्रतिपन्नश्च भवति ॥

सू०२—भन्ते ! निर्वेद (भव-वैराग्य) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

निर्वेद से वह देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी काम-भोगों में ग्लानि को प्राप्त होता है। सब विषयों से विरक्त हो जाता है। सब विषयों से विरक्त होता हुआ वह आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता है। आरम्भ और परिग्रह का परित्याग करता हुआ ससार-मार्ग का विच्छेद करता है और सिद्धि-मार्ग को प्राप्त होता है।

१. नव च कम्म (अ, आ, इ)।
२ आरम्भपरिग्गह° (अ)।

सू० ३—धम्मसद्धाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाए णं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ। अगारधम्मं च णं चयइ अणगारे णं जीवे सारीर-माणसाणं दुक्खाणं छेयणभेयण-संजोगाईणं वोच्छेयं करेइ अव्वाबाहं च सुहं निव्वेत्तेइ[1] ॥

सू० ३—धर्म-श्रद्धया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

धर्म-श्रद्धया सात-सौख्येषु रज्यमानः विरज्यति। अगार-धर्मं च त्यजति। अनगारो जीवः शारीर-मानसानां दुःखानां छेदन-भेदन-संयोगादीनां व्युच्छेदं करोति अव्याबाधं च सुखं निर्वर्तयति ॥

सू० ३—भन्ते ! धर्म-श्रद्धा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-श्रद्धा से वह वैषयिक सुखों की आसक्ति को छोड़ विरक्त हो जाता है, अगार-धर्म—गृहस्थी को त्याग देता है। वह अनगार होकर छेदन-भेदन, संयोग-वियोग आदि शारीरिक और मानसिक दुःखों का विच्छेद करता है और निर्बाध (बाधा-रहित) सुख को प्राप्त करता है।

सू० ४—गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणयाए णं विणयपडिवत्तिं जणयइ। 'विणय-पडिवन्ने य णं'[2] जीवे अणच्चासायण-सीले नेरइयतिरिक्खजोणियमणुस्स-देवदोग्गईओ निरुम्भइ। वण्णसंजलण-भत्तिबहुमाणयाए मणुस्सदेवसोग्गईओ निबन्धइ सिद्धिं सोग्गइं च विसोहेइ। पसत्थाइं च णं विणयमूलाइं सव्व-कज्जाइं साहेइ। अन्ने य बहवे जीवे विणइत्ता भवइ ॥

सू० ४—गुरु-साधर्मिक-शुश्रूषणया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

गुरु-साधर्मिक शुश्रूषणया विनय-प्रतिपत्तिं जनयति। विनय-प्रतिपन्नश्च जीवः अनत्याशातनशीलो नैरयिक-तिर्यग्योनिक-मनुष्य-देव दुर्गतीः निरुणद्धि। वर्ण-सञ्ज्वलन-भक्ति-बहुमानेन मनुष्य-देव-सुगती निबध्नाति। सिद्धिं सुगतिं च विशोधयति। प्रशस्तानि च विनयमूलानि सर्वकार्याणि साधयति। अन्यांश्च बहून् जीवान् विनेता भवति ॥

सू० ४—भन्ते ! गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा (पर्युपासना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

गुरु और साधर्मिक की शुश्रूषा से वह विनय को प्राप्त होता है। विनय को प्राप्त करने वाला व्यक्ति गुरु का अविनय या परिवाद करने वाला नहीं होता, इसलिए वह नैरयिक, तिर्यग्-योनिक, मनुष्य और देव सम्बन्धी दुर्गति का निरोध करता है। श्लाघा, गुण-प्रकाशन, भक्ति और बहुमान के द्वारा मनुष्य और देव-सम्बन्धी सुगति से सम्बन्ध जोड़ता है। सिद्धि और सुगति का मार्ग प्रशस्त करता है। विनय-मूलक सब प्रशस्त कार्यों को सिद्ध करता है और दूसरे बहुत व्यक्तियों को विनय के पथ पर ले आता है।

---

१. निव्वितें (बृ०)।

२. 'पडिवन्नएण (बृ०)।

सू० ५—आलोयणाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ?

आलोयणाए ण मायानियाण-मिच्छादसणसल्लाण मोक्खमग्ग-विग्घाण अणन्तससारवद्धणाण[1] उद्धरण करेइ। उज्जुभाव च[2] जणयइ। 'उज्जुभावपडिवन्ने य ण'[3] जीवे अमाई इत्थीवेयनपुंसगवेय च न बन्धइ। पुव्ववद्ध च ण निज्जरेइ॥

सू० ५—आलोचनया भदन्त! जीवः किं जनयति?

आलोचनया माया-निदान-मिथ्या-दर्शन-शल्यानां मोक्ष-मार्ग-विघ्नाना-मनन्त-ससार-वर्द्ध नानामुद्धरणं करोति। ऋजुभावं च जनयति। प्रतिपन्नर्जु-भावश्च जीवोऽमायी स्त्री-वेदं नपुसक-वेदं च न बध्नाति। पूर्वबद्धं च निर्जरयति॥

सू० ५—भन्ते! आलोचना (गुरु के सम्मुख अपनी भूलों का निवेदन करने) से जीव क्या प्राप्त करता है?

आलोचना से वह अनन्त ससार को बढाने वाले, मोक्ष-मार्ग में विघ्न उत्पन्न करने वाले, माया, निदान तथा मिथ्या-दर्शन-शल्य को निकाल फेंकता है और ऋजु-भाव को प्राप्त होता है। ऋजु-भाव को प्राप्त हुआ व्यक्ति अमायी होता है, इसलिए वह स्त्री-वेद और नपुसक-वेद कर्म का बन्ध नहीं करता और यदि वे पहले बन्धे हुए हों तो उनका क्षय कर देता है।

सू० ६—निन्दणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

निन्दणयाए ण पच्छाणुताव जणयइ। पच्छाणुतावेण विरज्जमाणे करणगुणसेढिं[4] पडिवज्जइ। करणगुणसेढिं 'पडिवन्ने य'[5] ण अणगारे मोहणिज्ज कम्म उग्घाएइ॥

सू० ६—निन्दनेन भदन्त! जीवः किं जनयति?

निन्दनेन पश्चादनुतापं जनयति। पश्चादनुतापेन विरज्यमानः करण-गुण-श्रेणिं प्रतिपद्यते। करण-गुण-श्रेणिं प्रतिपन्नश्चानगारो मोहनीय कर्मोद्घातयति॥

सू० ६—भन्ते! निन्दा (अपनी भूलो के प्रति अनादर का भाव प्रकट करने) से जीव क्या प्राप्त करता है?

निन्दा से वह पश्चात्ताप को प्राप्त होता है। उसके द्वारा विरक्त होता हुआ मोह को क्षीण करने में समर्थ परिणाम-धारा को प्राप्त करता है। वैसी परिणाम-धारा को प्राप्त हुआ अनगार मोहनीय-कर्म को क्षीण कर देता है।

सू० ७—गरहणयाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ?

गरहणयाए ण अपुरक्कार जणयइ। अपुरक्कारगए ण जीवे अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेइ[6] पसत्थजोगपडिवन्ने य ण अणगारे अणन्तघाइपज्जवे खवेइ॥

सू० ७—गर्हणेन भदन्त! जीव. किं जनयति?

गर्हणेनापुरस्कार जनयति। अपुरस्कारगतो जीवोऽप्रशस्तेभ्यो योगेभ्यो निवर्तते, प्रतिपन्न-प्रशस्त-योगश्च अनगारोऽनन्त-घाति-पर्यवान् क्षपयति॥

सू० ७—भन्ते! गर्हा (दूसरों के समक्ष अपनी भूलों को प्रकट करने) से जीव क्या प्राप्त करता है?

गर्हा से वह अनादर को प्राप्त होता है। अनादर को प्राप्त हुआ वह अप्रशस्त प्रवृत्तियो से निवृत्त होता है और प्रशस्त प्रवृत्तियो को अगीकार करता है। वैसा अनगार आत्मा के अनन्त-विकास का घात करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों की परिणतियों को क्षीण करता है।

---

१ °बद्धमाणाण (स)।
२. च ण (उ, ऋ०, स)।
३ °पडिवन्नएण (ऋ०)।
४ °सेढीए (अ), °सेढी (वृ०)।
५ पडिवन्ने य (ऋ०), पडिवन्ने (उ, अ)।
६ नियत्तेइ पसत्थे य पवत्तइ (उ, ऋ०)।

सू० ८—सामाइएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सामाइएण सावज्जजोगविरइं जणयइ ॥

सू० ८—सामायिकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सामायिकेन सावद्य-योग-विरतिं जनयति ॥

सू० ८—भन्ते ! सामायिक (समभाव की भावना) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सामायिक से वह असत् प्रवृत्ति की विरति को प्राप्त होता है।

सू० ९—चउव्वीसत्थएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

चउव्वीसत्थएण दसणविसोहिं जणयइ ॥

सू० ९—चतुर्विंशति-स्तवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चतुर्विंशति-स्तवेन दर्शन-विशोधिं जनयति ॥

सू० ९—भन्ते ! चतुर्विंशति-स्तव (चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चतुर्विंशति-स्तव से वह सम्यक्त्व की विशुद्धि को प्राप्त होता है।

सू० १०—वन्दणएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वन्दणएण नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं निबन्धइ। सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

सू० १०—वन्दनकेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वन्दनकेन नीचैर्गोत्रं कर्म क्षपयति। उच्चैर्गोत्रं निबध्नाति। सौभाग्यं चाऽप्रतिहतं आज्ञा-फलं निर्वर्तयति। दक्षिण-भावं च जनयति ॥

सू० १०—भन्ते ! वन्दना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वन्दना से वह नीच-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्मों को क्षीण करता है। ऊँचे-कुल में उत्पन्न करने वाले कर्म का अर्जन करता है। जिसकी आज्ञा को लोग शिरोधार्य करें वैसा अबाधित सौभाग्य और जनता की अनुकूल भावना को प्राप्त होता है।

सू० ११—पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिक्कमणेणं वयछिद्दाइं पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते[1] सुप्पणिहिए[2] विहरइ ॥

सू० ११—प्रतिक्रमणेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिक्रमणेन व्रत-च्छिद्राणि पिदधाति। पिहित-व्रत-च्छिद्रः पुनर्जीवो निरुद्धाश्रवोऽशवल-चरित्रः अष्टसु प्रवचन-मातृषु उपयुक्तोऽपृथक्त्वः सुप्रणिहितो विहरति ॥

सू० ११—भन्ते ! प्रतिक्रमण से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिक्रमण से वह व्रत के छेदों को ढक देता है। जिसने व्रत के छेदों को भर दिया वैसा जीव आश्रवों को रोक देता है, चारित्र के धब्बों को मिटा देता है, आठ-प्रवचन माताओं में सावधान हो जाता है, संयम में एक-रस हो जाता है और भलीभाँति समाधिस्थ होकर विहार करता है।

---

१ अपमत्ते (बृ० पा०)।
२ सुप्पणिहिंदिए (बृ० पा०), सुप्पिणिहिए (अ, उ, ऋ०)।

सू० १२—काउस्सग्गेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्त विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए 'ओहरियभारो व्व'[1] भारवहे पसत्थज्झाणोवगए[2] सुहसुहेण विहरइ ॥

सू० १२—कायोत्सर्गेण भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

कायोत्सर्गेण अतीत-प्रत्युत्पन्न प्रायश्चितं विशोधयति। विशुद्ध-प्रायश्चितश्च जीवो निर्वृत-हृदयोऽपहृत भार इव भारवहः प्रशस्तध्यानोपगतः सुखं सुखेन विहरति ॥

सू० १२—भन्ते ! कायोत्सर्ग (ध्यान की मुद्रा) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कायोत्सर्ग से वह अतीत और वर्तमान के प्रायश्चितोचित कार्यों का विशोधन करता है। ऐसा करने वाला व्यक्ति भार को नीचे रख देने वाले भार-वाहक की भाँति स्वस्थ हृदय वाला—हल्का हो जाता है और प्रशस्त-ध्यान में लीन होकर उत्तरोत्तर बढने वाले सुखपूर्वक विहार करता है।

सू० १३—पच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पच्चक्खाणेण आसवदाराइ निरुम्भइ[3] ॥

सू० १३—प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रत्याख्यानेनाश्रव-द्वाराणि निरुणधि ॥

सू० १३—भन्ते ! प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रत्याख्यान से वह आश्रव-द्वारो (कर्म-बन्धन के हेतुओं) का निरोध करता है।

सू० १४—थवथुइमगलेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

थवथुइमगलेण नाणदसणचरित्त-बोहिलाभ जणयइ। नाणदसण-चरित्तबोहिलाभसपन्ने य ण जीवे अन्तकिरिय कप्पविमाणोववत्तिग आराहण आराहेइ ॥

सू० १४—स्तव-स्तुति-मङ्गलेन भदन्त ! जीव किं जनयति ?

स्तव-स्तुति-मङ्गलेन ज्ञान-दर्शन-चारित्र-बोधि-लाभं जनयति। ज्ञान-दर्शन-चारित्र-बोधि-लाभ - सम्पन्नश्च जीवोऽन्त-क्रियां कल्पविमानोपपत्तिका-माराधनामाराधयति ॥

सू० १४—भन्ते ! स्तव और स्तुति रूप मगल से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्तव और स्तुति रूप मगल से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की बोधि का लाभ करता है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र के बोधि-लाभ से सम्पन्न व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति या वैमानिक देवो में उत्पन्न होने योग्य आराधना करता है।

सू० १५—कालपडिलेहणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कालपडिलेहणयाए णं नाणावरणिज्ज कम्म खवेइ ॥

सू० १५—काल-प्रतिलेखनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

काल-प्रतिलेखनेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥

सू० १५—भन्ते ! काल-प्रतिलेखना (स्वाध्याय आदि के उपयुक्त समय का ज्ञान करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काल-प्रतिलेखना से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

---

१ ° भरुव्व (उ, ऋ०)।

२. ° ज्झाणज्झाइ (वृ० पा०)।

३ निरुम्भइ। पच्चक्खाणेण इच्छानिरोह जणयइ। इच्छानिरोह गए य ण जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ। (इ, उ)।

सू० १६—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेण पावकम्म-विसोहिं जणयइ निरइयारे यावि भवइ। सम्मं च णं पायच्छित्तं पडिवज्जमाणे मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ आयारं च आयारफलं च आराहेइ ॥

सू० १६-प्रायश्चित्त-करणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

प्रायश्चित्त करणेन पाप-कर्म-विशोधिं जनयति। निरतिचारश्चापि भवति। सम्यक् च प्रायश्चित्त प्रतिपद्यमानो मार्गं च मार्ग-फलं च विशोधयति। आचारञ्चाचार-फलञ्चाराधयति ॥

सू० १६—भन्ते! प्रायश्चित्त करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रायश्चित्त करने से वह पाप-कर्म की विशुद्धि करता है और निरतिचार हो जाता है। सम्यक्-प्रकार से प्रायश्चित्त करने वाला मार्ग (सम्यक्त्व) और मार्ग-फल (ज्ञान) को निर्मल करता है तथा आचार (चारित्र) और आचार-फल (मुक्ति) की आराधना करता है।

सू० १७—खमावणयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाए णं पल्हायणभावं[1] जणयइ। पल्हायणभावमुवगए य सव्वपाणभूयजीवसत्तेसु मित्तीभाव-मुप्पाएइ। मित्तीभावमुवगए यावि जीवे भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ ॥

सू० १७—क्षमणया भदन्त! जीवः किं जनयति ?

भन्ते! क्षमणया प्रह्लादन-भाव जनयति। प्रह्लादन-भावमुपगतश्च सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्वेषु मित्री-भावमुत्पादयति मित्री-भाव-मुपगतश्चापि जीवः भाव-विशोधिं कृत्वा निर्भयो भवति ॥

सू० १७—भन्ते! क्षमा करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा करने से वह मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त होता है। मानसिक प्रसन्नता को प्राप्त हुआ व्यक्ति सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के साथ मैत्री-भाव उत्पन्न करता है। मैत्री-भाव को प्राप्त हुआ जीव भावना को विशुद्ध बनाकर निर्भय हो जाता है।

सू० १८—सज्झाएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सज्झाएणं नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ ॥

सू० १८—स्वाध्यायेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

स्वाध्यायेन ज्ञानावरणीयं कर्म क्षपयति ॥

सू० १८—भन्ते! स्वाध्याय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्वाध्याय से वह ज्ञानावरणीय कर्म को क्षीण करता है।

सू० १९—वायणाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

वायणाए णं निज्जरं जणयइ। सुयस्स य 'अणासायणाए वट्टए'[2]। सुयस्स अणासायणाए वट्टमाणे तित्थधम्मं अवलम्बइ। तित्थधम्मं अवलम्बमाणे महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवइ ॥

सू० १९—वाचनया भदन्त! जीवः किं जनयति ?

वाचनया निर्जरां जनयति। श्रुतस्य अनाशातनाया वर्तते। श्रुतस्य अनाशातनाया वर्तमानः तीर्थ-धर्ममवलम्बते। तीर्थ-धर्ममवलम्बमानो महानिर्जरो महापर्यवसानश्च भवति ॥

सू० १९—भन्ते! वाचना (अध्यापन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाचना से वह कर्मों को क्षीण करता है। श्रुत की उपेक्षा के दोष से बच जाता है। इस उपेक्षा के दोष से बचने वाला तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करता है—वह गणधर की भाँति शिष्यों को श्रुत देने में प्रवृत्त होता है। तीर्थ-धर्म का अवलम्बन करने वाला कर्मों और संसार का अन्त करने वाला होता है।

---

१ पल्हाणत भाव (वृ०), पल्हायणभाव (वृ० पा०)।

२ अणुसज्जणाए वट्टइ (वृ० पा०)।

सू० २०—पडिपुच्छणयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिपुच्छणयाए णं सुत्तत्थतदुभयाइं विसोहेइ। कंखामोहणिज्जं कम्मं वोच्छिन्दइ ॥

सू० २०—प्रतिप्रच्छनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिप्रच्छनेन सूत्रार्थतदुभयानि विशोधयति। काङ्क्षा-मोहनीयं कर्म व्युच्छिनत्ति ॥

सू० २०—भन्ते ! प्रतिप्रश्न करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिप्रश्न करने से वह सूत्र, अर्थ और उन दोनों से सम्बन्धित सन्देहों का निवर्तन करता है और कांक्षा-मोहनीय कर्म का विनाश करता है।

सू० २१—परियट्टणाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

परियट्टणाए णं वंजणाइं जणयइ वंजणलद्धिं च उप्पाएइ ॥

सू० २१—परिवर्तनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

परिवर्तनया व्यंजनानि जनयति। व्यंजन-लब्धिं-चोत्पादयति ॥

सू० २१—भन्ते ! परावर्त्तना (पठित-पाठ के पुनरावर्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

परावर्तना से वह अक्षरों को उत्पन्न करता है—स्मृत को परिपक्व और विस्मृत को याद करता है तथा व्यंजन-लब्धि (वर्ण-विद्या) को प्राप्त होता है।

सू० २२—अणुप्पेहाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्तकम्मप्पगडीओ धणियबन्धणबद्धाओ सिढिलबन्धणबद्धाओ पकरेइ। दीहकालट्ठिइयाओ हस्सकालट्ठिइयाओ पकरेइ। तिव्वाणुभावाओ मन्दाणुभावाओ पकरेइ। 'बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ'[1]। आउयं च णं कम्मं सिय बन्धइ सिय नो बन्धइ। 'असायावेयणिज्जं च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ'[2] अणाइयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तं संसार-कन्तारं खिप्पामेव वीइवयइ ॥

सू० २२—अनुप्रेक्षया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

अनुप्रेक्षया आयुष्क-वर्जाः सप्त-कर्म-प्रकृतीः दृढ-बन्धन-बद्धाः शिथिल-बन्धन-बद्धाः प्रकरोति। दीर्घ-काल-स्थितिकाः ह्रस्व-काल-स्थितिकाः प्रकरोति। तीव्रानुभावाः मन्दानुभावाः प्रकरोति। बहु-प्रदेशकाः अल्प-प्रदेशकाः प्रकरोति। आयुष्कञ्च कर्म स्याद् बध्नाति स्यान्नो बध्नाति। असात-वेदनीयञ्च कर्म नो भूयोभूय उपचिनोति। अनादिकं च अनवदग्रं दीर्घाध्वं चतुरन्तं संसार-कान्तारं क्षिप्रमेव व्यतिव्रजति ॥

सू० २२—भन्ते ! अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अनुप्रेक्षा से वह आयुष्-कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गाढ़-बन्धन से बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल-बन्धन वाली कर देता है, उनकी दीर्घ-कालीन स्थिति को अल्प-कालीन कर देता है, उनके तीव्र अनुभाव को मन्द कर देता है। उनके बहु-प्रदेशों को अल्प-प्रदेशों में बदल देता है। आयुष्-कर्म का बन्धन कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता। असात-वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि-अनन्त लम्बे-मार्ग वाली तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तों वाली संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।

---

१. बहुपएसग्गाओ अप्पपएसग्गाओ पकरेइ (बृ० पा०)।

२. साया वेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणाइ (बृ० पा०)।

सू० २३—धम्मकहाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मकहाए ण 'निज्जर जणयइ'[1] । 'धम्मकहाए ण पवयण पभावेइ'[2] । पवयणपभावे ण जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्मं निबन्धइ ॥

सू० २३—धर्म-कथया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

धर्म-कथया निर्जरा जनयति ! धर्म-कथया प्रवचन प्रभावयति । प्रवचन-प्रभावको जीवः आगमिष्यतः भद्रतया कर्म निबध्नाति ॥

२३—भन्ते ! धर्म-कथा मे जीव क्या प्राप्त करता है ?

धर्म-कथा से वह प्रवचन की प्रभावना करता है । प्रवचन की प्रभावना करने वाला जीव भविष्य में कल्याणकारी फल देने वाले कर्मों का अर्जन करता है ।

सू० २४—सुयस्स आराहणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुयस्स आराहणयाएण अन्नाणं खवेइ न य सकिलिस्सइ ॥

सू० २४—श्रुतस्य आराधनया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

श्रुतस्य आराधनया अज्ञानं क्षपयति, न च सक्लिश्यते ॥

सू० २४—भन्ते ! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रुत की आराधना से अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक सक्लेशों से बच जाता है ।

सू० २५—एगग्गमणसनिवेसणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसनिवेसणयाए णं चित्तनिरोह करेइ ॥

सू० २५—एकाग्र-मनः-संनिवेशनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

एकाग्र-मनः-सनिवेशनेन[1] चित्त-निरोधं करोति ॥

सू० २५—भन्ते ! एक अग्र (आलम्बन) पर मन को स्थापित करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

एकाग्र-मन की स्थापना से वह चित्त का निरोध करता है ।

सू० २६—सजमेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सजमेण अणण्हयत्त जणयइ ॥

सू० २६—सयमेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सयमेन अनास्त्रवत्वं जनयति ॥

सू० २६—भन्ते ! सयम से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सयम से वह आश्रव का निरोध करता है ।

सू० २७—तवेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

तवेण वोदाण जणयइ ॥

सू० २७—तपसा भदन्त ! जीव. किं जनयति ?

तपसा व्यवदान जनयति ॥

सू० २७—भन्ते ! तप से जीव क्या प्राप्त करता है ?

तप से वह व्यवदान—पूर्व-सचित कर्मों को क्षीण कर विशुद्धि को प्राप्त होता है ।

---

१. पवयण पभावेइ (बृ० पा०) ।

२. × (बृ०) ।

सू० २८—वोदाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वोदाणेण अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्त करेइ ॥

सू० २८—व्यवदानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

व्यवदानेन अक्रियां जनयति। अक्रियाको भूत्वा ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्व-दुःखानामन्त करोति ॥

सू० २८—भन्ते ! व्यवदान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

व्यवदान से वह अक्रिया (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध) को प्राप्त होता है, वह अक्रियावान होकर सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और दुःखो का अन्त करता है।

सू० २९—सुहसाएण[1] भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सुहसाएण अणुस्सुयत्त जणयइ। अणुस्सुयाए ण जीवे अणुकम्पए अणुब्भडे विगयसोगे चरित्तमोहणिज्ज कम्म खवेइ ॥

सू० २९—सुख-शातेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सुख-शातेन अनुत्सुकत्वं जनयति। अनुत्सुको जीवोऽनुकम्पकोऽनुद्भटो विगत-शोकश्चारित्र-मोहनीयं कर्म क्षपयति ॥

सू० २९—भन्ते ! सुख की स्पृहा का निवारण करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सुख की स्पृहा का निवारण करने से वह विषयो के प्रति अनुत्सुक-भाव को प्राप्त करता है। विषयो के प्रति अनुत्सुक जीव अनुकम्पा करने वाला, प्रशान्त और शोक-मुक्त होकर चरित्र को विकृत करने वाले मोह-कर्म का क्षय करता है।

सू० ३०—अप्पडिबद्धयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

अप्पडिबद्धयाए ण निस्संगत्त जणयइ। निस्सगत्तेणं[2] जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया य राओ य असज्जमाणे अप्पडिबद्धे यावि विहरइ ॥

सू०३०—अप्रतिबद्धतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

अप्रतिबद्धतया निस्सङ्गत्वं जनयति। निस्सङ्गत्वेन जीवः एकः एकाग्र-चित्तो दिवा च रात्रौ चाऽसजन्नप्रतिबद्धश्चापि विहरति ॥

सू० ३०—भन्ते ! अप्रतिबद्धता (मन की अनासक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

अप्रतिबद्धता से वह असग हो जाता है—बाह्य ससर्गों से मुक्त हो जाता है। असगता से जीव अकेला (राग-द्वेष रहित), एकाग्र-चित्त वाला, दिन और रात बाह्य-ससर्गों को छोडता हुआ प्रतिबन्ध रहित होकर विहार करता है।

सू० ३१—विवित्तसयणासण-याए[3] ण भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

विवित्तसयणासणयाए ण चरित्तगुत्तिं जणयइ। चरित्तगुत्ते य ण जीवे विवित्ताहारे दढचरित्ते एगन्तरए मोक्खभावपडिवन्ने अट्ठविहकम्मगण्ठि निज्जरेइ ॥

सू० ३१—विविक्त-शयनासनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

विविक्त-शयनासनेन चरित्र-गुप्तिं जनयति चरित्र-गुप्तश्च जीवः विविक्ताहार दृढ-चारित्रः एकान्त-रतः मोक्ष-भाव-प्रतिपन्न अष्टविध-कर्मग्रन्थि निजरयति ॥

सू० ३१—भन्ते ! विविक्त-शयनासन के सेवन से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विविक्त-शयनासन के सेवन से वह चारित्र की रक्षा को प्राप्त होता है। चारित्र की सुरक्षा करने वाला जीव पौष्टिक आहार का वर्जन करने वाला, दृढ चरित्र वाला, एकात में रत, अन्त करण से मोक्ष साधना में लगा हुआ आठ प्रकार के कर्मों की गाँठ को तोड देता है।

---

१ सुहसाइयाएणं (बृ०), सुहसायाएणं, सुहसाएण (बृ० पा०), सुहसायाएणं (अ, आ, इ, उ, ऋ०)।

२ निस्सगच गएण (उ, ऋ०)।

३ °सयणासणसेवणयाए (आ, इ)।

सू० ३२—विणियट्टणयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाए ण पावकम्माण अकरणयाए अब्भुट्ठेइ । पुव्वबद्धाण य निज्जरणयाए त नियत्तेइ तओ पच्छा चाउरन्त ससारकन्तार वीइवयइ ॥

सू०३२—विनिवर्तनेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

विनिवर्तनेन पाप-कर्मणा अकरणेन अभ्युत्तिष्ठते । पूर्व-बद्धानाञ्च निर्जरणेन तत् निर्वर्तयति । ततः पश्चात् चतुरन्त ससार-कान्तार व्यतिव्रजति ॥

सू० ३२—भन्ते ! विनिवर्तना (इन्द्रिय और मन को विषयों से दूर रखने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

विनिवर्तना से वह नए सिरे से पाप-कर्मों को नहीं करने के लिए तत्पर रहता है और पूर्व-अर्जित पाप-कर्मों का क्षय कर देता है—इस प्रकार वह पाप-कर्म का विनाश कर देता है । उसके पश्चात् चार-गति रूप चार अन्तों वाली ससार अटवी को पार कर जाता है ।

सू० ३३—सभोगपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सभोगपच्चक्खाणेण आलम्बणाइ खवेइ । निरालम्बणस्स य आययट्ठिया जोगा भवन्ति । सएण लाभेण सतुस्सइ[1] परलाभ 'नो आसाएइ'[2] नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ । परलाभ अणासायमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ताण विहरइ ॥

सू०३३—सभोग-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सभोग-प्रत्याख्यानेन आलम्बनानि क्षपयति । निरालम्बनस्य च आयतार्थिकायोगाः भवन्ति । स्वकेन लाभेन सन्तुष्यति । परलाभ 'नो' आस्वादयति नो तर्कयति, नो स्पृहयति, नो प्रार्थयति, नो अभिलषति । परलाभमनास्वादयन्, अतर्कयन्, अस्पृहयन्, अप्रार्थयन्, अनभिलषन्, द्वितीया सुख-शय्यामुपसम्पद्य विहरति ॥

सू० ३३—भन्ते ! सम्भोग-प्रत्याख्यान (मण्डली-भोजन) का त्याग करने वाला जीव क्या प्राप्त करता है ?

सम्भोग-प्रत्याख्यान से वह परावलम्बन को छोडता है । उस परावलम्बन को छोडने वाले मुनि के सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं । वह भिक्षा में स्वय को जो कुछ मिलता है उसी में सन्तुष्ट हो जाता है । दूसरे मुनियो को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद नहीं लेता, उसकी स्पृहा नही करता, प्रार्थना नही करता और अभिलाषा नहीं करता । दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त कर विहार करता है ।

सू० ३४—उवहिपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उवहिपच्चक्खाणेण अपलिमन्थ जणयइ । निरुवहिए ण जीवे निक्कखे[3] उवहिमन्तरेण य न सकिलिस्सई ॥

सू०३४—उपधि-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

उपधि-प्रत्याख्यानेन अपरिमन्थ जनयति । निरुपधिकोजीवो निष्काङ्क्ष उपधिमन्तरेण च न सक्लिश्यति ॥

सू० ३४—भन्ते ! उपधि (वस्त्र आदि उपकरणों) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

उपधि के प्रत्याख्यान से वह स्वाध्याय-ध्यान में होने वाली क्षति से बच जाता है । उपधि रहित मुनि अभिलाषा से मुक्त होकर उपधि के अभाव में मानसिक सक्लेश को प्राप्त नहीं होता ।

---

१. तुस्सइ (उ, ऋ०) ।
२. × (उ, ऋ०, वृ०) ।
३ 'निक्कखे' एतच्च पद क्वचिदेव दृश्यते (वृ०) ।

सू० ३५—आहारपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

आहारपच्चक्खाणेणं 'जीवियासंसप्पओगं'[1] वोच्छिन्दइ। जीवियासंसप्पओगं वोच्छिन्दित्ता[2] जीवे आहारमन्तरेणं न संकिलिस्सइ ॥

सू०३५—आहार-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव किं जनयति ?

आहार-प्रत्याख्यानेन जीविताशंसा-प्रयोगं व्युच्छिनत्ति। जीविताशंसा-प्रयोगं व्यवच्छिद्य जीव आहार-मन्तरेण न संक्लिश्यति ॥

सू०३५—भन्ते! आहार-प्रत्याख्यान (सदोष भक्त-पान का त्याग करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आहार-प्रत्याख्यान से वह जीवित रहने की अभिलाषा के प्रयोग का विच्छेद कर देता है। जीवित रहने की अभिलाषा का विच्छेद कर देने वाला व्यक्ति आहार के बिना (तपस्या आदि में) संक्लेश को प्राप्त नहीं होता।

सू० ३६—कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्ने वि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ ॥

सू०३६—कषाय-प्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

कषाय-प्रत्याख्यानेन वीतराग-भावं जनयति वीतरागभाव-प्रतिपन्नोऽपि च जीवः सम-सुख-दुःखो भवति ॥

सू०३६—भन्ते! कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

कषाय-प्रत्याख्यान से वह वीतराग-भाव को प्राप्त होता है। वीतराग-भाव को प्राप्त हुआ जीव सुख-दुःख में सम हो जाता है।

सू० ३७—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी[3] णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं निज्जरेइ ॥

सू०३७—योग-प्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

योग-प्रत्याख्यानेन, अयोगत्वं जनयति। अयोगी जीवो नवं कर्म न बध्नाति, पूर्व-बद्धं निर्जरयति ॥

सू०३७—भन्ते! योग (शरीर, वचन और मन की प्रवृत्ति) के प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-प्रत्याख्यान से वह अयोगत्व (सर्वथा अप्रकम्प भाव) को प्राप्त होता है। अयोगी जीव नए कर्मों का अर्जन नहीं करता और पूर्वार्जित कर्मों को क्षीण कर देता है।

सू० ३८—सरीरपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सरीरपच्चक्खाणेणं सिद्धाइसयगुणत्तणं[4] निव्वत्तेइ। सिद्धाइसयगुणसंपन्ने य णं जीवे लोगग्गमुवगए परमसुही भवइ ॥

सू०३८—शरीर-प्रत्याख्यानेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

शरीर-प्रत्याख्यानेन सिद्धातिशय-गुणत्वं निर्वर्तयति। सिद्धातिशय-गुण-सम्पन्नश्च जीवो लोकाग्रमुपगतः परम-सुखी भवति ॥

सू०३८—भन्ते! शरीर के प्रत्याख्यान (देह-मुक्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

शरीर के प्रत्याख्यान से वह मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करता है, मुक्त-आत्माओं के अतिशय गुणों को प्राप्त करने वाला जीव लोक के शिखर में पहुँचकर परम सुखी हो जाता है।

---

१. जीवियास विप्पओग (बृ० पा०)।
२. वोच्छिंदिय (बृ० पा०)।
३ अजोगीय (ऋ०)।
४ °सयगुणत्त (उ, ऋ०)।

सू० ३९—सहायपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सहायपच्चक्खाणेण एगीभाव जणयइ। एगीभावभूए वि[1] य ण[2] जीवे एगग्ग भावेमाणे अप्पसद्दे[3] अप्पझझे अप्पकलहे अप्पकसाए अप्पतुमतुमे सजमवहुले संवरवहुले समाहिए यावि भवइ ॥

सू०३९—सहाय-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव किं जनयति ?

सहाय-प्रत्याख्यानेन एकीभावं जनयति। एकीभाव-भूतोऽपि च जीव ऐकाग्र्य भावयन् अल्प-शब्द: अल्प-झञ्झ: अल्प-कलहः अल्प-कषायः अल्प-त्वत्वः सयम-बहुलः सवर-बहुल:, समाहितश्चापि भवति ॥

सू०३९—भन्ते ! सहाय-प्रत्याख्यान (दूसरों का सहयोग न लेने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सहाय-प्रत्याख्यान से वह अकेलेपन को प्राप्त होता है। अकेलेपन को प्राप्त हुआ जीव एकत्व के आलम्बन का अभ्यास करता हुआ कोलाहल पूर्ण शब्दों से मुक्त, वाचिक-कलह से मुक्त, झगडे से मुक्त, कषाय से मुक्त, तू-तू से मुक्त, सयम बहुल, सवर बहुल और समाधिस्थ हो जाता है।

सू०४०-भत्तपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ॥

भत्तपच्चक्खाणेण अणेगाइ भवसयाइ निरुम्भइ ॥

सू०४०—भक्त-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव: किं जनयति ?

भक्त-प्रत्याख्यानेन अनेकानि भव-शतानि निरुणद्धि ॥

सू०४०—भन्ते ! भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भक्त-प्रत्याख्यान से वह अनेक सैकडों जन्म-मरणों का निरोध करता है।

सू० ४१—सब्भावपच्चक्खाणेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सब्भावपच्चक्खाणेण अनियट्टिं[4] जणयइ। अनियट्टिपडिवन्ने[5] य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ तं जहा वेयणिज्ज आउय नाम गोय। तओ[6] पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्त करेइ ॥

सू०४१—सद्भाव-प्रत्याख्यानेन भदन्त ! जीव: किं जनयति ?

सद्भाव-प्रत्याख्यानेन अनिवृत्ति जनयति। अनिवृत्तिप्रतिपन्नश्चानगार: चतुरः केवलि-कर्मांशान् क्षपयति, तद्यथा—वेदनीय, आयुः नाम गोत्रम्। ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्व-दुःखानामन्तं करोति ॥

सू०४१—भन्ते ! सद्भाव-प्रत्याख्यान (पूर्ण सवर रूप शैलेशी) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सद्भाव-प्रत्याख्यान से वह अनिवृत्ति को प्राप्त होता है—फिर मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति नहीं करता। अनिवृत्ति को प्राप्त हुआ अनगार केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों, जैसे—वेदनीय, आयुष् नाम और गोत्र को क्षीण कर देता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

---

१. × (उ, ऋ०)।
२. × (उ, ऋ०)।
३. × (बृ०)।
४. निर्वाहि (बृ० पा०)।
५. निर्वाहि° (बृ० पा०)।
६. × (उ, ऋ०)।

सू० ४२—पडिरूवयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पडिरूवयाए ण लाघविय जणयइ । लहुभूए णं[1] जीवे अप्पमत्ते पागडलिंगे पसत्थलिंगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइसमत्ते सव्वपाणभूय-जीवसत्तेसु वीससणिज्जरूवे अप्पडिलेहे[2] जिइन्दिए विउलतव-समिइसमन्नागए यावि भवइ ॥

सू०४२—प्रतिरूपतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

प्रतिरूपतया लाघवितां जनयति । लघुभूतो जीवः अप्रमत्त प्रकट-लिंगः प्रशस्त-लिंग विशुद्ध-सम्यक्त्वः समाप्त-सत्त्व-समितिः सर्व-प्राण-भूत-जीव-सत्त्वेषु विश्वसनीय-रूपोऽल्प-प्रतिलेखो जितेन्द्रियो विपुल-तपः-समिति-समन्वागतश्चापि भवति ॥

सू०४२—भन्ते ! प्रतिरूपता (जिनकल्पिक जैसे आचार का पालन करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

प्रतिरूपता से वह हल्केपन को प्राप्त होता है । उपकरणो के अल्पीकरण से हलका बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग वाला, प्रशस्त-लिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वसनीय रूप वाला, अल्प-प्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और समितियो का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है ।

सू० ४३—वेयावच्चेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वेयावच्चेण तित्थयरनामगोत्तं कम्म निबन्धइ ॥

सू०४३—वैयावृत्त्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वैयावृत्त्येन तीर्थङ्कर-नाम-गोत्रं कर्म निबध्नाति ॥

सू०४३—भन्ते ! वैयावृत्त्य (साधु-सघ की सेवा करने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वैयावृत्य से वह तीर्थङ्कर नाम-गोत्र का अर्जन करता है ।

सू० ४४—सव्वगुणसंपन्नयाए[3] ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

सव्वगुणसपन्नयाए णं अपुणरावत्ति जणयइ । अपुणरावत्ति पत्तए य[4] ण जीवे सारीरमाणसाणं दुक्खाण नो भागी भवइ ॥

सू०४४—सर्व-गुण-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सर्व-गुण-सम्पन्नतया अपुनरावृत्ति जनयति । अपुनरावृत्ति प्राप्तश्च जीवः शारीर-मानसानां दुःखानां नो भागी भवति

सू०४४—भन्ते ! सर्व-गुण-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

सर्व-गुण-सम्पन्नता से वह अपुनरावृत्ति (मुक्ति) को प्राप्त होता है । अपुनरावृत्ति को प्राप्त करने वाला जीव शारीरिक और मानसिक दु खो का भागी नही होता ।

सू० ४५—वीयरागयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वीयरागयाएणं 'नेहाणुबन्धणाणि तण्हाणुबन्धणाणि'[5] य वोच्छिन्दइ मणुन्नेसु[6] सद्दफरिसरसरूवगन्धेसु चेव विरज्जइ ॥

सू०४५—वीतरागतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वीतरागतया स्नेहानुबन्धनानि तृष्णानुबन्धनानि च व्युच्छिनत्ति । मनोज्ञेषु शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धेषु चैव विरज्यते ॥

सू०४५—भन्ते ! वीतरागता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वीतरागता से वह स्नेह के अनुबन्धनों और तृष्णा के अनुबन्धनो का विच्छेद करता है तथा मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गन्ध से विरक्त हो जाता है ।

---

१ य ण (उ, ऋ०) ।
२. अप्पपडिलेहे (बृ० पा०) ।
३ °सपुण्णयाए (अ, आ) ।
४ × (उ, ऋ०) ।
५ °बधणाणि तण्हावधणाणि (बृ०), नेहाणुबन्धणाणि, तण्हाणुबन्धणाणि (बृ० पा०) ;
६. मणुन्नामणुन्नेसु (अ) ।

सू०४६—खन्तीए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

खन्तीए णं परीसहे जिणइ ॥

सू०४७—मुत्तीए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं[1] अपत्थणिज्जो भवइ ॥

सू०४८—अज्जवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

अज्जवयाए णं काउज्जुययं भावुज्जुययं भासुज्जुययं अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ ॥

सू०४९—मद्दवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मद्दवयाए णं 'अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्ते णं जीवे मिउमद्दवसंपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठवेइ'[2] ॥

सू०५०—भावसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ। अरहन्तपन्नत्तस्स धम्मस्स आराहणयाए[3] अब्भुट्ठित्ता 'परलोगधम्मस्स आराहए'[4] हवइ ॥

सू० ४६—क्षान्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

क्षान्त्या परीषहान् जयति ॥

सू० ४७—मुक्त्या भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मुक्त्या आकिंचन्यं जनयति। अकिंचनश्च जीवो अर्थ-लोलानां अप्रार्थनीयो भवति ॥

सू० ४८—आर्जवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

आर्जवेन कायर्जुकतां, भावर्जुकतां भाषर्जुकतां, अविसंवादनं जनयति। अविसंवादन-सम्पन्नतया जीवो धर्मस्याराधको भवति ॥

सू० ४९—मार्दवेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मार्दवेन अनुत्सिक्तत्वं जनयति। अनुत्सिक्तत्वेन जीवो मृदु-मार्दव-सम्पन्नः अष्ट मद-स्थानानि निष्ठापयति ॥

सू० ५०—भाव-सत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

भाव-सत्येन भाव-विशोधिं जनयति। भाव-विशोधौ वर्तमानो जीवोऽर्हत्-प्रज्ञप्तस्य धर्मस्याराधनायै अभ्युत्तिष्ठते। अर्हत्-प्रज्ञप्तस्य धर्म-स्याराधनायै अभ्युत्थाय परलोक-धर्मस्याराधको भवति ॥

सू० ४६—भन्ते ! क्षमा से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्षमा से वह परीषहों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

सू० ४७—भन्ते ! मुक्ति (निर्लोभता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मुक्ति से वह अकिंचनता को प्राप्त होता है। अकिंचन जीव अर्थ-लोलुप पुरुषों के द्वारा अप्रार्थनीय होता है—उसके पास कोई याचना नहीं करता।

सू० ४८—भन्ते ! ऋजुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ऋजुता से वह काया की सरलता, मन की सरलता, भाषा की सरलता और अवंचक वृत्ति को प्राप्त होता है। अवंचक वृत्ति से सम्पन्न जीव धर्म का आराधक होता है।

सू० ४९—भन्ते ! मृदुता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मृदुता से वह अनुद्धत मनोभाव को प्राप्त करता है। अनुद्धत मनोभाव वाला जीव मृदु-मार्दव से सम्पन्न होकर मद के आठ स्थानों का विनाश कर देता है।

सू० ५०—भन्ते ! भाव-सत्य (अन्तर-आत्मा की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

भाव-सत्य से वह भाव की विशुद्धि को प्राप्त होता है। भाव-विशुद्धि में वर्तमान जीव अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना के लिए तैयार होता है। अर्हत्-प्रज्ञप्त धर्म की आराधना में तत्पर होकर वह परलोक-धर्म का आराधक होता है।

---

१ अत्थलं[illegible]प्पाण (आ, इ, उ, ऋ०, स)।
२ अणुस्स[illegible]णुस्सअपत्तेण जीवे मद्दवयाएण मिउ० (अ), मद्दवयाए णं मिउ० (उ, बृ०, ऋ०), मद्द० अणुसियत्त जणेति, अणुस्सि[illegible] (बृ० पा०)।
३ आराहण[illegible]ऋ०)।
४ परलोगाराहए (बृ० पा०)।

सू०५१—करणसच्चेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ । करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ ॥

सू० ५१—करण-सत्येन भदन्त ! जीव किं जनयति ?

करण-सत्येन करण-शक्तिं जनयति । करण-सत्येन वर्तमानो जीवो यथावादी तथाकारी चापि भवति ॥

सू० ५१—भन्ते ! करण-सत्य (कार्य की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

करण-सत्य से वह करण-शक्ति (अपूर्व *कार्य करने की सामर्थ्य*) को प्राप्त होता है । करण-सत्य में वर्तमान जीव जैसा कहता है वैसा करता है ।

सू०५२—जोगसच्चेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

जोगसच्चेण जोगं विसोहेइ ॥

सू० ५२—योग-सत्येन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

योग-सत्येन योगान् विशोधयति ॥

सू० ५२—भन्ते ! योग-सत्य (मन, वाणी और काया की सचाई) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

योग-सत्य से वह मन, वाणी और काया की प्रवृत्ति को विशुद्ध करता है ।

सू०५३—मणगुत्तयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मणगुत्तयाए ण जीवे एगग्ग जणयइ । एगग्गचित्ते ण जीवे मणगुत्ते सजमाराहए भवइ ॥

सू० ५३—मनो-गुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मनो-गुप्ततया ऐकाग्र्यं जनयति । एकाग्र-चित्तो जीवो मनो-गुप्तः सयमाराधको भवति ॥

सू० ५३—भन्ते ! मनोगुप्तता (कुशल मन के प्रयोग) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मनो-गुप्तता से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है । एकाग्र-चित्त वाला जीव अशुभ सकल्पों से मन की रक्षा करने वाला और सयम की आराधना करने वाला होता है ।

सू०५४—वयगुत्तयाए ण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

वयगुत्तयाए ण निव्वियार[1] जणयइ । 'निव्वियारेण जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगज्झाणगुत्ते[2,3] यावि भवइ ॥

सू०५४—वाग्-गुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

वाग्-गुप्ततया निर्विकारं जनयति । निर्विकारो जीवो वाग्-गुप्तोऽध्यात्म-योग-ध्यान-गुप्तश्चापि भवति ॥

सू० ५४—भन्ते ! वाग्-गुप्तता (कुशल वचन के प्रयोग) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाग्-गुप्तता से वह नि[illegible]कार भाव को प्राप्त होता है । निर्विकार जीव[illegible]ता सर्वथा वाग्-गुप्त और अध्यात्म-योग के सा[illegible]—चित्त की एकाग्रता आदि से युक्त हो जाता है ।

सू०५५—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कायगुत्तयाए णं सवरं जणयइ । सवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ ॥

सू० ५५—काय-गुप्ततया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

काय-गुप्ततया सवरं जनयति । संवरेण काय-गुप्तः पुनः पापाश्रव-निरोधं करोति ॥

सू० ५५—भन्ते ! काय-गुप्[illegible]ता (कुशल काय के प्रयोग) से जीव [illegible]या प्राप्त करता है ।

काय-गुप्तता से वह सवर ([illegible]शुभ प्रवृत्ति के निरोध) को प्राप्त होता है [illegible] सवर के द्वारा कायिक स्थिरता को प्राप्त [illegible]रने वाला जीव फिर पाप-कर्म के [illegible]न-हेतुओं (आश्रवों) का निरोध कर[illegible]

१. निव्वियारत्त (अ, स) ।
२. साहणजुत्ते (उ, ऋ०, वृ०) ।
३ निव्वियारे ण जीवे वयगुत्तय जणयइ (वृ० पा०) ।

सू० ५६—मणसमाहारणयाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

मणसमाहारणयाए ण एगग्गं जणयइ। एगग्गं जणइत्ता नाणपज्जवे जणयइ। नाणपज्जवे जणइत्ता सम्मत्तं विसोहेइ मिच्छत्तं च निज्जरेइ ॥

सू० ५६—मनः-समाधारणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

मनः-समाधारणेन ऐकाग्र्यं जनयति। ऐकाग्र्यं जनयित्वा ज्ञान-पर्यवान् जनयति। ज्ञान-पर्यवान् जनयित्वा सम्यक्त्वं विशोधयति, मिथ्यात्वञ्च निर्जरयति ॥

सू० ५६—भन्ते! मन-समाधारणा (मन को आगम-कथित भावों में भली-भाँति लगाने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मन-समाधारणा से वह एकाग्रता को प्राप्त होता है। एकाग्रता को प्राप्त होकर ज्ञान-पर्यवों (ज्ञान के विविध प्रकारों) को प्राप्त होता है। ज्ञान-पर्यवों को प्राप्त कर सम्यक्-दर्शन को विशुद्ध और मिथ्या-दर्शन को क्षीण करता है।

सू० ५७—वयसमाहारणयाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

वयसमाहारणयाए ण वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेइ। वयसाहारणदंसणपज्जवे विसोहेत्ता सुलहबोहियत्तं निव्वत्तेइ दुल्लहबोहियत्तं निज्जरेइ ॥

सू० ५७—वाक्-समाधारणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

वाक्-समाधारणेन वाक्-साधारण-दर्शन-पर्यवान् विशोधयति। वाक्-साधारण-दर्शन-पर्यवान् विशोध्य सुलभ-बोधिकत्वं निर्वर्तयति, दुर्लभ-बोधिकत्वं निर्जरयति ॥

सू० ५७—भन्ते! वाक्-समाधारणा (वाणी को स्वाध्याय में भलीभाँति लगाने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

वाक्-समाधारणा से वह वाणी के विषय-भूत दर्शन-पर्यवों (सम्यक् दर्शन के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। वाणी के विषयभूत दर्शन-पर्यवों को विशुद्ध कर बोधि की सुलभता को प्राप्त होता है और बोधि की दुर्लभता को क्षीण करता है।

सू० ५८—कायसमाहारणयाए ण भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

कायसमाहारणयाए ण चरित्तपज्जवे विसोहेइ। चरित्तपज्जवे विसोहेत्ता अहक्खायचरित्तं विसोहेइ। अहक्खायचरित्तं विसोहेत्ता चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ ॥

सू० ५८—काय-समाधारणेन भदन्त! जीवः किं जनयति ?

काय-समाधारणेन चरित्र-पर्यवान् विशोधयति। चरित्र-पर्यवान् विशोध्य यथाख्यात-चरित्रं विशोधयति। यथाख्यात-चरित्रं विशोध्य चतुरः केवलि-कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति, सर्वदुःखानामन्तं करोति ॥

सू० ५८—भन्ते! काय-समाधारणा (संयम-योगों में काय को भलीभाँति लगाने) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

काय-समाधारणा से वह चरित्र-पर्यवों (चरित्र के प्रकारों) को विशुद्ध करता है। चरित्र-पर्यवों को विशुद्ध कर यथाख्यात चरित्र (वीतरागभाव) को प्राप्त करने योग्य विशुद्धि करता है। यथाख्यात चरित्र को विशुद्ध कर केवलि-सत्क (केवली के विद्यमान) चार कर्मों—आयुष्, वेदनीय, नाम और गोत्र को क्षीण करता है। उसके पश्चात् सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखों का अन्त करता है।

सू० ५९—नाणसपन्नयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

नाणसंपन्नयाए णं जीवे सव्व-भावाहिगम जणयइ। नाणसंपन्ने णं जीवे चाउरन्ते संसारकन्तारे न विणस्सइ।

जहा सूई ससुत्ता
पडिया वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते
ससारे न विणस्सइ॥

नाणविणयतवचरित्तजोगे संपाउणइ ससमयपरसमय[1] सघायणिज्जे भवइ॥

सू० ५९—ज्ञान-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

ज्ञान-सम्पन्नतया जीवः सर्वभावाभिगम जनयति। ज्ञान-सम्पन्नो जीवश्चतुरन्ते संसार-कान्तारे न विनश्यति।

यथा सूची ससूत्रा,
पतिताऽपि न विनश्यति।
तथा जीवः ससूत्रः
ससारे न विनश्यति॥

ज्ञान-विनय-तपश्चरित-योगान् सम्प्राप्नोति, स्वसमय-परसमय-संघातनीयो भवति॥

सू० ५९—भन्ते! ज्ञान-सम्पन्नता (श्रुत ज्ञान की सम्पन्नता) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

ज्ञान-सम्पन्नता से वह सब पदार्थों को जान लेता है। ज्ञान-सम्पन्न जीव चार गति-रूप चार अन्तो वाली ससार-अटवी में विनष्ट नही होता।

जिस प्रकार ससूत्र (धागे में पिरोई हुई) सुई गिरने पर भी गुम नहीं होती, उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत सहित) जीव ससार में रहने पर भी विनष्ट नही होता।

(ज्ञान-सम्पन्न) अवधि आदि विशिष्ट ज्ञान, विनय, तप और चारित्र के योगो को प्राप्त करता है तथा स्वसमय और परसमय की व्याख्या या तुलना के लिए प्रामाणिक पुरुष माना जाता है।

सू० ६०—दसणसंपन्नयाए ण भन्ते! जीवे कि जणयइ ?

दसणसपन्नयाए ण भवमिच्छत्त-छेयण करेइ, पर न विज्झायइ[2]। 'अणुत्तरेण नाणदसणेण अप्पाण सजोएमाणे सम्म भावेमाणे विहरइ'[3]॥

सू० ६०—दर्शन-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

दर्शन-सम्पन्नतया भव-मिथ्यात्व-छेदनं करोति। परं न विध्यायति अनुत्तरेण ज्ञान-दर्शनेनात्मानं संयोजयन् सम्यग् भावयन् विहरति॥

सू० ६०—भन्ते! दर्शन-सम्पन्नता (सम्यक्-दर्शन की सम्प्राप्ति) से जीव क्या प्राप्त करता है ?

दर्शन-सम्पन्नता से वह संसार-पर्यटन के हेतु-भूत मिथ्यात्व का उच्छेद करता है—क्षायिक सम्यक्-दर्शन को प्राप्त होता है। उससे आगे उसकी प्रकाश-शिखा बुझती नही। वह अनुत्तर ज्ञान और दर्शन को आत्मा से सयोजित करता हुआ, उन्हे सम्यक् प्रकार से आत्मसात् करता हुआ विहरण करता है।

सू० ६१—चरित्तसपन्नयाए ण भन्ते! जीवे कि जणयइ ?

चरित्तसंपन्नयाए णं सेलेसीभाव जणयइ। 'सेलेसिं पडिवन्ने य अणगारे चत्तारि केवलिकम्मसे खवेइ। तओ पच्छा सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्त करेइ'[4]॥

सू० ६१—चरित्र-सम्पन्नतया भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

चरित्र-सम्पन्नतया शैलेशी-भाव जनयति। शैलेशी प्रतिपन्नश्च अनगारः चतुरः केवलि-कर्मांशान् क्षपयति। ततः पश्चात् सिध्यति, बुध्यते, मुच्यते, परिनिर्वाति सर्वदुःखानामन्त करोति॥

सू० ६१—भन्ते! चारित्र-सम्पन्नता से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चारित्र-सम्पन्नता से वह शैलेशी-भाव को प्राप्त होता है। शैलेशी-दशा को प्राप्त करने वाला अनगार चार केवलि-सत्क कर्मों को क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुखों का अन्त करता है।

---

१ °समय विसारए य (अ)।
२ विज्झाइ (ऋ०), वज्झाइ। पर आणाज्झायमाणे (अ)।
३ अप्पाण सजोएमाणे सम्म भावेमाणे अणुत्तरेण नाणदंसणेण विहरइ (अ), अनुत्तरेण नाणदसणेणं विहरइ (बृ० पा०)।
४. सेलेसी पडिवन्ने विहरइ (बृ०), सेलेसिं पडिवन्ने अणगारे चत्तारि केवलिकम्मंसे खवेति, ततो पच्छा सिज्झति ···(बृ० पा०)।

सू० ६२—सोइन्दियनिग्गहेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सोइन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु सद्देसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६२—श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति ?

श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु शब्देषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६२—भन्ते! श्रोत्रेन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

श्रोत्रेन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह शब्द सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६३—चक्खिन्दियनिग्गहेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

चक्खिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रूवेसु[1] रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६३—चक्षुरिन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति ?

चक्षुरिन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रूपेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६३—भन्ते! चक्षु-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

चक्षु-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रूप सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६४—घाणिन्दियनिग्गहेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

घाणिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु गन्धेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू० ६४—घ्राणेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति ?

घ्राणेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु गन्धेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६४—भन्ते! घ्राण-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

घ्राण-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह गन्ध सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६५—जिब्भिन्दियनिग्गहेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

जिब्भिन्दियनिग्गहेणं मणुन्नामणुन्नेसु रसेसु रागदोसनिग्गहं जणयइ तप्पच्चइयं कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६५—जिह्वेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त! जीवः किं जनयति ?

जिह्वेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञामनोज्ञेषु रसेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६५—भन्ते! जिह्वा-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

जिह्वा-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह रस सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

---

१ चक्खिंदिएसु (अ)।

सू० ६६—फासिन्दियनिग्गहेण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

फासिन्दियनिग्गहेण मणुन्नामणुन्नेसु फासेसु रागदोसनिग्गह जणयइ तप्पच्चइय कम्म न बन्धइ पुव्वबद्धं च निज्जरेइ ॥

सू०६६—स्पर्शेन्द्रिय-निग्रहेण भदन्त ! जीव. किं जनयति ?

स्पर्शेन्द्रिय-निग्रहेण मनोज्ञा-मनोज्ञेषु स्पर्शेषु राग-दोष-निग्रहं जनयति। तत्-प्रत्ययिकं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६६—भन्ते ! स्पर्श-इन्द्रिय का निग्रह करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?

स्पर्श-इन्द्रिय के निग्रह से वह मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में होने वाले राग और द्वेष का निग्रह करता है। वह स्पर्श सम्बन्धी राग-द्वेष के निमित्त से होने वाला कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६७—कोहविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

कोहविजएणं खन्ति जणयइ कोहवेयणिज्ज कम्मं न बन्धइ पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥

सू०६७—क्रोध-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

क्रोध-विजयेन क्षान्ति जनयति। क्रोध-वेदनीय कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६७—भन्ते ! क्रोध-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

क्रोध-विजय से वह क्षमा को उत्पन्न करता है। वह क्रोध-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६८—माणविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

माणविजएण मद्दवं जणयइ माणवेयणिज्ज कम्म न बन्धइ पुव्व-बद्ध च निज्जरेइ ॥

सू०६८—मान-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

मान-विजयेन मार्दव जनयति। मान-वेदनीय कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६८—भन्ते ! मान-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

मान-विजय से वह मृदुता को उत्पन्न करता है। वह मान-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ६९—मायाविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएण उज्जुभाव जणयइ मायावेयणिज्ज कम्म न बन्धइ पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥

सू०६९—माया-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

माया-विजयेन ऋजुभावं जनयति। माया-वेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू०६९—भन्ते ! माया-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

माया-विजय से वह ऋजुता को उत्पन्न करता है। वह माया-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू० ७०—लोभविजएण भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

लोभविजएण सतोसीभाव जणयइ लोभवेयणिज्जं कम्म न बन्धइ पुव्वबद्ध च निज्जरेइ ॥

सू०७०—लोभ-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

लोभ-विजयेन सन्तोषीभावं जनयति। लोभ-वेदनीयं कर्म न बध्नाति। पूर्व-बद्धं च निर्जरयति ॥

सू० ७०—भन्ते ! लोभ-विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

लोभ-विजय से वह सन्तोष को उत्पन्न करता है। वह लोभ-वेदनीय कर्म-बन्धन नहीं करता और पूर्व-बद्ध तन्निमित्तक कर्म को क्षीण करता है।

सू०७१—पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

सू०७१—प्रेयो-दोष-मिथ्यादर्शन-विजयेन भदन्त ! जीवः किं जनयति ?

सू०७१—भन्ते ! प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से जीव क्या प्राप्त करता है ?

पेज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं नाणदंसणचरित्ताराहणयाए अब्भुट्ठेइ। 'अट्ठविहस्स कम्मस्स कम्मगण्ठि-विमोयणयाए'[1] तप्पढमयाए जहाणुपुव्विं अट्ठवीसइविहं मोहणिज्जं कम्मं उग्घाएइ पंचविहं नाणावरणिज्जं नवविहं दंसणावरणिज्जं[2] पंचविहं अन्तरायं एए तिन्नि वि कम्मंसे जुगवं खवेइ। तओ पच्छा अणुत्तरं अणंतं कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं[3] केवल-वरनाणदंसणं समुप्पाडेइ। जाव सजोगी भवइ ताव य इरियावहियं कम्मं बन्धइ सुहफरिसं दुसमयठिइयं। तं पढमसमए बद्धं बिइयसमए वेइयं तइयसमए निज्जिण्णं[4] तं बद्धं पुट्ठं उदीरियं वेइयं निज्जिण्णं सेयाले य अकम्मं चावि भवइ॥

प्रेयो-दोष-मिथ्यादर्शन-विजयेन ज्ञान-दर्शन-चारित्राराधनायां अभ्युत्तिष्ठते। अष्टविधस्य कर्मणः कर्म-ग्रन्थि-विमोचनाय तत्प्रथमतया यथानुपूर्वि अष्टाविंशतिविधं मोहनीयं कर्मोद्घातयति। पंचविधं ज्ञानावरणीयम् नवविधं दर्शनावरणीयं पंचविधमन्तरायं एतान् त्रीनपि कर्मांशान् युगपत् क्षपयति। ततः पश्चादनुत्तरं अनन्तं कृत्स्नं प्रतिपूर्णं निरावरणं वितिमिरं विशुद्धं लोकालोक-प्रभावकं केवलवरज्ञान-दर्शनं समुत्पादयति। यावत्-सयोगी भवति तावदैर्यापथिकं कर्म बध्नाति सुख-स्पर्शं द्विसमय-स्थितिकम्। तत् प्रथम-समये बद्धं द्वितीय-समये वेदितं तृतीय-समये निर्जीर्णं तद् बद्धं स्पृष्टमुदीरितं वेदितं निर्जीर्णं एष्यत्काले चाकर्मचापि भवति॥

प्रेम, द्वेष और मिथ्या-दर्शन के विजय से वह ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए उद्यत होता है। आठ कर्मों में जो कर्म-ग्रन्थि (घात्य-कर्म) है, उसे खोलने के लिए वह उद्यत होता है। वह जिसे पहले कभी भी पूर्णतः क्षीण नहीं कर पाया उस अट्ठाईस प्रकार वाले मोहनीय कर्म को क्रमशः सर्वथा क्षीण करता है, फिर वह पाँच प्रकार वाले ज्ञानावरणीय, नौ प्रकार वाले दर्शनावरणीय और पाँच प्रकार वाले अन्तराय—इन तीनों विद्यमान कर्मों को एक साथ क्षीण करता है। उसके पश्चात् वह अनुत्तर, अनन्त, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण, निरावरण, तिमिर रहित, विशुद्ध, लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाले केवल ज्ञान और केवल दर्शन को उत्पन्न करता है। जब तक वह सयोगी होता है तब तक उसके ईर्या-पथिक-कर्म का बन्ध होता है। वह बन्ध सुख-स्पर्श (पुण्य-मय) होता है। उसकी स्थिति दो समय की होती है और तीसरे समय में वह निर्जीर्ण हो जाता है। वह कर्म बद्ध होता है, स्पृष्ट होता है, उदय में आता है, भोगा जाता है, नष्ट हो जाता है और अन्त में अकर्म भी हो जाता है।

१ अट्ठविहकम्म विमोयणाए (बृ० पा०)।
२. दसणावरण (उ, ऋ०)।
३. लोगालोगसभाव (बृ० पा०)।
४. निविण्ण (अ)।

सू० ७२—अहाउयं पालइत्ता अन्तोमुहुत्तद्धावसेसाउए[1] जोगनिरोहं करेमाणे सुहुमकिरियं अप्पडिवाइ सुक्कज्झाणं झायमाणे तप्पढमयाए 'मणजोगं निरुम्भइ २ त्ता वइजोगं निरुम्भइ २ त्ता आणापाणुनिरोहं'[2] करेइ २ त्ता ईसि पचरहस्सक्खरुच्चारद्धाए य णं अणगारे समुच्छिन्नकिरियं अनियट्टिसुक्कज्झाणं झियायमाणे वेयणिज्जं आउयं नामं गोत्तं च एए चत्तारि वि[3] कम्मंसे जुगवं[4] खवेइ ॥

सू० ७२—अथ आयुष्कं पालयित्वाऽन्तर्मुहूर्ताध्वावशेषायुष्कः योग-निरोधं कुर्वाणः सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति शुक्ल-ध्यानं ध्यायन् तत्प्रथमतया मनो-योगं निरुणद्धि निरुध्य वाग्-योगं निरुणद्धि निरुध्य आनापान-निरोधं करोति कृत्वा ईषत् पंच ह्रस्वाक्षरोच्चारणाध्वनि च अनगारः समुच्छिन्नक्रियं अनिवृत्ति शुक्लध्यानं ध्यायन् वेदनीयमायुष्कं नाम गोत्रञ्चैतान् चतुरः कर्मांशान युगपत् क्षपयति ॥

सू०७२—केवली होने के पश्चात् वह शेष आयुष्य का निर्वाह करता है। जब अन्तर-मुहूर्त्त परिमाण आयु शेष रहती है, तब वह योग-निरोध करने में प्रवृत्त होता है। उस समय सूक्ष्म-क्रिय अप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ वह सबसे पहले मनो-योग का निरोध करता है। फिर वचन-योग का निरोध करता है, उसके पश्चात् आनापान (उच्छ्वासनिश्वास) का निरोध करता है। उसके पश्चात् स्वल्पकाल तक पाँच ह्रस्वाक्षरो अ इ उ ऋ ऌ का उच्चारण किया जाए उतने काल तक समुच्छिन्न-क्रिय अनिवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान में लीन बना हुआ अनगार वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—इन चारो सत्कर्मों को एक साथ क्षीण करता है।

सू०७३—तओ ओरालियकम्माइं च सव्वाहिं विप्पजहणाहिं विप्पजहित्ता उज्जुसेढिपत्ते अफुसमाणगई उड्ढं एगसमएणं अविग्गहेणं तत्थ गन्ता सागारोवउत्ते सिज्झइ बुज्झइ मुच्चइ परिनिव्वाएइ सव्वदुक्खाणमन्तं करेइ[5] ॥

सू०७३—तत औदारिक-कार्मणे च सर्वाभिः विप्रहाणिभिः विप्रहाय ऋजुश्रेणिप्राप्तो स्पृशद्-गतिरूर्ध्वं एक समयेन अविग्रहेण तत्र गत्वा साकारोपयुक्तः सिध्यति बुध्यते मुच्यते परिनिर्वाति सर्वदुखानामन्तं करोति ॥

सू०७३—उसके अनन्तर ही औदारिक और कार्मण शरीर को पूर्ण अनस्तित्व के रूप में छोड कर वह मोक्ष स्थान में पहुँच साकारोपयुक्त (ज्ञानप्रवृत्ति काल) में सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और सब दुःखो का अन्त करता है। सिद्ध होने से पूर्व वह ऋजुश्रेणी (आकाश-प्रदेशों की सीधी पक्ति) से गति करता है। उसकी गति ऊपर को होती है, आत्म-प्रदेश जितने ही आकाश-प्रदेशो का स्पर्श करने वाली होती है और एक समय की होती है—ऋजु होती है।

एस खलु सम्मत्तपरक्कमस्स अज्झयणस्स अट्ठे समणेणं भगवया महावीरेणं आघविए पन्नविए परूविए दंसिए[6] उवदंसिए ॥

—त्ति बेमि ॥

एष खलु सम्यक्त्वपराक्रमस्याध्ययनस्यार्थः श्रमणेन भगवता महावीरेणाख्यातः प्रज्ञापित प्ररूपितः दर्शितः उपदर्शितः ॥

—इति ब्रवीमि ।

सम्यक्त्व-पराक्रम अध्ययन का यह पूर्वोक्त अर्थ श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा आख्यात, प्रज्ञापित, प्ररूपित, दर्शित और उपदर्शित है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ अन्तोमुहुत्तअद्धावसेसाए (बृ० पा०), अन्तोमुहुत्तावसेसाउए (उ, ऋ०, बृ० पा०)।
२ मणजोग निरुम्भइ वइजोग निरुम्भइ आणापाणुनिरोहं करेइ (बृ०); मणजोग निरुम्भइ, वइजोग निरुम्भइ, आणापाण° (आ, इ)।
३. × (उ, ऋ०)।
४ × (उ, ऋ०)।
५. (क) इह च चूर्णिकृता—"सेलेसीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? अकम्मयं जणति, अकम्मयाए जीवा सिज्झन्ति" इति पाठ, पूर्वत्र च क्वचित्किञ्चित्पाठभेदेनाल्पा एव प्रश्ना आश्रिता, अस्माभिस्तु भूयसीषु प्रतिषु यथाव्याख्यातपाठदर्शनादित्थमुन्नीतमिति (बृ० पा०)।
(ख) सेलेसीएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? अकम्मयं जणति अकम्मयाए जीवा सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिनिव्वायति सव्वदुक्खाणं अंतं करेंति (चू०)।
६. दंसिए निदंसिए (बृ०)।

तीसइमं अज्झयणं :

तवमग्गगई

त्रिंशम अध्ययन :

तपो-मार्ग-गति

आमुख

तपस्या मोक्ष का मार्ग है। उससे तपस्वी की मोक्ष की ओर गति होती है—यह इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'तवमग्गगई'—'तपो-मार्ग-गति' है।[1]

प्रत्येक संसारी जीव प्रतिक्षण कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति अवश्य करता है। जब वह अक्रिय होता है तब वह मुक्त हो जाता है। जहाँ प्रवृत्ति है वहाँ कर्म-पुद्गलों का आकर्षण और निर्जरण होता है। प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है—शुभ और अशुभ। शुभ प्रवृत्ति से अशुभ कर्मों का निर्जरण और शुभ-कर्म (पुण्य) का बन्ध होता है। अशुभ प्रवृत्ति से अशुभ-कर्म (पाप) का बन्ध होता है।

तपस्या कर्म-निर्जरण का मुख्य साधन है। इससे आत्मा पवित्र होती है।

भारतीय साधना-पद्धति मे तपस्या का प्रमुख स्थान रहा है। जैन और वैदिक मनीषियों ने उसे साधना का अपरिहार्य अग माना है। बौद्ध तत्त्व-द्रष्टा उससे उदासीन ही रहे हैं।

महात्मा बुद्ध अपनी साधना के प्रथम चरण में उग्र तपस्वी थे। उन्होंने कई वर्षों तक कठोर तपस्या की थी, परन्तु जब उन्हे सफलता नहीं मिली तब उन्होंने उसे अपनी साधना में स्थान नहीं दिया।

जैन-साधना के अनुसार तपस्या का अर्थ काय-क्लेश या उपवास ही नहीं है। स्वाध्याय, ध्यान, विनय आदि सब तपस्या के विभाग हैं।

काय-क्लेश और उपवास अकरणीय नहीं हैं और उनकी सबके लिए कोई समान मर्यादा भी नहीं है। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार जो जितना कर सके उसके लिए उतना ही विहित है।

जैन-दृष्टि से तपस्या दो प्रकार की है—बाह्य और आभ्यन्तर।

बाह्य तप के छह प्रकार हैं—

१—अनशन,
२—अवमोदरिका,
३—भिक्षा-चर्या,
४—रस-परित्याग,
५—काय-क्लेश और
६ - प्रतिसलीनता।

इनके आचरण से देहाध्यास छूट जाता है। देहासक्ति साधना का विघ्न है। इसीलिए मनीषियों ने देह के ममत्व-त्याग का उपदेश दिया है। शरीर धर्म-साधना का साधन है इसलिए उसकी नितान्त उपेक्षा भी नही की जा सकती। देहासक्ति विलासिता और प्रमाद को जन्म देती है। परन्तु धर्म-साधना के लिए देह की सुरक्षा करना भी नितान्त अपेक्षित है। जैन मुनि का 'वोसट्ठचत्तदेहे'—यह विशेषण देहासक्ति के त्याग का परिचायक है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५१२
दुविहतवोमग्गगई, वन्निज्जइ जम्ह इत्थ अज्झयणे।
तम्हा एअज्झयण, तवमग्गगइत्ति नायव्व॥

१-२—अनशन और अवमोदरिका से भूख और प्यास पर विजय पाने की ओर गति होती है।

३-४—भिक्षा-चर्या और रस-परित्याग से आहार की लालसा सीमित होती है। जिह्वा की लोलुपता मिटती है और निद्रा, प्रमाद, उन्माद आदि को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

५—काय-क्लेश से सहिष्णुता का विकास होता है। देह में उत्पन्न दु.खों को समभाव से सहने की वृत्ति बनती है।

६—प्रतिसंलीनता से आत्मा की सन्निधि में रहने का अभ्यास बढ़ता है।

आभ्यन्तर तप के छह भेद हैं—

१—प्रायश्चित्त,

२—विनय,

३—वैयावृत्त्य,

४—स्वाध्याय,

५—ध्यान और

६—व्युत्सर्ग।

१—प्रायश्चित्त से अतिचार-भीरुता और साधना के प्रति जागरूकता विकसित होती है।

२—विनय से अभिमान-मुक्ति और परस्परोपग्रह का विकास होता है।

३—वैयावृत्त्य से सेवाभाव पनपता है।

४—स्वाध्याय से विकथा त्यक्त हो जाती है।

५—ध्यान से एकाग्रता, एकाग्रता से मानसिक विकास एवं मन तथा इन्द्रियों पर नियत्रण पाने की क्षमता बढ़ती है और अन्त में उनका पूर्ण निरोध हो जाता है।

६—व्युत्सर्ग से शरीर, उपकरण आदि पर होने वाले ममत्व का विसर्जन होता है।

अथवा तप दो प्रकार का है—सकाम और अकाम। एकमात्र मोक्ष-साधना की दृष्टि से किया जाने वाला तप सकाम होता है। और इसके अतिरिक्त अन्यान्य उपलब्धियों के लिए किया जाने वाला अकाम। जैन साधना-पद्धति में सकाम तप को उपादेयता है और उसे ही पूर्ण पवित्र माना गया है।

तप के तीन प्रकार भी किए गए हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य आदि का पालन करना कायिक तप है। प्रिय, हितकर, सत्य और अनुद्विग्न वचन बोलना, स्वाध्याय मे रत रहना वाचिक तप है। आत्म-निग्रह, मौन-भाव, सौम्यता आदि मानसिक तप है।

शिष्य ने पूछा—"भन्ते। तप से जीव क्या प्राप्त करता है?"

भगवान् ने कहा—"तप से वह पूर्व-संचित कर्मों का क्षय कर विशुद्धि को प्राप्त होता है। इस विशुद्धि से वह मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति के पूर्ण निरोध को प्राप्त होता है। अक्रियावान् होकर वह सिद्ध होता है, बुद्ध होता है, मुक्त होता है, परिनिर्वाण होता है और दु खों का अन्त करता है।"[१]

भगवान् ने कहा—"इहलोक के निमित्त तप मत करो। परलोक के लिए तप मत करो। श्लाघा-प्रशंसा के लिए तप मत करो। केवल निर्जरा के लिए—आत्म-विशुद्धि के लिए तप करो।[२]

तपस्या के अवान्तर भेदों का निरूपण आगमों तथा व्याख्या-ग्रन्थों में प्रचुरता से हुआ है।

१—उत्तराध्ययन, २६।सू०२७,२८।

२—दशवैकालिक, ६।४। सू० ६।

तीसइमं अज्झयणं : त्रिंश अध्ययन

तवमग्गगई : तपो-मार्ग-गति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—जहा उ पावग कम्म रागदोससमज्जिय । खवेइ तवसा भिक्खू तमेगग्गमणो सुण ॥	यथा तु पापक कर्म राग-दोष-समर्जितम् । क्षपयति तपसा भिक्षु तमेकाग्र-मना' श्रृणु ॥	१—राग-द्वेष मे अर्जित पाप-कर्म को भिक्षु तपस्या से जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन ।
२—पाणवहमुसावाया[1] अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ । राईभोयणविरओ जीवो भवइ अणासवो ॥	प्राणवध-मृषावादा- ऽदत्त-मैथुन-परिग्रहेभ्यो विरतः । रात्रिभोजन-विरतो जीवो भवति अनाश्रवः ॥	२—प्राण-वध, मृषावाद, अदत्त-ग्रहण, मैथुन, परिग्रह और रात्रि-भोजन मे विरत जीव अनाश्रव होता है ।
३—पचसमिओ तिगुत्तो अकसाओ जिइन्दिओ । अगारवो य निस्सल्लो जीवो होइ अणासवो ॥	पच-समितस्त्रि-गुप्तः अकषायो जितेन्द्रिय । अगौरवश्च निःशल्यः जीवो भवत्यनाश्रवः ॥	३—पाँच समितियों से समित, तीन गुप्तियों से गुप्त, अकपाय, जितेन्द्रिय, अगौरव (गर्व रहित) और नि शल्य जीव अनाश्रव होता है ।
४—एएसिं तु विवच्चासे[2] रागद्दोससमज्जिय । 'जहा खवयइ भिक्खू'[3] 'त मे एगमणो'[4] सुण ॥	एतेषां तु विव्यत्यासे राग-दोष-समर्जितम् । यथा क्षपयति भिक्षुः तन्मे एक-मनाः श्रृणु ॥	४—इनसे विपरीत आचरण में राग-द्वेप मे जो कर्म उपार्जित होता है, उसे भिक्षु जिस प्रकार क्षीण करता है, उसे एकाग्र-मन होकर सुन ।
५—जहा महातलायस्स सन्निरुद्धे जलागमे । उस्सिचणाए तवणाए कमेण सोसणा भवे ॥	यथा महातडागस्य सन्निरुद्धे जलागमे । उत्सेवनेन तपनेन क्रमेण शोषणं भवेत् ॥	५—जिस प्रकार कोई बडा तालाब जल आने के मार्ग का निरोध करने से, जल को उलीचने से, सूर्य के ताप से क्रमश सूख जाता है—

१ पाणिवह मुसावाए (उ, ऋ०)।
२ विवज्जासे (बृ०)।
३. खवेइ उ जहा कम्म (उ, ऋ०), खवेइ त जहा भिक्खू (बृ०)।
४. त मे एगमणा (स), तमेगग्गमणो (ऋ०)।

६—'एव तु'[1] सजयस्सावि
पावकम्मनिरासवे ।
भवकोडीसचियं कम्मं
तवसा निज्जरिज्जइ ॥

एवं तु संयतस्यापि
पापकर्म-निराश्रवे ।
भव-कोटी-सञ्चितं कर्म
तपसा निर्जीर्यते ॥

६—उसी प्रकार सयमी पुरुष के पाप-कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोडों भवों के सचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते है ।

७—सो तवो दुविहो वुत्तो
बाहिरब्भन्तरो तहा ।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो
एवमब्भन्तरो तवो ॥

तत्तपो द्विविधमुक्त
बाह्यमाभ्यन्तर तथा ।
बाह्यं षड्विधमुक्तं
एवमाभ्यन्तरं तपः ॥

७—वह तप दो प्रकार का कहा है—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर ।

बाह्य तप छह प्रकार का है, उसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी छह प्रकार का है ।

८—अणसणमूणोयरिया
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ ।
कायकिलेसो सलीणया य
बज्झो तवो होइ ॥

अनशनमूनोदरिका
भिक्षा-चर्या च रस-परित्यागः ।
काय-क्लेशः सलीनता
च बाह्यं तपो भवति ॥

८—(१) अनशन, (२) ऊनोदरिका, (३) भिक्षा-चर्या, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश और (६) सलीनता—यह बाह्य तप है ।

९—इत्तिरिया मरणकाले[2]
'दुविहा अणसणा'[3] भवे ।
इत्तिरिया सावकंखा
निरवकखा[4] बिइज्जिया ॥

इत्वरकं मरण-कालं
अनशनं द्विविधं भवेत् ।
इत्वरक सावकाङ्क्षं
निरवकाङ्क्षं द्वितीयम् ॥

९—अनशन दो प्रकार का होता है—(१) इत्वरिक, (२) मरण-काल । इत्वरिक सावकाक्ष (अनशन के पश्चात् भोजन की इच्छा से युक्त) और दूसरा निरवकांक्ष (भोजन की इच्छा से मुक्त) होता है ।

१०—जो सो इत्तरियतवो
सो समासेण छव्विहो ।
सेढितवो पयरतवो
घणो य 'तह होइ वग्गो य'[5] ॥

यत्त दित्वरक तपः
तत्समासेन षड्विधम् ।
श्रेणि-तपः प्रतर-तपः
घनश्च तथा भवति वर्गश्च ॥

१०—जो इत्वरिक तप है, वह सक्षेप में छह प्रकार का है—(१) श्रेणि-तप, (२) प्रतर-तप, (३) घन तप, (४) वर्ग-तप,

११—तत्तो य वग्गवग्गो उ
पचमो छट्ठओ पइण्णतवो ।
मणइच्छियचित्तत्थो
नायव्वो होइ इत्तरिओ ॥

ततश्च वर्गवर्गस्तु
पंचम षष्ठक प्रकीर्णतपः ।
मनईप्सितचित्रार्थं
ज्ञातव्य भवति इत्वरकम् ॥

११—(५) वर्ग-वर्ग-तप, (६) प्रकीर्ण-तप ।

इत्वरिक तप नाना प्रकार के मनो-वाछित फल देने वाला होता है ।

---

१. एमेव (अ) ।
२. °काला य (उ, ऋ०) ।
३. अणसणा दुविहा (उ, ऋ०, वृ०) ।
४. निरकखा उ (वृ०), निरवकखा उ (सु०), निरवकखा (वृ० पा०) ।
५. वग्गो चउत्थो उ (अ) ।

१२—जा सा अणसणा मरणे
दुविहा सा वियाहिया।
सवियारअवियारा[1]
कायचिट्ठं पई भवे॥

यत्तदनशनं मरणे
द्विविधं तद्व्याख्यातम्।
सविचारमविचारं
काय-चेष्टां प्रति भवेत्॥

१२—मरण-काल अनशन के काय-चेष्टा के आधार पर सविचार और अविचार—ये दो भेद होते हैं।

१३—अहवा 'सपरिकम्मा
अपरिकम्मा'[2] य आहिया।
नीहारिमणीहारी
आहारच्छेओ य दोसु वि॥

अथवा सपरिकर्म
अपरिकर्म चाख्यातम्।
निर्हारि अनिर्हारि
आहारच्छेदश्च द्वयोरपि॥

१३—अथवा इसके दो भेद ये होते हैं—(१) सपरिकर्म और (२) अपरिकर्म।

१४—ओमोयरियं[3] पंचहा
समासेण वियाहियं।
दव्वओ खेत्तकालेणं[4]
भावेणं[5] पज्जवेहि य॥

अवमौदर्यं पंचधा
समासेन व्याख्यातम्।
द्रव्यतः क्षेत्र-कालेन
भावेन पर्यवैश्च॥

१४—अविचार अनशन के (१) निर्हारी और (२) अनिर्हारी—ये दो भेद होते है। आहार का त्याग दोनों (सविचार और अविचार तथा सपरिकर्म और अपरिकर्म) में होता है।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पर्यायों की दृष्टि से अवमौदर्य (ऊनोदरिका) सक्षेप में पाँच प्रकार का है।

१५—जो जस्स उ आहारो
तत्तो ओमं[6] तु जो करे।
जहन्नेणेगसित्थाई
एवं दव्वेण ऊ भवे॥

यो यस्य त्वाहारः
ततोऽवमं तु य कुर्यात्।
जघन्येनैकसिक्थादि
एवं द्रव्येण तु भवेत्॥

१५—जिसका जितना आहार है उससे कम खाता है, कम से कम एक सिक्थ (धान्य कण) खाता है और उत्कृष्टत. एक कवल कम खाता है, वह द्रव्य से अवमौदर्य तप होता है।

१६—गामे नगरे तह रायहाणि-
निगमे य आगरे पल्ली।
खेडे कव्वडदोणमुह-
पट्टणमडम्बसंवाहे॥

ग्रामे नगरे तथा राजधान्यां
निगमे चाऽऽकरे पल्ल्याम्।
खेटे कर्वट-द्रोणमुख-
पत्तन-मडंब-सम्बाधे॥

१६—ग्राम, नगर, राजधानी, निगम, आकर, पल्ली, खेडा, कर्वट, द्रोणमुख, पत्तन, मण्डप, सवाध,

१. सवियारमवियारा (उ, ऋ०, वृ०, सु०)।
२. सपडिकम्मा अपडिकम्मा (अ)।
३. ओमोयरण (अ, वृ०पा०, ऋ०)।
४. खित्तओ काले (ऋ०), खेत्त काले य (अ)।
५. भावओ (अ)।
६. ऊण (अ)।

१७—आसमपए विहारे
सन्निवेसे समायघोसे य।
थलिसेणाखन्धारे
सत्थे सवट्टकोट्टे य ॥

आश्रम-पदे विहारे
सन्निवेशे समाज-घोषे च।
स्थली-सेना-स्कन्धावारे
सार्थसंवर्त-कोट्टे च ॥

१७—आश्रम-पद, विहार, सन्निवेश, समाज, घोष, स्थली, सेना का शिविर, सार्थ, सवर्त, कोट,

१८—वाडेसु व रच्छासु व
घरेसु वा एवमित्तियं खेत्त।
कप्पइ उ एवमाई
एव खेत्तेण ऊ भवे ॥

वाटेषु वा रथ्यासु वा
गृहेषु वैवमेतावत् क्षेत्रम्।
कल्पते त्वेवमादि
एव क्षेत्रेण तु भवेत् ॥

१८—पाडा, गलियाँ, घर—इनमें अथवा इस प्रकार के अन्य क्षेत्रों में से पूर्व निश्चय के अनुसार निर्धारित क्षेत्र में भिक्षा के लिए जा सकता है। इस प्रकार यह क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

१९—पेडा य अद्धपेडा
गोमुत्तिपयगवीहिया चेव।
सम्बुक्कावट्टाऽऽययगन्तुं
पच्चागया छट्ठा ॥

पेटा चार्ध-पेटा
गोमूत्रिका पतंग-वीथिका चैव।
शम्बूकावर्ता
आयतं-गत्वा-प्रत्यागता षष्ठी ॥

१९—(प्रकारान्तर से) पेटा, अर्द्ध-पेटा, गोमूत्रिका, पतग-वीथिका, शम्बूकावर्ता और आयत-गत्वा-प्रत्यागता—यह छह प्रकार का क्षेत्र से अवमौदर्य तप होता है।

२०—दिवसस्स पोरुसीणं
चउण्ह पि उ जत्तिओ भवे कालो।
एव चरमाणो खलु
कालोमाण मुणेयव्वो[1] ॥

दिवसस्य पौरुषीणां
चतसृणामपि तु यावान् भवेत् कालः।
एवं चरतः खलु
कालावमानं ज्ञातव्यम् ॥

२०—दिवस के चार प्रहरों में जितना अभिग्रह-काल हो उसमें भिक्षा के लिए जाऊँगा, अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के काल से अवमौदर्य तप होता है।

२१—अहवा तइयाए पोरिसीए
ऊणाइ घासमेसन्तो।
चउभागूणाए वा
एवं कालेण ऊ भवे ॥

अथवा तृतीयायां पौरुष्यां
ऊनायां ग्रासमेषयन्।
चतुर्भागोनायां वा
एवं कालेन तु भवेत् ॥

२१—अथवा कुछ न्यून तीसरे प्रहर (चतुर्थ भाग आदि न्यून प्रहर) में जो भिक्षा की एषणा करता है, उसे (इस प्रकार) काल से अवमौदर्य तप होता है।

२२—इत्थी वा पुरिसो वा
अलंकिओ वाऽणलंकिओ वा वि।
अन्नयरवयत्थो वा
अन्नयरेण व वत्थेणं ॥

स्त्री वा पुरुषो वा
अलङ्कृतो वाऽनलङ्कृतो वापि।
अन्यतर-वयस्स्थो वा
अन्यतरेण वा वस्त्रेण ॥

२२—स्त्री अथवा पुरुष, अलकृत अथवा अनलंकृत, अमुक वय वाले, अमुक वस्त्र वाले—

---
१. मुणेयव्व (उ, ऋ०)।

२३—अन्नेण विसेसेणं
वण्णेणं भावमणुमुयन्ते उ ।
एव चरमाणो खलु
भावोमाणं मुणेयव्वो[1] ॥

अन्येन विशेषेण
वर्णेन भावमनुन्मुंचन् तु ।
एवं चरतः खलु
भावावमानं ज्ञातव्यम् ॥

२३—अमुक विशेष प्रकार की दशा वर्ण या भाव से युक्त दाता से भिक्षा ग्रहण करूँगा , अन्यथा नहीं—इस प्रकार चर्या करने वाले मुनि के भाव से अवमौदर्य तप होता है ।

२४—दव्वे खेत्ते काले
भावम्मि य आहिया उ जे भावा ।
एएहि ओमचरओ
पज्जवचरओ भवे भिक्खू ॥

द्रव्ये क्षेत्रे काले
भावे चाख्यातास्तु ये भावाः ।
एतैरवमचरकः
पर्यवचरको भवेद् भिक्षुः ॥

२४—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में जो पर्याय (भाव) कहे गए है, उन सबके द्वारा अवमौदर्य करने वाला भिक्षु पर्यवचरक होता है ।

२५—अट्ठविहगोयरग्गं तु
तहा सत्तेव एसणा ।
अभिग्गहा य जे अन्ने
भिक्खायरियमाहिया ॥

अष्टविधाग्रगोचरस्तु
तथा सप्तैवैषणा ।
अभिग्रहाश्च ये अन्ये
भिक्षा-चर्या आख्याता ॥

२५—आठ प्रकार के गोचराग्र तथा सात प्रकार की एषणाएँ और जो अन्य अभिग्रह हैं, उन्हें भिक्षा-चर्या कहा जाता है ।

२६—खीरदहिसप्पिमाई
पणीयं पाणभोयणं ।
परिवज्जणं रसाणं तु
भणियं रसविवज्जणं ॥

क्षीर-दधि-सर्पिरादि
प्रणीतं पान-भोजनं ।
परिवर्जनं रसानां तु
भणितं रस-विवर्जनम् ॥

२६—दूध, दही, घृत आदि तथा प्रणीत पान-भोजन और रसों के वर्जन को रस-विवर्जन तप कहा जाता है ।

२७—ठाणा वीरासणाईया
जीवस्स उ सुहावहा ।
उग्गा जहा धरिज्जन्ति
कायकिलेसं तमाहियं ॥

स्थानानि वीरासनादिकानि
जीवस्य तु सुखावहानि ।
उग्राणि यथा धार्यन्ते
काय-क्लेशः स आख्यातः ॥

२७—आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश कहा जाता है ।

२८—एगन्तमणावाए
इत्थीपसुविवज्जिए ।
सयणासणसेवणया
विवित्तसयणासणं ॥

एकान्तेऽनापाते
स्त्री-पशु-विवर्जिते ।
शयनासन-सेवन
विविक्त-शयनासनम् ॥

२८—एकान्त, अनापात (जहाँ कोई आता-जाता न हो) और स्त्री-पशु आदि से रहित शयन और आसन का सेवन करना विविक्त-शयनासन (सलीनता) तप है ।

---

1 मुणेयव्व (उ, ऋ०) ।

२९—एसो बाहिरगतवो
समासेण वियाहिओ।
अब्भिन्तर 'तवं एत्तो'[1]
वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥

एतद्बाह्यकं तपः
समासेन व्याख्यातम्।
आभ्यन्तर तप इतो
वक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥

२९—यह बाह्य तप सक्षेप में कहा गया है। अब मैं अनुक्रम से आभ्यन्तर तप को कहूँगा।

३०—पायच्छित्त विणओ
वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
'झाणं च विउस्सग्गो'[2]
'एसो अब्भिन्तरो तवो'[3] ॥

प्रायश्चित्त विनयः
वैयावृत्यं तथैव स्वाध्यायः।
ध्यान च व्युत्सर्गः
एतदाभ्यन्तरं तपः ॥

३०—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग—यह आभ्यन्तर तप है।

३१—आलोयणारिहाईय
पायच्छित्त तु दसविह।
जे भिक्खू वहई सम्म
पायच्छित्त तमाहिय ॥

आलोचनार्हादिक
प्रायश्चित्त तु दशविधम्।
यद् भिक्षुर्वहति सम्यक्
प्रायश्चित्त तदाख्यातम् ॥

३१—आलोचनार्ह आदि जो दस प्रकार का प्रायश्चित्त है, जिसका भिक्षु सम्यक प्रकार से पालन करता है, उसे प्रायश्चित्त कहा जाता है।

३२—अब्भुट्ठाणं अजलिकरणं
तहेवासणदायण।
गुरुभत्तिभावसुस्सूसा
विणओ एस वियाहिओ ॥

अभ्युत्थानमञ्जलि-करणं
तथैव आसन-दानम्।
गुरु-भक्तिः भाव-शुश्रूषा
विनय एष व्याख्यातः ॥

३२—अभ्युत्थान (खडे होना), हाथ जोडना, आसन देना, गुरुजनो की भक्ति करना, और भावपूर्वक शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।

३३—आयरियमाइयम्मि[4] य
वेयावच्चम्मि दसविहे।
आसेवण जहाथाम
वेयावच्च तमाहियं ॥

आचार्यादिके च
वैयावृत्त्ये दशविधे।
आसेवनं यथास्थाम
वैयावृत्त्य तदाख्यातम् ॥

३३—आचार्य आदि सम्बन्धी दस प्रकार के वैयावृत्त्य का यथाशक्ति आसेवन करने को वैयावृत्त्य कहा जाता है।

३४—वायणा पुच्छणा चेव
तहेव परियट्टणा।
अणुप्पेहा धम्मकहा
सज्झाओ पचहा भवे ॥

वाचना प्रच्छना चैव
तथैव परिवर्तना।
अनुप्रेक्षा धर्म-कथा
स्वाध्याय पञ्चधा भवेत् ॥

३४—स्वाध्याय पाँच प्रकार का होता है—
(१) वाचना (अध्यापन)
(२) पृच्छना
(३) परिवर्तना (पुनरावृत्ति)
(४) अनुप्रेक्षा (अर्थ-चिन्तन) और (५) धर्म-कथा।

---

१ तवो इत्तो (उ, ऋ०)।
२. झाण उस्सग्गो वि य (उ, ऋ०, स)।
३. अब्भिन्तरओ तवो होइ (उ, ऋ०, स)।
४. आयरिमाईए (उ, ऋ०)।

३५—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं
झाणं तं तु बुहा वए॥

आर्त्त-रौद्रे वर्जयित्वा
ध्यायेत् सुसमाहितः।
धर्म-शुक्ले ध्याने
ध्यानं तत्तु बुधा वदन्ति॥

३५—सुसमाहित मुनि आर्त्त और रौद्र ध्यान को छोड़ कर धर्म और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे। बुध-जन उसे ध्यान कहते हैं।

३६—सयणासणठाणे वा
जे उ भिक्खू न वावरे।
कायस्स विउस्सग्गो
छट्ठो सो परिकित्तिओ॥

शयनासन-स्थाने वा
यस्तु भिक्षुर्न व्याप्रियते।
कायस्य व्युत्सर्गः
षष्ठः स परिकीर्तितः॥

३६—सोने, बैठने या खड़े रहने के समय जो भिक्षु व्यापृत नहीं होता (काया को नहीं हिलाता-डुलाता) उसके काया की चेष्टा का जो परित्याग होता है, उसे व्युत्सर्ग कहा जाता है। वह आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार है।

३७—एयं तवं तु दुविहं
जे सम्मं आयरे मुणी।
से खिप्पं सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिए[1]॥
—त्ति बेमि।

एवं तपस्तु द्विविधं
यत्सम्यगाचरेन्मुनिः।
स क्षिप्रं सर्व-संसारात्
विप्रमुच्यते पण्डितः॥
—इति ब्रवीमि।

३७—इस प्रकार जो पण्डित मुनि दोनों प्रकार के तपों का सम्यक् रूप से आचरण करता है, वह शीघ्र ही समस्त संसार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. सो खवेत्तुरय अरओ
नीरय तु गइं गए॥ (बृ० पा०)।

एगतीसइमं अज्झयणं :
चरणविही

एकत्रिंश अध्ययन :
चरण-विधि

आमुख

इस अध्ययन में मुनि की चरण-विधि का निरूपण हुआ है, इसलिए इसका नाम "चरणविही" —"चरण-विधि" है। चरण का प्रारम्भ यतना से होता है और उसका अन्त पूर्ण निवृत्ति (अक्रिया) में होता है। निवृत्ति के इस उत्कर्ष को प्राप्त करने के लिए जो मध्यवर्ती साधना की जाती है, वह चरण है। मोक्ष प्राप्ति की चार साधनाओं मे यह तीसरी साधना है।[1]

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों साधना के अग है। मन, वचन और काया की गुप्ति का अर्थ है निवृत्ति। मन, वचन और काया के सम्यक् प्रयोग का अर्थ है प्रवृत्ति। चौबीसवें अध्ययन (श्लोक २६) में बतलाया गया है कि समितियों से चरण का प्रवर्तन होता है और गुप्तियों से अशुभ-अर्थों का निवर्तन होता है—

एयाओ पच समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष शब्द है। निवृत्ति का अर्थ पूर्ण निषेध नहीं है और प्रवृत्ति का अर्थ पूर्ण विधि नहीं है। प्रत्येक निवृत्ति मे प्रवृत्ति और प्रत्येक प्रवृत्ति में निवृत्ति रहती है। इसके अनुसार निवृत्ति का अर्थ होता है—एक कार्य का निषेध और दूसरे कार्य की विधि तथा प्रवृत्ति का अर्थ होता है—एक कार्य की विधि और दूसरे कार्य का निषेध। इसी तथ्य को प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक में प्रतिपादित किया गया है—

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तण।
असंजमे नियत्तिं च, सजमे य पवत्तणं॥

इससे एक यह तथ्य निष्पन्न होता है कि प्रत्येक प्रवृत्ति सम्यक् नहीं होती। किन्तु निवृत्ति में से जो प्रवृत्ति फलित होती है, वही सम्यक् होती है। उसी का नाम चरण-विधि है। इसे साधना-पद्धति भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर की चरण-विधि का प्रारम्भ संयम से होता है। उसका आचरण करते हुए जिन विषयों को स्वीकार या अस्वीकार करना चाहिए, उन्हीं का इस अध्ययन में साकेतिक उल्लेख है। किन्तु कुछ विषय ऐसे भी हैं, जिनका सयम-पालन से सम्बन्ध नही किन्तु वे ज्ञेयमात्र है। जैसे—परमाधार्मिकों के पन्द्रह प्रकार (श्लोक १२) तथा देवताओं के चौबीस प्रकार (श्लोक १६)।

ग्यारह उपासक-प्रतिमाओं का भी मुनि के चरण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है सख्या-पूर्ति की दृष्टि से इन्हें सम्मिलित किया गया हो।

छेद-सूत्रों की रचना श्रुत-केवली भद्रबाहु ने की। उनका सत्रहवें और अठारहवें श्लोक में नामोल्लेख हुआ है। इससे दो सम्भावनाओं की ओर ध्यान जाता है—

१—उत्तराध्ययन की रचना छेद-सूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है।

२—उत्तराध्ययन की रचना एक साथ नहीं हुई है।

दूसरा विकल्प ही अधिक सम्भव है।

---

१ उत्तराध्ययन, २८।२।

इस अध्ययन के आदि के दो श्लोकों तथा अन्त के एक श्लोक को छोड़ कर शेष १८ श्लोकों मे "जे भिक्खू चयइ निच्च, से न अच्छइ मण्डले"—ये दो चरण समान है। इनके अध्ययन से भिक्षु के स्वरूप का सहज ज्ञान हो जाता है। साथ-साथ ससार-मुक्ति के साधनों का भी ज्ञान होता है।

इस अध्ययन में एक से तेईस तक की सख्या मे अनेक विषयों का ग्रहण हुआ है। उनमे से कुछ शब्दों का विस्तार अन्य अध्ययनों मे प्राप्त होता है। जैसे—कषाय का २९।६७-७० मे, ध्यान का ३०।३५ में, व्रत का २१।१२ मे, इन्द्रिय-अर्थ का ३२।२३,३६,४९,६२,७५ मे, समिति का २४।२ में, लेश्या का ३४।३ मे, छह जीवनिकाय का ३६।६९,१०७ मे, आहार के छह कारण का २६।३२-३४ में और ब्रह्मचर्य गुप्ति का १६ मे।

इसे पन्द्रहवें अध्ययन 'सभिक्खु' का परिशेष भी माना जा सकता है। समवायाग (३३) तथा आवश्यक (४) में भी इस अध्ययन मे वर्णित विषयों का उल्लेख हुआ है।

सातवें श्लोक से २१ वें श्लोक तक 'यतते' का प्रयोग हुआ है। इसका सामान्य अर्थ 'यत्न करता है' होता है। प्रसगानुसार यत्न का अर्थ है—पालनीय का पालन, परिहरणीय का परिहार, ज्ञेय का ज्ञान और उपदेष्टव्य का उपदेश।

एगतीसइमं अज्झयण : एकत्रिंश अध्ययन

चरणविही : चरण-विधिः

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—चरणविहिं पवक्खामि जीवस्स उ सुहावह। ज चरित्ता बहू जीवा तिण्णा ससारसागर ॥	चरण-विधिं प्रवक्ष्यामि जीवस्य तु सुखावहम्। यं चरित्वा बहवो जीवा तीर्णाः ससार-सागरम् ॥	१—अब मैं जीव को सुख देने वाली उस चरण-विधि का कथन करूँगा जिसका आचरण कर बहुत से जीव ससार-सागर को तर गए।
२—एगओ विरइ कुज्जा एगओ य पवत्तण। असजमे नियत्तिं च सजमे य पवत्तण ॥	एकतो विरतिं कुर्यात एकतश्च प्रवर्तनम्। असयमान्निवृत्तिं च संयमे च प्रवर्तनम् ॥	२—भिक्षु एक स्थान से निवृत्ति करे और एक स्थान में प्रवृत्ति करे। असयम से निवृत्ति करे और सयम में प्रवृत्ति करे।
३—रागद्दोसे य दो पावे पावकम्मपवत्तणे। जे भिक्खू रुम्भई निच्च से न अच्छइ[1] मण्डले ॥	राग-दोषौ च द्वौ पापौ पाप-कर्म-प्रवर्तकौ। यो भिक्षुः रुणद्धि नित्य सन आस्ते मण्डले ॥	३—राग और द्वेष—ये दो पाप पाप-कर्म के प्रवर्तक है। जो भिक्षु इनका सदा निरोध करता है, वह ससार में नहीं रहता।
४—दण्डाण गारवाण च सल्लाण च तियं तियं। जे भिक्खू चयई निच्च से न अच्छइ[2] मण्डले ॥	दण्डाना गौरवाणा च शल्यानां च त्रिक त्रिकम्। यो भिक्षुस्त्यजति नित्यं स न आस्ते मण्डले ॥	४—जो भिक्षु तीन-तीन दण्डों, गौरवों और शल्यो का सदा त्याग करता है, वह ससार में नहीं रहता।
५—दिव्वे य जे[3] उवसग्गे तहा तेरिच्छमाणुसे। जे भिक्खू सहई निच्च से न अच्छइ[4] मण्डले ॥	दिव्यांश्च यानुपसर्गान् तथा तैरश्चांश्चमानुषान्। यो भिक्षुः सहते नित्यं स न आस्ते मण्डले ॥	५—जो भिक्षु देव, तिर्यञ्च और मनुष्य सम्बन्धी उपसर्गों को सदा सहता है, वह ससार में नहीं रहता।

१, २ गच्छइ (अ, बृ०पा०)।
३. × (उ, ऋ०)।
४. गच्छइ (अ, बृ०पा०)।

६—विगहाकसायसन्नाण
झाणाण च दुय तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं
से न अच्छइ[1] मण्डले ॥

विकथा-कषाय-सञ्ज्ञानां
ध्यानयोश्च द्विक तथा।
यो भिक्षुर्वर्जयति नित्य
स न आस्ते मण्डले ॥

६—जो भिक्षु विकथाओ, कषायो, सञ्ज्ञाओ तथा आर्त्त और रौद्र—इन दो ध्यानों का सदा वर्जन करता है, वह ससार में नही रहता।

७—वएसु इन्दियत्थेसु
'समिईसु किरियासु य'[2]।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न अच्छइ मण्डले ॥

व्रतेष्विन्द्रियार्थेषु
समितिषु क्रियासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्य
स न आस्ते मण्डले ॥

७—जो भिक्षु व्रतो और समितियो के पालन में, इन्द्रिय-विषयो और क्रियाओं के परिहार में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता।

८—लेसासु छसु काएसु
छक्के आहारकारणे।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न अच्छइ मण्डले ॥

लेश्यासु षट्सु कायेषु
षट्के आहार-कारणे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

८—जो भिक्षु छह लेश्याओं, छह कायो और आहार के (विधि-निषेध के) छह कारणो में सदा यत्न करता है, वह ससार में नही रहता।

९—पिण्डोग्गहपडिमासु
भयट्ठाणेसु सत्तसु।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न अच्छइ मण्डले ॥

पिण्डावग्रह-प्रतिमासु
भय-स्थानेषु सप्तसु।
यो भिक्षुर्यतते नित्य
स न आस्ते मण्डले ॥

९—जो भिक्षु, आहार-ग्रहण की सात प्रतिमाओं में और सात भय-स्थानों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नही रहता।

१०—मयेसु बम्भगुत्तीसु
भिक्खुधम्ममि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

मदेषु ब्रह्म-गुप्तिषु
भिक्षु-धर्मे दशविधे।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१०—जो भिक्षु आठ मद-स्थानों में, ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियो में और दस प्रकार के भिक्षु-धर्म में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता।

११—उवासगाणं पडिमासु
भिक्खूण पडिमासु य।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न अच्छइ मण्डले ॥

उपासकाना प्रतिमासु
भिक्षूणां प्रतिमासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्य
स न आस्ते मण्डले ॥

११—जो भिक्षु उपासकों की ग्यारह प्रतिमाओ तथा भिक्षुओ की बारह प्रतिमाओ में सदा यत्न करता है, वह ससार में नही रहता।

---

१. गच्छइ (अ, बृ० पा०)।
२ समीतीसु य तहेव य (बृ० पा०)।

१२—किरियासु भूयगामेसु
परमाहम्मिएसु य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

क्रियासु भूत-ग्रामेषु
परमाधार्मिकेषु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१२—जो भिक्षु तेरह क्रियाओं, चौदह जीव-समुदायों और पन्द्रह परमाधार्मिक देवों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता ।

१३—गाहासोलसएहिं
तहा अस्संजमम्मि य ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

गाथा-षोडशकेषु
तथाऽसंयमे च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१३—जो भिक्षु गाथा-षोडशक (सूत्रकृताग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययनों) और सत्रह प्रकार के असयम में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता ।

१४—बम्भम्मि नायज्झयणेसु
ठाणेसु यऽसमाहिए ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

ब्रह्मणि ज्ञाताध्ययनेषु
स्थानेषु चाऽसमाधेः ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१४—जो भिक्षु अठारह प्रकार के ब्रह्मचर्य, उन्नीस ज्ञात-अध्ययनों और बीस असमाधि-स्थानों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता ।

१५—एगवीसाए सबलेसु
बावीसाए परीसहे ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

एकविंशतौ शबलेषु
द्वाविंशतौ परीषहेषु ।
यो भिक्षुर्यतते नित्य
स न आस्ते मण्डले ॥

१५—जो भिक्षु इक्कीस प्रकार के सबल-दोषों और बाईस परीषहों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता ।

१६—तेवीसइ सूयगडे
रूवाहिएसु सुरेसु[1] अ ।
जे भिक्खू जयई निच्च
से न अच्छइ मण्डले ॥

त्रयोविंशतौ सूत्रकृतेषु
रूपाधिकेषु सुरेषु च ।
यो भिक्षुर्यतते नित्य
स न आस्ते मण्डले ॥

१६—जो भिक्षु सूत्रकृताग के तेईस अध्ययनों और चौबीस प्रकार के देवों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता ।

१७—पणवीसभावणाहिं[2]
उद्देसेसु दसाइण ।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पंचविंशति-भावनासु
उद्देशेषु दशादीनाम् ।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१७—जो भिक्षु पचीस भावनाओं और दशाश्रुतस्कध, व्यवहार और बृहत्कल्प के छब्बीस उद्देशों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नही रहता ।

---

१ देवेसु (बृ० पा०) ।
२. पणु° (अ) ।

१८—अणगारगुणेहिं च
पकप्पम्मि तहेव य[1]।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

अनगार-गुणेषु च
प्रकल्पे तथैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१८—जो भिक्षु साधु के सत्ताईस गुणों और अठाईस आचार-प्रकल्पों में सदा यत्न करता है, वह ससार में नही रहता।

१९—पावसुयपसगेसु
मोहट्ठाणेसु चेव य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

पाप-श्रुत-प्रसगेषु
मोह-स्थानेषु चैव च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

१९—जो भिक्षु उनतीस पाप-श्रुत प्रसगो और तीस मोह के स्थानो में सदा यत्न करता है, वह ससार में नही रहता।

२०—सिद्धाइगुणजोगेसु
तेत्तीसासायणासु[2] य।
जे भिक्खू जयई निच्चं
से न अच्छइ मण्डले ॥

सिद्धादिगुण-योगेषु
त्रयस्त्रिंशदाशातनासु च।
यो भिक्षुर्यतते नित्यं
स न आस्ते मण्डले ॥

२०—जो भिक्षु सिद्धों के इकतीस आदि गुणों, बत्तीस योग-सग्रहो तथा तेंतीस आशातनाओं में सदा यत्न करता है, वह ससार में नहीं रहता।

२१—इइ एएसु ठाणेसु
जे भिक्खू जयई सया।
खिप्पं से सव्वसंसारा
विप्पमुच्चइ पण्डिओ ॥
—त्ति बेमि।

इत्येतेषु स्थानेषु
यो भिक्षुर्यतते सदा।
क्षिप्रं स सर्व-संसाराद्
विप्रमुच्यते पण्डितः ॥
—इति ब्रवीमि।

२१—जो पण्डित भिक्षु इस प्रकार इन स्थानों में सदा यत्न करता है, वह शीघ्र ही समस्त ससार से मुक्त हो जाता है।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. उ (उ, ऋ०, बृ०)।
२ ०णाणि (अ)।

बत्तीसइमं अज्झयणं :
पमायट्ठाणं

द्वात्रिंश अध्ययन :
प्रमाद-स्थान

आमुख

इस अध्ययन मे प्रमाद के कारण तथा उनके निवारण के उपायों का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इसका नाम 'पमायट्ठाण'—'प्रमाद-स्थान' है। प्रमाद साधना का विघ्न है। उसका निवारण कर साधक जितेन्द्रिय बनता है। प्रमाद के प्रकारो का विभिन्न क्रमों में सकलन हुआ है .

१—प्रमाद के पाँच प्रकार[1]—

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा।

२—प्रमाद के छह प्रकार[2]—

मद्य, निद्रा, विषय, कषाय, द्यूत और प्रतिलेखना।

३—प्रमाद के आठ प्रकार[3]—

अज्ञान, सशय, मिथ्या-ज्ञान, राग, द्वेष, स्मृति-भ्रंश, धर्म मे अनादर, मन, वचन और काया का दुष्प्रणिधान।

मानसिक, वाचिक और कायिक--इन सभी दु:खों का मूल है विषयों की सतत आकांक्षा।

विषय आपात-भद्र (सेवन काल मे सुखद) होते हैं किन्तु उनका परिणाम विरस होता है। शास्त्रकारों ने उन्हें 'किंपाक फल' की उपमा से उपमित किया है। (श्लो० १९, २०)

आकाक्षा के मूल हैं—राग और द्वेष। वे ससार-भ्रमण के हेतु है। उनकी विद्यमानता में वीतरागता नहीं आती। वीतराग-भाव के बिना जितेन्द्रियता सम्पन्न नहीं होती।

जितेन्द्रियता का पहला साधन है—आहार-विवेक। साधक को प्रणीत आहार नहीं करना चाहिए। अति-मात्रा में भोजन नहीं करना चाहिए। बार-बार नही खाना चाहिए। प्रणीत या अति-मात्रा मे किया हुआ आहार उद्दीपन करता है, उससे वासनाएँ उभरती हैं और मन चचल हो जाता है।

इसी प्रकार एकातवास, अल्पभोजन, विषयों मे अननुरक्ति, दृष्टि-संयम, मन, वाणी और काया का सयम, चिन्तन की पवित्रता—ये भी जितेन्द्रिय बनने के साधन है।

प्रथम २१ श्लोको मे इन उपायों का विशद निरूपण हुआ है। पाँच इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होने से क्या-क्या दोष उत्पन्न होते है ? उनके उत्पादन, सरक्षण और व्यापरण से क्या-क्या दु.ख उत्पन्न होते है ?—इन प्रश्नों का स्पष्ट समाधान मिलता है।

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२०

२—स्थानांग ६, सूत्र ५०२ :

छव्विहे पमाए पण्णते—त जहा—मज्जपमाए, णिद्दापमाए, विसयपमाए, कसायपमाए, जूयपमाए, पडिलेहणापमाए।

३—प्रवचन सारोद्धार, द्वार २०७, गाथा ११२२, ११२३

पमाओ य मुणिदेहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाण ससओ चेव, मिच्छानाण तहेव य॥
रागो दोपो मइब्भसो, धम्मम्मि य अणायरो।
जोगाण दुप्पणीहाण, अट्ठहा वज्जियव्वओ॥

जब तक व्यक्ति इन सब उपायों को जान कर अपने आचरण में नहीं उतार लेता तब तक वह दुःखों के दारुण परिणामों से नहीं छूट सकता।

विषय अपने आप मे अच्छा या बुरा कुछ भी नही है। वह व्यक्ति के राग-द्वेष से सम्मिश्रित होकर अच्छा या बुरा बनता है। इन्द्रिय तथा मन के विषय वीतराग के लिए दु:ख के हेतु नहीं है, राग-ग्रस्त व्यक्ति के लिए वे परम दारुण परिणाम वाले हैं। इसलिए बन्धन और मुक्ति अपनी ही प्रवृत्ति पर अवलम्बित है।

जो साधक इन्द्रियों के विषयों के प्रति विरक्त है, उसे उनकी मनोज्ञता या अमनोज्ञता नहीं सताती। उसमें समता का विकास होता है। साम्य के विकास से काम-गुणों की तृष्णा का नाश हो जाता है और साधक उत्तरोत्तर गुणस्थानों में आरोह करता हुआ लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। (श्लो० १०६, १०७, १०८)

साधना की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। अप्रमाद ही साधना है। साधक को प्रतिपल अप्रमत्त या जागरूक रहना चाहिए। निर्युक्तिकार ने बताया है कि भगवान् ऋषभ साधना में प्राय: अप्रमत्त रहे। उनका साधना-काल हजार वर्ष का था। उसमें प्रमाद-काल एक दिन-रात का था। भगवान् महावीर ने बारह वर्ष और तेरह पक्ष तक साधना की। उसमें प्रमाद-काल एक अन्तर्मुहूर्त का था। दोनों तीर्थङ्करों के प्रमाद-काल को निर्युक्तिकार ने 'सकलित-काल' कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि एक दिन-रात और एक अन्तर्मुहूर्त का प्रमाद एक साथ नही हुआ था। किन्तु उनके साधना-काल में जो प्रमाद हुआ, उसे संकलित किया जाए तो वह एक दिन-रात और एक अन्तर्मुहूर्त का होता है।[1]

शान्त्याचार्य ने बताया है कि कुछ आचार्य अनुपपत्ति के भय से भगवान् ऋषभ और महावीर के प्रमाद को केवल निद्रा-प्रमाद मानते हैं।[2] किन्तु निर्युक्तिकार और शान्त्याचार्य का यह अभिमत नहीं है और वह सगत भी है। निर्युक्तिकार के निरूपण का उद्देश्य यह है कि जिस प्रकार भगवान् ऋषभ और महावीर अधिक से अधिक अप्रमत्त रहे हैं, उसी प्रकार सब श्रमण भी अधिक से अधिक अप्रमत्त रहे।

१—(क) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५२३, ५२४ :

वाससहस्स उग्ग, तवमाइगरस्स आयरतस्स।
जो किर पमायकालो, अहोरत्त तु सकलिअ॥
वारसवासे अहिए, तवं चरतस्स वद्धमाणस्स।
जो किर पमायकालो, अतमुहुत्त तु सकलिअ॥

(ख) बृहद्वृत्ति, पत्र ६२० :

किमयमेकावस्थाभाविन प्रमादस्य काल उतान्ययेत्याशङ्क्याह—सङ्कलित, किमुक्त भवति ?—अप्रमा [illegible]स्थानस्यान्तर्मौहूर्त्तिकत्वेनानेकशोऽपि प्रमादप्राप्तौ तदवस्थितिविषयभूतस्यान्तर्मुहूर्त्तस्याऽसङ्ख्येयभेदत्वात्तेषामतिसूक्ष्मतया सर्वकालसङ्कलनायामप्यहोरात्रमेवाभूत् तथा द्वादश वर्षाण्यधिकानि तपश्चरतो वर्द्धमानस्य य किल प्रमादकाल, प्राग्वत्सोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव सङ्कलित, इहाप्यन्तर्मुहूर्त्तानामसङ्ख्येयभेदत्वात्प्रमादस्थितिविषयान्तर्मुहूर्त्तानां सूक्ष्मत्व, सङ्कलनान्तर्मुहूर्त्तस्य च बृहत्तरत्वमिति भावनीयम्।

२—बृहद्वृत्ति, पत्र ६२० :

अन्ये त्वेतदनुपपत्तिभीत्या निद्राप्रमाद एवाय विवक्षित इति व्याचक्षत इति।

बत्तीसइमं अज्झयणं : द्वात्रिंश अध्ययन

पमायट्ठाणं : प्रमाद-स्थानम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अच्चन्तकालस्स समूलगस्स सव्वस्स दुक्खस्स उ जो पमोक्खो। त भासओ मे पडिपुण्णचित्ता सुणेह एगग्गहियं[1] हियत्थं ॥	अत्यन्त-कालस्य समूलकस्य सर्वस्य दु.खस्य तु य प्रमोक्ष. । तं भाषमाणस्य मे प्रतिपूर्ण-चित्ताः शृणुतैकाग्र्य-हित हितार्थम् ॥	१—अनादि-कालीन सब दु खों और उनके कारणों (कषाय आदि) के मोक्ष का जो उपाय है वह मैं कह रहा हूँ। वह ऐकाग्र्य-हित (ध्यान के लिए हितकर) है, अत. तुम प्रतिपूर्ण चित्त होकर हित (मोक्ष) के लिए सुनो ।
२—नाणस्स सव्वस्स[2] पगासणाए अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए । रागस्स दोसस्स य सखएण एगन्तसोक्ख समुवेइ मोक्ख ॥	ज्ञानस्य सर्वस्य प्रकाशनया अज्ञान-मोहस्य विवर्जनया । रागस्य दोषस्य च सक्षयेण एकान्त-सौख्य समुपैति मोक्षम् ॥	२—सम्पूर्ण ज्ञान का प्रकाश, अज्ञान और मोह का नाश तथा राग और द्वेष का क्षय होने से आत्मा एकान्त सुखमय मोक्ष को प्राप्त होता है ।
३—तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा विवज्जणा वालजणस्स दूरा । 'सज्झायएगन्तनिसेवणा य'[3] सुत्तत्थसचिन्तणया धिई य ॥	तस्यैष मार्गो गुरु-वृद्ध-सेवा विवर्जना वाल-जनस्य दूरात् । स्वाध्यायैकान्त-निषेवणा च सूत्रार्थ-सचिन्तना धृतिश्च ॥	३—गुरु और वृद्धों (स्थविर मुनियों) की सेवा करना, अज्ञानी-जनो का दूर से ही वर्जन करना, स्वाध्याय करना, एकान्तवास करना, सूत्र और अर्थ का चिन्तन करना तथा धैर्य रखना, यह मोक्ष का मार्ग है ।
४—आहारमिच्छे मियमेसणिज्ज सहायमिच्छे निउणत्थवुद्धिं[4] । निकेयमिच्छेज्ज विवेगजोग्ग समाहिकामे समणे तवस्सी ॥	आहारमिच्छेन्मितमेषणीय सहायमिच्छेन्निपुणार्थ-बुद्धिम् । निकेतमिच्छेद् विवेक-योग्य समाधिकामः श्रमणस्तपस्वी ॥	४—समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण परिमित और एषणीय आहार की इच्छा करे। जीव आदि पदार्थ के प्रति निपुण बुद्धि वाले गीतार्थ को सहायक बनाए और विविक्त (स्त्री, पशु, नपुसक से रहित) घर में रहे ।
५—न वा लभेज्जा निउण सहाय गुणाहिय वा गुणओ सम वा । एक्को वि पावाइ विवज्जयन्तो[5] विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥	न वा लभेत निपुणं सहाय गुणाधिक वा गुणत सम वा । एकोऽपि पापानि विवर्जयन् विहरेत् कामेष्वसजन् ॥	५—यदि अपने से अधिक गुणवान् या अपने समान निपुण सहायक न मिले तो वह पापों का वर्जन करता हुआ, विषयों में अनासक्त रह कर अकेला ही विहार करे ।

१. एगन्त° (बृ०पा०, छ०)।
२. सच्चस्स (बृ०पा०, छ०, आ)।
३. ° निसेवणाए (बृ०पा०), °निवेसणा य (बृ०)।
४. निउणेह° (बृ०पा०)।
५ अणायरन्तो (बृ०पा०)।

६—जहा य अण्डप्पभवा बलागा
अण्ड बलागप्पभव जहा य।
एमेव मोहाययण खु तण्ह[1]
मोहं च तण्हाययण वयन्ति॥

यथा चाण्ड-प्रभवा बलाका
अण्डं बलाका-प्रभवं यथा च।
एवमेव मोहायतनं खलु तृष्णां
मोहं च तृष्णायतन वदन्ति॥

६—जैसे बलाका अण्डे से उत्पन्न होती है और अण्डा बलाका से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तृष्णा मोह से उत्पन्न होती है और मोह तृष्णा से उत्पन्न होता है।

७—रागो य दोसो वि य कम्मबीय
कम्म च मोहप्पभव वयन्ति।
कम्म च जाईमरणस्स मूलं
दुक्ख च जाईमरण वयन्ति॥

रागश्च दोषोऽपि च कर्म-बीजं
कर्म च मोह-प्रभवं वदन्ति।
कर्म च जाति-मरणस्य मूल
दुःख च जाति-मरणं वदन्ति॥

७—राग और द्वेष कर्म के वीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है और वह जन्म-मरण का मूल है। जन्म-मरण को दु ख को मूल कहा गया है।

८—दुक्ख हय जस्स न होइ मोहो
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो
लोहो हओ जस्स न किंचणाइ[2]॥

दु खं हतं यस्य न भवति मोहो
मोहो हतो यस्य न भवति तृष्णा।
तृष्णा हता यस्य न भवति लोभः
लोभो हतो यस्य न किंचनानि॥

८—जिसके मोह नहीं है, उसने दु ख का नाश कर दिया। जिसके तृष्णा नही है, उसने मोह का नाश कर दिया। जिसके लोभ नहीं है, उसने तृष्णा का नाश कर दिया। जिसके पास कुछ नहीं है, उसने लोभ का नाश कर दिया।

९—राग च दोसं च तहेव मोहं
उद्धत्तुकामेण समूलजालं।
जे जे 'उवाया पडिवज्जियव्वा'[3]
ते कित्तइस्सामि अहाणुपुव्विं॥

रागं च दोषं च तथैव मोह
उद्धर्तुकामेन समूलजालम्।
ये ये उपायाः प्रतिपत्तव्याः
तान् कीर्तयिष्यामि यथानुपूर्वि॥

९—राग, द्वेष और मोह का समूल उन्मूलन चाहने वाले मुनि को जिन-जिन उपायों का आलम्बन लेना चाहिए उन्हें मैं क्रमश कहूँगा।

१०—रसा पगाम न निसेवियव्वा
पाय रसा दित्तिकरा[4] नराण।
दित्त च कामा समभिद्दवन्ति
दुम जहा साउफल व पक्खी॥

रसाः प्रकामं न निषेवितव्याः
प्रायो रसा दृप्तिकरा नराणाम्।
दृप्त च कामाः समभिद्रवन्ति
द्रुम यथा स्वादु फलमिव पक्षिण.॥

१०—रसो का प्रकाम (अधिक मात्रा में) सेवन नहीं करना चाहिए। वे प्राय मनुष्य की धातुओं को उद्दीप्त करते हैं। जिसकी धातुएँ उद्दीप्त होती है उसे काम-भोग सताते है, जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष को पक्षी।

११—जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे
समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो
न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई॥

यथा दवाग्निः प्रचुरेन्धने वने
स-मारुतो नोपशममुपैति।
एवमिन्द्रियाग्निरपि प्रकामभोजिनो
न ब्रह्मचारिणो हिताय कस्यचित्॥

११—जैसे पवन के झोकों के साथ प्रचुर इन्धन वाले वन में लगा हुआ दावानल उपशान्त नहीं होता, उसी प्रकार प्रकाम-भोजी (ठूस-ठूस कर खाने वाले) की इन्द्रियाग्नि (कामाग्नि) शान्त नहीं होती। इसलिए प्रकाम-भोजन किसी भी ब्रह्मचारी के लिए हितकर नही होता।

---

१. तण्हा (अ)।
२. किंचनत्थि (बृ० पा०)।
३. अपाया परि० (बृ० पा०)।
४ दित्तकरा (बृ० पा०)।

१२—विवित्तसेज्जासणजन्तियाण
ओमासणाण[1] दमिइन्दियाण।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं
पराइओ वाहिरिवोसहेहिं॥

विविक्त-शय्यासन-यन्त्रितानां
अवमाशनाना दमितेन्द्रियाणाम्।
न राग-शत्रु र्धर्षयति चित्तं
पराजितो व्याधिरिवौषधैः॥

१२—जो विविक्त-शय्या और आसन से नियन्त्रित होते हैं, जो कम खाते हैं और जितेन्द्रिय होते हैं, उनके चित्त को राग-शत्रु वैसे ही आक्रान्त नहीं कर सकता—जैसे औषध से पराजित रोग देह को।

१३—जहा विरालावसहस्स मूले
न मूसगाण वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे
न बम्भयारिस्स खमो निवासो॥

यथा बिडालावसथस्य मूले
न मूषकाणां वसतिः प्रशस्ता।
एवमेव स्त्री-निलयस्य मध्ये
न ब्रह्मचारिणः क्षमो निवासः॥

१३—जैसे बिल्ली की बस्ती के पास चूहों का रहना अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियों की बस्ती के पास ब्रह्मचारी का रहना अच्छा नहीं होता।

१४—न रूवलावण्णविलासहासं
न जंपियं इंगियपेहियं[2] वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता
दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

न रूप-लावण्य-विलास-हासं
न जल्पितमिंगितं वीक्षितं वा।
स्त्रीणां चित्ते निवेश्य
द्रष्टुं व्यवस्येत् श्रमणस्तपस्वी॥

१४—तपस्वी श्रमण स्त्रियों के रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मधुर आलाप, इङ्गित और चितवन को चित्त में रमा कर उन्हें देखने का संकल्प न करे।

१५—अदंसणं चेव अपत्थणं च
अचिन्तणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजोग्गं
हियं सया बम्भवए[3] रयाणं॥

अदर्शनं चैवाप्रार्थनं च
अचिन्तनं चैवाकीर्तनं च।
स्त्रीजनस्यार्यध्यान-योग्यं
हितं सदा ब्रह्मव्रतेरतानाम्॥

१५—जो सदा ब्रह्मचर्य में रत हैं, उनके लिए स्त्रियों को न देखना, न चाहना, न चिन्तन करना और न वर्णन करना हितकर है तथा धर्म-ध्यान के लिए उपयुक्त है।

१६—कामं तु देवीहि विभूसियाहिं
न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा
विवित्तवासो[4] मुणिणं[5] पसत्थो॥

कामं तु देवीभिर्विभूषिताभिः
न शकिताः क्षोभयितुं त्रिगुप्ताः।
तथाप्येकान्तहितमिति ज्ञात्वा
विविक्त-वासो मुनीनां प्रशस्तः॥

१६—यह ठीक है कि तीन गुप्तियों से गुप्त मुनियों को विभूषित देवियाँ भी विचलित नहीं कर सकतीं, फिर भी भगवान् ने एकान्त हित की दृष्टि से उनके विविक्त-वास को प्रशस्त कहा है।

१. ओमासणाए, ओमासणाई (बृ०, पा०)।
२ °पीहिय (बृ०, सु०)।
३. बंभचेरे (उ, बृ°पा०, ऋ०)।
४. °भावो (उ, ऋ०)।
५. मणिणो (अ)।

१७—मोक्खाभिकखिस्स वि माणवस्स
ससारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिस[1] दुत्तरमत्थि लोए
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥

मोक्षाभिकांक्षिणोपि मानवस्य
संसार-भीरोः स्थितस्यधर्मे ।
नैतादृश दुस्तरमस्ति लोके
यथा स्त्रियो बाल-मनोहराः ॥

१७—मोक्ष चाहने वाले ससार-भीरु एव धर्म में स्थित मनुष्य के लिए लोक में और कोई वस्तु ऐसी दुस्तर नही है, जैसी दुस्तर अज्ञानियों के मन को हरने वाली स्त्रियाँ है ।

१८—एए य सगे समइक्कमित्ता
सुहुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गगासमाणा ॥

एतांश्च सङ्गान् समतिक्रम्य
सुखोत्तराश्चैव भवन्ति शेषाः ।
यथा महासागरमुत्तीर्य
नदी भवेदपि गंगा-समाना ॥

१८—जो मनुष्य इन स्त्री-विषयक आसक्तियों का पार पा जाता है, उसके लिए शेष सारी आसक्तियाँ वैसे ही सुतर (सुख से पार पाने योग्य) हो जाती हैं जैसे महासागर का पार पाने वाले के लिए गगा जैसी बडी नदी ।

१९—कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
ज काइय माणसिय च किंचि
तस्सऽन्तग गच्छइ वीयरागो ॥

कामानुगृद्धि-प्रभवं खलु दुःखं
सर्वस्य लोकस्य सदेवकस्य ।
यत्कायिकं मानसिकं च किंचित्
तस्यान्तकं गच्छति वीतरागः ॥

१९—सब जीवो के, और क्या देवताओं के भी जो कुछ कायिक और मानसिक दुःख है, वह काम-भोगों की सतत अभिलाषा से उत्पन्न होता है। वीतराग उस दुःख का अन्त पा जाता है ।

२०—जहा य किंपागफला मणोरमा
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
'ते खुड्डए जीविय'[2] पच्चमाणा
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

यथा च किम्पाक-फलानि मनोरमाणि
रसेन वर्णेन च भुज्यमानानि ।
तानि क्षुद्रके जीविते पच्यमानानि
एतदुपमाः काम-गुणाविपाके ॥

२०—जैसे किंपाक फल खाने के समय रस और वर्ण से मनोरम होते हैं और परिपाक के समय क्षुद्र-जीवन का अन्त कर देते हैं, काम-गुण भी विपाक काल में ऐसे ही होते हैं।

२१—जे इन्दियाण विसया मणुन्ना
न तेसु[3] भाव निसिरे कयाइ ।
न याऽमणुन्नेसु मण पि[4] कुज्जा
समाहिकामे समणे तवस्सी ॥

ये इन्द्रियाणां विषया मनोज्ञाः
न तेषु भावं निसृजेत् कदापि ।
न चामनोज्ञेषु मनोऽपि कुर्यात्
समाधि-कामः श्रमणस्तपस्वी ॥

२१—समाधि चाहने वाला तपस्वी श्रमण इन्द्रियो के जो मनोज्ञ विषय हैं उनकी ओर भी मन न करे—राग न करे और जो अमनोज्ञ विषय है उनकी ओर भी मन न करे—द्वेष न करे ।

---

१. न तारिस (आ, इ, उ, ऋ०)।
२. ते जीविय खुदए (अ); ते जीविय खुदति (बृ० पा०); ते खुद्दए जीवियं (चू०)।
३. तेसि (अ)।
४ तु (अ)।

२२—चक्खुस्स रूव गहण वयन्ति
त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

चक्षुषो रूप ग्रहण वदन्ति
तद् राग-हेतु तु मनोज्ञमाहुः।
तद् दोष हेतु अमनोज्ञमाहु.
समश्च यस्तयोः स वीतरागः ॥

२२—चक्षु का विषय रूप है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेप का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूपो में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

२३—रूवस्स चक्खु गहण वयन्ति
चक्खुस्स रूव गहण वयन्ति।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु[1]
दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु[2] ॥

रूपस्य चक्षुर्ग्रहण वदन्ति
चक्षुषो रूप ग्रहण वदन्ति।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहु
दोषस्य हेतु अमनोज्ञमाहुः ॥

२३—चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप चक्षु का ग्राह्य है। जो रूप राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है, जो द्वेप का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

२४—रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व[3]
अकालिय पावइ से विणास[4]।
रागाउरे से जह वा पयगे
आलोयलोले समुवेइ मच्चु ॥

रूपेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रा
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर. स यथा वा पतङ्गः
आलोक-लोलः समुपैति मृत्युम् ॥

२४—जो मनोज्ञ रूपो में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे प्रकाश-लोलुप पतगा रूप में आसक्त होकर मृत्यु को प्राप्त होता है।

२५—जे यावि दोस समुवेइ तिव्व[5]
तसि क्खणे से उ 'उवेइ दुक्ख'[6]।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि रूव अवरज्झई से ॥

यश्चापि दोष समुपैति तीव्र
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचिद्रूपमपराध्यति तस्य ॥

२५—जो मनोज्ञ रूपों में तीव्र द्वेप करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है। रूप उसका कोई अपराध नहीं करता।

२६—एगन्तरत्ते[7] रुइरसि रूवे
अतालिसे से कुणई पओस।
दुक्खस्स सपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रूपे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बाल·
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः ॥

२६—जो मनोहर रूप में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर रूप में द्वेप करता है, वह अज्ञानी दु खात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नही होता।

१. तमणुण्णमाहु (बृ० पा०)।
२ तऽमणुण्णमाहु (बृ०पा०)।
३ निच्च (अ)।
४ किलेस (बृ० पा०)।
५ निच्च (वृ०, अ)।
६ समुवेंति सव्व (बृ० पा०)।
७ ०रत्तो (अ)।

२७—रूवाणुगासाणुगए[1] य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

रूपानुगाशानुगतश्च जीवान्
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान् ।
चित्रैस्तान्परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः ॥

२७—मनोज्ञ रूप की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

२८—रूवाणुवाएण[2] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे[3] ।
वए विओगे य कहिं सुह से ?
सभोगकाले य अतित्तिलाभे[4] ॥

रूपानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य ?
सम्भोग-काले चातृप्ति-लाभः ॥

२८—रूप में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सब में उसे सुख कहाँ है ? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नही मिलती।

२९—रूवे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं ।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं ॥

रूपेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोवैति तुष्टिम् ।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥

२९—जो रूप में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नही मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दु खी और लोभग्रस्त होकर दूसरों की रूपवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

३०—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रूवे अतित्तस्स परिग्गहे य ।
मायामुस वड्ढइ लोभदोसा
तत्थाऽवि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
रूपेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया-मृषा वर्द्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥

३०—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रूप-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दु ख से मुक्त नही होता।

३१—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते ।
एव अदत्ताणि समाययन्तो
रूवे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददानः
रूपेऽतृप्तो दु खितोऽनिश्र. ॥

३१—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दु खी होता है। उसका पर्यवसान भी दु.खमय होता है। इस प्रकार वह रूप में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ, दु खी और आश्रय-हीन हो जाता है।

---

१ °वायाणुगए (वृ० पा०)।
२ °वाए य (अ), °रागेण (वृ० पा०), °वाए ण (इ०)।
३ °तन्निओगे (उ)।
४ अतित्त° (वृ०), अतित्ति° (वृ० पा०)।

३२—रूवाणुरत्तस्स नरस्स एव
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि? ।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्ख
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्ख ॥

रूपानुरक्तस्य नरस्यैव
कुतः सुख भवेत्कदापि किंचित् ? ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःख
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥

३२—रूप में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् मुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुख (अतृप्ति का दुख) बना रहता है ।

३३—एमेव रूवम्मि गओ पओस
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्म
ज से पुणो होइ दुह विवागे ॥

एवमेव रूपे गतः प्रदोष
उपैति दुःखौघ-परम्पराः ।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुख विपाके ॥

३३—इसी प्रकार जो रूप में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुखों को प्राप्त होता है । प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बंध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है ।

३४—रूवे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलास ॥

रूपे विरक्तो मनुजो विशोक.
एतेन दुखौघ-परम्परेण ।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम् ॥

३४—रूप से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है । जैसे कमलिनी का पत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह ससार में रह कर अनेक दुखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता ।

३५—सोयस्स सद्दं गहणं वयन्ति
त रागहेउं तु मणुन्नमाहु ।
त दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

श्रोत्रस्य शब्दं ग्रहण वदन्ति
तं राग-हेतु तु मनोज्ञमाहुः ।
त दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः ॥

३५—श्रोत्र का विषय शब्द है । जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है । जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है । जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ शब्दों में समान रहता है, वह वीतराग होता है ।

३६—सद्दस्स सोय गहण वयन्ति
सोयस्स सद्द गहण वयन्ति ।
रागस्स हेउ समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउ अमणुन्नमाहु ॥

शब्दस्य श्रोत्र ग्रहण वदन्ति
श्रोत्रस्य शब्द ग्रहण वदन्ति ।
रागस्य हेतु समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहु ॥

३६—श्रोत्र शब्द का ग्रहण करता है । शब्द श्रोत्र का ग्राह्य है । जो शब्द राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है । जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है ।

३७—सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व[2]
अकालियं पावइ से विणास ।
रागाउरे हरिणमिगे व[3] मुद्धे[4]
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चु ॥

शब्देषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम् ।
रागातुरः हरिण-मृग इव मुग्धः
शब्दे अतृप्तः समुपैति मृत्युम् ॥

३७—जो मनोज्ञ शब्दों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है । जैसे—शब्द में अतृप्त बना हुआ रागातुर मुग्ध हरिण नामक पशु मृत्यु को प्राप्त होता है ।

---

१. उ (अ) ।
२. निच्च (अ) ।
३ व्व (उ, ऋ०) ।
४. बुद्धे (अ) ।

३८—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[1]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि सद्दं अवरज्झई से॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचिच्छब्दोऽपराध्यति तस्य॥

३८—जो मनोज्ञ शब्द में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है, शब्द उसका कोई अपराध नहीं करता।

३९—एगन्तरत्ते रुइरंसि सद्दे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे शब्दे
अतादृशे स कुरुते प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

३९—जो मनोहर शब्द में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर शब्द में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नही होता।

४०—सद्दाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परियावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

शब्दानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरु क्लिष्टः॥

४०—मनोहर शब्द की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला व क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार से उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

४१—सद्दाणुवाएण[2] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[3]॥

शब्दानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चाऽतृप्ति-लाभः॥

४१—शब्द में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है, इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

४२—सद्दे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

शब्देऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम्॥

४२—जो शब्द में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सतुष्टि नही मिलती। वह असतुष्टि के दोष से दुखी और लोभग्रस्त होकर दूसरे की शब्दवान् वस्तुएं चुरा लेता है।

४३—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्त-हारिणः
शब्देऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

४३—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और शब्द परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नही होता।

---

१ निच्चं (अ, वृ०)।
२ °वाए य (अ), रागेण (वृ० पा०), वाए ण (उ०)।
३. अतित्त (वृ०), अतित्ति (वृ० पा०)।

४४—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य पओगकाले य दुही दुरन्ते। एवं अदत्ताणि समाययन्तो सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥	मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः। एवमदत्तानि समाददानः शब्दे अतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥	४४—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह शब्द में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ, दुःखी और आश्रय हीन हो जाता है।
४५—सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?। तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥	शब्दानुरक्तस्य नरस्यैवं कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?। तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्॥	४५—शब्द में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।
४६—एमेव सद्दम्मि गओ पओसं उवेइ दुक्खोहपरंपराओ। पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥	एवमेव शब्दे गतः प्रदोषं उपैति दुःखौघ-परम्पराः। प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥	४६—इसी प्रकार जो शब्द में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्तवाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।
४७—सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो[2] एएण दुक्खोहपरंपरेण। न लिप्पए भवमज्झे वि सन्तो जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥	शब्दो विरक्तो मनुजो विशोकः एतेन दुःखौघ-परम्परेण। न लिप्यते भवमध्येऽपि सन् जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥	४७—शब्द से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।
४८—घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु। तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥	घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः। तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः समश्च यस्तेषु स वीतरागः॥	४८—घ्राण का विषय गन्ध है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्धों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।
४९—गन्धस्स घाणं गहणं वयन्ति घाणस्स गन्धं गहणं वयन्ति। रागस्स हेउं समणुन्नमाहु दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥	गन्धस्य घ्राणं ग्रहणं वदन्ति घ्राणस्य गन्धं ग्रहणं वदन्ति। रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥	४९—घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है। गन्ध घ्राण का ग्राह्य है। जो गन्ध राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

१. उ (अ)।
२. असोगो (अ)।

५०—गन्धेसु[1] जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[2]
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगन्धगिद्धे
सप्पे बिलाओ विव निक्खमन्ते॥

गन्धेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुर औषधि-गन्ध-गृद्धः
सर्पो बिलादिव निष्क्रामन्॥

५०—जो मनोज्ञ गन्ध में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे नाग-दमनी आदि औषधियों के गन्ध में गृद्ध बिल से निकलता हुआ रागातुर सर्प।

५१—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[3]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि गन्धं अवरज्झई से॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन् क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तु
न किंचिद् गन्धोऽपराध्यति तस्य॥

५१—जो अमनोज्ञ गन्ध में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। गन्ध उसका कोई अपराध नहीं करता।

५२—एगन्तरत्ते रुइरंसि गन्धे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे गन्धे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बाल
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

५२—जो मनोहर गन्ध में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर गन्ध में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

५३—गन्धाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

गन्धानुगाशानुगतश्च जीव
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरु क्लिष्टः॥

५३—मनोज्ञ गन्ध की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

५४—गन्धाणुवाएण[4] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[5]॥

गन्धानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चाऽतृप्ति-लाभः॥

५४—गन्ध में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य, उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

---

१. गंधस्स (अ, बृ०)।
२. निच्चं (अ)।
३. निच्चं (बृ०, अ)।
४. °वाए य (अ); °रागेण (बृ० पा०); °वाए ण (बृ०)।
५. अतित्त° (बृ०), अतित्ति° (बृ० पा०)।

५५—गन्धे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

गन्धेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्ते ऽदत्तम्॥

५५—जो गन्ध में अतृप्त होता है, उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सतुष्टि नहीं मिलती। वह असतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की गन्धवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

५६—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
गन्धे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्त-हारिण
गन्धेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

५६—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और गन्ध-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

५७—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
गन्धे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
गन्धेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

५७—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह गन्ध से अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

५८—गन्धाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

गन्धानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत्कदापि किंचित्?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्तयति यस्य कृते दुःखम्॥

५८—गन्ध में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

५९—एमेव गन्धम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

एवमेव गन्धे गतः प्रदोषं
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

५९—इसी प्रकार जो गन्ध में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। प्रद्वेषयुक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

६०—गन्धे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

गन्धे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥

६०—गन्ध से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रहकर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

---

१. उ (अ)।

६१—जिहाए रसं गहणं वयन्ति
त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो॥

जिह्वायाः रसं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः॥

६१—रसना का विषय रस है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रसों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

६२—रसस्स जिब्भं[1] गहणं वयन्ति
जिब्भाए रस गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

रसस्य जिह्वां ग्रहणं वदन्ति
जिह्वाया रसं ग्रहण वदन्ति।
रागस्य हतुं समनोज्ञमाहु
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥

६२—रसना रस का ग्रहण करती है। रस रसना का ग्राह्य है। जो रस राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

६३—रसेसु[2] जो गिद्धिमुवेइ तिव्व[3]
अकालिय पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे[4]॥

रसेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरो बडिश-विभिन्न-कायः
मत्स्यो यथाऽमिष-भोग-गृद्धः॥

६३—जो मनोज्ञ रसो में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे मास खाने में गृद्ध बना हुआ रागातुर मत्स्य काँटे से बींधा जाता है।

६४—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्व[5]
तसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
'रस न किंचि'[6]अवरज्झई से॥

यश्चापि दोषं समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
रसो न किंचिदऽपराध्यति तस्य॥

६४—जो मनोज्ञ रस में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दु ख को प्राप्त होता है। रस उसका कोई अपराध नहीं करता।

६५—एगन्तरत्ते रुइरे रसम्मि
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे रसे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

६५—जो मनोहर रस में एकान्त अनुरक्त रहता है और अमनोहर रस में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दु खात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नही होता।

---

१. जीहा (उ, ऋ०)।
२. रसस्स (अ, ऋ०)।
३. निच्च (अ)।
४. 'लोभगिद्धे (अ)।
५. निच्चं (बृ०, अ)।
६ न किंचि रस्स (अ)।

६६—रसाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे ।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

रसानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान् ।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरु क्लिष्टः ॥

६६—मनोहर रस की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

६७—रसाणुवाएण[1] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे ।
वए विओगे य कहिं सुह से ?
सभोगकाले य अतित्तिलाभे[2] ॥

रसानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे ।
व्यये वियोगे च क्व सुख तस्य ?
सम्भोग-काले चाऽतृप्ति-लाभः ॥

६७—रस में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है ? और क्या उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

६८—रसे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्त ॥

रसेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम् ।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम् ॥

६८—जो रस में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सतुष्टि नहीं मिलती। वह असतुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की रसवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

६९—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
रसे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से ॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
रसेऽतृप्तस्य परिग्रहे च ।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः ॥

६९—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और रस-परिग्रह में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

७०—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एव अदत्ताणि समाययन्तो
रसे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो ॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः ।
एवमदत्तानि समाददान
रसेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः ॥

७०—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह रस में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रय-हीन हो जाता है।

७१—रसाणुरत्तस्स नरस्स एव
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि ?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्ख
निव्वत्तई जस्स कए ण दुक्ख ?॥

रसानुरक्तस्य नरस्यैव
कुतः सुख भवेत् कदापि किंचित् ? ।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम् ॥

७१—रस में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा ? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

---

१ ०वाए य (अ); °रागेण (बृ० पा०), °वाए ण (बृ०)।
२. अतित्त° (बृ०), अतित्ति° (बृ० पा०)।

७२—एमेव रसम्मि गओ पओस
उवेइ दुक्खोहपरपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्म
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

एवमेव रसे गतः प्रदोषम्
उपैति दुःखौघ-परम्परा।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

७२—इसी प्रकार जो रस में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दु खो को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दु ख का हेतु बनता है।

७३—रसे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

रसे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥

७३—रस से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है, जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नही होता, वैसे ही वह ससार में रह कर अनेक दु खों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

७४—कायस्स फास गहण वयन्ति
त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउ अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वोयरागो॥

कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति
त राग-हेतु तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहु·
समश्च यस्तेषु सवीतरागः॥

७४—काय का विषय स्पर्श है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्शों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

७५—फासस्स काय गहण वयन्ति
कायस्स फास गहण वयन्ति।
'रागस्स हेउ समणुन्नमाहु'[2]
'दोसस्स हेउ'[3] अमणुन्नमाहु॥

स्पर्शस्य कायं ग्रहणं वदन्ति
कायस्य स्पर्शं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥

७५—काय स्पर्श का ग्रहण करता है। स्पर्श काय का ग्राह्य है। जो स्पर्श राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

७६—फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्व[4]
अकालियं पावइ से विणास।
रागाउरे सीयजलावसन्ने
गाहग्गहीए महिसे व ऽरन्ने॥

स्पर्शेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिक प्राप्नोति स विनाशम्।
रागातुरः शीतजलावसन्न
ग्राह-गृहीतो महिष इवारण्ये॥

७६—जो मनोज्ञ स्पर्शों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है। जैसे घडियाल के द्वारा पकडा हुआ, अरण्य-जलाशय के शीतल जल के स्पर्श में मग्न बना रागातुर भैंसा।

---

१ उ (अ)।
२ त राग हेउं तु मणुन्नमाहु (अ)।
३ त दोस हेउस्स (अ)।
४ निच्च (अ)।

७७—जे यावि दोस समुवेइ तिव्व[1]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्ख।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि फास अवरज्झई से॥

यश्चापि दोष समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तृपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचित्स्पर्शोऽपराध्यति तस्य॥

७७—जो अमनोज्ञ स्पर्श में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। स्पर्श उसका कोई अपराध नहीं करता।

७८—एगन्तरत्ते रुइरंसि फासे
अतालिसे से कुणई पओस।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो॥

एकान्तरक्तो रुचिरे स्पर्शे
अतादृशे स करोति प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विरागः॥

७८—जो मनोहर स्पर्श में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर स्पर्श से द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीड़ा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

७९—फासाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे॥

स्पर्शानुगाशानुगतश्च जीवः
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरुः क्लिष्टः॥

७९—मनोहर स्पर्श की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीड़ित करता है।

८०—फासाणुवाएण[2] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुह से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[3]॥

स्पर्शानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चातृप्ति-लाभः॥

८०—स्पर्श में अनुराग और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उनका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

८१—फासे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

स्पर्शेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम्॥

८१—जो स्पर्श में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे संतुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की स्पर्शवान् वस्तुएँ चुरा लेता है।

८२—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
फासे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
स्पर्शेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

८२—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और स्पर्श-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

१. निच्च (वृ०, अ)।
२. °वाए य (अ), °रागेण (वृ० पा०), °वाए ण (उ०)।
३. अतित्त° (वृ०), अनित्ति° (वृ० पा०)।

८३—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एव अदत्ताणि समाययन्तो
फासे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददान.
स्पर्शेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

८३—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दु खी होता है। उसका पर्यवसान भी दु खमय होता है। इस प्रकार वह स्पर्श में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दु खी और आश्रयहीन हो जाता है।

८४—फासाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

स्पर्शानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुख भवेत् कदापि किंचित्?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्त्तयति यस्य कृते दु खम्॥

८४—स्पर्श में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दु ख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दु ख (अतृप्ति का दु ख) बना रहता है।

८५—एमेव फासम्मि गओ पओस
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
ज से पुणो होइ दुह विवागे॥

एवमेव स्पर्शे गतः प्रदोषम्
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

८५—इसी प्रकार जो स्पर्श में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दु खों को प्राप्त होता है। प्रद्वेष युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है। वही परिणाम-काल में उसके लिए दु ख का हेतु बनता है।

८६—फासे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

स्पर्शे विरक्तो मनुजो विशोकः
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्॥

८६—स्पर्श से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह ससार में रह कर अनेक दु खो की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

८७—मणस्स भाव गहण वयन्ति
त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु
समो य जो तेसु स वीयरागो॥

मनसो भावं ग्रहणं वदन्ति
तं राग-हेतुं तु मनोज्ञमाहुः।
तं दोष-हेतुममनोज्ञमाहुः
समश्च यस्तेषु स वीतरागः॥

८७—मन का विषय भाव (अभिप्राय) है। जो भाव राग का हेतु होता है, उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है, उसे अमनोज्ञ कहा जाता है। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ भावों में समान रहता है, वह वीतराग होता है।

८८—भावस्स मणं गहणं वयन्ति
मणस्स भाव गहणं वयन्ति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु
दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥

भावस्य मनो ग्रहणं वदन्ति
मनसः भावं ग्रहणं वदन्ति।
रागस्य हेतुं समनोज्ञमाहुः
दोषस्य हेतुममनोज्ञमाहुः॥

८८—मन भाव का ग्रहण करता है। भाव मन का ग्राह्य है। जो भाव राग का हेतु होता है उसे मनोज्ञ कहा जाता है। जो द्वेष का हेतु होता है उसे अमनोज्ञ कहा जाता है।

---
१ उ (अ)।

८९—भावेसु[1] जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं[2]
अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे
करेणुमग्गावहिए 'व नागे'[3] ॥

भावेषु यो गृद्धिमुपैति तीव्रां
अकालिकं प्राप्नोति विनाशम्।
रागातुर काम-गुणेषु गृद्ध
करेणुमार्गापहृत इव नागः ॥

८९—जो मनोज्ञ भावों में तीव्र आसक्ति करता है, वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है, जैसे हथिनी के पथ में आकृष्ट काम-गुणों में गृद्ध बना हुआ हाथी।

९०—जे यावि दोसं समुवेइ तिव्वं[4]
तंसि क्खणे से उ उवेइ दुक्खं।
दुद्दन्तदोसेण सएण जन्तू
न किंचि भावं अवरज्झई से ॥

यश्चापि दोष समुपैति तीव्रं
तस्मिन्क्षणे स तूपैति दुःखम्।
दुर्दान्त-दोषेण स्वकेन जन्तुः
न किंचिद्भावोऽपराध्यति तस्य।

९०—जो मनोज्ञ भाव में तीव्र द्वेष करता है, वह अपने दुर्दम दोष से उसी क्षण दुःख को प्राप्त होता है। भाव उसका कोई अपराध नहीं करता।

९१—एगन्तरत्ते रुइरंसि भावे
अतालिसे से कुणई पओसं।
दुक्खस्स संपीलमुवेइ बाले
न लिप्पई तेण मुणी विरागो ॥

एकान्तरक्तो रुचिरे भावे
अतादृशे स कुरुते प्रदोषम्।
दुःखस्य सम्पीडामुपैति बालः
न लिप्यते तेन मुनिर्विराग ॥

९१—जो मनोहर भाव में एकान्त अनुरक्त होता है और अमनोहर भाव में द्वेष करता है, वह अज्ञानी दुःखात्मक पीडा को प्राप्त होता है। इसलिए विरक्त मुनि उनमें लिप्त नहीं होता।

९२—भावाणुगासाणुगए य जीवे
चराचरे हिंसइ ऽणेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले
पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥

भावानुगाशानुगतश्च जीव,
चराचरान् हिनस्त्यनेक-रूपान्।
चित्रैस्तान् परितापयति बालः
पीडयत्यात्मार्थ-गुरु क्लिष्ट ॥

९२—मनोहर भाव की अभिलाषा के पीछे चलने वाला पुरुष अनेक प्रकार के त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा करता है। अपने प्रयोजन को प्रधान मानने वाला वह क्लेश-युक्त अज्ञानी पुरुष नाना प्रकार के उन चराचर जीवों को परितप्त और पीडित करता है।

९३—भावाणुवाएण[5] परिग्गहेण
उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहिं सुहं से?
संभोगकाले य अतित्तिलाभे[6] ॥

भावानुपातेन परिग्रहेण
उत्पादने रक्षण-सन्नियोगे।
व्यये वियोगे च क्व सुखं तस्य?
सम्भोग-काले चाऽतृप्ति-लाभ ॥

९३—भाव में अनुरक्त और ममत्व का भाव होने के कारण मनुष्य उसका उत्पादन, रक्षण और व्यापार करता है। उसका व्यय और वियोग होता है। इन सबमें उसे सुख कहाँ है? और क्या, उसके उपभोग-काल में भी उसे तृप्ति नहीं मिलती।

---

१ मणेण (अ), भावस्स (वृ०)।
२. निच्च (अ)।
३. गए व्व (अ)।
४ निच्च (वृ०, अ)।
५ °वाए य (अ), °रागेण (वृ० पा०), °वाए ण (छ०)।
६ अतित्त° (वृ०), अतित्ति° (वृ० पा०)।

९४—भावे अतित्ते य परिग्गहे य
सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स
लोभाविले आययई अदत्तं॥

भावेऽतृप्तश्च परिग्रहे च
सक्तोपसक्तो नोपैति तुष्टिम्।
अतुष्टि-दोषेण दुःखी परस्य
लोभाविल आदत्तेऽदत्तम्॥

९४—जो भाव में अतृप्त होता है और उसके परिग्रहण में आसक्त-उपसक्त होता है, उसे सन्तुष्टि नहीं मिलती। वह असन्तुष्टि के दोष से दुःखी और लोभ-ग्रस्त होकर दूसरे की वस्तुएँ चुरा लेता है।

९५—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो
भावे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा
तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥

तृष्णाभिभूतस्याऽदत्तहारिणः
भावेऽतृप्तस्य परिग्रहे च।
माया-मृषा वर्धते लोभ-दोषात्
तत्रापि दुःखान्न विमुच्यते सः॥

९५—वह तृष्णा से पराजित होकर चोरी करता है और भाव-परिग्रहण में अतृप्त होता है। अतृप्ति-दोष के कारण उसके माया-मृषा की वृद्धि होती है। माया-मृषा का प्रयोग करने पर भी वह दुःख से मुक्त नहीं होता।

९६—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य
पओगकाले य दुही दुरन्ते।
एवं अदत्ताणि समाययन्तो
भावे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥

मृषा पश्चाच्च पुरस्ताच्च
प्रयोग-काले च दुःखी दुरन्तः।
एवमदत्तानि समाददानः
भावेऽतृप्तो दुःखितोऽनिश्रः॥

९६—असत्य बोलने के पश्चात्, पहले और बोलते समय वह दुःखी होता है। उसका पर्यवसान भी दुःखमय होता है। इस प्रकार वह भाव में अतृप्त होकर चोरी करता हुआ दुःखी और आश्रयहीन हो जाता है।

९७—भावाणुरत्तस्स नरस्स एवं
कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि?।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं
निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥

भावानुरक्तस्य नरस्यैवं
कुतः सुखं भवेत् कदापि किंचित्?।
तत्रोपभोगेऽपि क्लेश-दुःखं
निर्वर्त्तयति यस्य कृते दुःखम्॥

९७—भाव में अनुरक्त पुरुष को उक्त कथनानुसार कदाचित् किंचित् सुख भी कहाँ से होगा? जिस उपभोग के लिए वह दुःख प्राप्त करता है, उस उपभोग में भी क्लेश-दुःख (अतृप्ति का दुःख) बना रहता है।

९८—एमेव भावम्मि गओ पओसं
उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य[1] चिणाइ कम्मं
जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥

एवमेव भावे गतः प्रदोषम्
उपैति दुःखौघ-परम्पराः।
प्रदुष्ट-चित्तश्च चिनोति कर्म
यत्तस्य पुनर्भवति दुःखं विपाके॥

९८—इसी प्रकार जो भाव में द्वेष रखता है, वह उत्तरोत्तर अनेक दुःखो को प्राप्त होता है। प्रद्वेष-युक्त चित्त वाला व्यक्ति कर्म का बन्ध करता है, वही परिणाम-काल में उसके लिए दुःख का हेतु बनता है।

९९—भावे विरत्तो मणुओ विसोगो
एएण दुक्खोहपरंपरेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि सन्तो
जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥

भावे विरक्तो मनुजो विशोक
एतेन दुःखौघ-परम्परेण।
न लिप्यते भवमध्येऽपि सन्
जलेनेव पुष्करिणी-पलाशम्।

९९—भाव से विरक्त मनुष्य शोक-मुक्त बन जाता है। जैसे कमलिनी का पत्र जल में लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह संसार में रह कर अनेक दुःखों की परम्परा से लिप्त नहीं होता।

1. उ (अ)।

१००—एविन्दियत्था य मणस्स अत्था
दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं
न वीयरागस्स करेन्ति किंचि॥

एवमिन्द्रियार्थाश्च मनसोऽर्थाः
दुःखस्य हेतवो मनुजस्य रागिणः।
ते चैव स्तोकमपि कदापि दुःखं
न वीतरागस्य कुर्वन्ति किंचित्॥

१००—इस प्रकार इन्द्रिय और मन के विषय रागी मनुष्य के लिए दुःख के हेतु होते हैं। वे वीतराग के लिए कभी किंचित् भी दुःखदायी नहीं होते।

१०१—न कामभोगा समयं उवेन्ति
न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य
सो तेसु मोहा विगइं उवेइ॥

न काम-भोगाः समतामुपयन्ति
न चापि भोगा विकृतिमुपयन्ति।
यस्तत्प्रदोषी च परिग्रही च
स तेषु मोहाद् विकृतिमुपैति॥

१०१—काम-भोग समता के हेतु भी नहीं होते और विकार के हेतु भी नहीं होते। जो पुरुष उनके प्रति द्वेष या राग करता है, वह तद्विषयक मोह के कारण विकार को प्राप्त होता है।

१०२—कोहं च माणं च तहेव मायं
लोहं दुगुंछं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं
नपुंसवेयं विविहे य भावे॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां
लोभं जुगुप्सामरतिं रतिं च।
हासं भयं शोक-पुंस्त्री-वेदं
नपुंसक-वेदं विविधांश्च भावान्॥

१०२—जो काम-गुणों में आसक्त होता है, वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुष-वेद, स्त्री-वेद, नपुंसक-वेद तथा हर्ष, विषाद आदि विविध भाव—

१०३—आवज्जई एवमणेगरूवे
एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे
कारुण्णदीणे हिरिमे वइस्से॥

आपद्यते एवमनेक-रूपान्
एवं विधान् काम-गुणेषु सक्तः।
अन्यांश्चैतत्प्रभवान् विशेषान्
कारुण्य-दीनो ह्रीमान् द्वेष्यः॥

१०३—इस प्रकार अनेक प्रकार के विकारों को और उनसे उत्पन्न अन्य परिणामों को प्राप्त होता है और वह करुणास्पद, दीन, लज्जित और अप्रिय बन जाता है।

१०४—कप्पं न इच्छिज्ज सहायलिच्छू
पच्छाणुतावेय[1] तवप्पभावं।
एवं वियारे अमियप्पयारे
आवज्जई इन्दियचोरवस्से॥

कल्पं नेच्छेत्सहाय-लिप्सुः
पश्चादनुतापेन तपः प्रभावम्।
एवं विकारानमित-प्रकारान्
आपद्यते इन्द्रिय चोर-वश्यः॥

१०४—'यह मेरी शारीरिक सेवा करेगा'—इस लिप्सा से कल्प (योग्य शिष्य) की भी इच्छा न करे। साधु बनकर मैंने कितना कष्ट स्वीकार किया—इस प्रकार अनुतप्त व भोग-स्पृहयालु होकर तप के फल की इच्छा न करे। जो ऐसी इच्छा करता है वह इन्द्रियरूपी चोरों का वशवर्ती बना हुआ अपरिमित प्रकार के विकारों को प्राप्त होता है।

१०५—तओ से जायन्ति पओयणाइं
निमज्जिउं मोहमहण्णवम्मि।
सुहेसिणो दुक्खविणोयणट्ठा[2]
तप्पच्चयं[3] उज्जमए य रागी॥

ततस्तस्य जायन्ते प्रयोजनानि
निमज्जितुं मोह-महार्णवे।
सुखैषिणो दुःख-विनोदनार्थं
तत्प्रत्ययमुद्यच्छति च रागी॥

१०५—विकारों की प्राप्ति के पश्चात् उसके समक्ष उसे मोह-महार्णव में डुबोने वाले विषय-सेवन के प्रयोजन उपस्थित होते हैं। फिर वह सुख की प्राप्ति और दुःख के विनाश के लिए अनुरक्त बनकर उन प्रयोजनों की पूर्ति के लिए उद्यम करता है।

---

१. पच्छाणुतावेण (छ०)।
२. दुक्ख विमोयणाय (वृ० पा०)।
३. तप्पचया (वृ० पा०)।

१०६—विरज्जमाणस्स य इन्दियत्था
सद्दाइया[1] तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नय वा
निव्वत्तयन्ती अमणुन्नय वा॥

विरज्यमानस्य चेन्द्रियार्था
शब्दाद्यास्तावत्प्रकाश।
न तस्य सर्वेऽपि मनोज्ञतां वा
निर्वर्त्तयन्ति अमनोज्ञता वा॥

१०६—जितने प्रकार के शब्द आदि इन्द्रिय-विषय है, वे सब विरक्त मनुष्य के मन में मनोज्ञता या अमनोज्ञता उत्पन्न नही करते।

१०७—एव ससकप्पविकप्पणासु[2]
सजायई समयमुवट्ठियस्स।
'अत्थे य सकप्पयओ'[3] तओ से
पहीयए कामगुणेसु तण्हा॥

एव स्व-सकल्प-विकल्पतासु
संजायते समतोपस्थितस्य।
अर्थांश्च सकल्पयतस्ततस्तस्य
प्रहीयते काम-गुणेषु तृष्णा॥

१०७—'अपने राग-द्वेषात्मक सकल्प ही सब दोषो के मूल है'—जो इस प्रकार के चिन्तन में उद्यत होता है तथा 'इन्द्रिय-विषय दोषों के मूल नही है'—इस प्रकार का सकल्प करता है, उसके मन में समता उत्पन्न होती है। उससे उसकी काम-गुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।

१०८—स वीयरागो कयसव्वकिच्चो
खवेइ नाणावरणं खणेण।
तहेव ज दसणमावरेइ
ज चऽन्तराय पकरेइ कम्म॥

स वीतरागः कृत-सर्व-कृत्य
क्षपयति ज्ञानावरण क्षणेन।
तथैव यत् दर्शनमावृणोति
यदन्तराय प्रकरोति कर्म॥

१०८—फिर वह वीतराग सब दिशाओ में कृतकृत्य होकर क्षण भर में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय कर देता है।

१०९—सव्व तओ जाणइ पासए य
अमोहणे होइ निरन्तराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥

सर्वं ततो जानाति पश्यति च
अमोहनो भवति निरन्तरायः।
अनाश्रवो ध्यान-समाधि-युक्त
आयुः क्षये मोक्षमुपैति शुद्धः॥

१०९—तत्पश्चात् वह सब कुछ जानता और देखता है तथा मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। अन्त में वह आश्रव रहित और ध्यान के द्वारा समाधि में लीन और शुद्ध होकर आयुष्य का क्षय होते ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

११०—सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को
ज बाहई सयय जन्तुमेय।
दीहामयविप्पमुक्को पसत्थो
तो होइ अच्चन्तसुहो कयत्थो॥

स तस्मात् सर्वस्मात् दुःखाद् मुक्तः
यद् बाधते सतत जन्तुमेनम्।
दीर्घामय-विप्रमुक्तः प्रशस्तः
ततो भवत्यत्यन्त-सुखी कृतार्थः॥

११०—जो इस जीव को निरन्तर पीडित करता है, उस अशेष दुःख और दीर्घ-कालीन कर्म-रोग से वह मुक्त हो जाता है। इसलिए वह प्रशसनीय, अत्यन्त सुखी और कृतार्थ हो जाता है।

१११ अणाइकालप्पभवस्स एसो
'सव्वस्स दुक्खस्स पमोक्खमग्गो'[4]।
वियाहिओ ज समुविच्च सत्ता
कमेण अच्चन्तसुही भवन्ति॥
—त्ति बेमि।

अनादि-काल-प्रभवस्यैषः
सर्वस्य दुःखस्य प्रमोक्ष-मार्गः।
व्याख्यातः य समुपेत्य सत्वाः
क्रमेणाऽत्यन्त-सुखिनो भवन्ति॥
—इति ब्रवीमि।

१११—मैंने अनादि कालीन सब दुःखों से मुक्त होने का मार्ग बताया है, उसे स्वीकार कर जीव क्रमश सुखी हो जाते हैं।
—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१ वण्णाइया (बृ० पा०)।
२. °विकप्पणासो (बृ० पा०)
३ अत्थे असकप्पयतो (बृ० पा०)।
४. ससार चक्कस्स विमोक्खमग्गे (बृ० पा०)।

तेतीसइमं अज्झयणं :

कम्मपयडी

त्रयस्त्रिंश अध्ययन :

कर्म-प्रकृति

आमुख

इस अध्ययन मे कर्म की प्रकृतियों का निरूपण है, इसलिए इसका नाम 'कम्मपयडी'—'कर्म-प्रकृति' है।

'कर्म' शब्द भारतीय दर्शन का बहु परिचित शब्द है। जैन, बौद्ध और वैदिक—सभी दर्शनों ने इसे मान्यता दी है। यह क्रिया की प्रतिक्रिया है, अत इसे अस्वीकार भी नही किया जा सकता। वैदिक आदि दर्शन कर्म को सस्कार रूप मे स्वीकार करते हैं। जैन-दर्शन की व्याख्या उनसे विलक्षण है। उसके अनुसार कर्म पौद्गलिक है। जब-जब जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति मे प्रवृत्त होता है तब-तब वह अपनी प्रवृत्ति से पुद्गलों का आकर्षण करता है। वे आकृष्ट पुद्गल आत्मा के परिपार्श्व मे अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। उन्हें कर्म कहा जाता है।

कर्म की मूल प्रवृत्तियाँ आठ है—

१. ज्ञानावरण—जो पुद्गल ज्ञान को आवृत्त करते हैं।

२ दर्शनावरण—जो पुद्गल दर्शन को आवृत्त करते है।

३ वेदनीय—जो पुद्गल सुख-दु ख के हेतु बनते है।

४ मोहनीय—जो पुद्गल दृष्टिकोण और चारित्र में विकार उत्पन्न करते है।

५ आयुष्य—जो पुद्गल जीवन-काल को निष्पन्न करते हैं।

६ नाम—जो पुद्गल शरीर आदि विविध रूपों की प्राप्ति में हेतु होते है।

७ गोत्र—जो पुद्गल उच्चता या नीचता की अनुभूति में हेतु होते हैं।

८. अन्तराय—जो पुद्गल शक्ति-विकास में बाधक होते है।

१—ज्ञानावरण पाँच प्रकार का है—

(१) आभिनिबोधिक (मति) ज्ञानावरण,

(२) श्रुत ज्ञानावरण,

(३) अवधि ज्ञानावरण,

(४) मन पर्यव ज्ञानावरण और

(५) केवल ज्ञानावरण।

२—दर्शनावरण नौ प्रकार का है—

(१) निद्रा,

(२) प्रचला,

(३) निद्रा-निद्रा,

(४) प्रचला-प्रचला,

(५) स्त्यानर्द्धि,

(६) चक्षुदर्शनावरण,

(७) अचक्षुदर्शनावरण,

(८) अवधिदर्शनावरण और

(९) केवलदर्शनावरण।

३—वेदनीय दो प्रकार का है—

(१) सात वेदनीय और

(२) असात वेदनीय।

४—मोहनीय दो प्रकार का है—

(१) दर्शन मोहनीय। इसके तीन भेद है—सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और सम्यक्-मिथ्यात्व मोहनीय।

(२) चारित्र मोहनीय। यह दो प्रकार का है—कषाय मोहनीय और नो-कषाय मोहनीय।

कषाय मोहनीय १६ प्रकार का है—

अनन्तानुबन्धी चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।
अप्रत्याख्यान चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्याख्यान चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।
सज्वलन चतुष्क—	क्रोध, मान, माया, लोभ।

नो-कषाय मोहनीय नौ प्रकार का है—

हास्य, रति, अरति, भय, जुगुप्सा, पुवेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद।

५—आयुष्य चार प्रकार का है—

(१) नैरयिक आयु,

(२) तिर्यग् आयु,

(३) मनुष्य आयु और

(४) देव आयु।

६—नाम दो प्रकार का है—

(१) शुभ और

(२) अशुभ।

इन दोनों के अनेक अवान्तर भेद है।

७—गोत्र दो प्रकार का है—

(१) उच्च गोत्र और

(२) नीच गोत्र।

उच्च गोत्र-कर्म के आठ भेद है—

(१) प्रशस्त जाति,

(२) प्रशस्त कुल,

(३) प्रशस्त बल,

(४) प्रशस्त रूप,

(५) प्रशस्त तपस्या,

(६) प्रशस्त श्रुत (ज्ञान),

(७) प्रशस्त लाभ और

(८) प्रशस्त ऐश्वर्य।

नीच गोत्र-कर्म के आठ भेद है—

(१) अप्रशस्त जाति,

(२) अप्रशस्त कुल,

(३) अप्रशस्त बल,

(४) अप्रशस्त रूप

(५) अप्रशस्त तपस्या,

(६) अप्रशस्त (ज्ञान)

(७) अप्रशस्त लाभ

(८) अप्रशस्त ऐश्वर्य

८—अन्तराय-कर्म पाँच प्रकार का है—

(१) दानान्तराय,

(२) लाभान्तराय,

(३) भोगान्तराय,

(४) उपभोगान्तराय और

(५) वीर्यान्तराय

१—कर्मों की प्रकृति—

कर्म की मूल प्रकृतियाँ उपर्युक्त आठ ही है। शेष सब उनकी उत्तर प्रकृतियाँ हैं। इनका विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना (पद २३) मे है।

२—कर्मों की स्थिति—

प्रत्येक कर्म की स्थिति होती है। स्थिति-काल के पूर्ण होने पर वह कर्म नष्ट हो जाता है। कई निमित्तों से स्थिति न्यून या अधिक भी होती है।

(१) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस क्रोडाक्रोड सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(२) मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० क्रोडाक्रोड सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(३) आयु कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागर तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

(४) नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति २० क्रोडाक्रोड सागर तथा जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त की है।

३—कर्मों का अनुभाव—

कर्म के विपाक को अनुभाग, अनुभाव, फल या रस कहा जाता है। विपाक दो प्रकार का है—तीव्र और मन्द। तीव्र परिणामों मे बन्धे हुए कर्म का विपाक तीव्र और मन्द परिणामों से बन्धे हुए कर्म का मन्द होता है। विशेष प्रयत्न के द्वारा तीव्र मन्द और मन्द तीव्र हो जाता है।

४—कर्मों का प्रदेशाग्र—

कर्म प्रायोग्य पुद्गल जीव की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट होकर आत्मा के प्रदेशों के साथ चिपक जाते हैं। कर्म अनन्त-प्रदेशी पुद्गल-स्कन्ध होते है और आत्मा के असख्य प्रदेशों के साथ एकीभाव हो जाते हैं।

तेतीसइमं अज्झयणं : त्रयस्त्रिंश अध्ययन

कम्मपयडी : कर्म-प्रकृतिः

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—अट्ठ कम्माइं वोच्छामि आणुपुव्विं जहक्कमं[1] । जेहिं बद्धो अयं जीवो संसारे परिवत्तए[2] ॥	अष्ट कर्माणि वक्ष्यामि आनुपूर्व्या यथाक्रमम् । यैर्बद्धोऽयं जीवः संसारे परिवर्तते ॥	१—मैं अनुपूर्वी से क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) आठ कर्मों का निरूपण करूँगा, जिनसे बन्धा हुआ यह जीव ससार में परिवर्तन करता है ।
२—नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा । वेयणिज्जं तहा मोहं आउकम्मं तहेव य ॥	ज्ञानस्यावरणीय दर्शनावरणं तथा । वेदनीय तथा मोह आयु -कर्म तथैव च ॥	२—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोह, आयु,
३—नामकम्मं च गोयं च अन्तरायं तहेव य । एवमेयाइ कम्माइं अट्ठेव उ समासओ ॥	नाम कर्म च गोत्रं च अन्तरायस्तथैव च । एवमेतानि कर्माणि अष्टैव तु समासत ॥	३—नाम, गोत्र और अन्तराय—इस प्रकार सक्षेप में ये आठ कर्म हैं ।
४—नाणावरणं पचविहं सुयं आभिणिबोहियं । ओहिनाणं तइयं मणनाणं च केवलं ॥	ज्ञानावरणं पंचविधं श्रुतमाभिनिबोधिकम् । अवधि-ज्ञानं तृतीयं मनो-ज्ञान च केवलम् ॥	४—ज्ञानावरण पाँच प्रकार का है—(१) श्रुत-ज्ञानावरण, (२) आभिनिवोधिक-ज्ञानावरण, (३) अवधि-ज्ञानावरण, (४) मनो-ज्ञानावरण और (५) केवल-ज्ञानावरण ।
५—निद्दा तहेव पयला निद्दानिद्दा य पयलपयला य । तत्तो य थीणगिद्धी उ पचमा होइ नायव्वा ॥	निद्रा तथैव प्रचला निद्रा-निद्रा प्रचला-प्रचला च । ततश्च स्त्यान-गृद्धिस्तु पंचमी भवति ज्ञातव्या ॥	५—(१) निद्रा, (२) प्रचला, (३) निद्रा-निद्रा, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यान-गृद्धि,

१. छणेह मे (बृ० पा०) ।
२. परिभम्मए (बृ० पा०) ।

६—चक्खुमचक्खुओहिस्स
दंसणे केवले य आवरणे।
एव[1] तु नवविगप्पं
नायव्वं दंसणावरणं॥

चक्षुरचक्षुरवधेः
दर्शने केवले चावरणे।
एवं तु नव-विकल्पं
ज्ञातव्यं दर्शनावरणम्॥

६—(६) चक्षु-दर्शनावरण, (७) अचक्षु-दर्शनावरण, (८) अवधि-दर्शनावरण और (९) केवल-दर्शनावरण—इस प्रकार दर्शनावरण नौ प्रकार का है।

७—वेयणीयं पि य[2] दुविहं
सायमसायं च आहियं।
सायस्स उ बहू भेया
एमेव असायस्स वि॥

वेदनीयमपि च द्विविधं
सातमसातं चाख्यातम्।
सातस्य तु बहवो भेदाः
एवमेवाऽसातस्यापि॥

७—वेदनीय दो प्रकार का है—(१) सात-वेदनीय और (२) असात-वेदनीय। इन दोनों वेदनीयों के अनेक प्रकार हैं।

८—मोहणिज्जं पि दुविहं
दसणे चरणे तहा।
दसणे तिविहं वुत्तं
चरणे दुविहं भवे॥

मोहनीयमपि द्विविधं
दर्शने चरणे तथा।
दर्शने त्रिविधमुक्तं
चरणे द्विविधं भवेत्॥

८—मोहनीय भी दो प्रकार का है—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय तीन प्रकार का और चारित्र-मोहनीय दो प्रकार का होता है।

९—सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं
सम्मामिच्छत्तमेव य।
एयाओ तिन्नि पयडीओ
मोहणिज्जस्स दसणे॥

सम्यक्त्वं चैव मिथ्यात्वं
सम्यङ्मिथ्यात्वमेव च।
एतास्तिस्रः प्रकृतयः
मोहनीयस्य दर्शने॥

९—(१) सम्यक्त्व, (२) मिथ्यात्व और (३) सम्यग्-मिथ्यात्व—दर्शन-मोहनीय की ये तीन प्रकृतियाँ हैं।

१०—'चरित्तमोहणं कम्मं
दुविहं तु वियाहियं'[3]।
'कसायमोहणिज्जं तु'[4]
नोकसायं तहेव य॥

चरित्र-मोहनं कर्म
द्विविधं तु व्याख्यातम्।
कषाय-मोहनीयं च
नोकषायं तथैव च॥

१०—चारित्र-मोहनीय दो प्रकार का है—(१) कषाय-मोहनीय और (२) नोकषाय-मोहनीय।

११—सोलसविहभेएणं
कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा
कम्मं नोकसायजं॥

षोडशविधं भेदेन
कर्म तु कषायजम्।
सप्तविधं नवविधं वा
कर्म च नोकषायजम्॥

११—कषाय-मोहनीय कर्म के सोलह भेद होते हैं और नोकषाय-मोहनीय कर्म के सात या नौ भेद होते है।

---

१. एय (अ)।
२. हु (ऋ०)।
३. चरित्तमोहणिज्जं दुविहं वोच्छामि अणुपुव्वसो (बृ० पा०)।
४. ण्वेयणिज्जं य (वृ०)।

१२—नेरइयतिरिक्खाउ
मणुस्साउ तहेव य।
देवाउय चउत्थ तु[1]
आउकम्म चउव्विह॥

नैरयिक-तिर्यगायुः
मनुष्यायुस्तथैव च।
देवायुश्चतुर्थ तु
आयु:-कर्म चतुर्विधम्॥

१२—आयु-कर्म चार प्रकार का है—(१) नैरयिक-आयु, (२) तिर्यग्-आयु, (३) मनुष्य-आयु और (४) देव-आयु।

१३—नाम कम्म तु[2] दुविह
सुहमसुह 'च आहिय'[3]।
सुहस्स उ[4] बहू भेया
एमेव असुहस्स वि॥

नाम कर्म द्विविध
शुभमशुभ चाख्यातम्।
शुभस्य बहवो भेदाः
एवमेवाऽशुभस्यापि॥

१३—नाम-कर्म दो प्रकार का है—(१) शुभ-नाम, और (२) अशुभनाम।
इन दोनो के अनेक प्रकार है।

१४—गोय कम्म दुविह
उच्च नीय च आहिय।
उच्च अट्ठविह होइ
एव नीय पि आहिय॥

गोत्रं कर्म द्विविध
उच्च नीच चाख्यातम्।
उच्चमष्टविध भवति
एव नीचमप्याख्यातम्॥

१४—गोत्र-कर्म दो प्रकार है—(१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। इन दोनों के आठ-आठ प्रकार हैं।

१५—दाणे लाभे य भोगे य
उवभोगे वीरिए तहा।
पचविहमन्तराय
समासेण वियाहिय॥

दाने लाभे च भोगे च
उपभोगे वीर्ये तथा।
पंचविधोन्तरायः
समासेन व्याख्यातः॥

१५—अन्तराय-कर्म सक्षेप में पाँच प्रकार का है—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

१६—एयाओ मूलपयडीओ
उत्तराओ य आहिया।
पएसग्ग खेत्तकाले य
भाव चादुत्तर सुण॥

एता मूल-प्रकृतयः
उत्तराश्चाख्याता।
प्रदेशाग्र क्षेत्र-कालौ च
भाव चोत्तर शृणु॥

१६—कर्मों की ये ज्ञानावरण आदि आठ मूल प्रकृतियाँ और श्रुत-ज्ञानावरण आदि सत्तावन उत्तर प्रकृतियाँ कही गई हैं। इसके आगे तू उनके प्रदेशाग्र (परमाणुओ के परिमाण) क्षेत्र, काल और भाव (अनुभाग-पर्याय) को सुन।

१७—सव्वेसिं चेव कम्माण
पएसग्गमणन्तगं।
गण्ठियसत्ताईयं[5]
अन्तो सिद्धाण आहियं॥

सर्वेषां चैव कर्मणां
प्रदेशाग्रमनन्तकम्।
ग्रन्थिक-सत्त्वातीतम्
अन्तः सिद्धानामाख्यातम्॥

१७—एक समय में ग्राह्य सब कर्मों का प्रदेशाग्र अनन्त है। वह अभव्य जीवों से अनन्त गुण अधिक और सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितना होता है।

---

१. २,—× (उ, ऋ०)।
३ वियाहिय (उ, ऋ०)।
४. य (उ, ऋ०)।
५. गण्ठि सत्ताणाइ (वृ० पा०)।

१८—सव्वजीवाण कम्मं तु
संगहे छद्दिसागय।
सव्वेसु वि पएसेसु
सव्व सव्वेण बद्धग॥

सर्व-जीवानां कर्म तु
संग्रहे षड्दिशागतम्।
सर्वेष्वपि प्रदेशेषु
सर्वं-सर्वेण बद्धकम्॥

१८—सब जीवों के संग्रह-योग्य पुद्गल छहों दिशाओं—आत्मा से संलग्न सभी आकाश प्रदेशों में स्थित हैं। वे सब कर्म-परमाणु बन्ध-काल में एक आत्मा के सभी प्रदेशों के साथ सम्बद्ध होते हैं।

१९—उदहीसरिनामाणं
तीसई कोडिकोडिओ।
उक्कोसिया ठिई होइ
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

उदधि-सदृग्-नाम्नां
त्रिंशत्कोटि-कोट्यः।
उत्कृष्टा स्थितिर्भवति
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका॥

१९-२०—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२०—आवरणिज्जाण दुण्ह पि
वेयणिज्जे तहेव य।
अन्तराए य कम्मम्मि
ठिई एसा वियाहिया॥

आवरणयोर्द्वयोरपि
वेदनीये तथैव च।
अन्तराये च कर्मणि
स्थितिरेषा व्याख्याता॥

२०—

२१—उदहीसरिनामाण
सत्तरिं कोडिकोडिओ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

उदधि-सदृग्-नाम्नां
सप्ततिः कोटि-कोट्यः।
मोहनीयस्योत्कृष्टा
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका॥

२१—मोहनीय-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की होती है।

२२—तेत्तीस सागरोवमा
उक्कोसेण वियाहिया।
ठिई उ आउकम्मस्स
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा
उत्कर्षेण व्याख्याता।
स्थितिस्त्वायुः-कर्मणः
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यिका॥

२२—आयु-कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है।

२३—उदहीसरिनामाण
वीसई कोडिकोडिओ।
नामगोत्ताण उक्कोसा
अट्ठ मुहुत्ता जहन्निया॥

उदधि-सदृग्-नाम्नां
विंशति कोटि-कोट्यः।
नाम-गोत्रयोरुत्कृष्टा
अष्ट मुहूर्ता जघन्यिका॥

२३—नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस कोटि-कोटि सागर और जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त्त की होती है।

२४—सिद्धाणऽणन्तभागो य[1]
अणुभागा हवन्ति उ।
सव्वेसु वि पएसग्गं
सव्व जीवेसुऽइच्छियं[2] ॥

सिद्धानामनन्त-भागश्च
अनुभागा भवन्ति तु।
सर्वेष्वपि प्रदेशाग्रं
सर्वजीवेभ्योऽतिक्रान्तम् ॥

२४—कर्मों के अनुभाग सिद्ध आत्माओं के अनन्तवें भाग जितने होते हैं। सब अनुभागों का प्रदेश-परिमाण सब जीवों से अधिक होता है।

२५—तम्हा एएसि कम्माणं
अणुभागे वियाणिया।
एएसिं सवरे चेव
खवणे य जए वुहे ॥
—त्ति वेमि।

तस्मादेतेषां कर्मणाम्
अनुभागान् विज्ञाय।
एतेषां सम्वरे चैव
क्षपणे च यतेत बुधः ॥
— इति ब्रवीमि।

२५—इन कर्मों के अनुभागों को जानकर बुद्धिमान इनका निरोध और क्षय करने का यत्न करे।

—ऐसा मैं कहता हूँ।

---

१. ·× (उ, ऋ०)।
२. जीवे स इच्छिय (अ, ह०), जीवे अइच्छियं (स)।

चउतीसइमं अज्झयणं :
लेसज्झयणं

चतुस्त्रिंश अध्ययन :
लेश्याध्ययन

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'लेसज्झयण'—'लेश्याध्ययन' है। इसका अधिकृत विषय कर्म-लेश्या है।[1] इसमें कर्म-लेश्या के नाम, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य का निरूपण किया गया है। इसका विशद वर्णन प्रज्ञापना (पद १७) में मिलता है।

लेश्या एक प्रकार का पौद्गलिक पर्यावरण है। इसकी खोज जीव और पुद्गल के स्कन्धों का अध्ययन करते समय हुई है। जीव से पुद्गल और पुद्गल से जीव प्रभावित होते है। जीव को प्रभावित करने वाले पुद्गलों के अनेक वर्ग हैं। उनमे एक वर्ग का नाम लेश्या है। लेश्या शब्द का अर्थ आणविक-आभा, कान्ति, प्रभा या छाया है।[2] छाया पुद्गलों से प्रभावित होने वाले जीव-परिणामों को भी लेश्या कहा गया है।[3] प्राचीन साहित्य में शरीर के वर्ण, आणविक-आभा और उससे प्रभावित होने वाले विचार—इन तीनों अर्थों में लेश्या की मार्गणा की गई है।

शरीर के वर्ण और आणविक-आभा को द्रव्य-लेश्या[4] (पौद्गलिक-लेश्या) और विचार को भाव-लेश्या[5] (मानसिक-लेश्या) कहा गया है।

प्रस्तुत अध्ययन में कृष्ण, नील और कापोत—इस प्रथम त्रिक को 'अधर्म-लेश्या' कहा गया है। (श्लो० ५६, ५७)

अध्ययन के आरम्भ में छहों लेश्याओं को 'कर्म-लेश्या' कहा गया है। (श्लो० १)

आणविक-आभा कर्म-लेश्या का ही नामान्तर है। आठ कर्मों में छठा कर्म नाम है। उसका सम्बन्ध शरीर-रचना सम्बन्धी पुद्गलों से है। उसकी एक प्रकृति शरीर-नाम-कर्म है। शरीर-नाम-कर्म के पुद्गलों का ही एक वर्ग 'कर्म-लेश्या' कहलाता है।[6]

लेश्या की अनेक परिभाषाएँ मिलती है। जैसे—

१—योग-परिणाम।[7]

२—कषायोदय रञ्जित योग-प्रवृत्ति।[8]

१—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४१
अहिगारो कम्मलेसाए।

२—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०
लेशयति—श्लेषयतीवात्मनि जननयनानीति लेश्या—अतीव चक्षुराक्षेपिका स्निग्धदीप्तरूपा छाया।

३—मूलाराधना, ७।१९०७
जह बाहिरलेस्साओ, किन्हादीओ हवति पुरिसस्स।
अब्भन्तरलेस्साओ, तह किण्हादीय पुरिसस्स ॥

४—(क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ४९४
वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।
सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥
(ख) उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५३९।

५—उत्तराध्ययन निर्युक्ति, गाथा ५४०।

६—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५०।

७—वही, पत्र ६५०।

८—गोम्मटसागर, जीवकाण्ड, गाथा ४९० :
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ।

३—कर्म-निष्यन्द ।[1]

४—कार्मण शरीर की भाँति कर्म-वर्गणा निष्पन्न कर्म-द्रव्य ।[2]

इन शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार लेश्या से जीव और कर्म पुद्गलों का सम्बन्ध होता है, कर्म की स्थिति निष्पन्न होती है और कर्म का उदय होता है। इन सारे अभिमतो से इतनी निष्पत्ति तो निश्चित है कि आत्मा की शुद्धि और अशुद्धि के साथ लेश्या जुड़ी हुई है।

प्रभाववाद की दृष्टि से दोनों परम्पराएँ प्राप्त होती है—

१—पौद्गलिक लेश्या का मानसिक विचारो पर प्रभाव।

२—मानसिक विचारो का लेश्या पर प्रभाव।

कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मन ।
स्फटिकस्येव तत्राय, लेश्या-शब्द. प्रवर्तते ॥

इस प्रसिद्ध श्लोक की ध्वनि यही है—कृष्ण आदि लेश्या-पुद्गल जैसे होते है, वैसे ही मानसिक परिणति होती है। दूसरी धारा यह है—कषाय की मदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है।[3] प्रस्तुत अध्ययन से भी यही ध्वनित होता है।

पाँच आश्रवो में प्रवृत्त मनुष्य कृष्ण-लेश्या में परिणत होता है अर्थात् उसकी आणविक आभा (पर्यावरण) कृष्ण होती है। लेश्या के लक्षण गोम्मटसार (जीवकाण्ड ५०८-५१६) तथा तत्त्वार्थ-वार्तिक (४।२२) मे मिलते है।

मनुस्मृति (१२।२६-३८) मे सत्त्व, रजस् और तमस् के जो लक्षण और कार्य बतलाए गए है, वे लेश्या के लक्षणों से तुलनीय है।

१—बृहद्वृत्ति, पत्र ६५० ।

२—वही, पत्र ६५१ ।

३—(क) मूलाराधना, ७।१९११

लेस्सासोधी अज्झवसाणविसोधीए होइ जनस्स ।
अज्झवसाणविसोधी, मदलेसायस्स णादव्वा ॥

(ख) मूलाराधना (अमितगति), ७।१९६७ :

अन्तर्विशुद्धितो जन्तो., शुद्धि' सम्पद्यते बहि ।
बाह्यो हि शुध्यते दोप सर्वमन्तरदोषतः ॥

चउतीसइमं अज्झयण : चतुस्त्रिंश अध्ययन

लेसज्झयणं : लेश्याध्ययनम्

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—लेसज्झयण पवक्खामि आणुपुव्विं जहक्कम । छण्हं पि कम्मलेसाण अणुभावे सुणेह मे ॥	लेश्याध्ययन प्रवक्ष्यामि आनुपूर्व्या यथाक्रमम् । षण्णामपि कर्म-लेश्याना अनुभावान् शृणुत मे ॥	१—मैं अनुपूर्वी मे क्रमानुसार (पूर्वानुपूर्वी से) लेश्या-अध्ययन का निरूपण करूँगा। छहों कम-लेश्याओं के अनुभावों को तुम मुझ से सुनो।
२—नामाइं वण्णरसगन्ध- फासपरिणामलक्खण । ठाण ठिइ गइ चाउ लेसाण तु सुणेह मे ॥	नामानि वर्ण-रस-गन्ध- स्पर्श-परिणाम-लक्षणानि । स्थान स्थिति गति चायुः लेश्याना तु शृणुत मे ॥	२—लेश्याओं के नाम, वण, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति और आयुष्य को तुम मुझ मे सुनो।
३—किण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य । सुक्कलेसा य छट्ठा उ[1] नामाइ तु जहक्कम ॥	कृष्णा नीला च कापोती च तैजसी पद्मा तथैव च । शुक्ल-लेश्या च षष्ठी तु नामानि तु यथाक्रमम् ॥	३—यथाक्रम मे लेश्याओ के ये नाम हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेजस्, (५) पद्म और (६) शुक्ल।
४—जीमूयनिद्धसकासा गवलरिट्ठगसन्निभा । खजणजणनयणनिभा किण्हलेसा उ वण्णओ ॥	स्निग्ध-जीमूत-सकाशा गवलारिष्टक-सन्निभा । खजनाञ्जननयन-निभा कृष्ण-लेश्या तु वर्णतः ॥	४—कृष्ण लेश्या का वर्ण स्निग्ध मेघ, महिप-शृग, द्रोण-काक, खञ्जन, अजन व नयन-तारा के समान होता है।
५—नीलाऽसोगसकासा चासपिच्छसमप्पभा । वेरुलियनिद्धसकासा नीललेसा उ वण्णओ ॥	नीलाऽशोक-सकाशा चाषपिच्छ-समप्रभा । स्निग्धवैडूर्य-सकाशा नील-लेश्या तु वर्णत ॥	५—नील-लेश्या का वर्ण नील, अशोक चाप पक्षी के परो व स्निग्ध वैडूर्य मणि के समान होता है।

१. य (उ, ऋ०)।

६—अयसीपुप्फसंकासा
कोइलच्छदसन्निभा[1] ।
पारेवयगीवनिभा
काउलेसा उ वण्णओ ॥

अतसी पुष्प-संकाशा
कोकिलच्छद-सन्निभा ।
पारापतग्रीवा-निभा
कापोत-लेश्या तु वर्णतः ॥

६—कापोत लेश्या का वर्ण अलसी के पुष्प, तैल-कण्टक व कबूतर की ग्रीवा के समान होता है ।

७—हिंगुलुयधाउसंकासा
तरुणाइच्चसन्निभा ।
सुयतुण्डपईवनिभा[2]
तेउलेसा उ वण्णओ ॥

हिंगुलुक-धातु-संकाशा
तरुणादित्य-सन्निभा ।
शुकतुण्ड-प्रदीप-निभा
तेजो-लेश्या तु वर्णतः ॥

७—तेजो लेश्या का वर्ण हिंगुल, गेरु, नवोदित सूर्य, तोते की चोंच, प्रदीप की लौ के समान होता है ।

८—हरियालभेयसंकासा
हलिद्दाभेयसनिभा[3] ।
सणासणकुसुमनिभा
पम्हलेसा उ[4] वण्णओ ॥

हरितालभेद-संकाशा
हरिद्राभेद-सन्निभा ।
सणासनकुसुम-निभा
पद्म-लेश्या तु वर्णतः ॥

८—पद्म लेश्या का वर्ण भिन्न हरिताल, भिन्न-हल्दी, सण और असन के पुष्प के समान होता है ।

९—संखंककुन्दसंकासा
खीरपूरसमप्पभा[5] ।
रययहारसंकासा
सुक्कलेसा उ वण्णओ ॥

शङ्खाङ्ककुन्द-संकाशा
क्षीरपूर-समप्रभा ।
रजतहार-संकाशा
शुक्ल-लेश्या तु वर्णतः ॥

९—शुक्ल लेश्या का वर्ण शंख, अंकमणि, कुन्द-पुष्प, दुग्ध-प्रवाह, चांदी व मुक्ताहार के समान होता है ।

१०—जह कडुयतुम्बगरसो
निम्बरसो कडुयरोहिणिरसो वा ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ[6] किण्हाए नायव्वो ॥

यथा कटुकतुम्बक-रसः
निम्ब-रसः कटुकरोहिणी-रसो वा ।
इतोऽप्यनन्त-गुण.
रसस्तु कृष्णाया ज्ञातव्यः ॥

१०—कड़ुवे तूम्बे, नीम व कटुक रोहिणी का रस जैसा कड़ुवा होता है, उससे भी अनन्त गुना कड़ुवा रस कृष्ण लेश्या का होता है ।

---

१. °च्छवि (बृ० पा०) ।
२ सुयतुण्डगसंकासा, सुयतुण्डालत्तदीवाभा (बृ० पा०) ;
३. °सप्पभा (अ, आ, इ) ।
४ य (ऋ०) ।
५. खीरतूल° (हे०), खीरधार° , खीरपूर° (बृ० पा०) ।
६. य (ऋ०) ।

११—जह तिगडुयस्स य रसो
तिक्खो जह हत्थिपिप्पलीए वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ नीलाए नायव्वो ॥

यथा त्रिकटुकस्य च रस
तीक्ष्णः यथा हस्तिपिप्पल्या वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु नीलाया ज्ञातव्यः ॥

११—त्रिकटु और गजपीपल का रस जैसा तीखा होता है, उससे भी अनन्त गुना तीखा रस नील लेश्या का होता है।

१२—जह तरुणअम्बगरसो
तुवरकविट्ठस्स[1] वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ काऊए नायव्वो ॥

यथा तरुणाम्रक-रस.
तुवर-कपित्थस्य वापि यादृशः।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु कापोताया ज्ञातव्य. ॥

१२—कच्चे आम और कच्चे कपित्थ का रस जैसा कसैला होता है, उससे भी अनन्त गुना कसैला रस कापोत लेश्या का होता है।

१३—जहपरिणयम्बगरसो
पक्ककविट्ठस्स वावि जारिसओ।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ[2] तेऊए नायव्वो ॥

यथा परिणताम्रक-रस.
पक्व-कपित्थस्य वापि यादृशः।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु तेजो-लेश्याया ज्ञातव्य· ॥

१३—पके हुए आम और पके हुए कपित्थ का रस जैसा खट-मीठा होता है, उससे भी अनन्त गुना खट-मीठा रस तेजो लेश्या का होता है।

१४—वरवारुणीए व रसो
विविहाण व आसवाण जारिसओ।
'महुमेरगस्स व रसो
एत्तो पम्हाए[3] परएण'[4] ॥

वरवारुण्या इव रसः
विविधानामिवाऽऽसवाना यादृशः।
मधु-मैरेयकस्येवरसः
इतः पद्मायाः परकेण ॥

१४—प्रधान सुरा, विविध आसवों, मधु और मैरेयक मदिरा का रस जैसा अम्ल—कसैला होता है, उससे भी अनन्त गुना अम्ल—कसैला रस पद्म लेश्या का होता है।

१५—खज्जूरमुद्दियरसो
खीररसो खण्डसक्कररसो वा।
एत्तो वि अणन्तगुणो
रसो उ[5] सुक्काए नायव्वो ॥

खर्जूर-मृद्वीका-रसः
क्षीर-रस खण्ड-शर्करा-रसो वा।
इतोऽप्यनन्तगुणः
रसस्तु शुक्लाया ज्ञातव्य ॥

१५—खजूर, दाख, क्षीर, खाड और शक्कर का रस जैसा मीठा होता है, उससे भी अनन्त गुना मीठा रस शुक्ल लेश्या का होता है।

१६—जह गोमडस्स गन्धो
सुणगमडगस्स[6] व जहा अहिमडस्स।
'एत्तो वि'[7] अणन्तगुणो
लेसाण अप्पसत्थाण ॥

यथा गो-मृतकस्य गन्धः
शुनक-मृतकस्य वा यथाऽहि-मृतकस्य।
इतोऽप्यनन्तगुणो
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥

१६—गाय, श्वान और सर्प के मृत कलेवर की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्त गुना गन्ध तीनों अप्रशस्त लेश्याओं की होती है।

---

१. तुम्बर° (अ), तुवरु° (उ), अट्ट° (बृ० पा०)।
२ य (ऋ०)।
३. पम्हाउ (अ)।
४. एत्तो वि अणत गुणो रसो उ पम्हाए नायव्वो (बृ० पा०)।
५ य (ऋ०)।
६. °मडस्स (उ, ऋ०)।
७. एत्तोउ (अ), इत्तो वि (उ, ऋ०)

१७—जह सुरहिकुसुमगन्धो
गन्धवासाण[1] पिस्समाणाण[2]।
'एत्तो वि'[3] अणन्तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्हं पि ॥

यथा सुरभिकुसुम-गन्धः
गन्ध-वासाना पिष्यमाणानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुण
प्रशस्त-लेश्यानां तिसृणामपि ॥

१७—सुगन्धित पुष्पो और पीसे जा रहे सुगन्धित पदार्थों की जैसी गन्ध होती है, उससे भी अनन्त गुण गन्ध तीनों प्रशस्त लेश्याओं की होती है।

१८—जह करगयस्स फासो
गोजिब्भाए व सागपत्ताणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
लेसाण अप्पसत्थाणं ॥

यथा क्रकचस्य स्पर्शः
गो-जिह्वायाश्च शाक-पत्राणाम्।
इतोऽप्यनन्तगुणो
लेश्यानामप्रशस्तानाम् ॥

१८—करवत, गाय की जीभ और शाक वृक्ष के पत्रों का स्पर्श जैसा कर्कश होता है, उसमे भी अनन्त गुण कर्कश स्पर्श तीनों अप्रशस्त लेश्याओ का होता है।

१९—जह बूरस्स व फासो
नवणीयस्स व सिरीसकुसुमाणं।
एत्तो वि अणन्तगुणो
पसत्थलेसाण तिण्ह पि ॥

यथा बूरस्य वा स्पर्शः
नवनीतस्य वा शिरीष-कुसुमानाम्।
इतोऽप्यनन्तगुण.
प्रशस्त-लेश्यानां तिसृणामपि ॥

१९—बूर, नवनीत और सिरीष के पुष्पो का स्पर्श जैसा मृदु होता है, उससे भी अनन्त गुण मृदु स्पर्श तीनों प्रशस्त लेश्याओं का होता है।

२०—तिविहो व नवविहो वा
सत्तावीसइविहेक्कसीओ वा।
दुसओ तेयालो वा
लेसाण होइ परिणामो ॥

त्रिविधो वा नवविधो वा
सप्तविंशतिविध एकाशीतिविधो वा।
त्रिचत्वारिंशदधिकद्विशतविधो वा
लेश्यानां भवति परिणामः ॥

२०—लेश्याओ के तीन, नौ, सत्ताईश, इक्यासी या दो सौ तेंतालीस प्रकार के परिणाम होते हैं।

२१—पचासवप्पवत्तो[4]
तीहिं अगुत्तो छसु अविरओ य।
'तिव्वारम्भपरिणओ
खुद्दो साहसिओ नरो'[5] ॥

पंचाश्रव-प्रवृत्तः
तिसृभिरगुप्तः षट्स्वविरतश्च।
तीव्रारम्भ-परिणत
क्षुद्रः साहसिको नर· ॥

२१—जो मनुष्य पाँचो आश्रवो में प्रवृत्त है, तीन गुप्तियो से अगुप्त है, षट्काय में अविरत है, तीव्र आरम्भ (सावद्य-व्यापार) में सलग्न है, क्षुद्र है, विना विचारे कार्य करने वाला है,

२२—'निद्धन्धसपरिणामो
निस्ससो अजिइन्दिओ'[6]।
एयजोगसमाउत्तो
किण्हलेस तु परिणमे ॥

निश्शङ्क-परिणामः
नृशंसोऽजितेन्द्रियः।
एतद्योगसमायुक्तः
कृष्ण-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

२२—लौकिक और पारलौकिक दोषों की शका से रहित मन वाला है, नृशस है, अजितेन्द्रिय है—जो इन सभी से युक्त है, वह कृष्ण लेश्या में परिणत होता है।

१. गधाण य (बृ० पा०)।
२ पिस्समाणेण (अ)।
३ एत्तोउ (अ); इत्तो वि (उ, ऋ०)।
४ °प्पमत्तो (बृ०); °प्पवत्तो (बृ० पा०)।
५ निद्धन्धसपरिणामो निस्ससो अजिइन्दिओ (बृ० पा०)।
६ तिव्वारभ परिणओ खुद्दो साहसिओ नरो (बृ० पा०)।

२३—इस्साअमरिसअतवो
अविज्जमाया 'अहीरिया य'[1]।
गेद्धी पओसे य सढे
पमत्ते[2] रसलोलुए साय
गवेसए य ॥

ईर्ष्याऽमर्षातपः
अविद्या मायाऽह्रीकता च।
गृद्धिः प्रदोषश्च शठः
प्रमत्तो रस-लोलुपः सात-गवेषकश्च ॥

२३—जो मनुष्य ईर्ष्यालु है, कदाग्रही है, अतपस्वी है, अज्ञानी है, मायावी है, निर्लज्ज है, गृद्ध है, प्रद्वेष करने वाला है, शठ है, प्रमत्त है, रस-लोलुप है, सुख का गवेषक है,

२४—आरम्भाओ[3] अविरओ
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एयजोगसमाउत्तो
नोललेस तु परिणमे ॥

आरम्भादविरतः
क्षुद्रः साहसिको नरः।
एतद्योग-समायुक्तो
नील-लेश्या तु परिणमेत् ॥

२४—आरम्भ से अविरत है, क्षुद्र है, विना विचारे कार्य करने वाला है—जो इन सभी से युक्त है, वह नील लेश्या में परिणत होता है।

२५—वके वकसमायारे
नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचग ओवहिए
मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥

वक्रो वक्र-समाचारः
निष्कृतिमान् अनृजुकः।
परिकुंचक औपधिकः
मिथ्या-दृष्टिरनार्यः ॥

२५—जो मनुष्य वचन से वक्र है, जिसका आचरण वक्र है, कपट करता है, सरलता से रहित है, अपने दोषों को छुपाता है, छद्म का आचरण करता है, मिथ्या-दृष्टि है, अनार्य है,

२६—'उप्फालगदुट्ठवाई य'[4]
तेणे यावि य मच्छरी।
एयजोगसमाउत्तो
काउलेसं तु परिणमे ॥

उत्प्रासक-दुष्टवादी च
स्तेनश्चापि च मत्सरी।
एतद्योग-समायुक्तः
कापोत-लेश्या तु परिणमेत् ॥

२६—हसोड़ है, दुष्ट वचन बोलने वाला है, चोर है, मत्सरी है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह कापोत लेश्या में परिणत होता है।

२७—नीयावित्ती अचवले
अमाई अकुऊहले।
विणीयविणए दन्ते
जोगव उवहाणव ॥

नीचैर्वृत्तिरचपल
अमाय्यकुतूहल।
विनीत-विनयः दान्तः
योगवानुपधानवान् ॥

२७—जो मनुष्य नम्रता से वर्ताव करता है, अचपल है, माया से रहित है, अकुतूहली है, विनय करने में निपुण है, दान्त है, समाधियुक्त है, उपधान (श्रुत अध्ययन करते समय तप) करने वाला है,

२८—पियधम्मे दढधम्मे
वज्जभीरू हिएसए[5]।
एयजोगसमाउत्तो
तेउलेस तु परिणमे ॥

प्रियधर्मा दृढधर्मा
अवद्य-भीरुर्हितैषकः।
एतद्योग-समायुक्तः
तेजो-लेश्या तु परिणमेत् ॥

२८—धर्म में प्रेम रखता है, धर्म में दृढ है, पाप-भीरु है, मुक्ति का गवेषक है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह तेजो लेश्या में परिणत होता है।

---

१. अहीरियगयाय (अ)।
२ य मत्ते (बृ० पा०)।
३ आरम्भओ (अ), आरम्भा (उ, ऋ०)।
४. उफालदुट्ठवाई (अ), उप्फासग° (उ), उप्फाडग° (ऋ०)।
५. हियासए, अणासए (बृ० पा०)।

२९—पयणुकोहमाणे य
मायालोभे य पयणुए।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा
जोगवं उवहाणवं ॥

प्रतनु-क्रोध-मानश्च
माया-लोभश्च प्रतनुकः।
प्रशान्त-चित्तो दान्तात्मा
योगवानुपधानवान् ॥

२९—जिस मनुष्य के क्रोध, मान, माया और लोभ अत्यन्त अल्प है, जो प्रशान्त-चि… है, अपनी आत्मा का दमन करता है, सम… युक्त है, उपधान करने वाला है,

३०—तहा पयणुवाई[1] य
उवसन्ते जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो
पम्हलेसं तु परिणमे ॥

तथा प्रतनुवादी च
उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योग-समायुक्त
पद्म-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

३०—अत्यल्प भाषी है, उपशान्त है जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह पद्म लेश्या में परिणत होता है।

३१—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता
धम्मसुक्काणि झायए[2]।
पसन्तचित्ते दन्तप्पा
समिए गुत्ते य गुत्तिहिं ॥

आर्त्त-रौद्रे वर्जयित्वा
धर्म्य-शुक्ले ध्यायेत्।
प्रशान्त-चित्तो दान्तात्मा
समितो गुप्तश्च गुप्तिभिः ॥

३१—जो मनुष्य आर्त्त और रौद्र—दोनों ध्यानों को छोड़ कर धर्म्य और शुक्ल—इन दो ध्यानों में लीन रहता है, प्रशान्त-चित्त है, अपनी आत्मा का दमन करता है, समिति से समित है, गुप्तियों से गुप्त है,

३२—सरागे वीयरागे वा[3]
उवसन्ते[4] जिइन्दिए।
एयजोगसमाउत्तो
सुक्कलेसं तु परिणमे ॥

सरागो वीतरागो वा
उपशान्तो जितेन्द्रियः।
एतद्योग-समायुक्तः
शुक्ल-लेश्यां तु परिणमेत् ॥

३२—उपशान्त है, जितेन्द्रिय है—जो इन सभी प्रवृत्तियों से युक्त है, वह सराग … या वीतराग, शुक्ल लेश्या में परिणत होता है।

३३—असंखिज्जाणोसप्पिणीण[5]
उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया[6] लोगा
लेसाण हुन्ति ठाणाइं ॥

असंख्येयानामवसर्पिणीनां
उत्सर्पिणीनां ये समयाः।
संख्यातीता लोका
लेश्यानां भवन्ति स्थानानि ॥

३३—असंख्येय अवसर्पिणी और …र्पिणी के जितने समय होते हैं, असंख्यात लोकों के जितने आकाश-प्रदेश होते हैं, उतने ही लेश्याओं के स्थान (अध्यवसाय-परिमाण) होते हैं।

३४—'मुहुत्तद्धं तु'[7] जहन्ना
तेत्तीसं सागरा मुहुत्तऽहिया।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा किण्हलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा मुहूर्त्ताधिका।
उत्कृष्टा भवति स्थिति
ज्ञातव्या कृष्ण-लेश्यायाः ॥

३४—कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति …मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है।

१. 'वाइ (अ)।
२ साहए (बृ०, ख०), झायए (बृ० पा०)।
३ य (अ)।
४ छद्धजोगे (बृ० पा०)।
५. असखेज्जाणओ उसप्पिणीण (अ)।
६. असखेया (बृ० पा०)।
७. मुहुत्तद्धा उ (बृ० पा०)।

३५—'मुहुत्तद्ध तु'[1] जहन्ना
दस उदही पलियमसखभाग-
मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा नीललेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
दशोदधिपल्यासख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या नील-लेश्यायाः ॥

३५—नील लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है ।

३६—'मुहुत्तद्ध तु'[2] जहन्ना
तिण्णुदही पलियमसखभाग-
मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा काउलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
त्र्युदधिपल्यासख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थिति
ज्ञातव्या कापोत-लेश्याया ॥

३६—कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है ।

३७—'मुहुत्तद्ध तु'[3] जहन्ना
दोउदही पलियमसखभाग-
मब्भहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा तेउलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
द्व्युदधिपल्योपमासङ्ख्यभागाधिका ।
उत्कृष्टा भवति स्थितिः
ज्ञातव्या तेजो-लेश्यायाः ॥

३७—तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है ।

३८—'मुहुत्तद्ध तु'[4] जहन्ना
दस 'होन्ति सागरा
मुहुत्तहिया'[5] ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा पम्हलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
दश भवन्ति सागरा मुहूर्त्ताधिकाः ।
उत्कृष्टा भवति स्थिति
ज्ञातव्या पद्म-लेश्यायाः ॥

३८—पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है ।

३९—'मुहुत्तद्ध तु'[6] जहन्ना
तेत्तीस सागरा मुहुत्तहिया ।
उक्कोसा होइ ठिई
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

मुहूर्त्तार्धं तु जघन्या
त्रयस्त्रिंशत्सागरा मुहूर्त्ताधिकाः ।
उत्कृष्टा भवति स्थिति
ज्ञातव्या शुक्ल-लेश्यायाः ॥

३९—शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागर की होती है ।

---

१. मुहुत्तद्धा उ (वृ० पा०)।
२ मुहुत्तद्धा उ (वृ० पा०)।
३ मुहुत्तद्धा उ (वृ० पा०)।
४. मुहुत्तद्धा उ (वृ० पा०)।
५ उदही हुंति मुहुत्तमब्भहिया (उ, ऋ०)।
६. मुहुत्तद्धा उ (वृ० पा०)।

४०—एसा खलु लेसाणं
ओहेण ठिई उ वण्णिया होइ।
चउसु वि गईसु एत्तो
लेसाण ठिइ तु वोच्छामि ॥

एषा खलु लेश्यानां
ओघेन स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
चतसृष्वपि गतिष्वितः
लेश्यानां स्थितिं तु वक्ष्यामि ॥

४०—लेश्याओं की यह स्थिति ओघ-रूप (अपृथग्-भाव) से कही गई है। अब आगे पृथग्-भाव से चारों गतियों में लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूंगा।

४१—दस वाससहस्साइं
काऊए ठिई जहन्निया होइ।
‘तिण्णुदही ‘पलिओवम
असंखभाग’[1] च उक्कोसा’[2] ॥

दशवर्षसहस्राणि
कापोतायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
त्र्युदधिपल्योपमा
ऽसङ्ख्यभाग चोत्कृष्टा ॥

४१—नारकीय जीवों के कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर की होती है।

४२—तिण्णुदही पलिय-
मसंखभागा जहन्नेण नीलठिई।
दस उदही ‘पलिओवम
असंखभागं’[3] च उक्कोसा ॥

त्र्युदधिपल्या
असङ्ख्ययभागा जघन्येन नीलस्थितिः।
दशोदधिपल्योपमा
ऽसङ्ख्यभाग चोत्कृष्टा ॥

४२—नील लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागर और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर की होती है।

४३—‘दस उदही ‘पलिय-
मसंखभाग’[4] जहन्निया होइ।
तेत्तीससागराइं उक्कोसा
होइ किण्हाए ॥’[5]

दशोदधिपल्या
ऽसङ्ख्यभागं जघन्यका भवति।
त्रयस्त्रिंशत्सागराः
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥

४३—कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दश सागर और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की होती है।

४४—एसा नेरइयाणं
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
तिरियमणुस्साण देवाणं ॥

एषा नैरयिकाणां
लेश्यानां स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः परं वक्ष्यामि
तिर्यङ्-मनुष्याणां देवानाम् ॥

४४—यह नैरयिक जीवों के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे तिर्यंच, मनुष्य और देवों की लेश्या स्थिति का वर्णन करूंगा।

---

१. पलियमसख भाग (छ०), पलियमसखेज्ज भागं (बृ०)।
२. उक्कोसा तिन्नुदही पलियमसंखेज्जभागऽहिय (बृ० पा०)।
पलिअ असक्खभाग (उ, ऋ०)।
पलियमसख भाग च (उ)।
दस उदही पलियअसंख भागं च जहन्नेण कण्ह लेसाए। तेत्तीस सागराइं मुहुत्त अहिया उ उक्कोसा ॥ (अ)।

४५—अन्तोमुहुत्तमद्धं
लेसाण ठिई जहिं जहिं जा उ।
तिरियाण नराण वा[1]
वज्जित्ता केवल लेस ॥

अन्तर्मुहूर्त्ताध्वान
लेश्याना स्थितिः यस्मिन् यस्मिन् यास्तु।
तिरश्चा नराणा वा
वर्जयित्वा केवला लेश्याम् ॥

४५—तिर्यञ्च और मनुष्य में जितनी लेश्याएँ होती है, उनमें से शुक्ल लेश्या को छोड कर शेष सब लेश्याओं की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मूहूर्त्त की होती है।

४६—मुहुत्तद्धं तु जहन्ना
उक्कोसा होइ पुव्वकोडी उ।
नवहि वरिसेहि ऊणा
नायव्वा सुक्कलेसाए ॥

मुहूर्त्ताध तु जघन्या
उत्कृष्टा भवति पूर्वकोटी तु।
नवभिर्वर्षैरूना
ज्ञातव्या शुक्ल-लेश्यायाः ॥

४६—शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष न्यून एक करोड पूर्व की होती है।

४७—एसा तिरियनराण
लेसाण ठिई उ वण्णिया होइ।
तेण परं वोच्छामि
लेसाण ठिई उ देवाण ॥

एषा तिर्यङ्-नराणा
लेश्याना स्थितिस्तु वर्णिता भवति।
ततः पर वक्ष्यामि
लेश्याना स्थितिस्तु देवानाम् ॥

४७—यह तिर्यञ्च और मनुष्य के लेश्याओं की स्थिति का वर्णन किया गया है। इससे आगे देवों की लेश्याओं की स्थिति का वर्णन करूँगा।

४८—दस वाससहस्साइं
किण्हाए ठिई जहन्निया होइ।
पलियमसंखिज्जइमो
उक्कोसा होइ किण्हाए ॥

दशवर्षसहस्राणि
कृष्णायाः स्थितिर्जघन्यका भवति।
पल्यासख्येयतम
उत्कृष्टा भवति कृष्णायाः ॥

४८—भवनपति और वाणव्यन्तर देवों के कृष्ण लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग की होती है।

४९—जा किण्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेण नीलाए
'पलियमसख तु'[2] उक्कोसा ॥

या कृष्णायाः स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन नीलाया
पल्यासङ्ख्य तूत्कृष्टा ॥

४९—कृष्ण लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह नील लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग जितनी है।

५०—जा नीलाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेण काऊए
पलियमसखं च उक्कोसा ॥

या नीलायाः स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन कापोताया
पल्यासङ्ख्य चोत्कृष्टा ॥

५०—नील लेश्या की जो उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह कापोत लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असख्यातवें भाग जितनी है।

---

१. तु (बृ०), च (उ, ऋ०)।
२. पलियमसख च (उ, ऋ०), पलियमसखिज्ज (बृ०)।

५१—तेण परं वोच्छामि
तेउलेसा जहा सुरगणाणं।
भवणवइवाणमन्तर-
जोइसवेमाणियाण च॥

ततः परं वक्ष्यामि
तेजो-लेश्यां यथा सुर-गणानाम्।
भवनपति-वाणव्यन्तर-
ज्योतिर्वैमानिकानां च॥

५१—इससे आगे भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के तेजो लेश्या की स्थिति का निरूपण करूँगा।

५२—पलिओवमं[1] जहन्ना
उक्कोसा सागरा उ दुण्हऽहिया[2]।
पलियमसंखेज्जेणं
होई भागेण[3] तेऊए॥

पल्योपमं जघन्या
उत्कृष्टा सागरौ तु द्व्यधिकौ।
पल्यासङ्ख्येयेन
भवति भागेन तैजस्याः॥

५२—तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति एक पल्योपम और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

५३—दस वाससहस्साइं
तेऊए ठिई जहन्निया होइ।
दुण्णुदही पलिओवम
असंखभागं च उक्कोसा॥

दशवर्षसहस्राणि
तैजस्याः स्थितिः जघन्यका भवति।
द्व्युदधिपल्योपमा-
ऽसङ्ख्येयभागं चोत्कृष्टा॥

५३—तेजो लेश्या की जघन्य स्थिति दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर की होती है।

५४—जा तेऊए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं पम्हाए दसउ
मुहुत्तऽहियाइं च उक्कोसा॥

या तैजस्या स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन पद्मायाः दश तु
मुहूर्ताधिकानि चोत्कृष्टा॥

५४—जो तेजो लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह पद्म लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दश सागर की होती है।

५५—जा पम्हाए ठिई खलु
उक्कोसा सा उ समयमब्भहिया।
जहन्नेणं सुक्काए
तेत्तीसमुहुत्तमब्भहिया॥

या पद्माया स्थितिः खलु
उत्कृष्टा सा तु समयाभ्यधिका।
जघन्येन शुक्लायाः
त्रयस्त्रिंशत् मुहूर्त्ताभ्यधिका॥

५५—जो पद्म लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति है, उसमें एक समय मिलाने पर वह शुक्ल लेश्या की जघन्य स्थिति होती है और उसकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेंतीस सागर की होती है।

५६—किण्हा नीला काऊ
तिन्नि वि एयाओ
अहम्मलेसाओ[4]।
एयाहि तिहि वि जीवो
दुग्गइं उववज्जई बहुसो[5]॥

कृष्णा नीला कापोता
तिस्रोऽप्येता अधर्म-लेश्याः।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवो
दुर्गतिमुपपद्यते॥

५६—कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म-लेश्याएँ हैं। इन तीनों से जीव दुर्गति को प्राप्त होता है।

१. पलिओवम च (अ)।
२. दुन्निहिया (उ, ऋ०)।
३. त्रिभागेण (अ)।
४. अहम० (अ, बृ० पा०)।
५. × (उ, ऋ०)।

५७—तेऊ पम्हा सुक्का
तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो
सुग्गइ उववज्जई बहुसो[1] ॥

तैजसी पद्मा शुक्ला
तिस्रोऽप्येता धर्म-लेश्याः ।
एताभिस्तिसृभिरपि जीवः
सुगतिमुपपद्यते ॥

५७—तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म-लेश्याएँ हैं । इन तीनो से जीव सुगति को प्राप्त होता है ।

५८—लेसाहिं सव्वाहिं
पढमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
'न वि कस्सवि उववाओ'[2]
परे भवे अत्थि[3] जीवस्स ॥

लेश्याभिः सर्वाभिः
प्रथमे समये परिणताभिस्तु ।
नापि कस्याप्युपपादः
परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥

५८—पहले समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता ।

५९—लेसाहिं सव्वाहिं
चरमे समयम्मि परिणयाहिं तु ।
'न वि कस्सवि उववाओ'[4]
परे भवे अत्थि[5] जीवस्स ॥

लेश्याभिः सर्वाभिः
चरमे समये परिणताभिस्तु ।
नापि कस्याप्युपपादः
परे भवेऽस्ति जीवस्य ॥

५९—अन्तिम समय में परिणत सभी लेश्याओं में कोई भी जीव दूसरे भव में उत्पन्न नहीं होता ।

६०—अन्तमुहुत्तम्मि गए
अन्तमुहुत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं
जीवा गच्छन्ति परलोयं ॥

अन्तर्मुहूर्त्ते गते
अन्तर्मुहूर्त्ते शेषके चैव ।
लेश्याभिः परिणताभिः
जीवा गच्छन्ति परलोकम् ॥

६०—लेश्याओं की परिणति होने पर अन्तर्मुहूर्त्त बीत जाता है अन्तर्मुहूर्त्त शेष रहता है, उस समय जीव परलोक में जाते हैं ।

६१—तम्हा एयाण[6] लेसाणं
अणुभागे वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता
पसत्थाओ अहिट्ठेज्जासि[7] ॥
—त्ति बेमि ।

तस्मादेतासां लेश्यानां
अनुभागान् विज्ञाय ।
अप्रशस्ता वर्जयित्वा
प्रशस्ता अधितिष्ठेत् ॥
—इति ब्रवीमि ।

६१—इसलिए इन लेश्याओं के अनुभागों को जान कर मुनि अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन करे और प्रशस्त लेश्याओं को स्वीकार करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१ × (उ, ऋ०)।
२. न हु कस्सवि उववत्ति (बृ०), न वि ······ (बृ० पा०), न हु ·· (उ, ऋ०, स०)।
३. भवइ (बृ०, स०)।
४. न हु कस्सवि उववत्ति (बृ०), न वि ·(बृ० पा०); न हु (उ, ऋ०, स०)।
५. भवइ (बृ०, स०)
६ एयासि (उ, ऋ०)।
७ अहिट्ठिए (उ, ऋ०)।

पणतीसइमं अज्झयणं :
अणगारमग्गगई

पंचत्रिंश अध्ययन :
अनगार-मार्ग-गति

आमुख

अट्ठाइसवें अध्ययन में मोक्ष-मार्ग की गति (अवबोध) दी गई है और इस अध्ययन में अनगार-मार्ग की। इसीलिए उसका नाम—'मोक्खमग्गगई' और इसका नाम—'अणगारमग्गगई'—'अनगार-मार्ग-गति' है।

अनगार मुमुक्षु होता है, अत उसका मार्ग मोक्ष-मार्ग से भिन्न कैसे होगा ? यदि नहीं होगा तो इसके प्रतिपादन का फिर क्या अर्थ है ?

इस प्रश्न को हम इस भाषा मे सोचें—मोक्ष-मार्ग व्यापक शब्द है। उसके चार अग है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप .

नाण च दसण चेव, चरित्त च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहि वरदसिहि ॥ (२८।२)

अनगार-मार्ग मोक्ष-मार्ग की तुलना मे सीमित है। ज्ञान, दर्शन और तप की आराधना गृहवास मे भी हो सकती है। उसके जीवन मे केवल अनगार—चारित्र की आराधना नहीं होती। प्रस्तुत अध्ययन में उसी का प्रतिपादन है। इस तथ्य को इस भाषा में भी रखा जा सकता है कि प्रस्तुत अध्ययन मे मोक्ष-मार्ग के तीसरे अग (चारित्र) के द्वितीय अश—अनगार-चारित्र—का कर्त्तव्य-निर्देश है।

इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य संग-विज्ञान है। सग का अर्थ लेप या आसक्ति है। उसके १३ अग बतलाए गए हैं—

१—हिंसा,
२—असत्य,
३—चौर्य,
४—अब्रह्म-सेवन,
५—इच्छा-काम,
६—लोभ,
७—ससक्त-स्थान,
८—गृह-निर्माण,
९—अन्न-पाक,
१०—धनार्जन की वृत्ति,
११—प्रतिबद्ध भिक्षा,
१२—स्वाद-वृत्ति और
१३—पूजा की अभिलाषा।

इक्कीसवें अध्ययन में पाँचवाँ महाव्रत अपरिग्रह है। इस अध्ययन में उसके स्थान पर इच्छा-काम व लोभ-वर्जन है

अहिंस सच्च च अतेणगं च, तत्तो य बम्भ अपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पच महव्वयाणि, चरिज्ज धम्म जिणदेसिय विऊ ॥ (२१।१२)
तहेव हिंस अलिय, चोज्ज अबम्भसेवणं।
इच्छाकाम च लोभ च, सजओ परिवज्जए ॥ (३५।३)

चौतीसवें अध्ययन (श्लो० ३१) मे बतलाया गया है—'धम्मसुक्काणि झायए'—मुनि धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अभ्यास करे।

इस अध्ययन (श्लो० १६) में केवल शुक्लध्यान के अभ्यास की विधि बतलाई गई है—'सुक्कझाण झियाएज्जा'।

इसमे मृत्यु-धर्म की ओर भी इंगित किया गया है। मुनि जब तक जीए तब तक असंग जीवन जीए और जब काल-धर्म उपस्थित हो, तब वह आहार का परित्याग कर दे। (श्लो० २०) आगमकार को अनशनपूर्वक मृत्यु अधिक अभीप्सित है।

जीवन-काल में देह-व्युत्सर्ग के अभ्यास का निर्देश दिया गया है। (श्लो० १६) देह-व्युत्सर्ग का अर्थ देह-मुक्ति नहीं, किन्तु देह के प्रतिबन्ध से मुक्ति है। मनुष्य के लिए देह तब तक बन्धन रहता है, जब तक वह देह से प्रतिबद्ध रहता है। देह के प्रतिबन्ध से मुक्त होने पर वह मात्र साधन रहता है, बन्धन नहीं।

देह-व्युत्सर्ग असंग का मुख्य हेतु है। यही अनगार का मार्ग है। इससे दु:खों का अंत होता है। (श्लो० १) अनगार का मार्ग दु:ख-प्राप्ति के लिए नहीं, किन्तु दु:ख-मुक्ति के लिए है। अनगार दु:ख को स्वीकार नहीं करता, किन्तु उसके मूल को विनष्ट करने का मार्ग चुनता है और उसमे चलता है। उस पर चलने में जो दु:ख प्राप्त होते है, उन्हें वह झेलता है।

मनोहर गृह का त्याग और श्मशान, शून्यागार व वृक्ष-मूल में निवास कष्ट है पर यह कष्ट झेलने के लक्ष्य से निष्पन्न कष्ट नहीं है, किन्तु इन्द्रिय-विजय (श्लो० ४, ५) के मार्ग मे प्राप्त कष्ट है। इसी प्रकार अन्न-पाक न करना और भिक्षा लेना कष्ट है पर यह भी अहिंसा-धर्म के अनुपालन मे प्राप्त कष्ट है। (श्लो० १०,११, १२,१६)

इस प्रकार इस लघु-काय अध्ययन में अनेक महत्त्वपूर्ण चर्या-अंगों की प्ररूपणा हुई है।

पणतीसइमं अज्झयणं : पंचत्रिंश अध्ययन

अणगारमग्गगई : अनगार-मार्ग-गति

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१—सुणेह मेगग्गमणा[1] मग्गं बुद्धेहि देसियं । जमायरन्तो भिक्खू दुक्खाणन्तकरो भवे ॥	शृणुत मे एकाग्र-मनसः मार्गं बुद्धैर्देशितम् । यमाचरन् भिक्षुः दुःखानामन्तकरो भवेत् ॥	१—तुम एकाग्र मन होकर बुद्धों (तीर्थंकरों) के द्वारा उपदिष्ट उस मार्ग को मुझ से सुनो, जिसका आचरण करता हुआ भिक्षु दुःखों का अन्त कर देता ।
२—गिहवासं परिच्चज्ज पवज्जअस्सिओ[2] मुणी । इमे संगे वियाणिज्जा[3] जेहिं सज्जन्ति माणवा ॥	गृह-वासं परित्यज्य प्रव्रज्यामाश्रितो मुनिः । इमान् संगान् विजानीयात् येषु सज्यन्ते मानवाः ॥	२—जो मुनि गृह-वास को छोड़ कर प्रव्रज्या को अंगीकार कर चुका, वह उन संगों (लेपों) को जाने, जिनमें मनुष्य सक्त (लिप्त) होता है ।
३—तहेव हिंसं अलियं चोज्जं अबम्भसेवणं । इच्छाकामं च लोभं च संजओ परिवज्जए ॥	तथैव हिंसामलीकं चौर्यमब्रह्म-सेवनम् । इच्छा-कामं च लोभं च संयतः परिवर्जयेत् ॥	३—संयमी मुनि हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य-सेवन, इच्छा-काम (अप्राप्त वस्तु की आकांक्षा) और लोभ इन—सबका परिवर्जन करे ।
४—मणोहरं चित्तहरं मल्लधूवेण वासियं । सकवाडं पण्डुरुल्लोयं मणसा वि न पत्थए ॥	मनोहरं चित्रगृहं माल्य-धूपेन वासितम् । सकपाटं पाण्डुरोल्लोचं मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥	४—जो स्थान मनोहर चित्रों से आकीर्ण, माल्य और धूप से सुवासित, किवाड़ सहित, श्वेत चन्दवा से युक्त हो वैसे स्थान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे ।
५—इन्दियाणि उ भिक्खुस्स तारिसम्मि उवस्सए । दुक्कराइं निवारेउं[4] कामरागविवड्ढणे ॥	इन्द्रियाणि तु भिक्षोः तादृशे उपाश्रये । दुष्कराणि निवारयितुं कामराग-विवर्धने ॥	५—काम-राग को बढ़ाने वाले वैसे उपाश्रय में इन्द्रियों का निवारण करना (उन पर नियन्त्रण पाना) भिक्षु के लिए दुष्कर होता है ।

१. मे एगग्गमणा (उ, ऋ०) ।
२. पवज्जामस्सिए (उ, ऋ०) ।
३. वियाणेज्जा (अ) ।
४. उ धारेउ (चू०) ; निवारेउ (वृ० पा०) ।

६—सुसाणे सुन्नगारे वा
रुक्खमूले व एक्कओ[1]।
पइरिक्के[2] परकडे वा
वास तत्थऽभिरोयए ॥

श्मशाने शून्यागारे वा
वृक्ष-मूले वा एककः।
प्रतिरिक्ते परकृते वा
वासं तत्राभिरोचयेत् ॥

६—इसलिए एकाकी भिक्षु श्मशान में, शून्य गृह में, वृक्ष के मूल में अथवा परकृत एकान्त स्थान में रहने की इच्छा करे।

७—फासुयम्मि अणाबाहे
इत्थीहिं अणभिद्दुए।
तत्थ सकप्पए वासं
भिक्खू परमसंजए ॥

प्रासुके अनाबाघे
स्त्रीभिरनभिद्रुते।
तत्र सकल्पयेद्वास
भिक्षु परम-सयतः ॥

७—परम सयत भिक्षु प्रासुक, अनाबाध और स्त्रियो के उपद्रव से रहित स्थान में रहने का सकल्प करे।

८—न सय गिहाइ कुज्जा
णेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारम्भे
भूयाण दीसई वहो ॥

न स्वयं गृहाणि कुर्वीत
नैव अन्यै कारयेत्।
गृहकर्म-समारम्भे
भूताना दृश्यते वधः ॥

८-९—भिक्षु न स्वय घर बनाए और न दूसरो से बनवाए। गृह-निर्माण के समारम्भ (प्रवृत्ति) में जीवों—त्रस और स्थावर, सूक्ष्म और बादर—का वध देखा जाता है। इसलिए सयत भिक्षु गृह-समारम्भ का परित्याग करे।

९—तसाणं थावराण च
सुहुमाण बायराण य।
तम्हा गिहसमारम्भ
सजओ परिवज्जए ॥

त्रसाना स्थावराणां च
सूक्ष्माणा बादराणां च।
तस्माद् गृह-समारम्भं
सयत परिवर्जयेत् ॥

१०—तहेव भत्तपाणेसु
पयण[3] पयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए
न पये न पयावए ॥

तथैव भक्त-पानेषु
पचन पाचनेषु च।
प्राण-भूत-दयार्थं
न पचेत् न पाचयेत् ॥

१०—भक्त-पान के पकाने और पकवाने में हिंसा होती है, अत प्राणो और भूतो की दया के लिए भिक्षु न पकाए और न पकवाए।

११—जलधन्ननिस्सिया जीवा[4]
पुढवीकट्ठनिस्सिया[5]।
हम्मन्ति भत्तपाणेसु
तम्हा भिक्खू न पायए ॥

जल-धान्य-निश्रिता जीवा
पृथिवी-काष्ठ-निश्रिताः।
हन्यन्ते भक्त-पानेषु
तस्माद् भिक्षुर्न पाचयेत् ॥

११—भक्त और पान के पकाने में जल और धान्य के आश्रित तथा पृथ्वी और काष्ठ के आश्रित जीवों का हनन होता है, इसलिए भिक्षु न पकवाए।

---

१ एगओ (उ, ऋ०), एगया (वृ०), एक्तो (वृ० पा०)।
२ परक्के (वृ०), पइरिक्के (वृ० पा०)।
३ पयणेसु (ऋ०), पयणे य (अ)।
४ पाणा (अ)।
५. °काय° (उ)।

१२—विसप्पे 'सव्वओधारे
बहुपाणविणासणे ।
नत्थि जोइसमे सत्थे
तम्हा जोइ न दीवए ॥

विसर्पत् सर्वतोधार
बहुप्राणि-विनाशनम् ।
नास्ति ज्योतिः-सम शस्त्रं
तस्माज्ज्योतिर्न दीपयेत् ॥

१२—अग्नि फैलने वाली, सब ओर से धार वाली और बहुत जीवों का विनाश करने वाली होती है, उसके समान दूसरा कोई शस्त्र नहीं होता, इसलिए भिक्षु उसे न जलाए ।

१३—हिरण्ण जायरूवं च
मणसा वि न पत्थए ।
समलेट्ठुकचणे भिक्खू
विरए कयविक्कए ॥

हिरण्य जातरूप च
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ।
समलेष्टु-काचनो भिक्षु
विरतः क्रय-विक्रयात् ॥

१३—क्रय और विक्रय से विरत, मिट्टी के ढेले और सोने को समान समझने वाला भिक्षु सोने और चाँदी की मन से भी इच्छा न करे ।

१४—किणन्तो कइओ होइ
विक्किणन्तो य वाणिओ ।
कयविक्कयम्मि वट्टन्तो
भिक्खू न भवइ तारिसो ॥

क्रीणन् क्रयिको भवति
विक्रीणन च वाणिजः ।
क्रय-विक्रये वर्तमान·
भिक्षुर्नभवति तादृशः ॥

१४—वस्तु को खरीदने वाला क्रयिक होता है और बेचने वाला वणिक् । क्रय और विक्रय में वर्तन करने वाला भिक्षु वैसा नही होता—उत्तम भिक्षु नही होता ।

१५—भिक्खियव्व न केयव्व
भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा ।
कयविक्कओ महादोसो
भिक्खावत्ती' सुहावहा ॥

भिक्षितव्य न क्रेतव्यं
भिक्षुणा भैक्ष-वृत्तिना ।
क्रय-विक्रयो महान् दोषो
भिक्षा-वृत्तिः सुखावहा ॥

१५—भिक्षा-वृत्ति वाले भिक्षु को भिक्षा ही करनी चाहिए, क्रय-विक्रय नही । क्रय-विक्रय महान् दोष है । भिक्षा-वृत्ति सुख को देने वाली है ।

१६—समुयाण उंछमेसिज्जा
जहासुत्तमणिन्दिय ।
लाभालाभम्मि सतुट्टे
पिण्डवाय 'चरे मुणी'[२] ॥

सुमुदानमुञ्छमेषयेत्
यथा-सूत्रमनिन्दितम् ।
लाभालाभे सन्तुष्टः
पिण्ड-पात चरेत् मुनिः ॥

१६—मुनि सूत्र के अनुसार, अनिन्दित और सामुदायिक उञ्छ की एषणा करे । वह लाभ और अलाभ मे सन्तुष्ट रहकर पिण्ड-पात (भिक्षा) की चर्या करे ।

१७—अलोले न रसे गिद्धे
जिब्भादन्ते अमुच्छिए ॥
न रसट्ठाए भुजिज्जा
जवणट्ठाए महामुणी ॥

अलोलो न रसे गृद्धो
दान्त-जिह्वोऽमूर्च्छित ।
न रसार्थं भुजीत
यापनार्थं महामुनिः ॥

१७—अलोलुप, रस में अगृद्ध, जीभ का दमन करने वाला और अमूर्च्छित महामुनि रस (स्वाद) के लिए न खाए, किन्तु जीवन-निर्वाह के लिए खाए ।

---

१. भिक्खू वित्ती (उ, ऋ०)।
२. गवेसए (बृ० पा०)।

१८—अच्चणं रयणं चेव
वन्दण पूयण तहा ।
इड्ढीसक्कारसम्माण
मणसा वि न पत्थए ॥

अर्चनां रचनां चैव
वन्दनं पूजनं तथा ।
ऋद्धि-सत्कार-सम्मानं
मनसाऽपि न प्रार्थयेत् ॥

१८—मुनि अर्चना, रचना (अक्षत, मोती आदि का स्वस्तिक बनाना), वन्दना, पूजा, ऋद्धि, सत्कार और सम्मान की मन से भी प्रार्थना (अभिलाषा) न करे ।

१९—सुक्कझाण झियाएज्जा
अणियाणे अकिंचणे ।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा
जाव कालस्स पज्जओ ॥

शुक्ल-ध्यानं ध्यायेत्
अनिदानोऽकिंचनः ।
व्युत्सृष्ट-कायो विहरेत
यावत्कालस्य पर्ययः ॥

१९—मुनि शुक्ल ध्यान ध्याए । अनिदान और अकिंचन रहे । वह जीवन भर व्युत्सृष्ट-काय (देहाध्यास से मुक्त) होकर विहार करे ।

२०—निज्जूहिऊण आहारं
कालधम्मे उवट्ठिए ।
जहिऊण[1] माणुसं बोन्दिं
पहू दुक्खे विमुच्चई ॥

निर्यूह्य आहारं
काल-धर्मे उपस्थिते ।
त्यक्त्वा मानुषं शरीरं
प्रभुर्दुःखैः विमुच्यते ॥

२०—समर्थ मुनि काल-धर्म के उपस्थित होने पर आहार का परित्याग करके, मनुष्य शरीर को छोड़ कर दुःखों से विमुक्त हो जाता है ।

२१—निम्ममो निरहंकारो
वीयरागो अणासवो[2] ।
सपत्तो केवलं नाणं
सासय परिणिव्वुए ॥
—त्ति बेमि ।

निर्ममो निरहंकारः
वीतरागोऽनाश्रवः ।
सम्प्राप्तः केवलं ज्ञानं
शाश्वतं परिनिर्वृतः ॥
—इति ब्रवीमि ।

२१—निर्मम, निरहंकार, वीतराग और आश्रवों से रहित मुनि शाश्वत केवलज्ञान को प्राप्त कर परिनिर्वृत्त हो जाता है—सर्वथा आत्मस्थ हो जाता है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

---

१ चइऊण (उ, ऋ०) ।
२. निरासवे (चू०) ।

छत्तीसइमं अज्झयणं :

जीवाजीवविभत्ती

षट्त्रिंश अध्ययन :

जीवाजीव-विभक्ति

आमुख

इस अध्ययन में जीव और अजीव के विभागों का निरूपण किया गया है। इसलिए इसका नाम—'जीवाजीवविभत्ती'—'जीवाजीव-विभक्ति' है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार मूल तत्त्व दो है—जीव और अजीव। शेष सब तत्त्व इनके अवान्तर विभाग हैं। प्रस्तुत अध्ययन मे लोक की परिभाषा इसी आधार पर की गई है. "जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए"। (श्लो० २)

प्रज्ञापना के प्रथम पद में जीव और अजीव की प्रज्ञापना की गई है। उसकी जीव-प्रज्ञापना का क्रम प्रस्तुत अध्ययन को जीव-विभक्ति से कुछ भिन्न है। यहाँ ससारी जीवों के दो प्रकार किए गए है—त्रस और स्थावर। स्थावर के तीन प्रकार है—पृथ्वी, जल और वनस्पति। (श्लो० ६८,६९) त्रस के भी तीन प्रकार है—अग्नि, वायु और उदार। (श्लो० १०७) उदार के चार प्रकार है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय। (श्लो० १२६)

प्रज्ञापना में ससारी जीवों के पाँच प्रकार किए गए है—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय।[1]

प्रस्तुत अध्ययन के जीव-विभाग में एकेन्द्रिय का उल्लेख नहीं है और प्रज्ञापना में त्रस-स्थावर का विभाग नही है। आचाराग (प्रथम श्रुत-स्कन्ध) सबसे प्राचीन आगम माना जाता है। उसमें जीव-विभाग छह जीव-निकाय के रूप में प्राप्त है। छह जीव-निकाय का क्रम इस प्रकार है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु।[2] आचाराग के नौवें अध्ययन में छह जीव-निकाय का क्रम भिन्न प्रकार से मिलता है—पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस।[3] वहाँ त्रस और स्थावर ये दो विभाग भी मिलते है।[4]

आचाराग के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि जीवों का प्राचीनतम विभाग छह जीव-निकाय के रूप मे रहा है। त्रस और स्थावर का विभाग भी प्राचीन है, किन्तु स्थावर के तीन प्रकार और त्रस के तीन प्रकार—यह विभाग आचाराग मे नहीं मिलता। स्थानाग में यह प्राप्त है।[5] सम्भव है स्थानाग से ही उत्तराध्ययन मे यह गृहीत हुआ है।

प्रज्ञापना का विभाग और भी उत्तरवर्ती जान पड़ता है।

जीव और अजीव का विशद वर्णन जीवाजीवाभिगम सूत्र में मिलता है।[6] वह उत्तरवर्ती आगम है,

---

१—प्रज्ञापना, (प्रथम पद), सूत्र ९।

२—आचारांग, १।१।२-७।

३—वही, १।९।१।१२।

४—वही, १।९।१।१४।

५—स्थानांग, ३।२। सू० १६४

तिविहा तसा प० त०—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा,

तिविहा थावरा, प० त०—पुढविकाइया आउकाइया वणस्सइकाइया।

६—जीवाजीवाभिगम, प्रतिपत्ति १-९।

इसलिए उसमें जीव-विभाग सम्बन्धी अनेक मतों का संग्रहण किया गया है :

(१) दो प्रकार के जीव—	त्रस और स्थावर।
(२) तीन प्रकार के जीव—	स्त्री, पुरुष और नपुसक।
(३) चार प्रकार के जीव—	नैरयिक, तिर्यंच-योनिक, मनुष्य और देव।
(४) पाँच प्रकार के जीव—	एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय।
(५) छह प्रकार के जीव—	पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक।
(६) सात प्रकार के जीव—	नैरयिक, तिर्यंच, तिर्यंची, मनुष्य, स्त्री, देव और देवी।
(७) आठ प्रकार के जीव—	प्रथम समय के नैरयिक, अप्रथम समय के नैरयिक। " " तिर्यंच, " " तिर्यंच। " " मनुष्य, " " मनुष्य। " " देव, " " देव।
(८) नौ प्रकार के जीव—	पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।
(९) दस प्रकार के जीव—	प्रथम समय के एकेन्द्रिय, अप्रथम समय के एकेन्द्रिय। " " द्वीन्द्रिय, " " द्वीन्द्रिय। " " त्रीन्द्रिय, " " त्रीन्द्रिय। " " चतुरिन्द्रिय, " " चतुरिन्द्रिय। " " पंचेन्द्रिय, " " पंचेन्द्रिय।

इस प्रकार आगम-ग्रन्थों मे अनेक विवक्षाओं से जीवों के अनेक विभाग प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में अजीव के दो भेद किए हैं—रूपी और अरूपी। (श्लो० ४)

अरूपी अजीव के दस भेद हैं (श्लो० ४,५,६)

(१) धर्मास्तिकाय,
(२) धर्मास्तिकाय का देश,
(३) धर्मास्तिकाय का प्रदेश,
(४) अधर्मास्तिकाय,
(५) अधर्मास्तिकाय का देश,
(६) अधर्मास्तिकाय का प्रदेश,
(७) आकाशास्तिकाय,
(८) आकाशास्तिकाय का देश,
(९) आकाशास्तिकाय का प्रदेश और
(१०) अद्धा-समय।

रूपी अजीव के चार भेद हैं (श्लो० १०).

(१) स्कन्ध,
(२) स्कन्ध-देश,
(३) स्कन्ध-प्रदेश और
(४) परमाणु।

प्रज्ञापना और जीवाजीवाभिगम सूत्र में भी अजीव का यही विभाग मान्य है।

छत्तीसइमं अज्झयणं : षट्त्रिंश अध्ययन

जीवाजीवविभत्ती : जीवाजीव-विभक्ति

मूल

१—जीवाजीवविभत्तिं
'सुणेह मे'[1] एगमणा इओ।
जं जाणिऊण समणे[2]
सम्मं जयइ संजमे॥

संस्कृत छाया

जीवाजीवविभक्तिं
शृणुत मम एक-मनसः इतः।
यां ज्ञात्वा श्रमणः
सम्यग् यतते संयमे॥

हिन्दी अनुवाद

१—तुम एकाग्र-मन होकर मेरे पास जीव और अजीव का वह विभाग सुनो, जिसे जान कर श्रमण संयम में सम्यक् प्रयत्न करता है।

२—जीवा चेव अजीवा य
एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे
अलोए से वियाहिए॥

जीवाश्चैवाजीवाश्च
एष लोको व्याख्यातः।
अजीव-देश आकाशः
अलोकः स व्याख्यातः॥

२—यह लोक जीव और अजीवमय है। जहाँ अजीव का देश आकाश ही है, उसे अलोक कहा गया है।

३—दव्वओ खेत्तओ चेव
कालओ भावओ तहा।
परूवणा तेसिं भवे
जीवाणमजीवाण य॥

द्रव्यतः क्षेत्रतश्चैव
कालतोभावतस्तथा।
प्ररूपणा तेषां भवेत्
जीवनामजीवानां च॥

३—जीव और अजीव की प्ररूपणा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चार दृष्टियों से होती है।

४—रूविणो चेवऽरूवी य
अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता
रूविणो वि चउव्विहा॥

रूपिणश्चैवाऽरूपिणश्च
अजीवा द्विविधा भवेयुः।
अरूपिणो दशधोक्ताः
रूपिणोऽपि चतुर्विधाः॥

४—अजीव दो प्रकार का है—रूपी और अरूपी। अरूपी के दश और रूपी के चार प्रकार हैं।

५—धम्मत्थिकाए तद्देसे
तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य
तप्पएसे य आहिए॥

धर्मास्तिकायस्तद्देश
तत्प्रदेशश्चाख्यातः।
अधर्मस्तस्य देशश्च
तत्प्रदेशश्चाख्यातः॥

५—धर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश, अधर्मास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश,

---

१. मे सुणेह (बृ०)।
२ भिक्खू (उ, ऋ०, बृ०), समणे (बृ० पा०)।

६—आगासे तस्स देसे य
तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव
अरूवी दसहा भवे॥

आकाशस्तस्य देशश्च
तत्प्रदेशश्चाख्यातः।
अध्वासमयश्चैव
अरूपिणो दशधा भवेयुः॥

६—आकाशास्तिकाय और उसका देश तथा प्रदेश तथा एक अध्वासमय (काल)—ये दस भेद अरूपी अजीव के होते हैं।

७—धम्माधम्मे य दोऽवेए[1]
लोगमित्ता वियाहिया।
लोगालोगे य आगासे
समए समयखेत्तिए॥

धर्माधर्मौ च द्वावप्येतौ
लोकमात्रौ व्याख्यातौ।
लोकालोके चाकाशः
समयः समय-क्षेत्रिक.॥

७—धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय लोक-प्रमाण हैं। आकाश लोक और अलोक दोनों में व्याप्त है। समय समय-क्षेत्र (मनुष्य-लोक) में ही होता है।

८—धम्माधम्मागासा
तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव
सव्वद्धं तु वियाहिया॥

धर्माऽधर्माऽऽकाशानि
त्रीण्यप्येतान्यनादीनि।
अपर्यवसितानि चैव
सर्वाध्वं तु व्याख्यातानि॥

८—धर्म, अधर्म और आकाश ये तीन द्रव्य अनादि-अनन्त और सार्वकालिक होते हैं।

९—'समए वि सन्तइं पप्प
एवमेव'[2] वियाहिए।
आएसं पप्प साईए
सपज्जवसिए वि य।

समयोऽपि सतति प्राप्य
एवमेव व्याख्यातः।
आदेश प्राप्य सादिकः
सपर्यवसितोऽपि च॥

९—प्रवाह की अपेक्षा समय अनादि-अनन्त है। एक-एक क्षण की अपेक्षा से वह सादि-सान्त है।

१०—खन्धा य खन्धदेसा य
तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोद्धव्वा
रूविणो य चउव्विहा॥

स्कन्धाश्च स्कन्ध-देशाश्च
तत्प्रदेशास्तथैव च।
परमाणवश्च बोद्धव्या
रूपिणश्च चतुर्विधा॥

१०—रूपी पुद्गल के चार भेद होते हैं—१-स्कन्ध, २-स्कन्ध-देश, ३-स्कन्ध-प्रदेश और ४-परमाणु।

११—एगत्तेण पुहत्तेण
खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य
भइयव्वा ते उ खेत्तओ॥
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

एकत्वेन पृथक्त्वेन
स्कन्धाश्च परमाणवः।
लोकैकदेशे लोके च
भक्तव्यास्ते तु क्षेत्रतः॥
इत कालविभागं तु
तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम्॥

११—अनेक परमाणुओं के एकत्व से स्कन्ध बनता है और उसका पृथकत्व होने से परमाणु बनते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा से वे (स्कन्ध) लोक के एक देश और समूचे लोक में भाज्य है—असंख्य विकल्प युक्त हैं। अब उनका चतुर्विध काल-विभाग कहूँगा।

---

१. दोएए (उ); दोवे य (ऋ०)।
२. एमेव सतइ पप्प समए वि (बृ० पा०)।

१२—संतइं पप्प तेऽणाई
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्य तेऽनादयः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१२—वे (स्कन्ध और परमाणु) प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं तथा स्थिति (एक क्षेत्र में रहने) की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१३—असंखकालमुक्कोसं
'एगं समय जहन्निया'[1]।
अजीवाण[2] य रूवीण
ठिई एसा वियाहिया॥

असङ्ख्यकालमुत्कर्षं
एकं समय जघन्यका।
अजीवाना च रूपिणा
स्थितिरेषा व्याख्याता॥

१३—रूपी अजीवों (पुद्गलों) की स्थिति जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत असंख्यात काल की होती है।

१४—अणन्तकालमुक्कोसं
एग समय जहन्नय।
अजीवाण[2] य रूवीण
अन्तरेय वियाहिय॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
एकं समय जघन्यकम्।
अजीवानां च रूपिणां
अन्तरमिदं व्याख्यातम्॥

१४—उनका अन्तर (स्वस्थान से स्खलित होकर वापिस नहीं आने तक का काल) जघन्यत एक समय और उत्कृष्टत अनन्त काल का होता है।

१५—वण्णओ गन्धओ चेव
रसओ फासओ तहा।
सठाणओ य विन्नेओ
परिणामो तेसि पचहा॥

वर्णतो गन्धतश्चैव
रसत: स्पर्शतस्तथा।
संस्थानतश्च विज्ञेयः
परिणामस्तेषा पचधा॥

१५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की अपेक्षा से उनका परिणमन पाँच प्रकार का होता है।

१६—वण्णओ परिणया जे उ
पचहा ते पकित्तिया।
किण्हा नीला य लोहिया
हालिद्दा सुकिला तहा॥

वर्णत: परिणता ये तु
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
कृष्णा नीलाश्च लोहिताः
हारिद्राः शुक्लास्तथा॥

१६—वर्ण की अपेक्षा से उनका परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-कृष्ण, २-नील, ३-रक्त, ४-पीत और ५-शुक्ल।

१७—गन्धओ परिणया जे उ
दुविहा ते वियाहिया।
सुब्भिगन्धपरिणामा
दुब्भिगन्धा तहेव य॥

गन्धतः परिणता ये तु
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सुरभिगन्ध-परिणामाः
दुर्गन्धास्तथैव च॥

१७—गन्ध की अपेक्षा से उनकी परिणति दो प्रकार की होती है—१-सुगन्ध और २-दुर्गन्ध।

---

१. एगो समओ जहन्नय (ऋ०), इक्को समओ जहन्निया (उ)।
२. अजीवाणं (उ)।

१८—रसओ परिणया जे उ
पंचहा ते पकित्तिया।
तित्तकडुयकसाया
अम्बिला महुरा तहा॥

रसतः परिणता ये तु
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
तिक्त-कटुक-कषायाः
अम्ला मधुरास्तथा॥

१८—रस की अपेक्षा से उनकी परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-तिक्त, २-कटु, ३-कसैला, ४-खट्टा और ५-मधुर।

१९—फासओ परिणया जे उ
अट्ठहा ते पकित्तिया।
कक्खडा मउया चेव
गरुया लहुया तहा॥

स्पर्शतः परिणता ये तु
अष्टधा ते प्रकीर्तिता।
कक्खटा मृदुकाश्चैव
गुरुका लघुकास्तथा॥

१९-२०—स्पर्श की अपेक्षा से उनकी परिणति आठ प्रकार की होती है—१-कर्कश, २-मृदु, ३-गुरु, ४-लघु, ५-शीत, ६-उष्ण, ७-स्निग्ध और ८-रुक्ष।

२०—सीया उण्हा य निद्धा य
तहा लुक्खा य आहिया।
इइ फासपरिणया एए
पुग्गला समुदाहिया॥

शीता उष्णाश्च स्निग्धाश्च
तथा रूक्षाश्चव्याख्याताः।
इति स्पर्श-परिणता एते
पुद्गला समुदाहृता॥

२१—सठाणपरिणया जे उ
पचहा ते पकित्तिया।
परिमण्डला 'य वट्टा'[1]
तसा चउरसमायया॥

संस्थान-परिणता ये तु
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
परिमण्डलाश्च वृत्ताः
त्र्यस्राश्चतुरस्रा आयताः॥

२१—सस्थान की अपेक्षा से उनकी परिणति पाँच प्रकार की होती है—१-परिमण्डल, २-वृत्त, ३-त्रिकोण, ४-चतुष्क और ५-आयत।

२२—वण्णओ जे भवे किण्हे
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

वर्णतो यो भवेत् कृष्णः
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसतः स्पर्शतश्चैव
भाज्य संस्थानतोऽपि च॥

२२—जो पुद्गल वर्ण से कृष्ण है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य (अनेक विकल्प युक्त) होता है।

२३—वण्णओ जे भवे नीले
भइए से उ गन्धओ।
रसओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

वर्णतो यो भवेन् नीलः
भाज्यः स तु गन्धतः।
रसत· स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

२३—जो पुद्गल वर्ण से नील है, वह गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

---

1. वट्टा य (अ०)।

२४—वण्णओ लोहिए जे उ, भइए से उ गन्धओ। रसओ फासओ चेव भइए सठाणओ वि य॥	वर्णतो लोहितो यस्तु भाज्यः स तु गन्वत । रसतः स्पर्शतश्चैव भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥	२४—जो पुद्गल वर्ण से रक्त है, वह गन्व, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।
२५—वण्णओ पीयए जे उ भइए से उ गन्धओ। रसओ फासओ चेव भइए सठाणओ वि य॥	वर्णतः पीतको यस्तु भाज्यः स तु गन्धतः। रसतः स्पर्शतश्चैव भाज्यः संस्थानतोऽपि च ॥	२५—जो पुद्गल वर्ण से पीत है, वह गन्व, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।
२६—वण्णओ सुक्किले जे उ भइए से उ गन्धओ। रसओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥	वर्णतः शुक्लो यस्तु भाज्य स तु गन्वतः। रसत· स्पर्शतश्चैव भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥	२६—जो पुद्गल वर्ण से श्वेत है, वह गन्व, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।
२७—गन्धओ जे भवे सुब्भी भइए से उ वण्णओ। रसओ फासओ चेव भइए सठाणओ वि य॥	गन्घतो यो भवेत् सुरभिः भाज्यः स तु वर्णत । रसतः स्पर्शतश्चैव भाज्य· सस्थानतोऽपि च ॥	२७—जो पुद्गल गन्व से सुगन्ध वाला है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।
२८—गन्धओ जे भवे दुब्भी भइए से उ वण्णओ। रसओ फासओ चेव भइए सठाणओ वि य॥	गन्घतो यो भवेद्दुर्गन्धः भाज्यः स तु वर्णतः। रसतः स्पर्शतश्चैव भाज्य संस्थानतोऽपि च ॥	२८—जो पुद्गल गन्व से दुर्गन्ध वाला है, वह वर्ण, रस, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।
२९—रसओ तित्तए जे उ भइए से उ वण्णओ। गन्धओ फासओ चेव भइए संठाणओ वि य॥	रसतस्तिक्तो यस्तु भाज्यः स तु वर्णतः। गन्धतः स्पर्शतश्चैव भाज्यः सस्थानतोऽपि च ॥	२९—जो पुद्गल रस से तिक्त है, वह वर्ण, गध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३०—रसओ कडुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतः कटुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः सस्थानतोऽपि च॥

३०—जो पुद्गल रस से कड़ुवा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३१—रसओ कसाए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

रसतः कषायो यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३१—जो पुद्गल रस से कसैला है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३२—रसओ अम्बिले जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

रसतः अम्लो यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्य संस्थानतोऽपि च॥

३२—जो पुद्गल रस से खट्टा है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३३—रसओ महुरए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ फासओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

रसतो मधुरको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णत।
गन्धतः स्पर्शतश्चैव
भाज्यः सस्थानतोऽपि च॥

३३—जो पुद्गल रस से मधुर है, वह वर्ण, गन्ध, स्पर्श और सस्थान से भाज्य होता है।

३४—फासओ कक्खडे जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

स्पर्शतः कर्कशो यस्तु
भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य सस्थानतोऽपि च॥

३४—जो पुद्गल स्पर्श से कर्कश है, वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य होता है।

३५—फासओ मउए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए सठाणओ वि य॥

स्पर्शतो मृदुको यस्तु
भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः सस्थानतोऽपि च॥

३५—जो पुद्गल स्पर्श से मृदु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और सस्थान से भाज्य होता है।

३६—फासओ गुरुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो गुरुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य संस्थानतोऽपि च॥

३६—जो पुद्गल स्पर्श से गुरु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३७—फासओ लहुए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो लघुको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णत
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३७—जो पुद्गल स्पर्श से लघु है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३८—फासओ सीयए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः शीतको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३८—जो पुद्गल स्पर्श से शीत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

३९—फासओ उण्हए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः उष्णको यस्तु
भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

३९—जो पुद्गल स्पर्श से उष्ण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४०—फासओ निद्धए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतः स्निग्धको यस्तु
भाज्यः स तु वर्णत।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः संस्थानतोऽपि च॥

४०—जो पुद्गल स्पर्श से स्निग्ध है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४१—फासओ लुक्खए जे उ
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए संठाणओ वि य॥

स्पर्शतो रुक्षको यस्तु
भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य संस्थानतोऽपि च॥

४१—जो पुद्गल स्पर्श से रूक्ष है, वह वर्ण, गन्ध, रस और संस्थान से भाज्य होता है।

४२—परिमण्डलसठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

परिमण्डल-सस्थान
भाज्य स तु वर्णत ।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य स्पर्शतोऽपि च ॥

४२—जो पुद्गल सस्थान से परिमण्डल है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४३—सठाणओ भवे वट्टे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

सस्थानतो भवेद् वृत्तः
भाज्य स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य. स्पर्शतोऽपि च ॥

४३—जो पुद्गल सस्थान से वृत्त है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४४—सठाणओ भवे तंसे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

संस्थानतो भवेत् त्र्यस्रः
भाज्य. स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य. स्पर्शतोऽपि च ॥

४४—जो पुद्गल सस्थान से त्रिकोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४५—सठाणओ व चउरसे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

संस्थानतो यश्चतुरस्रः
भाज्यः स तु वर्णतः।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्यः स्पर्शतोऽपि च ॥

४५—जो पुद्गल सस्थान से चतुष्कोण है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४६—जे आययसठाणे
भइए से उ वण्णओ।
गन्धओ रसओ चेव
भइए फासओ वि य॥

य आयत-सस्थान
भाज्य. स तु वर्णत ।
गन्धतो रसतश्चैव
भाज्य स्पर्शतोऽपि च ॥

४६—जो पुद्गल सस्थान से आयत है, वह वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श से भाज्य होता है।

४७—एसा अजीवविभत्ती
समासेण वियाहिया।
इत्तो जीवविभत्तिं
वुच्छामि अणुपुव्वसो॥

एषाऽजीव-विभक्तिः
समासेन व्याख्याता।
इतो जीव-विभक्तिं
वक्ष्याम्यनुपूर्वश. ॥

४७—यह अजीव-विभाग सक्षेप में कहा गया है। अब अनुक्रम से जीव-विभाग का निरूपण करूँगा।

४८—ससारत्था य सिद्धा य
दुविहा जीवा वियाहिया[1]।
'सिद्धा णेगविहा वुत्ता'[2]
त मे कित्तयओ सुण ॥

ससारस्थाश्च सिद्धाश्च
द्विविधाः जीवा व्याख्याता.।
सिद्धा अनेकविधा उक्ता
तान् मे कीर्तयतः शृणु ॥

४८—जीव दो प्रकार के होते है—(१) ससारी और (२) सिद्ध। सिद्ध अनेक प्रकार के होते हैं। मैं उनका निरूपण करता हूँ, तुम मुझ से सुनो।

४९—इत्थी पुरिससिद्धा य
तहेव य नपुसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य
गिहिलिंगे तहेव य ॥

स्त्री-पुरुष-सिद्धाश्च
तथैव च नपुसका ।
स्व-लिंगा अन्य-लिंगाश्च
गृह-लिंगास्तथैव च ॥

४९—स्त्रीलिंग सिद्ध, पुरुषलिंग सिद्ध, नपुसकलिंग सिद्ध, स्वलिंग सिद्ध, अन्यलिंग सिद्ध, गृहलिंग सिद्ध आदि उनके अनेक प्रकार है।

५०—उक्कोसोगाहणाए य
जहन्नमज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरिय च
समुद्दम्मि जलम्मि य ॥

उत्कर्षावगाहनाया च
जघन्यमध्यमयोश्च।
ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् च
समुद्रे जले च ॥

५०—उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम अवगाहना (कद) में, ऊँचे, नीचे और तिरछे लोक में तथा समुद्र व अन्य जलाशयो में भी जीव सिद्ध होते है।

५१—दस 'चेव नपुसेसु'[3]
वीस इत्थियासु य।
पुरिसेसु य अट्ठसय
समएणेगेण सिज्झई ॥

दस चैव नपुसकेषु
विंशतिः स्त्रीषु च।
पुरुषेषु चाष्टशत
समयेनैकेन सिध्यति ॥

५१—दश नपुसक, वीस स्त्रियाँ और एक सौ आठ पुरुष एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५२—चत्तारि य गिहिलिंगे
अन्नलिंगे दसेव य।
सलिंगेण य अट्ठसय
समएणेगेण सिज्झई ॥

चत्वारश्च गृह-लिंगे
अन्य-लिंगे दशैव च।
स्व-लिंगेन चाष्टशत
समयेनैकेन सिध्यति ॥

५२—गृहस्थ वेश में चार, अन्य तीर्थिक वेश में दश और निर्ग्रन्थ वेश में एक सौ आठ जीव एक साथ सिद्ध हो सकते हैं।

५३—उक्कोसोगाहणाए य
सिज्झन्ते जुगव दुवे।
चत्तारि जहन्नाए
जवमज्झऽट्ठुत्तर[4] सय ॥

उत्कर्षावगाहनाया च
सिध्यतो युगपद् द्वौ।
चत्वारो जघन्यायाम्
यवमध्यायामष्टोत्तर शतम् ॥

५३—उत्कृष्ट अवगाहना में दो, जघन्य अवगाहना में चार और मध्यम अवगाहना में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

---

१. भवति त (बृ० पा०)।
२. सत्थाणगविहा सिद्धा (बृ० पा०)।
३ य नपुसएसु (बृ०)।
४ मज्झे अट्ठत्तर (अ)।

५४—'चउरुड्ढलोए य दुवे समुद्दे
तओ जले वीसमहे तहेव[1]।
सयं च अट्ठुत्तर तिरियलोए
समएणेगेण उ 'सिज्झई उ'[2]॥'[3]

चत्वार ऊर्ध्व-लोके च द्वौ समुद्रे
त्रयो जले विंशतिरधस्तथैव।
शतं चाष्टोत्तरं तिर्यग्-लोके
समयेनैकेन तु सिध्यति॥

५४—ऊँचे लोक में चार, समुद्र में दो, अन्य जलाशयों में तीन, नीचे लोक में बीस, तिरछे लोक में एक सौ आठ जीव एक ही क्षण में सिद्ध हो सकते हैं।

५५—कहिं पडिहया सिद्धा ?
कहिं सिद्धा पइट्ठिया ?।
कहिं बोन्दिं चइत्ताणं ?
कत्थ गन्तूण सिज्झई ?॥

क्वः प्रतिहता सिद्धाः ?
क्व सिद्धाः प्रतिष्ठिताः ?।
क्व शरीरं त्यक्त्वा ?
कुत्र गत्वा सिध्यन्ति तु ?॥

५५—सिद्ध कहाँ रुकते है ? कहाँ स्थित होते हैं ? कहाँ शरीर को छोडते हैं ? और कहाँ जाकर सिद्ध होते है ?

५६—अलोए पडिहया सिद्धा
लोयग्गे य पइट्ठिया।
इह बोन्दिं चइत्ताणं
तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

अलोके प्रतिहताः सिद्धाः
लोकाग्रे च प्रतिष्ठिताः।
इह शरीरं त्यक्त्वा
तत्र गत्वा सिध्यन्ति॥

५६—सिद्ध अलोक में रुकते है। लोक के अग्रभाव में स्थित होते हैं। मनुष्य लोक में शरीर को छोडते है और लोक के अग्रभाग में जाकर सिद्ध होते है।

५७—बारसहिं जोयणेहिं
सव्वट्ठस्सुवरिं भवे।
ईसीपब्भारनामा उ[4]
पुढवी छत्तसंठिय॥

द्वादशभिर्योजनैः
सर्वार्थस्योपरि भवेत्।
ईषत्प्राग्भारनाम्नी तु
पृथ्वी छत्र-संस्थिता॥

५७—सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर ईषत्-प्राग्भारा नामक पृथ्वी है। वह छत्राकार में अवस्थित है।

५८—पणयालसयसहस्सा
जोयणाण तु आयया।
तावइय चेव वित्थिण्णा
'तिगुणो तस्सेव परिरओ'[5]॥

पञ्चचत्वारिंशत् शतसहस्राणि
योजनानां त्वायता।
तावन्ति चैव विस्तीर्णा
त्रिगुणस्तस्मादेव परिरयः॥

५८—उसकी लम्बाई और चौडाई पैंतालीस लाख योजन की है। उसकी परिधि उस (लम्बाई-चौडाई) से तिगुनी है।

---

१ तहेव य (अ)।
२ सिज्झइ धुव (उ, ऋ०)।
३ चउरो उड्ढलोगमि वीसपहुत्त अहे भवे।
सय अट्ठोत्तर तिरिए एग समएण सिज्झइ॥
दुवे समुद्दे सिज्झवि सेस जलेछ ततो जणा।
एसा हु सिज्झणा भणिया पुव्वभाव पडुच्च उ॥ (बृ० पा०)।
४ × (उ, ऋ०)।
५ तिउण साहिय परिरय (बृ० पा०)।

५९—अट्ठजोयणबाहल्ला
सा मज्झम्मि वियाहिया ।
परिहायन्ती चरिमन्ते
मच्छियपत्ता तणुयरी ॥

अष्टयोजन-बाहल्या
सा मध्ये व्याख्याता ।
परिहीयमाणा चरमान्ते
मक्षिका-पत्रात् तनुतरा ॥

५९—मध्य भाग में उसकी मोटाई आठ योजन की है। वह क्रमश पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी के पर से भी अधिक पतली हो जाती है।

६०—अज्जुणसुवण्णगमई
सा पुढवी निम्मला सहावेण ।
उत्ताणगछत्तगसठिया य
भणिया जिणवरेहिं ॥

अर्जुन-सुवर्णकमयी
सा पृथिवी निर्मला स्वभावेन ।
उत्तानकच्छत्रक-सस्थिता च
भणिता जिनवरै. ॥

६०—वह श्वेत-स्वर्णमयी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (सीधे) छत्राकार वाली है—ऐसा जिनवर ने कहा है।

६१—सङ्खककुन्दसकासा
पण्डुरा निम्मला सुहा ।
सीयाए जोयणे तत्तो
लोयन्तो उ वियाहिओ ॥

शङ्खाङ्ककुन्द-सकाशा
पाण्डुरा निर्मला शुभा ।
सीतायां योजने तत.
लोकान्तस्तु व्याख्यातः ॥

६१—वह शख, अक-रत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत, निर्मल और शुद्ध है। उस सीता नाम की ईषत्-प्राग्भारा पृथ्वी से एक योजन ऊपर लोक का अन्त (अग्रभाग) है।

६२—जोयणस्स उ जो तस्स[1]
कोसो उवरिमो भवे ।
'तस्स कोसस्स छब्भाए
सिद्धाणोगाहणा भवे'[2] ॥

योजनस्य तु यस्तस्य
क्रोश उपरिवर्ती भवेत् ।
तस्य क्रोशस्य षड्भागे
सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥

६२—उस योजन के उपरले कोस के छठे भाग में सिद्धों की अवगाहना (अवस्थिति) होती है।

६३—तत्थ सिद्धा महाभागा
लोयग्गम्मि पइट्ठिया[3] ।
भवप्पवच उम्मुका
सिद्धिं वरगइं गया ॥

तत्र सिद्धा महाभागाः
लोकाग्र प्रतिष्ठिताः ।
भव-प्रपञ्चोन्मुक्ताः
सिद्धिं वरगतिं गता ॥

६३—अनन्त शक्तिशाली भव-प्रपच से उन्मुक्त और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सिद्ध वहाँ लोक के अग्रभाग में स्थित होते हैं।

६४—उस्सेहो जस्स जो होइ
भवम्मि चरिमम्मि उ[4] ।
तिभागहीणा तत्तो य
सिद्धाणोगाहणा भवे ॥

उत्सेधो यस्य यो भवति
भवे चरमे तु ।
त्रिभागहीना ततश्च
सिद्धानामवगाहना भवेत् ॥

६४—अन्तिम भव में जिसकी जितनी ऊँचाई होती है, उससे त्रिभागहीन (एक तिहाई—कम) उसकी अवगाहना होती है।

---

१. तत्थ (बृ०), तस्स (बृ० पा०)।
२ कोसस्सवि य जो तत्थ छब्भागो उवरिमो भवे (बृ० पा०)।
३. य सट्ठिया (अ)।
४. य (ऋ०)।

६५—एगत्तेण साईया
अपज्जवसिया वि य।
पुहुत्तेण अणाईया
अपज्जवसिया वि य॥

एकत्वेन सादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
पृथुत्वेनानादिका
अपर्यवसिता अपि च॥

६५—एक-एक की अपेक्षा से सिद्ध सादि-अनन्त और पृथुता (बहुत्व) की अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

६६—अरूविणो जीवघणा
नाणदसणसन्निया।
अउल सुहं सपत्ता
उवमा जस्स नत्थि उ॥

अरूपिणो जीव-घनाः
ज्ञान-दर्शन-सज्ञिताः।
अतुलं सुख सम्प्राप्ता
उपमा यस्य नास्ति तु॥

६६—वे सिद्ध-जीव अरूप, सघन (एक दूसरे से सटे हुए) और ज्ञान-दर्शन में सतत उपयुक्त होते है। उन्हें वैसा सुख प्राप्त होता है, जिसके लिए ससार में कोई उपमा नहीं है।

६७—लोएगदेसे[1] ते सव्वे
नाणदसणसन्निया।
ससारपारनिच्छिन्ना
सिद्धिं वरगइं गया॥

लोकैकदेशे ते सर्वे
ज्ञान-दर्शन-सज्ञिता।
ससार-पार-निस्तीर्णा
सिद्धिं वरगति गताः॥

६७—ज्ञान और दर्शन से सतत उपयुक्त, ससार समुद्र से निस्तीर्ण और सर्वश्रेष्ठ गति (सिद्धि) को प्राप्त होने वाले सब सिद्धलोक के एक देश में अवस्थित हैं।

६८—ससारत्था उ जे जीवा
दुविहा ते वियाहिया।
तसा य थावरा चेव
थावरा तिविहा तहिं॥

संसारस्थास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
त्रसाश्च स्थावराश्चैव
स्थावरास्त्रिविधास्तत्र॥

६८—ससारी जीव दो प्रकार के है—(१) त्रस और (२) स्थावर। स्थावर तीन प्रकार के हैं—

६९—पुढवी आउजीवा य
तहेव य वणस्सई।
इच्चेए थावरा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे॥

पृथिव्यब्जीवाश्च
तथव च वनस्पतिः।
इत्येते स्थावरास्त्रिविधाः
तेषा भेदान् शृणुत मे॥

६९—(१) पृथ्वी, (२) जल और (३) वनस्पति। ये तीन स्थावर के मूल भेद है। इनके उत्तर भेद मुझ से सुनो।

७०—दुविहा पुढवीजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए[2] दुहा पुणो॥

द्विविधा पृथिवी-जीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
एवमेव द्विधा पुनः॥

७०—पृथ्वी-काय के जीव दो प्रकार के हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। इन दोनो के (१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

---

१. लोगग्ग° (बृ॰ पा॰)।
२. एगमेगे (बृ॰ पा॰)।

७१—वायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया।
सण्हा खरा य बोद्धव्वा
सण्हा सत्तविहा तहिं॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
श्लक्ष्णाः खराश्च बोद्धव्याः
श्लक्ष्णाः सप्तविधास्तत्र॥

७१—बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों के दो भेद हैं—(१) मृदु, और (२) कठोर। मृदु के सात भेद हैं .

७२—किण्हा नीला य रुहिरा य[1]
हालिद्दा सुक्किला तहा।
पण्डुपणगमट्टिया
खरा छत्तीसईविहा॥

कृष्णा नीलाश्च रुधिराश्च
हारिद्राः शुक्लास्तथा।
पाण्डु-पनक-मृत्तिका
खरा षट्त्रिंशद्विधा॥

७२—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) रक्त, (४) पीत, (५) श्वेत, (६) पाण्डु (भूरीमिट्टी) और (७) पनक (अति सूक्ष्म रज)। कठोर पृथ्वी के छत्तीस प्रकार हैं .

७३—पुढवी य सक्करा वालुया य
उवले सिला य लोणूसे।
'अयतम्बतउय'[2] -सीसग-
रुप्पसुवण्णे य वइरे य॥

पृथिवी च शर्करा वालुका च
उपलः शिला च लवणोषौ।
अयस्ताम्र-त्रपुक-सीसक-
रूप्य-सुवर्णं च वज्रं च॥

७३—(१) शुद्ध पृथ्वी, (२) शर्करा, (३) वालू, (४) उपल, (५) शिला, (६) लवण, (७) नौनी मिट्टी, (८) लोहा, (९) रांगा, (१०) ताम्बा, (११) शीशा, (१२) चाँदी, (१३) सोना, (१४) वज्र,

७४—हरियाले हिंगुलुए
मणोसिला सासगंजणपवाले।
अब्भपडलऽब्भवालुय
बायरकाए मणिविहाणा॥

हरिताल हिंगुलकः
मन शिला सस्यकाऽञ्जनप्रवालानि।
अभ्रपटलमभ्रवालुका
बादरकाये मणिविधानानि॥

७४—(१५) हरिताल, (१६) हिंगुल, (१७) मैनसिल, (१८) सस्यक, (१९) अंजन, (२०) प्रवाल, (२१) अभ्रक पटल, (२२) अभ्र वालुक। मणियों के भेद, जैसे—

७५—गोमेज्जए य रुयगे
अंके फलिहे य लोहियक्खे य।
मरगयमसारगल्ले
भुयमोयगइन्दनीले य॥

गोमेदकश्च रुचक
अंक-स्फटिकश्च लोहिताक्षश्च।
मरकत-मसारगल्ल-
भुजमोचक इन्द्रनीलश्च॥

७५—(२३) गोमेदक, (२४) रुचक, (२५) अंक, (२६) स्फटिक और लोहिताक्ष, (२७) मरकत एवं मसार गल्ल, (२८) भुज-मोचक, (२९) इन्द्रनील,

७६—चन्दणगेरुयहंसगब्भ
पुलए सोगन्धिए य बोद्धव्वे।
चन्दप्पहवेरुलिए
जलकन्ते सूरकन्ते य॥

चन्दन-गैरिक-हंसगर्भ
पुलक सौगन्धिकश्च बोद्धव्य
चन्द्रप्रभो वैडूर्यः
जलकान्तः सूर्यकान्तश्च॥

७६—(३०) चन्दन, गेरुक एवं हंस गर्भ, (३१) पुलक, (३२) सौगन्धिक, (३३) चन्द्रप्रभ, (३४) वैडूर्य, (३५) जलकान्त और (३६) सूर्य कान्त।

---

१. × (अ)।
२. अयस तओ य (अ), अय तउय तम्ब (उ, ऋ०)।

७७—एए खरपुढवीए
भेया छत्तीसमाहिया ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया ॥

एते खरपृथिव्याः
भेदा षट्त्रिंशदाख्याताः ।
एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याता ॥

७७—कठोर पृथ्वी के ये छत्तीस प्रकार होते हैं। सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं। उनमें नानात्व (बहु विधता) नही होता ।

७८—सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा ।
इत्तो कालविभाग तु
तेसिं वुच्छ चउव्विह ॥

सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः ।
इतः काल-विभागं तु
तेषां वक्ष्ये चतुर्विधम् ॥

७८—सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव समूचे लोक में और बादर पृथ्वीकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। इनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा ।

७९—सतइं पप्पऽणाईया[1]
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

संततिं प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

७९—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है ।

८०—बावीससहस्साइ
वासाणुक्कोसिया भवे ।
आउठिई पुढवीणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया[2] ॥

द्वाविंशति-सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत् ।
आयुः-स्थितिः पृथिवीनां
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥

८०—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत बाईस हजार वर्ष की है ।

८१—असखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय ।
कायठिई पुढवीण
त काय तु अमुचओ ॥

असख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
काय-स्थितिः पृथिवीनां
तं काय त्वमुंचताम् ॥

८१—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असख्यात-काल की है ।

८२—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढमि सए काए
पुढवीजीवाण अन्तर ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
पृथिवी-जीवानामन्तरम् ॥

८२—उनका अन्तर (पृथ्वीकाय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्यर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है ।

---
१. °तेणाई (अ)।
२ जहन्नग (अ)।

८३—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

८३—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से इनके हजारों भेद होते हैं।

८४—दुविहा आउजीवा उ
सुहुमा वायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

द्विविधा अब्जीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ता·
एवमेव द्विधा पुनः॥

८४—अप्कायिक जीव दो प्रकार के हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं।

८५—वायरा जे उ पज्जत्ता
पचहा ते पकित्तिया।
सुद्धोदए य उस्से
हरतणू महिया हिमे॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
पंचधा ते प्रकीर्तिताः।
शुद्धोदकचावश्यायः
हरतनुर्महिकाहिमम्॥

८५—बादर पर्याप्त अप्कायिक जीवों के पाँच भेद होते है—(१) शुद्धोदक, (२) ओस, (३) हरतनु, (४) कुहासा और (५) हिम।

८६—एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य वायरा॥

एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्मा सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः॥

८६—सूक्ष्म अप्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर अप्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

८७—सन्तइ पप्पऽणाईया[1]
अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

८७—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

८८—सत्तेव सहस्साइं
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई आऊणं
अन्तोमुहुत्त जहन्निया[2]॥

सप्तैव सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।
आयुः-स्थितिरपां
अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥

८८—उनकी आयु स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः सात हजार वर्ष की है।

१ °तेणाई (अ)।
२. अहन्नग (अ)।

८९—असंखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ।
कायट्ठिई आऊणं
त काय तु अमुचओ ॥

असंख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ।
काय-स्थितिरपां
तं कायं त्वमुंचताम् ॥

८९—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसकी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः असख्यात काल की है ।

९०—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढमि सए काए
आऊजीवाण अन्तरं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
अब्जीवानामन्तरम् ॥

९०—उनका अन्तर (अप्काय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है ।

९१—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

९१—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते है ।

९२—दुविहा वणस्सईजीवा
सुहुमा बायरा तहा ।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए[1] दुहा पुणो ॥

द्विविधा वनस्पति-जीवाः
सूक्ष्मा बादरास्तथा ।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
एवमेते द्विविधा पुनः ॥

९२—वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकार के हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर । इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो-दो भेद होते हैं ।

९३—बायरा जे उ पज्जत्ता
दुविहा ते वियाहिया ।
साहारणसरीरा य
पत्तेगा य तहेव य ॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
द्विविधास्ते व्याख्याता ।
साधारण-शरीराश्च
प्रत्येकाश्च तथैव च ॥

९३—बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक जीवों के दो भेद होते है—(१) साधारण-शरीर और (२) प्रत्येक-शरीर ।

९४—'पत्तेगसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया'[2] ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य
लया वल्ली तणा तहा ॥

प्रत्येक शरीरास्तु
अनेकधा ते प्रकीर्तिताः ।
वृक्षा गुच्छाश्च गुल्माश्च
लता-वल्ली तृणानि तथा ॥

९४—प्रत्येक-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार है—वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली और तृण ।

---

१. एवमेव (अ) ।
२. बारसविह भेएण पत्तेया उ वियाहिय (वृ० पा०) ।

९५—लयावलया[1] पव्वगा[2] कुहुणा
जलरुहा ओसहीतिणा[3]।
हरियकाया य बोद्धव्वा
पत्तेया इति आहिया॥

लता-वलयानि पर्वजाः
कुहणा जलरुहा औषधि-तृणानि।
हरित-कायाश्च बोद्धव्याः
प्रत्येका इति आख्याताः॥

९५—लता-वलय (नारियल आदि), पर्वज (ईख आदि), कुहण (भूफोड़ आदि), जलरुह (कमल आदि), औषधि-तृण (अनाज) और हरित-काय—ये सब प्रत्येक-शरीर हैं।

९६—साहारणसरीरा उ
णेगहा ते पकित्तिया।
आलुए मूलए चेव
सिंगवेरे तहेव य॥

साधारण-शरीरास्तु
अनेकविधा ते प्रकीर्तिताः।
आलुको मूलकश्चैव
शृङ्गबेर तथैव च॥

९६—साधारण-शरीर वनस्पतिकायिक जीवों के अनेक प्रकार हैं—आलू, मूली, अदरक,

९७—हिरिली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केदकन्दली[4]।
पलंडूलसणकन्दे य
कन्दली य कुडुवए[5]॥

हिरली सिरिली सिस्सिरिली
जावई केदकन्दली।
पलाण्डु-लशुन-कन्दश्च
कन्दली च कुस्तुम्बकः॥

९७—हिरलीकन्द, सिरिलीकन्द, सिस्सिरिलीकन्द, जावईकन्द, केद-कदलीकन्द, प्याज, लहसुन, कन्दली, कुस्तुम्बक,

९८—लोहि णीहू य थिहू य
कुहगा य तहेव य।
कण्हे य वज्जकन्दे य
कन्दे सूरणए[6] तहा॥

लोही स्निहु श्च स्तिभु श्च
कुहकाश्च तथैव च।
कृष्णश्च वज्रकन्दश्च
कन्दः सूरणकस्तथा॥

९८—लोही, स्निहु, कुहक, कृष्ण, वज्र-कन्द, सूरणकन्द,

९९—अस्सकण्णी य बोद्धव्वा
सीहकण्णी तहेव य।
मुसुण्ढी य हलिद्दा य
ऽणेगहा एवमायओ॥

अश्वकर्णी च बोद्धव्या
सिंहकर्णी तथैव च।
मुसुण्ढी च हरिद्रा च
अनेकधा एवमादयः॥

९९—अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, मुसुंढी और हरिद्रा आदि। ये सब साधारण-शरीर हैं।

१००—एगविहमणाणत्ता
सुहुमा तत्थ वियाहिया।
सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे य बायरा॥

एकविधा अनानात्वा
सूक्ष्मास्तत्र व्याख्याताः।
सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च बादराः॥

१००—सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता। वे समूचे लोक में तथा बादर वनस्पतिकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं।

---

१. वलया य (अ)।
२. पव्वया (वृ०), पव्वगा (वृ० पा०)।
३ ०तह्णा (अ, आ, इ, उ, ऋ०)।
४. केलि० (उ)।
५ कुडुव्वए (उ, ऋ०), कुहव्वए (स)।
६ पुसूरणे (उ)।

१०१—सतइ पप्पऽणाईया[1]
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च ।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

१०१—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१०२—दस चेव सहस्साइ
वासाणुक्कोसिया भवे ।
वणप्फईण[2] आउं तु
अन्तोमुहुत्त जहन्नगं ॥

दश चैव सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत् ।
वनस्पतीनामायुस्तु
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥

१०२—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत. दश हजार वर्ष की है।

१०३—अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय ।
कायठिई पणगाणं
त काय तु अमुचओ ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
काय-स्थितिः पनकानां
तं कायन्त्वमुचताम् ॥

१०३—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त काल की है।

१०४—असखकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ।
विजढमि सए काए
पणगजीवाण अन्तर॥

असङ्ख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
पनक-जीवानामन्तरम् ॥

१०४—उनका अन्तर (वनस्पतिकाय को छोड कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत· असख्यात काल का है।

१०५—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो ॥

एतेषा वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

१०५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते हैं।

१०६—इच्चेए थावरा तिविहा
समासेण वियाहिया ।
इत्तो उ तसे तिविहे
वुच्छामि अणुपुव्वसो ॥

इत्येते स्थावरास्त्रिविधा
समासेन व्याख्याताः ।
इतस्तु त्रसान् त्रिविधान्
वक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥

१०६—यह तीन प्रकार के स्थावर जीवों का सक्षिप्त वर्णन है। अब तीन प्रकार के त्रस जीवों का क्रमश निरूपण करूँगा।

---

१. °तेणाइ (अ)।
२ वणस्सईण (उ, ऋ०, बृ०), वण्णप्फईण (बृ० पा०)।

१०७—तेऊ वाऊ य बोद्धव्वा
उराला य तसा तहा।
इच्चेए तसा तिविहा
तेसिं भेए सुणेह मे॥

तेजो वायुश्च बोद्धव्यो
उदाराश्च त्रसास्तथा।
इत्येते त्रसास्त्रिविधाः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१०७—तेजस्काय, वायुकाय और उदार त्रसकाय—ये तीन भेद त्रसकाय के हैं। अब इनके भेदों को मुझ से सुनो।

१०८—दुविहा तेउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

द्विविधास्तेजोजीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ता
एवमेते द्विधा पुन.॥

१०८—तेजस्कायिक जीवों के दो प्रकार हैं—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। उन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

१०९—बायरा जे उ पज्जत्ता
णेगहा ते वियाहिया।
इगाले मुम्मुरे अगणी
अच्चि जाला तहेव य॥

बादरा ये तु पर्याप्ताः
अनेकधा ते व्याख्याताः।
अंगारो मुर्मुरोऽग्नि
अर्चिर्ज्वाला तथैव च॥

१०९—बादर पर्याप्त तेजस्कायिक जीवों के अनेक भेद हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला,

११०—उक्का विज्जू य बोद्धव्वा
णेगहा एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया॥

उल्का विद्युच्च बोद्धव्या
अनेकधा एवमादयः।
एकविधा अनानात्वा
सूक्ष्मास्ते व्याख्याता॥

११०—उल्का, विद्युत् आदि। सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता।

१११—सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे[1] य बायरा।
इत्तो कालविभागं तु
तेसिं वुच्छं चउव्विहं॥

सूक्ष्माः सर्वलोके
लोके-देशे च बादराः।
इतः काल-विभागं तु
तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्॥

१११—वे (सूक्ष्म तेजस्कायिक जीव) समूचे लोक में और बादर तेजस्कायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूंगा।

११२—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

११२—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

---
१ एगदेसे (अ)।

११३—तिण्णेव अहोरत्ता
उक्कोसेण वियाहिया।
आउट्ठिई तेऊणं
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

त्रीण्येवाहोरात्राणि
उत्कर्षेण व्याख्याता।
आयुः-स्थिति स्तेजसाम्
अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यका॥

११३—उनकी आयु-स्थिति जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत. तान दिन-रात की है।

११४—असखकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नयं।
कायट्ठिई तेऊणं
त काय तु अमुंचओ॥

असंख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
काय-स्थितिस्तेजसाम्
त कायन्त्वसुचताम्॥

११४—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत असख्यात काल की है।

११५—अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
विजढमि सए काए
तेउजीवाण अन्तर॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
तेजोजीवानामन्तरम्॥

११५—उनका अन्तर (तेजस्काय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत. अनन्त काल का है।

११६—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

११६—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद हैं।

११७—दुविहा वाउजीवा उ
सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता
एवमेए दुहा पुणो॥

द्विविधा वायु-जीवास्तु
सूक्ष्मा बादरास्तथा।
पर्याप्ता अपर्याप्ता
एवमेते द्विधा पुनः॥

११७—वायुकायिक जीवो के दो प्रकार है—(१) सूक्ष्म और (२) बादर। उन दोनो के पर्याप्त और अपर्याप्त—ये दो-दो भेद होते हैं।

११८—वायरा जे उ पज्जत्ता
पचहा ते पकित्तिया।
उक्कलियामण्डलिया-
घणगुजा सुद्धवाया य॥

बादरा ये तु पर्याप्ता
पंचधा ते प्रकीर्तिता।
उत्कलिका मण्डलिका
घन-गुंजाः शुद्ध-वाताश्च॥

११८—बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों के पाँच भेद होते हैं—(१) उत्कलिका, (२) मण्डलिका, (३) घनवात, (४) गुजावात और (५) शुद्धवात।

११९—सवट्टगवाते य
ऽणेगविहा[1] एवमायओ।
एगविहमणाणत्ता
सुहुमा ते वियाहिया॥

सवर्त्तक-वाताश्च
अनेकधा एवमादय ।
एकविधा अनानात्वाः
सूक्ष्मास्ते व्याख्याताः॥

११६—उनके मवर्तक वात आदि और भी अनेक प्रकार हैं। सूक्ष्म वायुकायिक जीव एक ही प्रकार के होते हैं, उनमें नानात्व नहीं होता।

१२०—सुहुमा सव्वलोगम्मि
लोगदेसे[2] य वायरा।
इत्तो कालविभाग तु
तेसिं वुच्छं चउव्विह॥

सूक्ष्माः सर्वलोके
लोक-देशे च वादराः।
इतः काल-विभाग तु
तेषां वक्ष्यामि चतुर्विधम्॥

१२०—वे (सूक्ष्म-वायुकायिक जीव) समूचे लोक में और बादर वायुकायिक जीव लोक के एक भाग में व्याप्त हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल विभाग का निरूपण करूंगा।

१२१—सतइ पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१२१—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त हैं और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१२२—तिण्णेव सहस्साइ
वासाणुक्कोसिया भवे।
आउट्ठिई वाऊण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

त्रीण्येव सहस्राणि
वर्षाणामुत्कर्षिता भवेत्।
आयु-स्थितिर्वायूनाम्
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्॥

१२२—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत तीन हजार वर्षों की है।

१२३—असखकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय।
कायट्ठिई वाऊणं
त कायं तु अमुचओ॥

असख्यकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
काय-स्थितिर्वायूना
तं कायन्त्वमुञ्चताम्॥

१२३—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत असख्यात काल की है।

१२४—अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
विजढमि सए काए
वाउजोवाण अन्तर॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
वायु-जीवानामन्तरम्॥

१२४—उनका अन्तर (वायुकाय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त काल का है।

---

१. ऽणेगहा (उ, ऋ०)।
२. एगदेसे (अ)।

१२५—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वाऽपि
विधानानि सहस्रशः॥

१२५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते है।

१२६—ओराला तसा जे उ
चउहा[1] ते पकित्तिया।
वेइन्दियतेइन्दिय-
चउरोपचिन्दिया चेव॥

उदाराः त्रसा ये तु
चतुर्धा ते प्रकीर्तिताः।
द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाः
चतुष्पचेन्द्रियाश्चैव॥

१२६—उदार त्रस-कायिक जीव चार प्रकार के हैं—(१) द्वीन्द्रिय, (२) त्रीन्द्रिय, (३) चतुरिन्द्रिय और (४) पचेन्द्रिय।

१२७—बेइन्दिया उ[2] जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

द्वान्द्रियास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१२७—द्वीन्द्रिय जीव दो प्रकार के है—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

१२८—किमिणो सोमगला
चेव अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीया[3]
सखा सखणगा[4] तहा॥

कृमय सौमङ्गलाश्चैव
अलसा मातृवाहकाः।
वासीमुखाश्च शुक्तयः
शङ्खा शङ्खनकास्तथा॥

१२८—कृमि, सौमगल, अलस, मातृ-वाहक, वासीमुख, सीप, शख, शखनक,

१२९—पल्लोयाणुल्लया[5] चेव
तहेव य वराडगा।
जलूगा जालगा चेव
चन्दणा य तहेव य।

'पल्लोया' 'अणुल्लया' चैव
तथैव च वराटकाः।
जलौका जालकाश्चैव
चन्दनाश्च तथैव च॥

१२९—पल्लोय, अणुल्लक, कोडी, जौंक, जालक, चन्दनिया,

१३०—इइ बेइन्दिया एए
णेगहा एवमायओ।
लोगेगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया॥[6]

इति द्वीन्द्रिया एते
अनेकधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः॥

१३०—आदि अनेक प्रकार के द्वीन्द्रिय जीव है। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते है, समूचे लोक में नहीं।

---

१ चउव्विहा (ऋ०)।
२. य (अ, ऋ०)।
३. सप्पीया (आ, इ, ऋ०)।
४. सखलगा (अ); सखाणगा (उ)।
५ गल्लोया॰ (आ), अल्लोया॰ (ऋ०)।
६. इस श्लोक के बाद इतना और है।
एत्तो काल विभाग तु तेसि वुच्छ चउव्विहं॥ (उ)।

१३१—सतइ पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१३१—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१३२—वासाइ बारसे व उ
उक्कोसेण वियाहिया।
वेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

वर्षाणि द्वादशैव तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
द्वीन्द्रियायु: स्थितिः
अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यका॥

१३२—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः बारह वर्ष की है।

१३३—सखिज्जकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय[1]।
वेइन्दियकायठिई
त काय तु अमुचओ॥

सख्येयकालमुत्कर्ष
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
द्वीन्द्रियकाय-स्थितिः
त कायन्त्वमुचताम्॥

१३३—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत सख्यात काल की है।

१३४—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
वेइन्दियजीवाण
अन्तरेय[2] वियाहिय॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
द्वीन्द्रिय-जीवाना
अन्तर च व्याख्यातम्॥

१३४—उनका अन्तर (द्वीन्द्रिय के काय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है।

१३५—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो॥

एतेषा वर्णतश्चैव
गन्धता रस-स्पर्शत।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१३५—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते है।

१३६—तेइन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

त्रीन्द्रियास्तु ये जीवाः
द्विविधास्ते प्रकीर्तिता।
पर्याप्ता अपर्याप्ताः
तेषा भेदान् शृणुत मे॥

१३६—त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकार के है—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझसे सुनो।

---

१. जहन्निया (अ)।
२. ०ण (अ)।

१३७—कुन्थुपिवीलिउड्डसा
उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारकट्ठहारा
मालुगा पत्तहारगा॥

कुन्थु-पिपीलिकोद्दशाः
उक्कलोपदेहिकास्तथा।
तृणहार-काष्ठहाराः
मालूकाः पत्रहारकाः॥

१३७—कुंथु, चींटी, खटमल, मकडी, दीमक, तृणाहारक, काष्ठाहारक (घुन), मालुक, पत्राहारक,

१३८—कप्पासऽट्ठिमिंजा य
तिंदुगा तउसमिंजगा।
सदावरी य गुम्मी य
बोद्धव्वा इन्दकाइया॥

कर्पासास्थिमिंजाश्च
तिन्दुकाः त्रपुषमिञ्जकाः।
शतावरी च गुल्मी च
बोद्धव्या इन्द्रकायिका॥

१३८—कर्पासास्थि मिंजक, तिन्दुक, त्रपुष मिंजक, शतावरी, कानखजूरी, इन्द्र-कायिक,

१३९—इन्दगोवगमाईया
णेगहा एवमायओ।
लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया॥

इन्द्रगोपकादिकाः
अनेकधा एवमादयः।
लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः॥

१३९—इन्द्रगोपक आदि अनेक प्रकार के त्रीन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१४०—सतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यनादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१४०—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१४१—एगूणपण्णऽहोरत्ता[1]
उक्कोसेण वियाहिया।
तेइन्दियआउठिई
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

एकोनपचाशदहोरात्राणि
उत्कर्षेण व्याख्याता।
त्रीन्द्रियायुः-स्थितिः
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका॥

१४१—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत उनचास दिनों की है।

१४२—सखिज्जकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्त जहन्नय[2]।
तेइन्दियकायठिई
त काय तु अमुचओ॥

संख्येयकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रियकाय-स्थिति.
त कायन्त्वमुंचताम्॥

१४२—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत सख्यात-काल की है।

१. एगूणवण्ण° (उ, ऋ°)।
२. जहन्निया (स)।

१४३—अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय।
तेइन्दियजीवाण
अन्तरेय वियाहियं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
त्रीन्द्रिय-जीवाना
अन्तरमेतद् व्याख्यातम्॥

१४३—उनका अन्तर (त्रीन्द्रिय के काय को छोडकर पुन उसी काय मे उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्टत अनन्तकाल का है।

१४४—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो॥

एतेषा वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शत।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रश॥

१४४—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१४५—चउरिन्दिया उ जे जीवा
दुविहा ते पकित्तिया।
पज्जत्तमपज्जत्ता
तेसिं भेए सुणेह मे॥

चतुरिन्द्रियास्तु ये जीवा
द्विविधास्ते प्रकीर्तिताः।
पर्याप्ता अपर्याप्ता
तेषा भेदान् शृणुत मे॥

१४५—चतुरिन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—(१) पर्याप्त और (२) अपर्याप्त। उनके भेद तुम मुझ से सुनो।

१४६—अन्धिया पोत्तिया चेव
मच्छिया मसगा तहा।
भमरे कीडपयगे य
ढिकुणे कुकुणे तहा॥

अन्धिका पोत्तिकाश्चैव
मक्षिका मशकास्तथा।
भ्रमरा कीट-पतगाश्च
ढिकुणा कुकुणास्तथा॥

१४६—अन्धिका, पोत्तिका, मक्षिका, मच्छर, भ्रमर, कीट, पतग, ढिकुण, कुकुण,

१४७—कुक्कुडे सिंगिरीडी य
नन्दावत्ते य विंछिए।
डोले भिंगारी[1] य
विरली अच्छिवेहए॥

कुक्कुटाः शृङ्गरीट्यश्च
नन्दावर्त्ताश्च वृश्चिकाः।
डोला भृङ्गारिणश्च
विरल्योऽक्षि वेधकाः॥

१४७—शृगिरीटो, कुक्कुड, नन्दावर्त, विच्छू, डोल, भृगरीटक, विरली, अक्षिवेधक,

१४८—अच्छिले माहए[2] अच्छि-
रोडए विचित्ते चित्तपत्तए।
ओहिंजलिया जलकारी य
नीया तन्तवगाविय[3]॥

अक्षिला मागधा अक्षिरोडका
विचित्राश्चित्रपत्रकाः।
ओहिंजलिया जलकार्यश्च
नीचास्तन्तवका अपि च॥

१४८—अक्षिल, मागध, अक्षिरोडक विचित्र-पत्रक, चित्र-पत्रक, ओहिंजलिया, जलकारी, नीचक, तन्तवक,

१. भिगिरीडी (उ, ऋ०, स)।
२. साहिए (अ)।
३. तवगाइया (उ, ऋ०)।

१४९—इइ चउरिन्दिया एए
ऽणेगहा एवमायओ।
लोगस्स एग देसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया ॥[1]

इति चतुरिन्द्रिया एते
अनेकधा एवमादयः।
लोकस्यैकदेशे
ते सर्वे परिकीर्तिताः ॥

१४९—आदि अनेक प्रकार के चतुरिन्द्रिय जीव हैं। वे लोक के एक भाग में ही प्राप्त होते हैं, समूचे लोक में नहीं।

१५०—सतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

सन्तति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

१५०—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त होते है।

१५१—'छच्चेव य'[2] मासा उ
उक्कोसेण वियाहिया।
चउरिन्दियआउठिई[3]
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

षट् चैव च मासास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
चतुरिन्द्रियायुः-स्थितिः
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥

१५१—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत छह मास की है।

१५२—सखिज्जकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नयं[4]।
चउरिन्दियकायठिई
त काय तु अमुंचओ ॥

संख्येयकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
चतुरिन्द्रियकाय-स्थिति
तं कायं त्वमुंचताम् ॥

१५२—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत. सख्यात काल की है।

१५३—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नय[5]।
'विजढमि सए काए'[6]
अन्तरेय वियाहिय ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
अन्तरमेतद् व्याख्यातम् ॥

१५३—उनका अन्तर (चतुरिन्द्रिय के काय को छोडकर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त काल का है।

१५४—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'सठाणादेसओ वावि'[7]
विहाणाइं सहस्ससो ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

१५४—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

---

१ इस श्लोक के पश्चात् इतना और है —
एत्तो काल विभाग तु तेसिं वुच्छ चउव्विह ॥ (उ)।
२ छच्चेविउ (अ)।
३. चउरिंदिया य आउठिई (अ)।
४ जहन्निया (अ)।
५ जहन्निया (अ)।
६ चउरिन्दियजीवाण (उ)।
७ सठाण भेयओ या वि (अ)।

१५५—पचिन्दिया उ जे जीवा
चउव्विहा ते वियाहिया।
नेरइयतिरिक्खा य
मणुया देवा य आहिया॥

पञ्चेन्द्रियास्तु ये जीवा
चतुर्विधास्ते व्याख्याता।
नैरयिकास्तिर्यञ्चश्च
मनुजा देवाश्चाख्याता॥

१५५—पंचेन्द्रिय जीव चार प्रकार के हैं—(१) नैरयिक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य और (४) देव।

१५६—नेरइया सत्तविहा
पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभ सक्कराभा
वालुयाभा य आहिया॥

नैरयिकाः सप्तविधाः
पृथिवीषु सप्तसु भवेयुः।
रत्नाभा शर्कराभा
वालुकाभा चाख्याता॥

१५६—नैरयिक जीव सात प्रकार के हैं। वे सात पृथ्वियों में उत्पन्न होते हैं। वे सात पृथ्वियाँ ये है—(१) रत्नाभा, (२) शर्कराभा (३) वालुकाभा,

१५७—पंकाभा धूमाभा
तमा तमतमा तहा।
इइ नेरइया एए
सत्तहा परिकित्तिया॥

पङ्काभा धूमाभा
तमः तमस्तमः तथा।
इति नैरयिका एते
सप्तधा परिकीर्तिताः॥

१५७—(४) पंकाभा, (५) धूमाभा, (६) तम और (७) तमस्तम। इन सात पृथ्वियों में उत्पन्न होने के कारण ही नैरयिक सात प्रकार के है।

१५८—लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे उ वियाहिया।
एत्तो कालविभाग तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

लोकस्यैक-देशे
ते सर्वे तु व्याख्याताः।
इतः काल-विभाग तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

१५८—वे लोक के एक भाग में है। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

१५९—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिका
अपर्यवसिता अपि च।
स्थिर्ति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१५९—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त है।

१६०—सागरोवममेगं तु
उक्कोसेण वियाहिया।
पढमाए जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया॥

सागरोपममेक तु
उत्कर्षेण व्याख्याता।
प्रथमायां जघन्येन
दशवर्षसहस्रिका॥

१६०—पहली पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यत दस हजार वर्ष और उत्कृष्टत एक सागरोपम की है।

१६१—तिण्णेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
दोच्चाए जहन्नेणं
एगं तु सागरोवमं ॥

त्रय एव सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
द्वितीयायां जघन्येन
एकं तु सागरोपमम् ॥

१६१—दूसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यत एक सागरोपम और उत्कृष्टत तीन सागरोपम की है ।

१६२—सत्तेव सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
तइयाए जहन्नेणं
तिण्णेव उ सागरोवमा ॥

सप्तैव सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
तृतीयाया जघन्येन
त्रीणि एव तु सागरोपमाणि ॥

१६२—तीसरी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यत तीन सागरोपम और उत्कृष्टत सात सागरोपम की है ।

१६३—दस सागरोवमा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
चउत्थीए जहन्नेणं
सत्तेव उ सागरोवमा ॥

दशसागरोपमाणि तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
चतुर्थ्यां जघन्येन
सप्तैव तु सागरोपमाणि ॥

१६३—चौथी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सात सागरोपम और उत्कृष्टत दस सागरोपम की है ।

१६४—सत्तरस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
पंचमाए जहन्नेण
दस चेव उ सागरोवमा ॥

सप्तदश सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पंचम्या जघन्येन
दश चैव तु सागरोपमाः ॥

१६४—पाँचवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यत दस सागरोपम और उत्कृष्टतः सतरह सागरोपम की है ।

१६५—वावीस सागरा ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
छट्ठीए जहन्नेणं
सत्तरस सागरोवमा ॥

द्वाविंशति सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
षष्ठ्यां जघन्येन
सप्तदश सागरोपमाणि ॥

१६५—छठी पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यतः सतरह सागरोपम और उत्कृष्टत वाईस सागरोपम की है ।

१६६—तेत्तीस सागरा[1] ऊ
उक्कोसेण वियाहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं
वावीसं सागरोवमा ॥

त्रयस्त्रिंशत् सागरास्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
सप्तम्यां जघन्येन
द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥

१६६—सातवीं पृथ्वी में नैरयिकों की आयु-स्थिति जघन्यत वाईस सागरोपम और उत्कृष्टत तेतीस सागरोपम की हैं ।

---

१. सागराइ (ऋ०) ।

१६७—जा चेव उ आउठिई
नेरइयाणं वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया भवे॥

या चैव तु आयुः-स्थितिः
नैरयिकाणां व्याख्याता।
सा तेषां काय-स्थितिः
जघन्योत्कर्षिता भवेत्॥

१६७—नैरयिक जीवों की जो आयु-स्थिति है, वही उनकी जघन्यतः या उत्कृष्टतः काय-स्थिति है।

१६८—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं।
विजढंमि सए काए
नेरइयाणं तु अन्तरं॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
नैरयिकाणान्तु अन्तरम्॥

१६८—उनका अन्तर (नैरयिक के काय को छोड़ कर पुनः उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टतः अनन्त-काल का है।

१६९—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'संठाणादेसओ वावि'[1]
विहाणाइं सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१६९—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

१७०—पंचिन्दियतिरिक्खाओ
दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खाओ[2]
गब्भवक्कन्तिया तहा॥

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चः
द्विविधास्ते व्याख्याताः।
सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्चः
गर्भावक्रान्तिकास्तथा॥

१७०—पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च जीव दो प्रकार के हैं—(१) सम्मूर्च्छिम-तिर्यञ्च और (२) गर्भ-उत्पन्न-तिर्यञ्च।

१७१—दुविहावि ते भवे तिविहा
जलयरा थलयरा तहा।
खहयरा य बोद्धव्वा
तेसिं भेए सुणेह मे॥

द्विविधा अपि ते भवेयुस्त्रिविधाः
जलचराः स्थलचरास्तथा।
खचराश्च बोद्धव्याः
तेषां भेदान् शृणुत मे॥

१७१—ये दोनों ही जलचर, स्थलचर और खेचर के भेद से तीन-तीन प्रकार के हैं। उनके भेद तुम मुझ से सुनो।

१७२—मच्छा य कच्छभा य
गाहा य मगरा तहा।
सुसुमारा य बोद्धव्वा
पंचहा[3] जलयराहिया॥

मत्स्याश्च कच्छपाश्च
ग्राहाश्च मकरास्तथा।
सुसुमाराश्च बोद्धव्याः
पंचधा जलचरा आख्याताः॥

१७२—जलचर जीव पाँच प्रकार के हैं—(१) मत्स्य, (२) कच्छप, (३) ग्राह, (४) मकर और (५) सुसुमार।

---

१ संठाण भेयओ या वि (अ)।
२ ° तिरिक्खा य (उ)।
३. पंचविहा (अ)।

१७३—लोएगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया ।
एत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं ॥

लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याता ।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम् ॥

१७३—वे लोक के एक भाग में ही होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा ।

१७४—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च ।
स्थिति प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

१७४—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

१७५—एगा य पुव्वकोडीओ
उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई जलयराण
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

एका च पूर्वकोटी
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुः-स्थितिर्जलचराणां
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥

१७५—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत एक करोड पूर्व की है ।

१७६—पुव्वकोडीपुहत्तं तु
उक्कोसेण वियाहिया ।
कायट्ठिई जलयराणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

पूर्वकोटिपृथक्त्वन्तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
काय-स्थितिर्जलचराणां
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥

१७६—उनकी काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत (दो से नौ) पूर्व की है ।

१७७—अणन्तकालमुक्कोसं
अन्तोमुहुत्तं जहन्नयं ।
विजढंमि सए काए
जलयराणं तु अन्तरं ॥

अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ।
वित्यक्ते स्वके काये
जलचराणां तु अन्तरम् ॥

१७७—उनका अन्तर (जलचर के काय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त काल का है ।

१७८—'एएसिं वण्णओ चेव
गंधओ रसफासओ ।
संठाणादेसओ वावि
विहाणाइं सहस्ससो ॥'[1]

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
संस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रश. ॥

१७८—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं ।

१ × (अ, ऋ॰) ।

१७९—चउप्पया य परिसप्पा दुविहा थलयरा भवे। चउप्पया चउविहा ते मे कित्तयओ सुण॥	चतुष्पदाश्च परिसर्पाः द्विविधा. स्थलचरा भवेयुः। चतुष्पदाश्चतुर्विधाः तान् मे कीर्तयतः शृणु॥	१७९—स्थलचर जीव दो प्रकार के हैं—(१) चतुष्पद और (२) परिसर्प। चतुष्पद चार प्रकार के है। वे तुम मुझ से सुनो।
१८०—एगखुरा दुखुरा चेव गण्डीपयसणप्पया। हयमाइगोणमाइ- गयमाइसीहमाइणो॥	एकखुरा द्विखुराश्चैव गण्डीपदाः सनखपदाः। हयादयो गवादयः गजादयः सिंहादयः॥	१८०—(१) एक खुर—घोडे आदि, (२) दो खुर—बैल आदि, (३) गडीपद—हाथी आदि। (४) सनखपद—सिंह आदि।
१८१—भुओरगपरिसप्पा य परिसप्पा दुविहा भवे। गोहाई अहिमाई य एक्केक्का णेगहा भवे॥	भुज-उरग-परिसर्पाश्च परिसर्पा द्विविधा भवेयुः। गोधादयो ह्यादयश्च एकैके अनेकधा भवेयुः॥	१८१—परिसर्प के दो प्रकार है—(१) भुजपरिसर्प—हाथों के बल चलने वाले गोह आदि, (२) उर परिसर्प—पेट के बल चलने वाले साँप आदि। ये दोनो अनेक प्रकार के होते है।
१८२—लोएगदेसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया। एत्तो कालविभाग तु वुच्छं तेसिं चउव्विह॥	लोकैकदेशे ते सर्वे न सर्वत्र व्याख्याता। इत' काल-विभाग तु वक्ष्यामि तेषा चतुर्विधम्॥	१८२—वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नहीं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।
१८३—सतइ पप्पऽणाईया अपज्जवसिया वि य। ठिइ पडुच्च साईया सपज्जवसिया वि य॥	सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः अपर्यवसिता अपि च। स्थितिं प्रतीत्य सादिका सपर्यवसिता अपि च॥	१८३—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।
१८४—पलिओवमाउ[1] तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया। आउट्ठिई थलयराण अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥	पल्योपमानि तु त्रीणि तु उत्कर्षेण व्याख्याता। आयुः-स्थितिः स्थलचराणां अन्तर्मुहूर्तं जघन्यका॥	१८४—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत तीन पल्योपम की है।

---

१ °इ (उ)।

१८५—पलिओवमाउ तिण्णि उ[1]
उक्कोसेण तु साहिया ।
पुव्वकोडीपुहत्तेण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया ॥

पल्योपमानि तु त्रीणि तु
उत्कर्षेण तु साधिका ।
पूर्वकोटि-पृथक्त्वेन
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका ॥

१८५—जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक तीन पल्योपम की है ।

१८६—कायट्ठिई थलयराण
अन्तर तेसिम भवे ।
कालमणन्तमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ॥

काय-स्थिति स्थलचराणां
अन्तरं तेषामिदं भवेत् ।
कालमनन्तमुत्कर्ष
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम् ॥

१८६—यह स्थलचर जीवों की काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) है । उनका अन्तर (स्थलचर के काय को छोड कर पुन: उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है ।

१८७—एएसिं वण्णओ चेव
गधओ रसफासओ ।
सठाणादेसओ वावि
विहाणाइ सहस्ससो ॥

एतेषा वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः ।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

१८७—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारो भेद होते हैं ।

१८८—चम्मे उ लोमपक्खी य
तइया समुग्गपक्खिया ।
विययपक्खी य बोद्धव्वा
पक्खिणो य चउव्विहा ॥

चर्म (पक्षिणः) तु रोमपक्षिणश्च
तृतीयाः समुद्गपक्षिणः ।
विततपक्षिणश्च बोद्धव्याः
पक्षिणश्च चतुर्विधाः ॥

१८८—खेचर जीव चार प्रकार के हैं—(१) चर्म पक्षी, (२) रोम पक्षी, (३) समुद्र पक्षी और (४) वितत पक्षी ।

१८९—लोगेगदेसे ते सव्वे
न सव्वत्थ वियाहिया ।
इत्तो कालविभाग तु
वुच्छ तेसिं चउव्विह ॥[2]

लोकैकदेशे ते सर्वे
न सर्वत्र व्याख्याताः ।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम् ॥

१८९—वे लोक के एक भाग में होते हैं, समूचे लोक में नही । अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा ।

---

१. य (अ) ।
२. श्लोक क्रमांक १८७ से १८९ के स्थान पर निम्न श्लोक हैं :
विजढम्मि सए काए थलयराण तु अतर ।
चम्मेय लोम पक्खीय तइया समुग्ग पक्खिया ॥
विततपक्खी उ (य) बोधव्वा पक्खिणो उ चउव्विहा ।
लोएग देसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ॥ (अ, ऋ०) ।
विजढम्मि सए काए थलयराणं तु अतर ।
एएसिं वण्णओ चेव गधओ रसफासओ ॥
सठाण देसओ वावि विहाणा' सहस्सओ ।
चम्मे उ लोम पक्खीअ तइया समुग्ग पक्खिया ॥
वियथपक्खी य बोधव्वा पक्खिणो य चउव्विहा ।
लोएग देसे ते सव्वे न सव्वत्थ वियाहिया ॥ (उ) ।

१९०—संतइ पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइ पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तति प्राप्यानादिका
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

१९०—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

१९१—पलिओवमस्स भागो
असखेज्जइमो भवे।
आउट्ठिई खहयराण
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया॥

पल्योपमस्य भाग
असख्येयतमो भवेत्।
आयुः-स्थितिः खेचराणां
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका॥

१९१—उनकी आयु-स्थिति जघन्यत॰ अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत पल्योपम के असख्यातव भाग की है।

१९२—असखभागो पलियस्स
उक्कोसेण उ साहिओ।
पुव्वकोडीपुहत्तेण
अन्तोमुहुत्त जहन्निया॥

असख्यभागः पलस्य
उत्कर्षेण तु साधिकः।
पूर्वकोटी-पृथक्त्वेन
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यका॥

१९२—जघन्यत. अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत पृथक्त्व करोड पूर्व अधिक पल्योपम का असख्यातवाँ भाग—

१९३—कायठिई खहयराण
अन्तर तेसिम भवे।
काल अणन्तमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय॥

काय-स्थितिः खेचराणा
अन्तरं तेषामिद भवेत्।
कालमनन्तमुत्कर्ष
अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यकम्॥

१९३—यह खेचर जीवों की काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) है। उनका अन्तर (खेचर के काय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है।

१९४—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'सठाणादेसओ वावि'[1]
विहाणाइ सहस्ससो॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

१९४—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते है।

१९५—मणुया दुविहभेया उ
ते मे कित्तयओ सुण।
समुच्छिमा य मणुया
गब्भवक्कन्तिया तहा॥

मनुजा द्विविधभेदास्तु
तान् मे कीर्तयतः शृणु।
सम्मूर्च्छिमाश्च मनुजाः
गर्भावक्रान्तिकास्तथा॥

१९५—मनुष्य दो प्रकार के हैं—(१) सम्मूर्च्छिम और (२) गर्भ-उत्पन्न।

१. सठाण भेयओ या वि (अ)।

१९६—गब्भवक्कन्तिया जे उ
तिविहा ते वियाहिया ।
अकम्मकम्मभूमा य
अन्तरद्दीवया तहा ॥

गर्भावक्रान्तिका ये तु
त्रिविधास्ते व्याख्याताः ।
अकर्मकर्म-भूमाश्च
अन्तर्-द्वीपकास्तथा ॥

१९६—गर्भ-उत्पन्न मनुष्य तीन प्रकार के है—(१) अकर्म-भूमिक, (२) कर्म-भूमिक और (३) अन्तर्द्वीपक ।

१९७—'पन्नरस तीसइ विहा'[1]
भेया अट्ठवीसइं ।
सखा उ कमसो तेसिं
इइ एसा वियाहिया ॥

पंचदशत्रिंशद्विधा
भेदा अष्टाविंशतिः ।
सङ्ख्या तु क्रमशस्तेषां
इत्येषा व्याख्याता ॥

१९७—कर्म-भूमिक मनुष्यों के पन्द्रह, अकर्म-भूमिक मनुष्यों के तीस तथा अन्तर्द्वीपक मनुष्यो के अट्ठाईस भेद होते हैं ।

१९८—संमुच्छिमाण एसेव
भेओ होइ आहिओ ।
लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे वि[2] वियाहिया ॥

सम्मूर्च्छिमाणामेष एव
भेदो भवति आख्यातः ।
लोकस्यैकदेशे
ते सर्वेऽपि व्याख्याताः ॥

१९८—सम्मूर्च्छिम मनुष्यो के भी उतने ही भेद हैं, जितने गर्भ-उत्पन्न मनुष्यों के हैं । वे लोक के एक भाग में ही होते है ।

१९९—संतइं पप्पऽणाईया
अपज्जवसिया वि य ।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य ॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च ।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च ॥

१९९—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं ।

२००—पलिओवमाइ तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया ।
आउट्ठिई मणुयाण
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया ॥

पल्योपमानि त्रीणितु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
आयुः-स्थितिर्मनुजानां
अन्तर्मुहूर्ता जघन्यका ॥

२०० —उनकी आयु-स्थिति जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत तीन पल्योपम की है ।

२०१ —पलिओवमाइं तिण्णि उ
उक्कोसेण वियाहिया[3] ।
पुव्वकोडीपुहुत्तेणं
अन्तोमुहुत्तं जहन्निया[4] ॥

पल्योपमानि त्रीणि तु
उत्कर्षेण व्याख्याता ।
पूर्वकोटि-पृथक्त्वेन
अन्तर्मुहूर्ता जघन्यका ॥

२०१—जघन्यन अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत पृथक्त्व करोड़ पूर्व अधिक तीन पल्योपम—

---

१ तीस पन्नरस विहा (बृ० पा०) ।
२ य (अ) ; × (ठ) ।
३ तु साहिया (ऋ०) ।
४ जहन्नग (अ) ।

२०२—कायट्ठिई मणुयाणं
अन्तर तेसिम भवे।
अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय ॥

काय-स्थितिर्मनुजाना
अन्तर तेषामिद भवेत्।
अनन्तकालमुत्कर्षं
अन्तर्मुहूर्त्त जघन्यकम् ॥

२०२—यह मनुष्यों की काय-स्थिति (निरन्तर उसी काय में जन्म लेते रहने की काल-मर्यादा) है। उनका अन्तर (मनुष्य के काय को छोड कर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है।

२०३—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'सठाणादेसओ वावि'[1]
विहाणाइ सहस्ससो ॥

एतेषा वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः ॥

२०३—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते है।

२०४—देवा चउव्विहा वुत्ता
ते मे कित्तयओ सुण।
भोमिज्जवाणमन्तर-
जोइसवेमाणिया तहा ॥

देवाश्चतुर्विधा उक्ता
तान् मे कीतयतः शृणु।
भौमेया व्यन्तरा.
ज्योतिष्का वैमानिकास्तथा ॥

२०४—देव चार प्रकार के है—(१) भवन-वासी, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

२०५—दसहा उ भवणवासी
अट्ठहा वणचारिणो।
पचविहा जोइसिया
दुविहा वेमाणिया तहा ॥

दशधा तु भवनवासिन.
अष्टधा वनचारिणः।
पचविधा ज्योतिष्का
द्विविधा वैमानिकास्तथा ॥

२०५—भवनवासी देव दस प्रकार के है। व्यन्तर आठ प्रकार के है। ज्योतिष्क पाँच प्रकार के हैं। वैमानिक दो प्रकार के है।

२०६—असुरा नागसुवण्णा
विज्जू अग्गी य आहिया।
दीवोदहिदिसा वाया
थणिया भवणवासिणो ॥

असुरा नाग-सुपर्णाः
विद्युदग्निश्च आख्यातौ।
द्वापोदधिदिशो वाताः
स्तनिता भवनवासिनः ॥

२०६—(१) असुर कुमार, (२) नाग कुमार, (३) सुपर्ण कुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) द्वीपकुमार, (७) उदधि कुमार, (८) -दिक् कुमार, (९) वायु कुमार और (१०) स्तनित कुमार—ये भवनवासी देवों के दस प्रकार हैं।

२०७—पिसायभूय जक्खा य
रक्खसा किन्नरा य किंपुरिसा।
महोरगा य गन्धव्वा
अट्ठविहा वाणमन्तरा ॥

पिशाच-भूत-यक्षाश्च
राक्षसाः किन्नराश्च किंपुरुषा.।
महोरगाश्च गन्धर्वा
अष्टविधा वाणमन्तराः ॥

२०७—(१) पिशाच, (२) भूत, (३) यक्ष, (४) राक्षस, (५) किन्नर, (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गन्धर्व—ये व्यतर देवों के आठ प्रकार हैं।

---

1. सठाण भेयओ या वि (अ)।

२०८—चन्दा सूरा य नक्खत्त
गहा तारागणा तहा।
दिसाविचारिणो[1] चेव
पचहा[2] जोइसालया ॥

चन्द्राः सूर्याश्च नक्षत्राणि
ग्रहास्तारागणास्तथा ।
दिशा-विचारिणश्चैव
पंचधा ज्योतिषालया ॥

२०८—(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) नक्षत्र, (४) ग्रह और (५) तारा—ये पाँच भेद ज्योतिष्क देवों के है। ये दिशा-विचारी-मेरु की प्रदक्षिणा करते हुए विचरण करने वाले है।

२०९—वेमाणिया उ जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा
कप्पाईया तहेव य ॥

वैमानिकास्तु ये देवाः
द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
कल्पोपगाश्च बोद्धव्या
कल्पातीतास्तथैव च ॥

२०९—वैमानिक देवो के दो प्रकार हैं—(१) कल्पोपग और (२) कल्पातीत ।

२१०—कप्पोवगा बारसहा
सोहम्मीसाणगा तहा।
सणकुमारमाहिन्दा
वम्भलोगा य लन्तगा ॥

कल्पोपगा द्वादशधा
सौधर्मेशानगास्तथा ।
सनत्कुमार-माहेन्द्राः
ब्रह्मलोकाश्च लान्तकाः ॥

२१०—कल्पोपग बारह प्रकार के हैं—(१) सौधर्म, (२) ईशानक, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक (६) लान्तक,

२११—महासुक्का सहस्सारा
आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव
इइ कप्पोवगा सुरा ॥

महाशुक्रा सहस्रारा
आनताः प्राणतास्तथा ।
आरणा अच्युताश्चैव
इति कल्पोपगाः सुराः ॥

२११—(७) महाशुक्र, (८) सहस्रार, (९) आनत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत ।

२१२—कप्पाईया उ[3] जे देवा
दुविहा ते वियाहिया।
गेविज्जाऽणुत्तरा चेव
गेविज्जा नवविहा तहिं[4] ॥

कल्पातीतास्तु ये देवा
द्विविधास्ते व्याख्याताः ।
ग्रैवेयानुत्तराश्चैव
ग्रैवेया नवविधास्तत्र ॥

२१२—कल्पातीत देवो के दो प्रकार हैं—(१) ग्रैवेयक और (२) अनुत्तर । ग्रैवेयकों के निम्नोक्त नौ प्रकार हैं

२१३—हेट्ठिमाहेट्ठिमा चेव
हेट्ठिमामज्झिमा तहा।
हेट्ठिमा उवरिमा चेव
मज्झिमाहेट्ठिमा तहा ॥

अधस्तनाऽधस्तनाश्चैव
अधस्तनमध्यमास्तथा ।
अधस्तनोपरितनाश्चैव
मध्यमाऽधस्तनास्तथा ॥

२१३—(१) अध-अधस्तन, (२) अध-मध्यम, (३) अध-उपरितन, (४) मध्य-अधस्तन,

१ ठिया° (आ, उ, ऋ०)।
२ पचविहा (अ)।
३ य (ऋ०)।
४ तहा (ऋ०)।

२१४—मज्झिमामज्झिमा चेव
मज्झिमाउवरिमा तहा।
उवरिमाहेट्ठिमा चेव
उवरिमामज्झिमा तहा॥

मध्यममध्यमाश्चैव
मध्यमोपरितनास्तथा।
उपरितनाऽधस्तनाश्चैव
उपरितनमध्यमास्तथा॥

२१४—(५) मध्य-मध्यम, (६) मध्य-उपरितन, (७) उपरि-अधस्तन, (८) उपरि-मध्यम,

२१५—उवरिमाउवरिमा चेव
इय गेविज्जगा सुरा।
विजया वेजयन्ता य[1]
जयन्ता अपराजिया॥

उपरितनोपरितनाश्चैव
इति ग्रैवेयकाः सुराः।
विजया वैजयन्ताश्च
जयन्ता अपराजिताः॥

२१५—और (९) उपरि-उपरितन—ये ग्रैवेयक देव हैं। (१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त, (४) अपराजित

२१६—सव्वट्ठसिद्धगा[2] चेव
पंचहाऽणुत्तरा सुरा।
इइ वेमाणिया देवा[3]
णेगहा एवमायओ॥

सर्वार्थसिद्धकाश्चैव
पंचधा अनुत्तराः सुराः।
इति वैमानिका देवाः
अनेकधा एवमादयः॥

२१६—और (५) सर्वार्थसिद्धक—ये अनुत्तर देवों के पाँच प्रकार हैं। इस प्रकार वैमानिक देवों के अनेक प्रकार है।

२१७—लोगस्स एगदेसम्मि
ते सव्वे परिकित्तिया।
इत्तो कालविभागं तु
वुच्छं तेसिं चउव्विहं॥

लोकस्यैकदेशे
ते सर्वे परिकीर्तिताः।
इतः काल-विभागं तु
वक्ष्यामि तेषां चतुर्विधम्॥

२१७—वे सब लोक के एक भाग में रहते हैं। अब मैं उनके चतुर्विध काल-विभाग का निरूपण करूँगा।

२१८—संतइं पप्पाऽणाईया
अपज्जवसिया वि य।
ठिइं पडुच्च साईया
सपज्जवसिया वि य॥

सन्तर्ति प्राप्यानादिकाः
अपर्यवसिता अपि च।
स्थितिं प्रतीत्य सादिकाः
सपर्यवसिता अपि च॥

२१८—प्रवाह की अपेक्षा से वे अनादि-अनन्त और स्थिति की अपेक्षा से सादि-सान्त हैं।

२१९—साहियं सागरं एक्कं
उक्कोसेण ठिई भवे।
भोमेज्जाण जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया॥

साधिकः सागर एकः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
भौमेयानां जघन्येन
दशवर्षसहस्रिका॥

२१९—भवनवासी देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः दस हजार वर्ष और उत्कृष्टतः किंचित् अधिक एक सागरोपम की है।

---
१ × (अ)।
२ °सिद्धिगा (अ)।
३ एए (उ, ऋ०)।

२२०—पलिओवममेगं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
वन्तराण जहन्नेणं
दसवाससहस्सिया ॥

पल्योपममेकन्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
व्यन्तराणां जघन्येन
दशवर्षसहस्रिका ॥

२२०—व्यन्तर देवों की आयु-स्थिति जघन्यत दस हजार वर्ष और उत्कृष्टत एक पल्योपम की है।

२२१—पलिओवम एग तु
वासलक्खेण साहियं।
पलिओवमऽट्ठभागो
जोइसेसु जहन्निया ॥

पल्योपममेकन्तु
वर्षलक्षेण साधिकम्।
पल्योपमाष्टमभागः
ज्योतिष्केषु जघन्यका ॥

२२१—ज्योतिष्क देवो की आयु-स्थिति जघन्यत पल्योपम के आठवें भाग और उत्कृष्टत एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की है।

२२२—दो चेव सागराइं
उक्कोसेण वियाहिया[1]।
सोहम्ममि जहन्नेण
एग च पलिओवम ॥

द्वौ चैव सागरौ
उत्कर्षेण व्याख्याता।
सौधर्मे जघन्येन
एक च पल्योपमम् ॥

२२२—सौधर्म देवो की आयु-स्थिति जघन्यत एक पल्योपम और उत्कृष्टत दो सागरोपम की है।

२२३—सागरा साहिया दुन्नि
उक्कोसेण वियाहिया[2]।
ईसाणम्मि जहन्नेण
साहिय पलिओवम ॥

सागरौ साधिकौ द्वौ
उत्कर्षेण व्याख्याता।
ईशाने जघन्येन
साधिक पल्योपमम् ॥

२२३—ईशान देवो की आयु-स्थिति जघन्यत किंचित् अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्टत किंचित् अधिक दो सागरोपम की है।

२२४—सागराणि य सत्तेव
उक्कोसेण ठिई भवे।
सणकुमारे जहन्नेणं
दुन्नि ऊ सागरोवमा ॥

सागराश्च सप्तैव
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सनत्कुमारे जघन्येन
द्वे तु सागरोपमे ॥

२२४—सनत्कुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यत दो सागरोपम और उत्कृष्टत सात सागरोपम की है।

२२५—साहिया सागरा सत्त
उक्कोसेण ठिई भवे।
माहिन्दम्मि जहन्नेण
साहिया दुन्नि सागरा ॥

साधिकाः सागराः सप्त
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
माहेन्द्रे जघन्येन
साधिकौ द्वौ सागरो ॥

२२५—माहेन्द्रकुमार देवों की आयु-स्थिति जघन्यत किंचित् अधिक दो सागरोपम और उत्कृष्टत किंचित् अधिक सात सागरोपम की है।

---

१. ठिई भवे (आ, स)।
२. ठिई भवे (आ, स)।

२२६—दस चेव सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे। बम्भलोए जहन्नेणं सत्त ऊ सागरोवमा ॥	दश चैव सागरा. उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। ब्रह्मलोके जघन्येन सप्त तु सागरोपमाणि ॥	२२६—ब्रह्मलोक देवों की आयु-स्थिति जघन्यत सात सागरोपम और उत्कृष्टत दस सागरोपम की है।
२२७—चउद्दस[1] सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे। लन्तगम्मि जहन्नेण दस ऊ सागरोवमा ॥	चतुर्दश सागरा उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। लान्तके जघन्येन दश तु सागरोपमाणि ॥	२२७—लान्तक देवों की आयु-स्थिति जघन्यत. दस सागरोपम और उत्कृष्टतः चौदह सागरोपम की है।
२२८—सत्तरस सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे। महासुक्के जहन्नेण चउद्दस सागरोवमा ॥	सप्तदश सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। महाशुक्रे जघन्येन चतुर्दश सागरोपमाणि ॥	२२८—महाशुक्र देवों की आयु-स्थिति जघन्यत. चौदह सागरोपम और उत्कृष्टत सतरह सागरोपम की है।
२२९—अट्ठारस सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे। सहस्सारे जहन्नेण सत्तरस सागरोवमा ॥	अष्टादश सागराः उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। सहस्रारे जघन्येन सप्तदश सागरोपमाणि ॥	२२९—सहस्रार देवों की आयु-स्थिति जघन्यत सतरह सागरोपम और उत्कृष्टत अठारह सागरोपम की है।
२३०—सागरा अउणवीसं तु उक्कोसेण ठिई भवे। आणयम्मि जहन्नेण अट्ठारस सागरोवमा ॥	सागरा एकोनविंशतिस्तु उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। आनते जघन्येन अष्टादश सागरोपमाणि ॥	२३०—आनत देवों की आयु-स्थिति जघन्यत अठारह सागरोपम और उत्कृष्टत. उन्नीस सागरोपम की है।
२३१—वीसं तु सागराइ उक्कोसेण ठिई भवे। पाणयम्मि जहन्नेणं सागरा अउणवीसई ॥	विंशतिस्तु सागरा उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्। प्राणते जघन्येन सागरा एकोनविंशतिः ॥	२३१—प्राणत देवों की आयु-स्थिति जघन्यत उन्नीस सागरोपम और उत्कृष्टत बीस सागरोपम की है।

1. चोद्दसओ (अ)।

२३२—सागरा इक्कवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे ।
आरणम्मि जहन्नेणं
वीसई सागरोवमा ॥

सागरा एकविंशतिस्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
आरणे जघन्येन
विंशति सागरोपमाणि ॥

२३२—आरण देवों की आयु-स्थिति जघन्यत: बीस सागरोपम और उत्कृष्टत: इक्कीस सागरोपम की है ।

२३३—बावीस सागराइ
उक्कोसेण ठिई भवे ।
अच्चुयम्मि जहन्नेणं
सागरा इक्कवीसई ॥

द्वाविंशतिः सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
अच्युते जघन्येन
सागरा एकविंशतिः ॥

२३३—अच्युत देवो की आयु-स्थिति जघन्यत इक्कीस सागरोपम ओर उत्कृष्टत. बाईस सागरोपम की है ।

२३४—तेवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे ।
पढमम्मि जहन्नेणं
बावीस सागरोवमा ॥

त्रयोविंशतिः सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
प्रथमे जघन्येन
द्वाविंशतिः सागरोपमाणि ॥

२३४—प्रथम ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यत बाईस सागरोपम और उत्कृष्टत तेईस सागरोपम की है ।

२३५—चउवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे ।
बिइयम्मि जहन्नेणं
तेवीस सागरोवमा ॥

चतुर्विंशतिः सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
द्वितीये जघन्येन
त्रयोविंशति. सागरोपमाणि ॥

२३५—द्वितीय ग्रैवेयक देवो की आयु-स्थिति जघन्यत तेईस सागरोपम और उत्कृष्टत· चौबीस सागरोपम को है ।

२३६—पणवीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे ।
तइयम्मि जहन्नेणं
चउवीसं सागरोवमा ॥

पंचविंशतिः सागरा.
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
तृतीये जघन्येन
चतुर्विंशतिः सागरोपमाणि ॥

२३६—तृतीय ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यत चौबीस सागरोपम और उत्कृष्टत· पच्चीस सागरोपम की है ।

२३७—छव्वीस सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे ।
चउत्थम्मि जहन्नेणं
सागरा पणुवीसई ॥

षड्विंशति. सागरा
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत् ।
चतुर्थ जघन्येन
सागराः पंचविंशतिः ॥

२३७—चतुर्थ ग्रैवेयक देवों की आयु-स्थिति जघन्यत पच्चीस सागरोपम ओर उत्कृष्टत: छब्बीस सागरोपम की है ।

२३८—सागरा सत्तवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
पचमम्मि जहन्नेणं
सागरा उ छवीसई ॥

सागराः सप्तविंशतिस्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
पंचमे जघन्येन
सागराः तु षड्विंशतिः ॥

२३८—पचम ग्रैवेयक देवों की आयु स्थिति जघन्यत छब्बीस सागरोपम औ उत्कृष्टत सत्ताईस सागरोपम की है।

२३९—सागरा अट्ठवीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
छट्ठम्मि जहन्नेणं
सागरा सत्तवीसई ॥

सागरा अष्टाविंशतिस्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
षष्ठे जघन्येन
सागराः सप्तविंशतिः ॥

२३९—षष्ठ ग्रैवेयक देवों की आयु स्थिति जघन्यत. सत्ताईस सागरोपम औ उत्कृष्टत अट्ठाईस सागरोपम की है।

२४०—सागरा अउणतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
सत्तमम्मि जहन्नेणं
सागरा अट्ठवीसई ॥

सागरा एकोनत्रिंशत्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
सप्तमे जघन्येन
सागरा अष्टाविंशतिः ॥

२४०—सप्तम ग्रैवेयक देवों की आयु स्थिति जघन्यत अट्ठाईस सागरोपम औ उत्कृष्टत उनतीस सागरोपम की है।

२४१—तीसं तु सागराइं
उक्कोसेण ठिई भवे।
अट्ठमम्मि जहन्नेणं
सागरा अउणतीसई ॥

त्रिंशत्तु सागरा.
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
अष्टमे जघन्येन
सागराः एकोनत्रिंशत् ॥

२४१—अष्टम ग्रैवेयक देवों की आयु स्थिति जघन्यत उनतीस सागरोपम औ उत्कृष्टत तीस सागरोपम की है।

२४२—सागरा इक्कतीसं तु
उक्कोसेण ठिई भवे।
नवमम्मि जहन्नेणं
तीसई सागरोवमा ॥

सागरा एकत्रिंशत्तु
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
नवमे जघन्येन
त्रिंशत्सागरोपमाणि ॥

२४२—नवम ग्रैवेयक देवों की आयु स्थिति जघन्यतः तीस सागरोपम और उत्कृष्टत इकत्तीस सागरोपम की है।

२४३—तेत्तीस सागराउ
उक्कोसेण ठिई भवे।
चउसु पि विजयाईसु
जहन्नेणेक्कतीसई[1] ॥

त्रयस्त्रिंशत सागराः
उत्कर्षेण स्थितिर्भवेत्।
चतुर्ष्वपि विजयादिषु
जघन्येनैकत्रिंशत् ॥

२४३—विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देवों की आयु-स्थिति जघन्यतः इकतीस सागरोपम और उत्कृष्टत तेंतीस सागरोपम की है।

---

१ जहन्ना इक्कतीसई (उ, ऋ०)।

२४४—अजहन्नमणुक्कोसा[1]
तेत्तीस सागरोवमा।
महाविमाण सव्वट्ठे
ठिई एसा वियाहिया॥

अजघन्यानुत्कर्षा
त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाणि।
महा-विमान सर्वार्थे
स्थितिरेषा व्याख्याता॥

२४४—सर्वार्थसिद्धक देवों की जघन्यत और उत्कृष्टत आयु-स्थिति तेंतीस सागरोपम की है।

२४५—जा चेव उ[2] आउठिई
देवाणं तु वियाहिया।
सा तेसिं कायठिई
जहन्नुक्कोसिया[3] भवे॥

या चैव तु आयुः-स्थिति
देवानान्तु व्याख्याता।
सा तेषां काय-स्थितिः
जघन्योत्कर्षिता भवेत॥

२४५—सारे ही देवो को जितनी आयु-स्थिति है उतनी ही उनकी जघन्य या उत्कृष्ट काय-स्थिति है।

२४६—अणन्तकालमुक्कोस
अन्तोमुहुत्त जहन्नय।
विजढमि सए काए
देवाण हुज्ज अन्तरं॥[4]

अनन्तकालमुत्कर्ष
अन्तर्मुहूर्त्तं जघन्यकम्।
वित्यक्ते स्वके काये
देवानां भवेदन्तरम्॥

२४६—उनका अन्तर (अपने-अपने काय को छोडकर पुन उसी काय में उत्पन्न होने तक का काल) जघन्यत अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्टत अनन्त-काल का है।

२४७—एएसिं वण्णओ चेव
गन्धओ रसफासओ।
'सठाणादेसओ वावि'[5]
विहाणाइ सहस्सओ॥

एतेषां वर्णतश्चैव
गन्धतो रस-स्पर्शतः।
सस्थानादेशतो वापि
विधानानि सहस्रशः॥

२४७—वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और सस्थान की दृष्टि से उनके हजारों भेद होते हैं।

२४८—ससारत्था य सिद्धा य
इइ जीवा वियाहिया।
रूविणो चेव ऽरूवो य
अजीवा दुविहा वि य॥[6]

संसारस्थाश्च सिद्धाश्च
इति जीवा व्याख्याताः।
रूपिणश्चैवारूपिणश्च
अजीवा द्विविधा अपि च॥

२४८—ससारी और सिद्ध—इन दोनों प्रकार के जीवो की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार रूपी और अरूपी—इन दोनो प्रकार के अजीवो की व्याख्या की गई है।

---

१. °मणुक्कोस (अ, ऋ०)।
२ य (अ)।
३. जहन्नमु° (ऋ०, वृ०)।
४. इस श्लोक के बाद दो श्लोक और हैं—
अणतकालमुक्कोस वासपुहत्त जहन्नग।
आणयाईण कप्पाण गेविज्जाण तु अतर॥
सखिज्जसागरुक्कोस वासपुहत्त जहन्नग।
अणुत्तराण देवाण अतर तु वियाहिया॥ (उ)।
५. सठाण भेयओ या वि (अ)।
६ श्लोक क्रमांक २४८ से २६८ के स्थान पर चूर्णि में निम्न दो श्लोक हैं —
जीवमजीवे एते णच्चा सद्दहिऊण य।
सव्वनयाणमणुमते जएज्जा संजमे विऊ॥
पसत्थझाणोवगए, काल किच्चा ण संजए।
सिद्धे वा सासए भवति देवे वावि महड्ढिए॥

२४९—इइ जीवमजीवे य
सोच्चा सद्दहिऊण य ।
सव्वनयाण अणुमए
रमेज्जा सजमे मुणी ॥

इति जीवानजीवाश्च
श्रुत्वा श्रद्धाय च ।
सर्वनयानामनुमते
रमेत सयमे मुनिः ॥

२४९—इस प्रकार जीव और अजीव के स्वरूप को सुनकर, उसमें श्रद्धा उत्पन्न कर मुनि ज्ञान-क्रिया आदि सभी नयों के द्वारा अनुमत सयम में रमण करे ।

२५०—तओ बहूणि वासाणि
सामण्णमणुपालिया ।
इमेण कमजोगेण
अप्पाण संलिहे मुणी ॥

ततो बहूनि वर्षाणि
श्रामण्यमनुपाल्य ।
अनेन क्रम-योगेन
आत्मानं सलिखेन्मुनि ॥

२५०—मुनि अनेक वर्षों तक श्रामण्य का पालन कर इस क्रमिक प्रयत्न मे आत्मा को कसे—सलेखना करे ।

२५१—बारसेव उ वासाइ
सलेहुक्कोसिया[1] भवे ।
सवच्छर मज्झिमिया[2]
छम्मासा[3] य जहन्निया[4] ॥

द्वादशैव तु वर्षाणि
सलेखोत्कर्षिता भवेत् ।
संवत्सरं मध्यमिका
षण्मासा च जघन्यका ॥

२५१—सलेखना उत्कृष्टत बारह वर्षों, मध्यमत एक वर्ष तथा जघन्यत छह मास की होती है ।

२५२—पढमे वासचउक्कम्मि
विगईनिज्जूहणं[5] करे ।
बिइए वासचउक्कम्मि
विचित्त तु तव चरे ॥

प्रथमे वर्ष-चतुष्के
विकृति-निर्यूहण कुर्यात् ।
द्वितीये वर्ष-चतुष्के
विचित्र तु तपश्चरेत् ॥

२५२—सलेखना करने वाला मुनि पहले चार वर्षों में विकृतियों (रसों) का परित्याग करे । दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप (उपवास, बेला, तेला आदि) का आचरण करे ।

२५३—एगन्तरमायामं
कट्टु सवच्छरे दुवे ।
तओ सवच्छरद्ध तु
नाइविगिट्ठ तव चरे ॥

एकान्तरमायामं
कृत्वा सवत्सरौ द्वौ ।
ततः सवत्सरार्द्धन्तु
नातिविकृष्ट तपश्चरेत् ॥

२५३—फिर दो वर्षों तक एकान्तर तप (एक दिन उपवास तथा एक दिन भोजन) करे । भोजन के दिन आचाम्ल करे । ग्यारहवें वर्ष के पहले छः महीनों तक कोई भी विकृष्ट तप (तेला, चोला आदि) न करे ।

---

१. सलेहुक्कोसगो (बृ० पा०) ।
२ मज्झिमगो (बृ० पा०) , मज्झमिया (बृ०) ।
३. छम्मासे (अ) ।
४. जहन्नगो (बृ० पा०) ।
५. वित्ति० (बृ०) , विगई० (बृ० पा०) ।

२५४—'तओ संवच्छरद्ध तु
विगिट्ठ तु तवं चरे।
परिमिय चेव आयामं
तमि संवच्छरे करे ॥'[1]

ततः संवत्सरार्द्धन्तु
विकृष्टन्तु तपश्चरेत्।
परिमितश्चैवायामं
तस्मिन् संवत्सरे कुर्यात् ॥

२५४—ग्यारहवें वर्ष के पिछले छः महीनों में विकृष्ट तप करे। इस पूरे वर्ष में परिमित (पारणा के दिन) आचाम्ल करे।

२५५—कोडीसहियमायामं
कट्टु सवच्छरे मुणी।
मासद्धमासिएणं तु
आहारेण[2] तवं चरे ॥

कोटी-सहितमायाम
कृत्वा सवत्सरे मुनिः।
मासिकेनार्द्धमासिकेन तु
आहारेण तपश्चरेत् ॥

२५५—बारहवें वर्ष में मुनि कोटि-सहित (निरन्तर) आचाम्ल करे। फिर पक्ष या मास का आहार-त्याग (अनशन) करे।

२५६—कन्दप्पमाभिओग[3]
किब्बिसियं मोहमासुरत्त च।
एयाओ दुग्गईओ
मरणम्मि विराहिया होन्ति ॥

कान्दर्पी आभियोगी
किल्बिषिकी मोही आसुरत्वंच।
एता दुर्गतयः
मरणे विराधिका भवन्ति ॥

२५६—कादर्पी भावना, आभियोगी भावना, किल्बिषिकी भावना, मोही भावना तथा आसुरी भावना—ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्-दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

२५७—मिच्छादसणरत्ता
सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥

मिथ्यादर्शन-रक्ताः
सनिदानाः खलु हिंसकाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः
तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥

२५७—मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और हिंसक दशा में जो मरते हैं, उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

२५८—सम्मद्दसणरत्ता
अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
सुलहा तेसिं भवे बोही ॥

सम्यगदर्शन-रक्ताः
अनिदानाः शुक्ल-लेश्यामवगाढाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः
सुलभा तेषा भवेद् बोधिः ॥

२५८—सम्यग्-दर्शन में रक्त, अनिदान और शुक्ल-लेश्या में प्रवर्तमान जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि सुलभ है।

२५९—मिच्छादंसणरत्ता
सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा
तेसिं पुण दुल्हा बोही ॥

मिथ्या-दर्शन-रक्ता
सनिदानाः कृष्ण-लेश्यामवगाढ़ाः।
इति ये म्रियन्ते जीवाः
तेषां पुनर्दुर्लभा बोधिः ॥

२५९—जो मिथ्या-दर्शन में रक्त, सनिदान और कृष्ण-लेश्या में प्रवर्तमान होते हैं, उनके लिए फिर बोधि बहुत दुर्लभ होती है।

---

१ परिमिय चेव आयाम गुणुक्कस्स मुणी चरे।
तत्तो सवच्छरद्धऽण्णं विगिट्ठ तु तवं चरे ॥ (बृ० पा०)।
२ समणेण (बृ० पा०)।
३. कदप्पमाभिओग च (अ)।

२६०—जिणवयणे अणुरत्ता
जिणवयण जे करेन्ति भावेण ।
अमला असंकिलिट्ठा
ते होन्ति परित्तसंसारी ॥

जिनवचनेऽनुरक्ता
जिनवचन ये कुर्वन्ति भावेन ।
अमला असंक्लिष्टा
ते भवन्ति परीत-संसारिणः ॥

२६०—जो जिन-वचन में अनुरक्त हैं तथा जिन वचनों का भाव-पूर्वक आचरण करते हैं, वे निर्मल और असंक्लिष्ट होकर परीत-संसारी (अल्प जन्म मरण वाले) हो जाते हैं।

२६१—वालमरणाणि वहुसो
अकाममरणाणि चेव 'य वहूणि'[1] ।
मरिहिन्ति[2] ते वराया
जिणवयण जे न जाणन्ति ॥

वाल-मरणानि वहुशः
अकाम-मरणानि चैव च वहूनि ।
मरिष्यन्ति ते वराका
जिनवचनं ये न जानन्ति ॥

२६१—जो प्राणी जिन-वचनों के परिचित नहीं है, वे वेचारे अनेक वार वाल-मरण तथा अकाम-मरण करते रहेंगे।

२६२—वहुआगमविन्नाणा
समाहिउप्पायगा[3] य गुणगाही।
एएण कारणेणं
अरिहा आलोयण सोउ ॥

वह्वागम-विज्ञानाः
समाध्युत्पादकाश्च गुणग्राहिणः ।
एतेन कारणेन
अर्हा आलोचना श्रोतुम् ॥

२६२—जो अनेक शास्त्रों के विज्ञाता, आलोचना करने वाले के मन में समाधि उत्पन्न करने वाले और गुणग्राही होते है, वे अपने इन्हीं गुणों के कारण आलोचना सुनने के अधिकारी होते है।

२६३—कन्दप्पकोक्कुइयाइ[4] तह
सीलसहावहासविगहाहिं[5] ।
विम्हावेन्तो य परं
कन्दप्प भावण कुणइ ॥

कन्दर्प-कौत्कुच्ये
तथा शील-स्वभाव-हास्य-विकथाभिः।
विस्मापयन् च पर
कान्दर्पी भावना कुरुते ॥

२६३—जो काम-कथा करता रहता है, दूसरों को हँसाने की चेष्टा करता रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओं के द्वारा दूसरों को विस्मित करता रहता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है।

२६४—मन्ताजोग[6] काउ
भूईकम्म च जे पउजन्ति ।
सायरसइड्ढिहेउं
अभिओग भावण कुणइ ॥

मंत्र-योग कृत्वा
भूति-कर्म च यः प्रयुङ्क्ते ।
सातरसर्द्धिहेतो
आभियोगीं भावना कुरुते ॥

२६४—जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मंत्र, योग और भूति-कर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है।

---

1. वहुयाणि (इ, उ, ऋ०, स)।
2. मरहति (उ), मरिहति (ऋ०)।
3. °मुपायगा (अ)।
4. °कोक्कुयाइ (वृ०, सु०)।
5. °हसण° (वृ०, सु०)।
6. मत° (अ)।

२६५—नाणस्स केवलीणं
धम्मायरियस्स संघसाहूणं ।
माई अवण्णवाई
किब्बिसिय भावण कुणइ ॥

ज्ञानस्य केवलिनां
धर्माचार्यस्य सङ्घसाधूनाम् ।
मायी अवर्णवादी
किल्बिषिकीं भावनां कुरुते ॥

२६५—जो ज्ञान, केवल-ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओं की निन्दा करता है, वह मायावी पुरुष किल्बिषिकी भावना का आचरण करता है ।

२६६—अणुवद्धरोसपसरो
तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवि ।
एएहि कारणेहिं
आसुरिय भावणं कुणइ ॥

अनुबद्धरोषप्रसरः
तथा च निमित्ते भवति प्रतिसेवी ।
एताभ्यां कारणाभ्यां
आसुरीं भावनां कुरुते ॥

२६६—जो क्रोध को सतत् बढावा देता रहता है और निमित्त कहता है, वह अपनी इन प्रवृत्तियों के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है ।

२६७—सत्थगहणं विसभक्खणं च
जलणं च जलप्पवेसो य ।
अणायारभण्डसेवा
जम्मणमरणाणि बन्धन्ति ॥

शस्त्र-ग्रहणं विष-भक्षणं च
ज्वलनं च जल-प्रवेशश्च ।
अनाचार-भाण्ड-सेवा
जन्म-मरणानि बध्नन्ति ॥

२६७—जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा अग्नि में प्रविष्ट होकर या पानी में कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है ।

२६८—इइ पाउकरे बुद्धे
नायए परिनिव्वुए ।
छत्तीस उत्तरज्झाए
भवसिद्धीयसंमए[1] ॥
—त्ति बेमि ।

इति प्रादुरकरोद् बुद्धः
ज्ञातजः परिनिर्वृतः ।
षट्त्रिंशदुत्तराध्यायान्
भव्य सिद्धिक-सम्मतान् ॥
—इति ब्रवीमि ।

२६८—इस प्रकार भव्य जीवों द्वारा सम्मत छत्तीस उत्तराध्ययनों का, तत्त्ववेत्ता, परिनिर्वृत्ति (उपशान्तात्मा) ज्ञात-वंशीय भगवान् महावीर ने प्रादुष्करण किया ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. °सबुद्धे (वृ० पा०) ।

पदानुक्रम

अ

इ

का

चा

चि

वी

सू

से

शुद्धि-पत्रक : १

मूलपाठ, संस्कृत-छाया एवं हिन्दी-अनुवाद

पृष्ठ श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ श्लोक	अशुद्ध	शुद्ध
७ ४।३ मूलपाठ	दुस्सील-पडि°	दुस्सीलपडि°	२०८ १३।१ मूलपाठ	गत०	गत्त०
७ ५।१ ,,	कण-कु°	कणकु°	२१५ १।२ ,,	मुणिता	मुणित्ता
६ १५।३ ,,	अप्पा-दन्तो	अप्पा दन्तो	२२६ २१।२ स० छाया	कस्म	कस्मै
१२ ३२।२ स० छाया	°दत्ते°	°दत्तै°	२२७ २७।४ ,,	सम्यग	सम्यग्
१३ ३६ हि० अनु०	अच्छा छेदा है।	बहुत अच्छा छेदा है।	२४० ६।१ स० छाया	विष्येष्व°	विषयेष्व°
१४ ४०।४ स० छाया	त	न	२४० १०।४ ,,	अनुजानात	अनजानीत
२७ ४।३ ,,	सेवेत्	सेवेत	२४५ ३६।३ ,,	चैव	चेव
२८ १०।१ मूलपाठ	द-स°	दंस°	२४५ ३८।३ ,,	चैव	चेव
४४ ६।१ स० छाया	सङ्गः	सङ्गै	२४५ ३७।१ ,,	चैव	चेव
६७ ३।४ ,,	उत्कपण	उत्कर्पेण	२४६ ४१।१ ,,	था	यथा
७२ ३२।२ ,,	समुच्छ्यम्	समुच्छ्रयम्	२४६ ६१ हि० अनु०	मुण्डियों	मुमुण्डियों
१०१ ११।१ ,,	शुद्धैपणा	शुद्धैषणा	२५२ ७६।४ मूलपाठ	आहरित्त	आहरित्तु
१०२ १८।२ ,,	०वक्षास्स्वनेक०	०वक्षस्स्वनेक०	२५५ ६४ हि० अनु०	ज्ञान, चारित्र	ज्ञान, दर्शन, चारित्र
१०२ १८।४ ,,	यथे व	यथैव	२६३ १६।४ मूलपाठ	?	।
११० १०।१ ,,	हियमाणे	ह्रियमाणे	२६३ १६।४ स० छाया	?	।
१११ १६ हि० अनु०	देवेन्द्र ने नमि राजर्षि से	देवेन्द्र मे नमि राजर्षि ने	२६४ १६।१ ,,	महाराज ।	महाराज !
			२६६ ३१।३ ,,	°भवित	°भवितु
११२ २२।२ स० छाया	भित्वा	भित्त्वा	२६७ ३६।३ ,,	कार्म-दुघा	कामदुघा
११२ २४।३ मूलपाठ	वालग्ग°	वालग्ग°	२७७ ४।१ मूलपाठ	घरणी	घरणी
११६ ४८।१ स० छाया	च	तु	२७६ १३।१ ,,	दयाणुकुम्पी	दयाणुकम्पी
११८ ५८।१ मूलपाठ	उत्तमो	उत्तमो	२८१ २३ हि० अनु०	करन	करने
१२४ १० हि० अनु०	असख्य-काल	सख्येय-काल	२६१ २३ ,,	सहस्राश्रमण	सहस्राम्रवन
१२७ ३०।१ मूलपाठ	अवउज्झिय	अवउज्झिय	२६२ २८।४ स० छाया	समवस्तुता	समवस्तृता
१२८ ३६।३ ,,	वहए	वूहए	२६६ ४८ हि० अनु०	उग्र-तप का आचरण कर तथा सब कर्मो को खपा, वे दोनों (राजीमती और रथनेमि) अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।	उग्र-तप का आचरण कर वे दोनों (राजीमती और रथनेमि) केवली हुए और सब कर्मो को खपा अनुत्तर सिद्धि को प्राप्त हुए।
१२६ पंक्ति २ ,,	बहुस्सुयपुज्जा	बहुस्सुयपुज्ज			
१३३ ,, ,,	,,	,,			
१३४ १०।१ स० छाया	स्थान	स्थाने			
१३४ १० हि० अनु०	जोच पल	जो चपल			
१४५ १६।४ मूलपाठ	दहामु	दाहामु			
१६२ ११ हि० अनु०	उसको	उसके			
१६६ सू० २ स० छाया	स्थविर-	स्थविरै	३०४ ६।२ स० छाया	°च्छिप्यो	°च्छिप्यो
२०३ सू० ७ मूलपाठ	कुडुन्तरसि	कुडुन्तरंसि	३०४ ६।४ ,,	गोतमो	गौतमो

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
३१६	८०१२	स० छाया	°नाम	°नाम्
३२५	११३	,,	पचेव	पंचेव
३२७	१३११	,,	ओद्यो°	ओघो°
३२६	२६१४	,,	सवम्य	सर्वम्य·
३३७	१३१३	,,	प्रांजलि	प्राञ्जलि
३५२	१५१४	मूलपाठ	अमो°	ओम°
३५६	३४११	स० छाया	आतङ्क उपसग	आतके उपसर्गे
३५८	४५१३	,,	°लिखेत	°लिखेत्
३५८	४७	हि० अनु०	दर्शग	दर्शन
३६५	३१२	स० छाया	°विन्नन	विन्नन्
३६६	७१४	मूलपाठ	उज्जाहित्ता	उज्जहित्ता
३६८	१६१४	,,	°गिण्हइ	°गिण्हई
३७८	२६१४	स० छाया	पूवं	पूर्वं
३७६	३५१४	मूलपाठ	°सज्झई	°सुज्झई
३६३	सू०१प०३	स० छा०	श्रमणन	श्रमणेन
३६३	सू०१प०६	हि० अनु०	उच्चाचरण	उच्चारण
४००	सू० १२	,,	उत्तरोत्तर वढने वाले	×
४००	सू० १३	स० छाया	निरुणधि	निरुणद्धि
४०२	सू० २२	मुलपाठ	घणिय°	घणिय°
४०२	सू० २२	हि० अनु०	अनुभ-व	अनुभव
४०४	सू० ३१	स० छाया	निजरयति	निर्जरयति
४०५	सू० ३४	,,	सक्लिश्यति	सक्लिश्यति
४०५	सू० ३२	मूलपाठ	विणियट्ठ°	विणियट्ट°
४०६	सू० ४६	,,	अणुस्सियत्ते	अणुस्सिए
४०६	सू० ४८	सं० छा०	जावो	जीवो
४०६	सू० ४६	,,	अनुत्सिकत्वेन	अनुत्सिक्तो
४१२	सू० ६१	हि० अनु०	अर	और
४१२	सू० ६१	,,	ओन्त	अन्त
४१५	सू० ७१	स० छा०	तावदेर्यापधिक कमं	तावदेर्यापथिक कर्म
४१५	सू० ७१	मूलपाठ	एर्ण	दसणविजएणं
४१६	सू० ७२	हि० अनु०	है, त	है, तब
४२२	१०	,,	धन तप	घन-तप
४२२	८१३	मूलपाठ	य	×
४२२	८१४	,,	बज्झो	य बज्झो
४२३	१४	हि० अनु०	१४-अविचार द्रव्य	अथवा १४-द्रव्य
४२५	२३	,,	दशा वर्ण	दशा, वर्ण
४४२	७	,,	दु·ख को	दु ख का
४४३	१४१४	मूलपाठ	दट्ठ	दट्ठु
४४७	३५	हि० अनु०	घीतराग	वीतराग
४४८	४१	,,	ध्यापार	व्यापार
४४८	४११३	स० छाया	ध्यये	व्यये
४४६	४६१४	,,	दुख	दु ख
४५०	५११३	,,	र्दान्त	दुर्दान्त-
४५१	५६१२	,,	दु·खौघ-	दुखौघ-
४५१	५६१४	,,	यतस्य	यत्तस्य
४५५	८११	,,	स्पश	स्पर्शे
४५७	८६१२	,,	प्राप्नोति	प्राप्नोति स
४५७	६११३	,,	वाल	बाल:
४७०	२१११	,,	उद्घि०	उदधि०
४७०	२२१२	,,	उत्कुर्षण	उत्कर्षण
४७१	२५११	,,	कर्नणाम्	कर्मणाम्
४७६	११४	मूलपाठ	नायव्वो	नायव्वो
४८२	३१	हि० अनु०	धैर्य	धर्म्य
४८३	३८,३६	,,	मुहूर्त्त	अन्तर्मुहुर्त्त
४८६	५६१४	स० छाया	गतिमुपपद्यते	दुर्गतिमुपपद्यते बहुशः
४८७	६०	हि० अनु०	है	है और
४६६	१६११	स० छाया	ध्यायत्	ध्यायेत्
५०७	३६११	,,	उणष्को	उणको
५१०	५५११	,,	क्व.	क्व
५१०	५५१४	,,	तु	×
५१३	७४१२	,,	°ज्जन°	ऽजन०
५१६	८६	हि० अनु०	उसकी	उसो
५१८	१०२१२	स० छाया	०मुत्कैर्पिता	०मुत्कर्पिता
५१६	११११२	,,	लोके-देशे	लोक-देशे
५२२	१२६१३	मूलपाठ	वे०	वे०
५२२	१२८११	,,	सोमगला	सोमगला चेव
५२२	१२८१२	,,	चेव	×
५२३	१३६११	सं० छाया	द्वीन्द्रिया°	त्रीन्द्रिया°

पृष्ठ	श्लोक		अशुद्ध	शुद्ध
५२५	१४३।४	स० छाया	अण्नर०	अन्तर०
५२६	१५१।२	,,	उत्कपण	उत्कर्षेण
५२६	१५३।४	,,	०मेतद्	०मेतद्
५२८	१६६।२	,,	उत्कपण	उत्कर्षेण
५२९	१६९।१	,,	वर्वतप्चैव	वर्णतदचैव
५३०	१७६	हि० अनु०	पूर्व	करोड पूर्व
५३२	१८५	,,	की है।	की है—
५३२	१८८	,,	समुद्र	ममुद्ग
५३३	१९१	,,	°तव	°तवें
५३६	२१३	,,	अर्घ	अघ॑
५३६	२०८।१	मूलपाठ	नक्खात्त	नक्खत्ता
५३७	२१९।२	स० छाया	स्थिति भवेत्	म्थिति भंवेत्
५४०	२३७।३	,,	चतुय	चतुर्य
५४१	२४३।१	,,	त्रयम्त्रिशत	त्रयम्त्रिशत्
५४२	२४५।४	,,	भवेत	भवेत्
५४४	२५८।१	,,	मम्यग०	सम्यग्०
५४५	२६३।४	,,	कान्दपा	कान्दर्पो
५४५	२६४।३	,,	०हेतो	०हेतोः
५४५	२६३।१	मूलपाठ	०इवाइ तह	०इयाइ
५४५	२६३।२	,,	सील°	तह सील°
५४५	२६१	हि० अनु०	के	मे
५४५	२६३	,,	की	को

शुद्धि-पत्रक : २

पाठान्तर

पृष्ठ	पाठान्तर क्रम	अशुद्ध	शुद्ध
९	४	°दम्मे°	°दमे°
९	५	(अ, उ, म)	(अ, उ, ऋ)
१०	श्लोक २०।१	वाहिन्तो	वाहित्तो (अ, आ, इ, उ)
१३	३	(चू० प०)	(चू० पा०)।
१४	२	(वृ०पा०, चू०)	(वृ० पा०, चू० पा०)।
१४	३,४	(चू० पा०)	(चू०)।
१४	५	(अ, उ, वृ०)	(अ, उ), कित्ती य (वृ०)।
४३	१	(वृ०पा०,चू०पा०)	(वृ०पा०, चू०)।
५१	२	(वृ०पा०,चू०पा०)	(ऋ, वृ०पा०, चू० पा०)
५१	७	पीहाति	पीहति
६९	२		अक्खे भगामि (वृ०पा०)।
७०	२	अक्खाय	अक्खाय
७०	२	(वृ०पा०)	(चू०पा०)
७७	२	(चू०पा०)	(वृ०, चू०पा०)।
७८	५	(सु०)	(स०)
१००	७	थावरे हि वा (चू०)	थावरे हिं वा (चू०पा०)
१२५	१	कुतित्य	कुतित्य°
१२६	२	(उ, म, वृ०)	(उ, ऋ, वृ०)
२०७	५	घम्मलद्ध	घम्मलद्धु
२७८	४	परमसंवेगु°	परमसंवेग°
३२६	५	°मुवहि	°मुवहिं
३९८	सू०६	'पडिवन्ने ये'[५]	'पडिवन्ने य ण'[५]
४०९	२	अणुस्सियत्ते	अणुस्सिए
४४१	२	(सु० आ)	(सु० पा०)।
४४१	५	मणिणो	मुणिणो
५०९	२	°णगविहा	°णेगविहा
५३१	१	°ह्न	°ड

शुद्धि-पत्रक : ३

आमुख

पृष्ठ	स्थल	अशुद्ध	शुद्ध
३	टि० ४	३०१८, ३०	३०।३०
६०	पंक्ति १४	तद्‌भव-मरण —वर्तमान...	तद्‌भव-मरण —वर्तमान-भव के समान अगले भव का आयुष्य बाध लेने के पश्चात् वर्तमान...
६०	,, १५	सम्यक्‌दृष्टि	अविरत-सम्यक्‌दृष्टि
६३	,, १६	उपेक्षा	अपेक्षा
६४	,, २२	समय में	×
१०५	,, ७	नगति	नगति[२]
१३१	,, १	वहुस्सुयपुज्जा	वहुस्सुयपुज्ज
१३२	,, २२	चाहिए।	चाहिए।[३]
२२१	,, १७	(श्लोक २२,२३)	(श्लोक २२)
२३७	,, २०	अपरिग्रह	परिग्रह
२७६	,, ४	मौलिक	भौगोलिक
२८६	,, २५	गई।[१] उसी	गई। राजीमती भी एक गुफा में गई। उसी...
२८६	,, २६	सुखने	सुखाने
३०२	,, ३	सामाजिक-	सामायिक-
३३४	, १६	(श्लोक ३१)	(श्लोक ३०)
३४७	,, १६	अपने	अपने अर्हं को
४४०	,, १२	क	को
४६४	,, १४	भय,	भय, शोक
४६५	,, ७	अप्रशस्त (ज्ञान)	अप्रशस्त श्रुत (ज्ञान)
४७५	,, ११	गया है।	गया है, और दूसरे त्रिक को 'धर्म-लेश्या' कहा गया है।
४९२	,, ६	(श्लोक १)	(श्लोक २१)

शुद्धिपत्रक : ४

पदानुक्रमणिका

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	१	३	अइमाय	अइमायं
१	१	६	अएव्व आगया एसे	अय व्व आगयाएसे
१	१	१६	वाहिरेण	वाहिरेण
१	१	१८	अकड	अकड
१	२	५	अकोहणो	अकोहणे
१	२	२४	सव्वभक्खी	सव्वभक्खी
१	२	२८	अचिरकालकयंमिय	अचिरकालकयमि य
१	३	३२	अट्ठ न	अट्ठं न
२	१	६	अट्ठमुहुत्ता	अट्ठ मुहुत्ता
२	१	१७	अट्ठेवउ	अट्ठेव उ
२	२	२	अणभिग्गहिओ	अणभिग्गहिओ
२	२	१९	जीव लोगम्मि	जीवलोगम्मि
२	२	२०	अकिंचपे	अकिंचणे
२	३	२	णावणाए	नावणए
२	३	१८	अणेणगछन्दा इह	अणेगछन्दाइह
२	३	२६	अणेगाण	अणेगाण
२	३	३२	सिद्धमिहेंग पक्ख	सिद्धमिहेगपक्ख
३	१	३	परियावसे ?	परियावसे ?
३	१	६	ट्ठाण	ठाण
३	३	१३	मज्ज	मज्झ
३	३	२०	अप्प	अप्प
३	३	२७	अप्पडिहयवले	अप्पडिहयवले
४	२	३	मुणी	मुणि

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२	२१	६-२	९-२
४	२	२२	१०-३६	१०-३४
४	२	३१	हु	य
४	२	३४	णिच्चो	निच्चो
४	३	१०	अमय	अमय
४	३	२०	अरर्द	अरई
५	३	३	ट्ठाणेहिं	ठाणेहिं
५	३	१२	ट्ठाणेहिं	ठाणेहिं
५	३	१५	ट्ठाणेहिं	ठाणेहि
५	३	१६	घरणी	घरणी
५	३	२४	ट्ठाणलक्खणो	ठाणलक्खणो
६	१	४	जणाओ	जणओ
६	१	१३	अट्ठिए	उट्ठिए
६	१	१७	निज्जओ	निज्जिओ
६	१	३२	१७-१६	११-१६
६	२	४	आकउम्म	आउक्कम्म
६	२	२७	अगसे गगसोठ	अगासे गग सोउ
६	३	२८	वन्दिता	वदित्ता
७	१	१२	जमसिणो	जससिणो
७	२	२	आसणगओ	आमण गओ
७	२	८	महड्ढिया	महिड्ढिया
८	१	१४	णजोग्ग	णजोग्गं
८	१	१५	चित्तमि	चित्तसि
८	२	११	इहऽज्जयन्ते	इहऽज्जयन्ते
९	१	११	नीय	नोय
९	२	२१	समूलिय	समूलिय
९	२	२२	वहू	वहू
९	३	३	घणे	घणे
९	३	४	उल्लंघणे	उल्लंघणे
९	३	५	उल्लिओ	उल्लियो
१०	१	१०	उस्सूलगसयग्घीओ	उस्सूलगसयग्घीओ
१०	१	१२	घासमेसन्तो	घासमेसन्तो
१०	३	१३	खत्तिओ	खत्तियो
११	३	७	तव	तव

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	३	२६	°कुम्मीसु	°कुम्भीसु
१३	२	१८	कस	कम
१४	१	१५	१२-३	१२-३,२२-४७
१५	२	७ के वाद		केसिं गोयममब्बवी २३-२२
१५	२	८	५२,६२,	५२,५७,६२,
१५	२	१३	२२,३७,	३७,
१६	१	२४	तिख°	तिक्ख°
१७	२	९	१६-२१	२६-२१
१८	३	१२	चरिमे ३४-५९	×
१९	१	१४	चिरकालेण घि	चिरकालेण वि
१९	२	४	°मन्ता	°भन्ता
१९	२	९	छण्ह	छण्हं
२०	३	५	म	मथु
२३	१	११	जे सन्ति'	जे सन्ति'''५-२
२४	३	४ के वाद		त सव्व साहीणमिहेव सुब्भ १४-१६
२५	१	३	३-१०,	×
२६	२	१२,१३,१४	पालि०	पलि०
३३	१	२०	३५-५	३३-५
३५	१	४	१९	२९
३९	३	५	३६-२२,२६	३६-२२ से २६
४३	१	६	३६-६	२६-६
४४	३	३०	रोऽए	रोहए
४५	१	अन्तिम	१३४-१६,८	३४-१६,१८
४७	१	३४	२३-२४	२३-१४
४७	२	२०	३३-१०६	३२-१०६
५१	३	१५	सव्व घम्म ''१४-५०	×
५१	३	अन्तिम	°षक्णि २६-१,४६	°क्खणि २६-१
५२	१	१३	७६	७६,७८
५२	१	२४	नयविहिहि	नयविहीहि
५३	२	१	सिज्झ°	सिज्झि°
५३	३	२९	द्दट्ठा	छट्ठा
५३	३	१०	वहुसो	वहुसो

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५४	१	६	दूओ	इओ
५४	२	२७	वहू	वहू
५४	२	३१	नायराण	वायराण
५४	३	१४	घाण○	घाण○
५४	३	१७	जब्भ○	जिब्भ○

पृष्ठ	कालम	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५५	२	४	बीयरुइ	बीयरुइ त्ति
५५	२	७	३२-३५-३६	३२-३५,३६
५५	३	४	०गीण०	०गोण०
५५	३	६	हरिया०	हरिय०

२९ वें अध्ययन का दूसरा सूत्र 'सवेगेण भन्ते।' पृ० ३९६ से आरम्भ होगा। अतः बाद के सूत्र क्रमशः एक संख्या से वढते चले जायेंगे। इसलिए २९ वें अध्ययन के सभी प्रमाणो को एक-एक सूत्र बढा कर पढ़ा जाए।

आमुखों में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ-नाम	लेखक-निर्युक्तिकार-वृत्तिकार, अनुवादक आदि	सस्करण	प्रकाशक
अनगारधर्मामृतम्	प० आशाधर	स० १९७६	माणिकचद दिगम्बर जैन ग्रथमाला समिति, बम्बई
अनुयोगद्वाराणि (वृत्ति सहित)	आर्यरक्षित सूरि		देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई
	वृत्तिकार हेमचन्द्र सूरि (मलधारी)	सन् १९२४	आगमोदय समिति, मेसाणा
	वृत्तिकार हरिभद्र	सन् १९२८	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम
अष्ट पाहुड	कुन्दकुन्द		
	भाषावचनिका—		
	प० जयचन्द छावडा, जयपुर	सन् १९५०	पाटनी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारोठ (राजस्थान)
अष्टांगहृदय	वाग्भट		
आचाराङ्ग सूत्रम्	निर्युक्तिकार भद्रबाहु	सन् १९३५	सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
(निर्युक्ति, वृत्ति सहित)	वृत्तिकार शीलाकाचार्य		
आवश्यक सूत्रम्	निर्युक्तिकार भद्रबाहु	सन् १९२८	आगमोदय समिति, बम्बई
(निर्युक्ति, वृत्ति सहित)	वृत्तिकार मलयगिरि		
इसि-भासियाइ सुत्ताइं	अनु० म० मुनि मनोहर	सन् १९६३	सुधर्मा ज्ञान मन्दिर, बम्बई
उत्तराध्ययनानि (चूर्णि सहित)	चूर्णिकार जिनदास गणि महत्तर	सन् १९३३	ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्री श्वेताम्बर सस्था, रत्नपुर (मालवा)
उत्तराध्ययनानि	निर्युक्तिकार भद्रबाहु	स० १९७२	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भाडागर सस्था, बम्बई
(निर्युक्ति, बृहद् वृत्ति सहित)	वृत्तिकार वादिवेताल शान्ति सूरि		
उत्तराध्ययनानि	वृत्तिकार नेमिचन्द्राचार्य	स० १९९३	फूलचन्द खीमचन्द, बलाद, अहमदाबाद
(सुखबोधा वृत्ति सहित)			
उपदेशमाला (भाषान्तर)	धर्मदास गणि	सन् १९३३	मास्टर उमेदचन्द रामचन्द, अहमदाबाद
ओघनिर्युक्ति (भाष्य, वृत्ति सहित)	भद्रबाहु	सन् १९१९	आगमोदय समि त, मेसाणा
	वृत्तिकार द्रोणाचार्य		
औपपातिक सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सं० १९९४	प० भूरालाल कालीदास
गोम्मटसार (जीवकाण्ड)	नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती	सन् १९२७	सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ
	अनु० जे० एल० जैनी, एम० ए०		
,, (कर्मकाण्ड)	अनु० ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद	सन् १९३७	,, ,,
जातक	स० भिक्खू जगदीसकस्सपो	सन् १९५९	पाली पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट)
जातक	हि०अनु० भदन्त आनन्द कौसल्यायन	प्रथम सस्करण	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
जीवाजीवाभिगम सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार मलयगिरि	१९१९	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	लेखक-निर्युक्तिकार-वृत्तिकार अनुवादक आदि	संस्करण	प्रकाशक
तत्वानुशासन	रामसेन	प्रथम	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई
तत्वार्थाधिगमसूत्र (सभाष्य)	उमास्वाति अनु० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	सन् १९३२	परमश्रुतप्रभावक जैन मंडल, बम्बई
तत्वार्थ वृत्ति (श्रुतसागरीय)	श्रुतसागर सूरि स० प्रो० महेन्द्रकुमार जैन	सन् १९४९	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तपागच्छ पट्टावलि	स० मुनि कल्याण विजयजी		
दक्ष स्मृति			
दसवेआलियं तह उत्तरज्झयणाणि	वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी	स० २०२३	जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा कलकत्ता
दशवैकालिक (निर्युक्ति सहित)	निर्युक्तिकार भद्रबाहु	सन् १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
दशवैकालिक (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार हरिभद्र	सन् १९१८	,, ,, ,,
दीघनिकाय (मूल पालि)	स० भिक्खू जगदीस कस्सपो	सन् १९५८	पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेन्ट
दीघनिकाय	हि० अनु० राहुल सांकृत्यायन	सन् १९३६	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
नंदी सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वाचक क्षमाश्रमण वृत्तिकार मलयगिरि	सन् १९२४	आगमोदय समिति, मेसाणा
नन्दी सूत्रम् (चूर्णि, वृत्ति सहित)	चूर्णिकार जिनदास महत्तर वृत्तिकार हरिभद्र सूरि	सन् १९३१	रुपचन्द्र नवलमल पाडी, सिरोही
नाभिनन्दोद्धार प्रबन्ध			
निशीथ सूत्रम् (भाष्य, चूर्णि सहित)	प्रणेता विसारगणि महत्तर चूर्णिकार जिनदास महत्तर सम्पादक श्री अमरमुनि	सन् १९५७	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
Patanjali's yoga Sutras	Patanjali Eng Tr by Rama Prasad, M A	1910	Panini Office, Bhuvaneswari Asrama, Bahadurganj.
पातञ्जल योगदर्शन	पतञ्जलि	स० २०१७	गीताप्रेस, गोरखपुर
प्रज्ञापना (वृत्ति सहित)	श्यामाचार्य वृत्तिकार मलयगिरि	सन् १९१८	आगमोदय समिति, मेसाणा
प्रवचनसारोद्धार (पूर्व भाग)	नेमिचन्द्र सूरि टी० सिद्धसेन सूरि	१९२२	सेठ देवचन्द्र लालभाई, जैन पुस्तकोद्धार संस्था (ग्रन्थांक ५८)
,, (उत्तर भाग)	,,	१९२६	,, (ग्रन्थांक ६४)
भगवती (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि		
मनुस्मृति	स० मनुनारायणराम आचार्य, काव्यतीर्थ	सन् १९४६	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
मूलाचार (सटीक)	वेट्टकेराचार्य टीकाकार वसुनंदि	सं० १९७७	माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	लेखक-निर्युक्तिकार-वृत्तिकार-अनुवादक आदि	सस्करण	प्रकाशक
मूलाचार	कुन्दकुन्दाचार्य		
	हि० अनु० जिनदास पार्श्वनाथ फडकले, शास्त्री, न्यायतीर्थ	वीर स० २४८४	श्रुत भाडार व ग्रथ प्रकाशन समिति, फलटण (उत्तर सितारा)
मूलाराधना (विजयोदया टीका सहित)	शिवार्य टीकाकार अपराजित सूरि	सन् १६३५	शोलापुर
विविध तीर्थकल्प	जिनप्रभ सूरि	सन् १६३४	सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन (बगाल)
समरसिंह			
समवायाग सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सन् १६१८	आगमोदय समिति, मेसाणा
सुत्तनिपात (पालि)	स० भिक्खू जगदीस कस्सपो	सन् १६५६	पाली पब्लिकेशन बोर्ड (बिहार गवर्नमेंट)
सुत्तनिपात	हि०अनु० भिक्षु धर्मरत्न,एम० ए०	सन् १६५१	महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
सुत्तनिपात	गु० अनु० अध्यापक धर्मानन्द कोसम्बी	सन् १६३१	गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद
सूत्रकृताङ्ग (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सन् १६१७	आगमोदय समिति, मेसाणा
सूत्रकृताङ्ग चूर्णि	जिनदास गणि	सन् १६४१	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेताम्बर सस्था, रतलाम (मालवा)
स्थानाङ्ग सूत्रम् (वृत्ति सहित)	वृत्तिकार अभयदेव सूरि	सन् १६३७	शेठ माणेकलाल चुनीलाल, शेठ कान्तिलाल चुनीलाल, अहमदावाद
The Uttaradhyayana Sutra	Jarl Charpentier, Ph D	1922	UPPSALA